प्राप्तिस्थानम्–
श्रीकेसरबाईज्ञानमन्दिर
C/o नगीनभाई हॉल
पाटण [उ गुजरात]



अद्भुतप्रतिमादर्शसङ्क्रान्ताशेषविष्टपम् । नमामि तमहं सिद्धव्याख्यातारं मुनीश्वरम् ॥१॥
चक्रे परोपकाराय परमार्थप्रकाशिनी । उपमित्यभिधा येन कथाद्भुतनिधानभूः ॥२॥

[प्रस्तुतग्रन्थ–प्रथमप्रस्तावे]



मुद्रकः–
शाह गुलाबचन्द लल्लुभाई
श्री महोदय प्रीन्टींग प्रेस
C/o दाणापीठ–भावनगर

प्रकाशकीय-निवेदन ।

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचित **'उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धार'** नामनो अद्यावधि अमुद्रित आ ग्रन्थ 'आचार्यदेव श्रीमद् **विजयकमलसूरिजी** जैन ग्रन्थमाला 'ना १४मा ग्रन्थाङ्क तरीके श्रीकेसरबाई ज्ञानमन्दिर तरफथी सम्पादित करावी समाज समक्ष रजू करता अमने अत्यन्त आनन्द थाय छे. आ ग्रन्थनुं सम्पादन अने संशोधन पूज्यपाद परमगुरुदेव सच्चारित्रचूडामणि सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराजना पट्टधर पूज्यपाद व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् **विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजना शिष्यरत्नो पूज्य पन्यासजी **श्रीमानविजयजी** महाराज तथा पूज्य पंन्यासजी श्रीकान्ति**विजयजी** महाराजे पाच हस्तलिखित प्रतिओना आधारे करेल छे आ ग्रन्थ छपाववामा कोईनी पण आर्थिक सहाय मळेल नथी. अत्यारनी असह्य मोंघवारीना कारणे छपामण तथा कागळना भावो चार पाच गुणा वधी जवाथी धारवा करतां वधु खर्च थई गयेल छे; एटले जे किंमत राखवामा आवेल छे ते सामान्य नजरे जोनारने वधु लागशे, परन्तु ज्ञानपिपासु आत्माओ किंमत तरफ लक्ष्य नहि आपतां आवा अप्रकाशित ग्रन्थनी उपयोगिता तरफ ज ध्यान आपशे एवी आशा राखीये छीये.

सम्पादन संबंधी सघळी हकीकत तेओश्रीए पोताना सम्पादकीय वक्तव्यमा लखी छे, एटले ते त्यांथी जोई लेवा विनंति छे.

विक्रम संवत् २००६
द्वितीय आषाढ शुक्ल प्रतिपदा.

संघवी नगीनदास करमचंद
पत्तनस्थ-श्रीकेसरबाई—ज्ञानमन्दिरना संस्थापक.

सम्पादकीय-वक्तव्य ।

प्रारम्भइतिहास–विक्रम संवत २००१ ना पोष मासमां पाटण जवानो प्रसंग उपस्थित थयो त्यां गया बाद त्यांना हस्तलिखित प्रतिओ पैकी ' उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धार 'नी प्रति तरफ ध्यान खेंचायुं सामान्य अवलोकन कर्या बाद तेनी उपयोगिता लागवाथी प्रेसयोग्य कोपी कराबी प्रेसकोपीना प्रथम वाचन उपरथी एमे मुद्रित करावबानो निर्णय थयो त्यारबाद जे प्रति उपरथी प्रेसकोपी करावी हती तेनी साथे मेळवणी करी लीधी अशुद्धिओना परिमार्जन माटे ग्रन्थान्तरोनी उपाय करतां तेमां एक ताडपत्रीय अने बीजी त्रण कागळनी प्रतिओ उपलब्ध थई त्यारबाद ए चारे प्रतिओ साथे प्रेसकोपी ' पाक्षिकी अन्त सुधी ' मेळवी पाठभेदोनी कच्ची नोंध तैयार करी तदनन्तर अर्थानु सन्धाननी परीक्षिणा करी, भ्रष्ट पाठोने रद करी, उपयोगी पाठभेदोनी तारवणी करी लीधी आम छतां ए ताडपत्रनी प्रति माटे तो ए चोक्कस स्वीकार्युं के एनो भ्रष्ट देखातो पाठ तथा अर्थानुसन्धाननी दृष्टिए अन्य प्रतिओ करतां उतरती कोटिनो पाठ पण फूटनोटमां पाठभेद तरीके नोंधवो तेनुं कारण ए हतुं के–ए प्रति शुद्धप्राय हती, अने आथी ज अमे आ ग्रन्थना प्रकाशनमां मुख्य स्थान ताडपत्रनी प्रतिने आप्युं छे अस आ कार्य समाप्त थया बाद कोई कार्यप्रसंगे संघवी नगीनदास करमचन्दनु पाटण आगमन थयुं तेमने आ ग्रन्थनी उपयोगिता अने मुद्रण करावबानी आवश्यकता समजाववामां आवी

अने ते वात तेमणे सहर्ष स्वीकारी. आ दरम्यान मारा वडिल भ्राता पंन्यासजी **श्रीमन्मानविजयजी म०** पाटण पधार्या. तेओश्रीने आ ग्रन्थना संशोधन अने संपादनमा सहयोग आपवा में विनन्ति करी, जेनो हार्दिकभावे तेओश्रीए स्वीकार कर्यो. पछी आ सस्करणने सुन्दर अने शुद्ध बनाववा माटे एनुं मुद्रण **महोदय प्रेस**–भावनगरमा कराववा निर्णय थयो. आ रीतिए सदरहु ग्रन्थना मुद्रणना श्रीगणेश मंडाया.

प्रस्तुतसंस्करणनी आवश्यकता—कोई पण ग्रन्थना सस्करणमां मुख्यत्वे त्रण हेतुओ होय छे. १–ते ग्रन्थ अमुद्रित ज होय, २–मुद्रित होवा छता अलभ्य या दुष्प्राप्य होय अने ३–प्राप्य होवा छतां अशुद्धिओथी भरपूर होय. आ न्याये प्रस्तुत ग्रन्थ छपाववानो मुख्य हेतु तो अद्यावधि एनी अमुद्रित अवस्था ज छे. आ सिवाय बीजो ए पण एक हेतु छे के—आ ग्रन्थनुं मूल स्थान जे '**सिद्धर्षिगणिनी उपमिति**' छे ते विशालकाय होवाना कारणे व्याख्यान माटे एनो उपयोग जवल्लेज थाय छे. ज्यारे प्रस्तुत ग्रन्थ एनो ज–सारभागनो ज–सक्षेपमां उद्धाररूप होवाथी अल्पकाय होवाना कारणे व्याख्यान माटे उपयोगी थवा साथे अल्पबुद्धिवाळा जिज्ञासुने मूल उपमितिमा प्रवेश करवा माटे सागरमां प्रयाण करनारने नावानी जेम उपकारी थशे.

सम्पादनसम्बन्धी—आ ग्रन्थनुं सम्पादन अने संशोधन अमारा बेना सहयोगथी थयुं छे. एमां अमे पाच हाथ-पोथीओनो उपयोग कर्यो छे सम्पादकनु ए एक अवश्य कर्तव्य छे के–मुद्रित थता ग्रन्थनुं सम्पादन तेवी अपूर्वयोजना अने सकलनाथी करवु जोईए के जेथी अभ्यासीओने ए ग्रन्थ रसिक थई पडे, तेमज तेनी बाह्य रोचिष्णुता ज एवी अनेरी

होमी चोर्दय के जेपी ए मन्थ छहृदयोने हृदयङ्गम बनवा साथे तत्पठनेच्छुकोने आकर्षण करी शके उपर्युक्त सम्पादकीय यथावतारीने लक्ष्यमां राखीने अमे पण आ मन्थने यथाशक्ति रोचक बनाववा तेमज शुद्ध बनाववा शक्य प्रयत्न कर्यो छे जे जे स्थळेए अमने पोथी प्रतिनो पाठ अशुद्ध लाग्यो छे ते ते स्थळे मूल उपमितिनी साथे अर्थानुसन्धाननो विचार करी सुधारेलो पाठ आवा ( ) गोळ कोष्टकमां मूक्यो छे, अने ज्यां अमने संदिग्ध पाठ लाग्यो छे त्यां अमे आ प्रमाणे (?) चिह्न सूचव्युं छे प्रत्येक प्रस्तावनी क्रमसर विषयसूचि अमे विस्तृत अनुक्रमणिकामां आपी छे अनुक्रमणिकाना विषयो मूल उपमितिमां क्यां छे ? ए जणाववा माटे अमे त्यां अनुक्रमणिकामां, सि० उ० पृ० आ शिर्षक नीचे, छपायेली मूल उपमितिना पृष्ठांको पण जणाव्या छे, जे देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थांक ४६-४९ नी प्रति उपरथी छे आम करवानु कारण ए छे के–विशेषजिज्ञासु मूल उपमितिमांथी ते स्थळ शीघ्र शोधी शके, अने सामान्य जिज्ञासु आ मन्थना दुर्बोध स्थळने मूल उपमितिद्वारा सुबोध करी शके

ग्रन्थपरिचय—प्रस्तुतग्रन्थ-रूपक कथानी आलममां पराकाष्ठाए पहोंचेल सिद्धम्नाम्नाय श्रीसिद्धर्षिगणिकृत उपमितिना अनुकरणरूपे एमांथी उद्धृत साररूप छे ए उपमितिग्रन्थमां कयी कयी विशिष्टताओ छे, अगर ए ग्रन्थ कथा ग्रन्थ जेवो छे एम कहेवा करतां एमां सर्व प्रकारनी विशिष्टता छे अने ए ग्रन्थ उपमातीत छे एम कहेवु एज समुचित छे

1 सिद्धव्याख्यातुरुपमातु महिमानं हि तस्य कः । समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमितिः कथा ॥१॥ [संक्षेपसमपरिचयशिरी]

एज ग्रन्थना सारोद्धाररूप आ ग्रन्थ सक्षेपरुचिजीवोना उपकारार्थे *आलेखायो छे.

मूल उपमितिनी माफक आ ग्रन्थमां पण आठ प्रस्तावो छे. आ ग्रन्थनी श्लोक संख्या ५७३० छे अने ते श्लोकवद्ध
छे. सारो य ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दमा होवा छता प्रत्येक प्रस्तावनो अन्तिम श्लोक वीजा छन्दमा छे. प्रत्येक प्रस्तावमा कयो कयो
विषय छे तेनुं संक्षेपमा वर्णन प्रथम प्रस्तावना श्लो. ८ थी ११ मा आ प्रमाणे करवामा आव्युं छे—

पहेला प्रस्तावमा कथानिर्माणनु कारण, वीजा प्रस्तावमा ससारीजीवनी तिर्यञ्चगतिनु वर्णन, त्रीजा प्रस्तावमा
क्रोध, हिंसा अने स्पर्शनेन्द्रियथी उत्पन्न थता दोषोनु आलेखन, चोथा प्रस्तावमा मान, मृषावाद अने रसनेन्द्रियना विकारो,
पांचमा प्रस्तावमां माया, चोरी अने घ्राणेन्द्रियजन्य विपाक, छट्ठा प्रस्तावमा लोभ, मैथुन अने चक्षु–इन्द्रियनुं परिणाम,
सातमा प्रस्तावमा मोह, परिग्रह अने श्रवणेन्द्रियना दोषो अने आठमा प्रस्तावमा पूर्वना प्रस्तावोमां कथित सर्वघटनानी योजना.

आ उपरथी समजी शकाशे के मूल उपमितिना विषयोमा खास कशो य फेरफार कर्या विना ज आ ग्रन्थनी रचना
करवामा आवी छे. कथाना पात्रोनी आखीए सकलना अने पात्रोना नामो आदिनी रचना कोई पण जातनो सुधारो
वधारो कर्या विना तेनी ते ज राखी छे. मात्र ग्रन्थने सक्षेपमा रचवानो होवाथी नगरो, नगरीओ, ऋतुओ, उपदेशो

* सक्षेपरुचिलोकानामुपकाराय साम्प्रतम् । तस्या एव मया कोऽपि **सारोद्धारः** प्रतन्यते ॥ प्रस्तुतग्रन्थ–प्रस्ताव १, श्लो० ७ ॥

चारित्रनु वर्णन टूंकावबामां आव्युं छे आम क्यांय कथाना रसने क्यांय ओछो थवा दीधो नथी अने अन्यथा पण वर्णनो नथी कोई कोई स्थळे तो एना एज श्लोको सीधा अत्र उतार्या छे आ वस्तु तुलनात्मक दृष्टिए अवलोकन करनारने जणाया विना नहि रहे यद्यपि उपमितिना अनुकरणरूप बीजा अनेक ग्रन्थो छे, पण सर्वांगीण अनुकरण करनारो आना जेवा बीजो एके य ग्रन्थ नहि होय एम अमारुं मानवुं छे कारण के आ आखो य ग्रन्थ मूळ कथानी साथे ने साथे ज चाले छे कोई नवो विषय वधार्यो नथी अने वर्णनविभाग सिवायनो कोई पण विषय छोडी दीधो नथी अस्तु, अनुकरणरूप ग्रन्थो पैकी वैराग्यकल्पलता नामनो ग्रन्थ आ प्रस्तुत ग्रन्थ करतां विशाळकाय छे एमां य पात्रोना नामो आदि सघळुय वर्णन उपमिति प्रमाणे ज छे परंतु एना लेखक तर्क प्रमाण, सप्तभंगी अने नयादि सूक्ष्मप्रज्ञागम्य विषयोना समर्थ विद्वान् बहुश्रुत न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज होवाना कारणे एमां एमनी गौर प्रतिभाना छांटणा होय ज, एटले ज एमां, उपमितिमां नहि आवेला केटलाए 'समन्तभद्रादि त्रण प्रकारनी जिनपूजा, समाधि अने समता आदि' विषयोनुं मनोरंजक विस्तृत वर्णन असाधारण विद्वत्तापूर्वक आलेख्युं छे आ सिवाय अनुकरणरूप जे बीजा ग्रन्थो छे तेमांना केटलाक अतिसंक्षिप्त छे अने केटलाकमां तो मात्र उपमितिना थोडाक पात्रोनु ज आछु वर्णन छे आथी अनुकरणरूप ग्रन्थोमां आ ग्रन्थनुं स्थान असाधारण छे

ग्रन्थकारपरिचय—प्रस्तुत ग्रन्थना रचयिता चन्द्रगच्छीय आचार्यश्रीदेवेन्द्रसूरिजी छे प्रशस्तिमां पोते पोतानी गुरुपरम्परानुं आलेखन आ प्रमाणे कर्युं छे

श्रीभद्रेश्वरसूरिः
|
श्रीहरिभद्रसूरिः
|
श्रीशान्तिसूरिः
|
*श्रीअभयदेवसूरिः
|
श्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिः
|
श्रीमुनिरत्नसूरिः
|
श्रीश्रीचन्द्रसूरिः

श्रीयशोदेवसूरिः	श्रीदेवेन्द्रसूरिः

* ताडपत्र सिवायनी बाकीनी चार प्रतिओमां आ नामना स्थाने ' श्रीउदयदेवसूरि 'नु नाम छे. सभव छे के कदाच तेमनु नाम पदप्रदान वखते बदलायु होय

ग्रन्थकार महर्षिने आचार्यपदथी शोभता बढिल आशा श्रीयशोदेवसूरिजीए आपी हती तेओश्रीए आ ग्रन्थ विक्रम संवत १२९८मा कार्तिक कृष्ण छठना पुष्यनक्षत्रयुक्त दिवसे समाप्त कर्यो छे आ उपरथी तेओश्रीनी सत्ता १३ मी सदीना उत्तरार्धथी १४ मी सदीना पूर्वार्ध सुधी होवी जोईए. तेओश्रीनी जन्मभूमि, दीक्षा, विहारभूमि अने साहित्यसर्जन आदिनी बीजी कशीय माहिती उपलब्ध साधनोमां शोध करवा छतां मळी शकी नथी

आ ग्रन्थकारे साहित्यचोरीना पापथी बचवा माटे प्रस्ताव १ अने १२ मांमां स्पष्ट जणावी दीधुं छे के—आ मारी कृतिमां अर्थो अने कोई कोई स्थळे पदो पण उपमितिनां ज छे मात्र केवल श्लोकबद्ध अने ते पण थोडा श्लोकमां रचेली होवाथी नवी कृति कहेवाय छे

आजे सारा जगतमां प्रत्येक क्षेत्रमां अनीति, अप्रमाणिकता अने चौर्यवृत्ति, द्रव्योपार्जन अगर यश-कीर्ति माटे पूरजोशमां थई रही छे ए भेळी स्वतन्त्र ठाय साहित्य जेवा आध्यात्मिक क्षेत्रने पण नथी स्पर्श्यां एम कही शकाय तेम नथी परन्तु आ ग्रन्थकार तो एवी अप्रमाणिकता अने चौर्यवृत्तिथी सर्वथा अलिप्त रह्या छे ए एमना आ कथन उपरथी स्पष्ट देखाय छे. दुःखाता हृदये लखवु पडे छे के वर्तमानमां कोई कोई व्यक्तिओ तरफथी सस्ती कीर्ति खाटवा साहित्यचोरीद्वारा पर

---

१ ग्रन्थार्थोऽस्य पुनात्र पदान्यपि च कुत्रचित्। केवलं केवलश्लोकैर्बद्धस्तथोच्यते ' ॥

२ एवी ज मतलबनो अत्रोक्तं परस्तावत् ... पाठ्यस्मिनाम्। ग्रन्थकाले कवितं तु ... ॥ आवो उल्लेख छे.

प्रयत्नने पोताना नामे चढाववानो प्रयत्न करवामा आवे छे, ए खूब ज शोचनीय छे. शिष्टसमाजमां अन्य चोरीनी जेम साहित्यचोरी पण दूषित अने घृणित ज मानवामा आवेली छे ए जराए भूलवा जेवु नथी.

ग्रन्थसंशोधकपरिचय—पूर्वकालमा ग्रन्थकारो पोताना ग्रन्थोने बीजा विद्वानो पासे सशोधन कराव्या पछी स्वकीय ग्रन्थने प्रसिद्धिमा मूकता हशे एनी इतिहास साक्षी पूरे छे. एज न्याये प्रस्तुत ग्रन्थ पण समकालीन प्रसिद्ध सशोधक चन्द्रगच्छीय **श्रीप्रद्युम्नसूरिजीए** शोधेल छे, जे आ ग्रन्थनी प्रशस्तिथी जाणी शकाय छे. आ श्रीप्रद्युम्नसूरिजीए पोते संक्षेप-समरादित्यचरित्र, प्रव्रज्याविधानवृत्ति आदि ग्रन्थोनी रचना करी छे अने नीचे जणावेला तेमना समकालीन ग्रन्थकारोने ग्रन्थरचनामा अने संशोधनमां सहाय पण करी छे.

१ श्रीबालचन्द्रसूरिनी उपदेशकन्दलीवृत्ति तथा विवेकमञ्जरीवृत्तिनी रचनामा सहाय करी छे, अने

१ वि. स. १२९९ मां श्रीउदयप्रभसूरिकृत उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति,

२ वि. सं. १३३२ मां श्रीमुनिदेवसूरिरचित श्रीशान्तिनाथचरित्र,

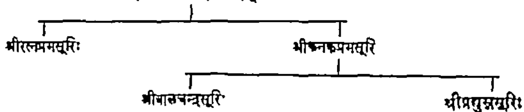
३ वि. सं. १३३४ मा श्रीप्रभाचन्द्रसूरिविरचित प्रभावकचरित्र,

४ वि. सं. १३३४ मा पण्डित श्रीधर्मकुमारप्रणीत श्रीशालिभद्रचरित्र,

५ श्रीरत्नप्रभसूरिनिर्मित कुवलयमालाकथासंक्षेप,

६ श्रीविनयचन्द्रसूरिविहित श्रीमल्लिनाथचरित्र, अने

७ श्रीमानतुङ्गसूरिक्लृप्त श्रीश्रेयांसनाथचरित्र, एम सात ग्रन्थो शोधी आपवामां सहाय करी छे
प्रशस्तिमां जणाव्या प्रमाणे एमनी गुरुपरम्परा आ प्रमाणे छे



आ श्रीप्रद्युम्नसूरिनी आचार्यपदवी तेमना वडिल गुरुभ्राता श्रीबालचन्द्रसूरिना हाथे थई हती

प्रतिओनो परिचय—प्रस्तुत संस्करणमां अमे पांच हाथपोथीओनो उपयोग कर्यो छे–

१ पाटण-संघवीना पाडानी ताडपत्रनी, जेनी अमे ता० संज्ञा राखेली छे

२–३ पाटण श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिरनी, जेनी अमे क० अने स० संज्ञा राखी छे

४ अमदावाद डेहेलाना उपाश्रयनी, जेनी अमे ग० संज्ञा राखी छे

५ वडोदरा पूज्यपाद शान्तमूर्ति श्रीहंसविजयजी शास्त्रसंग्रहनी, जेनी अमे प० संज्ञा राखी छे

आ पाचे प्रतिओनो परिचय आपता पहेलां एक वात जणावीये छीए के–आ संस्करणमां अमे ताडपत्रनी प्रतिने ज मुख्यत्व आप्यु छे. आम छता बीजी कागळनी प्रतिओनी साथे ज्यां ज्यां भिन्नता आवी त्यां त्या तात्पर्यने दृष्टिपथमां राखी मूल उपमितिमां ए स्थळ तपासी सगतपाठने मुख्य स्थान आप्युं छे, अने ताडपत्रीय पाठने फूटनोटमां आप्यो छे. ज्यारे बीजी कागळनी चार प्रतिओ माटे ए धोरण स्वीकार्युं छे के–जे प्रतिनो पाठ मूल उपमितिनी साथे चालतो होय तेने मुख्य स्थान आपी प्रत्यन्तरनो पाठ सर्वथा अशुद्ध न होय तो पाठान्तर तरीके नोंध्यो छे.

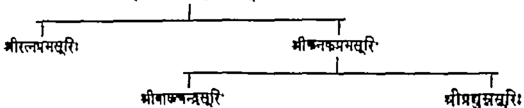
१ ता० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य जूनो डाभडा नंबर–९३ अने नवो डाभडा–नंबर ११२ छे. पत्र सख्या २९२ छे. लवाई पहोळाई $१५\frac{१}{२}$ "×$२\frac{१}{४}$ " छे. प्रतिनी स्थिति सारी छे. आम छतां य छेल्ला प्रशस्तिवाळा बे पत्रो (२९१–२९२)नी जमणी बाजुमां लगभग $१\frac{१}{२}$ इच जेटलो भाग तूटी गयो छे. आ भाग क्यारे अने कोना हाथे तूट्यो एनी अमने कशी ज खबर नथी, परन्तु सने १९३७ मा छपायेल पत्तनस्थ-प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि(प्रथमभाग)मां आ प्रशस्ति खण्डित स्थितिमा मुद्रित थई छे. एटले तूटेलो भाग ते पहेला ज गुम थयो छे ए नक्की छे. आ प्रतिमां प्रशस्ति घणी मोटी छे. ए प्रशस्ति आपता पहेला एक वात ए जणाववानी छे के–आ प्रशस्ति अत्यार अगाउ त्रण स्थळे मुद्रित थई गई छे.

१ पत्तनस्थ–प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि प्रथम भागना पृष्ठ ५० उपर.

२ प्रशस्तिसंग्रहना (सपादक अमृतलाल मगनलाल शाह) पृष्ठ ५८ उपर.

३ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रहना (सींघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १८) पृष्ठ ६८ उपर.

७ श्रीमानतुङ्गसूरिक्लृप्त श्रीश्रेयांसनाथचरित्र, एम सात ग्रन्थो शोधी आपवामां सहाय करी छे प्रशस्तिमां जणाव्या प्रमाणे एमनी गुरुपरम्परा आ प्रमाणे छे



आ श्रीप्रद्युम्नसूरिनी आचार्यपदवी तेमना वडिल गुरुभ्राता श्रीबालचन्द्रसूरिना हाथे थई हती

प्रतिओनो परिचय—प्रस्तुत संस्करणमां अमे पांच हाथपोथीओनो उपयोग कर्यो छे–

१ पाटण-संघवीना पाडानी ताडपत्रनी, जेनी अमे ता० संज्ञा राखेली छे

२–३ पाटण श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिरनी, जेनी अमे क० अने ख० संज्ञा राखी छे

४ अमदावाद डेहेलाना उपाश्रयनी, जेनी अमे ग० संज्ञा राखी छे

५ वडोदरा पूज्यपाद शान्तमूर्ति श्रीहंसविजयजी शास्त्रसंग्रहनी, जेनी अमे घ० संज्ञा राखी छे

आ पाचे प्रतिओनो परिचय आपता पहेलां एक वात जणावीये छीए के–आ संस्करणमां अमे ताडपत्रनी प्रतिने ज
मुख्यत्व आप्युं छे. आम छता बीजी कागळनी प्रतिओनी साथे ज्यां ज्यां भिन्नता आवी त्यां त्या तात्पर्यने दृष्टिपथमा
राखी मूल उपमितिमा ए स्थळ तपासी सगतपाठने मुख्य स्थान आप्युं छे, अने ताडपत्रीय पाठने फूटनोटमा आप्यो छे.
ज्यारे बीजी कागळनी चार प्रतिओ माटे ए धोरण स्वीकार्युं छे के–जे प्रतिनो पाठ मूल उपमितिनी साथे चालतो होय
तेने मुख्य स्थान आपी प्रत्यन्तरनो पाठ सर्वथा अशुद्ध न होय तो पाठान्तर तरीके नोंध्यो छे.

१ ता० संज्ञक प्रतिनो तत्रत्य जूनो डाभडा नबर–९३ अने नवो डाभडा-नंबर ११२ छे. पत्र संख्या २९२ छे. लवाई पहोळाई १५$\frac{३}{२}$"×२$\frac{१}{४}$" छे. प्रतिनी स्थिति सारी छे. आम छता य छेल्ला प्रशस्तिवाळा वे पत्रो (२९१–२९२)नी जमणी बाजुमा लगभग १$\frac{१}{२}$ इंच जेटलो भाग तूटी गयो छे. आ भाग क्यारे अने कोना हाथे तूट्यो एनी अमने कशी ज खबर नथी, परन्तु सने १९३७ मां छपायेल पत्तनस्थ-प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि(प्रथमभाग)मां आ प्रशस्ति खण्डित स्थितिमां मुद्रित थई छे. एटले तूटेलो भाग ते पहेलां ज गुम थयो छे ए नक्की छे. आ प्रतिमां प्रशस्ति घणी मोटी छे. ए प्रशस्ति आपता पहेला एक वात ए जणाववानी छे के–आ प्रशस्ति अत्यार अगाउ त्रण स्थळे मुद्रित थई गई छे.

१ पत्तनस्थ–प्राच्यजैनभाण्डागारीय–ग्रन्थसूचि प्रथम भागना पृष्ठ ५० उपर.

२ प्रशस्तिसंग्रहना (सपादक अमृतलाल मगनलाल शाह) पृष्ठ ५८ उपर.

३ जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रहना (सींघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १८) पृष्ठ ६८ उपर.

आ अन स्थळे मुद्रित थयेली मस्तुत मशस्तिनी मौलिकता पहेला स्थळमां बरोबर जळवाई छे एटले के जे स्थळे अक्षरो खण्डित छे त्यां अर्थानुसन्धाननो विचार करी [ ] आवा कोष्ठकमां तेटला अक्षरो उमेर्या छे अने ज्यां समज नथी पडी त्यां तेटली जग्या खाली राखी छे आम करी स्व श्रीयुत दलाले प्रमाणिकताने बरोबर माळवी छे एम कहेवु ज जोईए

बीजा स्थळमां तो सम्पादक खण्डित भागमां पोतानी मतिकल्पनाथी नवा अक्षरो एवी रीते जोडी दीधा छे के जाणे आ प्रशस्ति एमने अखण्डित ज मळी होय एटलु ज नहि पण ए अक्षरयोजनामां य एटली बधी गडबड करी छे के-ज्यो छंन्द भाले छे एनो पण ख्याल राखवा तस्दी लीधी नथी

त्रीजा स्थळमां पण आ प्रशस्तिनी मौलिकताने केटलेक स्थळे विकृत करवामां आवी छे सुवाच्य अक्षरोने पण बदली नांख्या छे अने खण्डित अक्षरोने अखण्डित मळ्या होय तेवी रीते मुद्रित कराव्या छे एना सम्पादक तो सम्पादक भारतमां अति प्रसिद्धिने पामेला श्रीयुत जिनविजयजी छे सम्पादके जैनपुस्तक-प्रशस्तिसंग्रहमां प्रास्ताविक विचारना पृष्ठ १५ ना त्रीजा फकरामां लख्यु छे के-'इनमेंसे पाटणके भाण्डारोंमें रक्षित पुस्तकोंके तो प्राय सब लेख हमने अपने हाथोंसे उतारे हैं'। आम होवा छतां एमना हाथे आवुं केम बन्यु हशे ए ज एक विचारणीय प्रश्न छे बीजुं आ

१ पहेलो आ प्रशस्तिना प्रथम श्लोकनो एमणे आपेलो उत्तरार्धभाग अपारमथमस्तारतारित तप ॥ १ ॥
२ बीजो आ प्रशस्तिना प्रथम श्लोकनो एमणे आपेलो उत्तरार्धभाग अपारमथमस्तारसमुत्तारितवतारित तप ॥ १ ॥
३ त्रीजो आ प्रशस्तिमां एमणे आपेलो प्रथम श्लोक. श्रीमन्तस्ते सन्तां सन्तु तीर्थेशाः स्वस्तिमार्ग । अपारमथमस्तारसमुत्तारितजंतव ॥ १ ॥

प्रशस्तिवाळी ताडपत्रनी प्रति माटे श्रीयुत जिनविजयजीए १३ मी सदीमां लखायानु अनुमान कर्युं छे ते पण व्याजबी लागतु नथी, कारणके–आ ग्रन्थ वि. स. १२९८ मा तो रचायो छे. अने आ प्रतिनो विचार करता ए मूल लेखकनी प्रति होय एम लागतुं नथी, एटले प्रतिलिपी थयेली होवानो ज संभव छे. आथी अमारु तो ए मानवुं छे के आ प्रति वहेलामां वहेली १४ मी सदीना प्रथम या द्वितीय चरणमां लखाई हशे.

ताडपत्रीयप्रतिनी प्रशस्ति—शुभं भवतु लेखक-पाठकयोः ।

श्रीमन्तस्ते सता सन्तु तीर्थेशा[ः] स्वस्तिकारिणः । अपारभवकान्तारतारित [°नेकजन°] तव ॥ १ ॥
पल्लीवाल इति ख्यातो वंशः पर्वोदितोदितः । सोऽस्ति स्वस्तिकरो धात्र्यां यत्र कीर्तिर्भजायते ॥ २ ॥
पु [°रा तत्र प°] वित्रोऽभूद् वंशे मुक्ता(°फ°)लोज्ज्वलः । वीकलाख्य इति श्रेष्ठी सतां हृदि गुणे[ ] स्थितः ॥ ३ ॥
तत्पत्नी रत्नदेवीति पवित्रा पुण्यशालिनी । गुणमाणिक्यमञ्जूषा तुषारद्युतिशीतला ॥ ४ ॥
पुत्री तयोः स्वहृणिनामधेया सुश्राविका शीलवती बभूव । या देवपूजानिरता गुरूणां पादाम्बुजासेवनराजहंसी ॥ ५ ॥
पुरा पवित्रस्तत्रासीद् वंशे मुक्ताफलोज्ज्वलः । योगदेव इति [श्रे°]ष्ठी सतां हृदि गुणे स्थितः ॥ ६ ॥
आंम्रदेवश्च वीरश्च तनयौ सनयौ तत. । कर्पद्या(°पर्दा°) माकमाढाका वीरपुत्रास्तयोऽभवन् ॥ ७ ॥
सा [°ढाक°] स्य ततो जज्ञे पुत्रश्चाम्रकुमारकः । परोपकारदाक्षिण्यगाम्भीर्यविभिसेवधिः ॥ ८ ॥
जयती(°न्ती°)त्याख्यया जज्ञे गेहिनी तस्य सत्य [°वाक्] । तत्सुतः पामडो जज्ञे धांई रूपी सुते तथा ॥ ९ ॥

ततः सत्पुण्यपात्रस्य पवित्रस्य महात्मनः । सुधियः पासडस्याभूत् पत्नी पासूरिति [प्रिया] ॥ १० ॥
तस्या पुत्रास्त्रयो जाता पुमर्था इव वङ्गमाः । नागसिंहो वज्रसिंहः तथा मथनसिंहकः ॥ ११ ॥
माल्हणिर्नागसिंह ["स्याभवत् स"]द्धर्मधारिणी । वहुणिर्वज्रसिंहस्य बभूव प्रेयसी तथा ॥ १२ ॥
श्रीपूर्ण्योदयचन्द्राख्यपक्ष्मोद्योतकारिणाम् । श्रीश्रीदेवसूरीणां ["सुपदे"] शेन भक्तिमाक् (?) ॥ १३ ॥
सुश्राविका छेयं कुर्वाणा धर्मसंग्रहम् । श्रीअभयदेवसूरीणां विशेषाद् भक्तिशालिनी ॥ १४ ॥
[उपमितिभवप्रपञ्च"]स्योद्धारस्यात्र पुस्तिकामेताम् (?) । सा पात[ः] स्वश्वश्रूश्रेयोऽर्थं लेखयामास ॥ १५ ॥
यावद्भुवनाद्रिवेषां दिवसकरो भानुपावकसम ["क्षम्"] । परिपठति विदुमारी मन्दतु सत्पुस्तकस्तावत् ॥ १६ ॥
शुभमस्तु श्रीश्रमणसंघस्य ॥ छ ॥ मङ्गल महाश्रीरिति ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

२ क० संज्ञक प्रतिनो डाबडा डा० म० १९७ अने प्रति नं० १५८१ छे एना पत्र १०४ छे आ प्रति पडिमात्रा लिपीमां लखायेली छे. शुद्धिनुं धोरण एमां जोईए तेवुं सचवायुं नथी आ प्रति क्यारे लखाई, क्यां लखाई तथा कोणे लखावी ए बधु अन्तिम पुष्पिका नहि होवाना कारणे अज्ञात ज रहेवा पाम्युं छे आम छतां प्रतिनी लिपी तथा स्थिति जोतां पंदरमी सदीनी आसपासमां लखाई हशे एम लागे छे.

१ ख० संज्ञक प्रतिनो डाबडा डा० म० ८१ अने प्रति नं० १९२१ छे पत्र संख्या १५७ छे आ प्रति अर्वाचीन होवा छतां य एमां शुद्धि सारी छे आथी अमने लागे छे के—जेना उपरथी आ प्रतिलिपी थई छे ते आदर्श शुद्धतम होवो जोईए.

एमां आ प्रमाणे पुष्पिका छे—लि० लहिया श्रीवल्लभः ॥ सं. १९६२ फागण वद ११ लि० श्रीपाटणमध्ये ॥ श्री ॥

४ ग० सञ्ज्ञक प्रतिनो तत्रत्य डा० नं० ४ अने प्रति नं० ४ छे. पत्र संख्या १०६ छे. आ प्रतिमां शुद्धिनु धोरण ठीक प्रमाणमा सचवायुं छे. एमां पुष्पिका आ प्रमाणे छे—श्रीः ॥ शुभं भवतु ॥ छः ॥ श्रीः ॥ कल्याणं भूयात् ॥ श्रीः ॥

सवत १५६२ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्ण पक्षे दशमी तिथौ गुरुद(°दि°)ने श्रीअणहिलपाटकपत्तने श्रीतपागच्छे श्रीपरमगुरु श्रीहेमविमलसूरिविजयमानराज्ये पंडितश्रेणिशिरोमणि————(अहीं लगभग चार इच जेटली जग्या उपर कोईए हडताल लगावी छे.) मुनिभणनगुणनकृते श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारप्रतिर्लेखिता ॥ विबुधैर्वाच्यमाना चिरं जयतात्। श्रीरस्तु श्रीचातुर्वर्णस्य श्रीसघस्य ॥ छ ॥

५ घ० सञ्ज्ञक प्रतिनो तत्रत्य नबर नोंधवो रही गयो छे. एटले अमे ते नंबर आपी शकता नथी. आ प्रति खास करीने क० संज्ञक प्रतिने बहुधा मळती छे. आमां लख्या सवत आदि कशुं ज नथी. मात्र आटली पुष्पिका छे—

प. श्रीदेवसागरजी मया करीनें अमरसागर।

ऋणस्वीकार—आ ग्रन्थना सम्पादन माटे तैयार करेली प्रेसकोपी पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् यशोदेवसूरिजीना शिष्य मुनिराज श्रीअशोकविजयजीए साद्यन्त तपासी योग्य सूचना आपी छे, मुनिराज श्रीमनकविजयजी महाराजे केटलीक वखत प्रूफो जोई आप्या छे, पू. पा. पन्यासजी श्रीमुक्तिविजयजी महाराजे छपायेला फरमा जोई अमारा जोवा छतां रही

गयेली केटलीक अशुद्धिओ तरफ अमारुं ध्यान दोर्युं छे, संघवीना पाडानी ताडपत्रीय प्रति पाटणना सेवन्तिभाइए आपवा उदारता बतावी छे, श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिर(पाटण)ना ट्रस्टी नगरशेठ केशवलालभाई तथा वकील चीमनलाल संघवीए बे हस्तलिखित प्रतिओ आपवानी उदारता बतावी छे, पू पा आ श्री यशोदेवसूरिजीनी प्रेरणाथी शेठ हीराचंद रतनचंदनी पेढीना मालिक शाह ताराभाई अंबालाल देवसानना उपाश्रयनी प्रति मेळवी आपी छे, तथा उदारचेता साहित्यरसिक मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराजे पू० पा० मुनिराज श्रीहंसविजयजी शास्त्रसंग्रहनी प्रति मोकली आपी अमारा आ कार्यमां सहाय करी छे आथी आ स्थळे ए सर्वनो हार्दिक आभार मानी कृतज्ञता अनुभवीए छीए

उपसंहार—अन्ते एक विज्ञप्ति करी विरमीए छीए के-छपाईने आवेला फरमाओमां दृष्टिदोषथी, अक्षरयोजकोथी, मतिमान्द्यथी के प्रेसदोषथी रही गयेली क्षतिओनुं शुद्धिपत्रक तैयार करी अमोए अनुक्रमणिका पछी आप्युं छे ते प्रमाण वांचको प्रथम सुधारी लेशे आम छतां य तदुपरान्त जे क्षतिओ रही गयेली जणाय तेने सुज्ञवांचको क्षम्य गणशे अने अनुकूलताए अमोने जणाववा अनुग्रह करशे, जेथी हवे पछीनी आवृत्ति प्रसिद्ध थाय त्यारे तेमां यथायोग्य सुधारो थई शके

पुरीबाई जैन धर्मशाळा सीवकी (सौराष्ट्र)
विक्रम संवत २००१ वीर संवत २४७१
द्वितीय आषाढ वदि १०

कान्तिविजय



श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारस्य अनुक्रमणिका·

प्रथमः प्रस्तावः

द्वितीयः प्रस्ताव

तृतीयः प्रस्तावः







चतुर्थ प्रस्ताव

पञ्चम प्रस्ताव ।



षष्ठ प्रस्तावः

सप्तमः प्रस्तावः

अष्टमः प्रस्तावः



शुद्धिपत्रकम् ।

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्ध	शुद्धः
३	५७	ब्रूवाणापि	ब्रुवाणापि
३	७५	°वत्सलः	°वत्सलः ।
४	९१	भद्र ।	भद्र
५	१२९	पुरः	पुरः ।
५	१३०	°मिति	°मीति
५	१३४	राजा ब्रवी°	राजाऽब्रवी°
५	१४४	प्रतिपद्यत	प्रत्यपद्यत
५	१४६	°तद्दयादत्ते (त्तं) ।	°तद्दया दत्ते ।
६	१५२	वार्योवश्यं	वार्योऽवश्यं
९	१	°शीरि°	°सीरि°
९	६	पुरीं	पुरीं
९	२५	वीक्ष्य°	वीक्ष°
१०	३८	निर्वी°	निर्वी°
१०	४९	°नामो°	°नामा°
१०	५६	सन्मुखं	सम्मुखं
१०।२	फूटनोट	परितैः	परितः
११	५९–६७	°ग्रहीत°	°गृहीत°
११	६०	°र्जग्रहे	°र्जगृहे
११	७७	°परिणाम°	°परीणाम°
१२	८९	स्वसः !	स्वसः ! ।
१२	१०१	°सिद्धश्च	°सिद्धश्च
१२	११५	°चक्राद्या	°चक्र्याद्या

१४	१४९	°गृहीत्	°गृहीत्
१५	१८१	मनुष्योरि°	मनुष्यारि°
१५	१९८	°विताम्नि	°वीताम्नि
१६	२११	मृणुष	शृणुष
१६	११ मी श्वास °यम°		मः म°
१७	१०	पात्रिभिः	मात्रीभिः
१७	फुटनोट	ज्योत्स्ना सा°	ज्योत्स्नासा°
१७	१५	पैशून्य°	पैशुन्य°
१७	१५	कटि°	कटी°
१७	१६	गुरुम्	गुरु
१७	१७	°संश्रिको	°संश्रको
२१	१३५	मुच्छेया	मूर्च्छया
२१	१३९	°पुना पि	°पुनापि
२१	१४८	°स्तद्ध°	°स्तद्ध°

२१	१४८	कमलकम°	कमलक°
२४	२२१	एव	एव
२५	२५४	°ज्ञार्थ	°स्वर्ति
२६	२८९	°पराङ्मुखः	°पराङ्मुखः
२७	२९२	किं	किं
२८	३४०	पाला पि°	कास्यापि°
२८	३४२	पराङ्मुखी	पराङ्मुखी
२९	३५२	°मीश्वते	°मीश्वते
३०	४०१	°सप्पासं°	°सप्पा सं°
३१ ३२	४१९ ४५८	किं	किं
३३	४८३	°माऽपि°	ना पि°
३३	४९०	सोश्वर्य°	स सोश्वर्य
३५।१	फुटनोट	°मागः	मागे
३७	५८०	°मीवे°	°मीवे°

४०	६७८	कत्तो (°त्री)	कत्तो
४३	७८५	भव°	भवे°
४८	९२१	°शेस्वरम्	°शेखरम्
५०	९८२	°प्राप्तौ	°प्राप्तो
५३	१०७५	हिंसया°	हिंसया°
५६	११६९	°हूरे	°हरे
५७	११९७	°रूचै°	°रुचै°
६०	१२८०	°ण्णेषु	°ण्णेषु
६०	१२८१	सूर्रि	सूरिं
६०	१२८५	किं ?	किं ?
६१	१२९४	किं	किं
६२	१३१८	हिंसा°	हिंसा°
६३	१३५३	तछ्रुणु	तच्छृणु
६५	२	शीतार्शुं	शीतांशुं

७०।१	फूटनोट	°मय	°मय
७१	७१७९	°पूण्यो°	°पुण्यो°
७२	२०३	तच्छ्रुणु	तच्छृणु
७२	२१६	कदलीकां	कन्दलिकां
७४	२६२	कदलिकापि	कन्दलिकापि
७९।२	फूटनोट	स्णाने	स्थाने
८८	६८०	द्दष्टोऽथ	दृष्टोऽथ
८९	६९७	°र्डि म्भ°	°र्डिम्भ°
८९	७००	°णो द्यता:	°णोद्यता:
८९	७०८	एव	एष
९५	८७१	इद्दगेव	ईदृगेव
९५	८८१	भावितः	भाषितः
१०३	११२२	°क्रान्ता	°क्रान्ताः
१०५	११७६	जन°	जैन°

१०९	१२०१	॰वेश्मम म॰	॰वेश्माम॰	१४९	२८७	तत् तनु॰	तत्तनु॰
१०९	१२१७	वि येका	विवेका॰	१५०	१५१ ३३१ ३६२	दुम्पुरे	दुम्पूरे
११०	१३३३	तात्'	तात'	१५१	३५१	॰स्वरवो॰	॰स्वरौ॰
११०	४४९	ठं	ठ	१६२।२	फुटनोट	॰साधः	॰साधैः
१११	५५७	पुण्येमें	पुण्येमें	१६९	१८५	ततः मा	ततः स मा
११९	६१०	॰यत्तनो	दर्शनो	१७४	४७	॰भुतान्व॰	॰भुतान्व॰
१४०	१	॰पा र्थ॰	॰पार्थ॰	१७५	५०	॰गंगोचरे	॰गंगोचरे
१४१	५५	नखेप	न खेप	१७७	१४२	॰मातय	॰माशय
१४३	११७	मार्द्ध	सार्द्ध	१८०	२१३	महिपतिः	महीपतिः
१४४	१५०	॰पी यो	॰पीयो॰	१८१	२६०	पाप्तम्म	माप्तम्म
१४७	२१७	मासव	॰मापस	१८४	३३७	पमि पाळ	पमिपाळं
१४७	२२१	नरेश्वर	नरेश्वरः	१९२	५८९	॰प्योंनो	॰प्योंनो

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमो नमः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः ।

ॐ नमो विषयातीतरूपाय परमात्मने । अन्तरङ्गद्विषद्भङ्गसङ्गतानन्दसम्पदे ॥ १ ॥ अस्तोककेवलालोकलोका-
लोकविलोकिनः । लोकाग्रनिलयान्नौमि सर्वानपि जिनेश्वरान् ॥ २ ॥ नौमि भूतभवद्भाविभावाभावावभासिनीम् ।
देहिसन्देहसन्दोहभेदिनीं जिनभारतीम् ॥ ३ ॥ येषां प्रसादमासाद्य[1] भवेद् गौरवभाजनम् । जनोऽयं जडमेधोऽपि
तान्नमामि गुरूनहम् ॥४॥ अद्भुतप्रतिभादर्शसङ्क्रान्ताशेषविष्टपम् । नमामि तमहं सिद्धव्याख्यातारं मुनीश्वरम् ॥५॥
चक्रे परोपकाराय परमार्थप्रकाशिनी । उपमित्यभिधा येन कथाद्भुतनिधानभूः ॥ ६ ॥ सङ्क्षेपरुचिलोका-
नामुपकाराय साम्प्रतम् । तस्या एव मया कोऽपि सारोद्धारः प्रतन्यते ॥ ७ ॥ प्रस्तावे प्रथमे तत्र कथानिर्माण-
कारणम् । संसारिजीवतिर्यक्त्ववक्तव्यं च द्वितीयके ॥ ८ ॥ तृतीये दूषणं क्रोधहिंसास्पर्शनसम्भवम् । तुर्ये मान-
मृषावादरसनानां च विक्रिया ॥ ९ ॥ विपाकः पञ्चमे मायास्तेयघ्राणसमुद्भवः । परिणामस्तथा षष्ठे लोभमैथुन-
चक्षुषाम् ॥ १० ॥ दोषो मोहपरिग्रहश्रवणानां च सप्तमे । अष्टमे योजना पूर्वोदितार्थस्य च वक्ष्यते ॥ ११ ॥

१ ०याभवद् ख० ।

॥ कलापकम् ॥ अन्यचात्रास्ति यद्यत्र यदन्यदपि च क्वचित्। केवलं केवलस्तोकलोकदृष्टिर्न वोत्पद्यते ॥ १२ ॥
तथाहि—इहास्ति लोकविख्यातमनेकाश्चर्यसङ्कुलम्। अदृष्टमूलपर्यन्तमिति नाम्ना महापुरम् ॥ १३ ॥ प्राकारपरिखाकूपकासाराऽऽरामराजितम्। बालखेलाहलाकीर्णं सौधदेवकुलाकुलम् ॥ १४ ॥ अगण्यपण्यसम्पूर्णैरापणैर्भूषितान्तरम्। केन वर्णयितुं शक्यं तद्विस्मयकरं पुरम् ॥ १५ ॥ युग्मम् ॥ नमन्नृपतिसङ्घातैः सेव्यमानपदाम्बुजः। तत्रास्ति नामधेयेन सुस्थितः पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥ जयप्राप्तयशोराशिर्विक्रमाक्रान्तशात्रवः। करुणारसपाथोधिः प्रजापालनलालसः ॥ १७ ॥ गाम्भीर्यौदार्यधैर्यादिगुणरत्नौघरोहणः। ददात्यमन्दमानन्दं क्षमाधीशो न कस्य सः ॥ १८ ॥ युग्मम् ॥ निर्लक्षण दुर्बुद्धिरर्थपौरुषवर्जितः। निलयः सर्वरोगाणां क्षुत्क्षामो नाथवर्जितः ॥ १९ ॥ सोन्मादो डिम्भसङ्घातैर्लोष्टुयष्ट्यादिभिर्हतः। ताड्यमानो गतघृणैर्नारकोपमवेदनः ॥ २० ॥ सर्वाकृपास्पदं दीनो दृष्टान्तः पापकर्मणाम्। तत्रैवास्ति पुरे रङ्कः कश्चिन् निष्पुण्यकाह्वयः ॥ २१ ॥ विशेषकम् ॥ घटकर्परमादाय स भ्राम्यत्यखिले पुरे। परं वराको नाप्नोति भिक्षामात्रमपि क्वचित् ॥ २२ ॥ कदन्नमपि स प्राप्य कदाचिद्दैवयोगतः। लब्धराज्य इवात्यन्तं जायते मोदमेदुरः ॥ २३ ॥ तस्याघ्रातस्य रोरस्य तृप्तिर्नैवोपजायते। बहुनापि कदन्नेन वाडवस्येव वारिणा ॥ २४ ॥ यथा यथा तदश्नाति वर्धते ते तथा तथा। पर्यन्तेऽस्य मदाः पूर्णोदरा इव पादपाः ॥ २५ ॥ तथाप्यस्य कदन्नेन तथाशा न निवर्तते। सुस्वादु

---

१ ०लोहप० क० स० प०। २ कुक्षिम्भरिः। ३ ०स्मो० ता० क० स० प०।

भोजनास्वादो न स्वप्नेऽपि हि जायते ॥ २६ ॥ एवं पर्यटतस्तत्र दुःखाघ्रातस्य सर्वतः । निर्भाग्यशेखरस्यास्य भूयान्कालोऽतिलङ्घितः ॥ २७ ॥ अन्यदा च परिभ्राम्यन् भिक्षार्थी स गृहे गृहे । तद्राजमन्दिरद्वारं जगामाऽऽगामिमङ्गलः ॥ २८ ॥ मोहाज्ञानादिभिर्द्वास्थैरपरैर्वारितोऽपि तम् । स्वकर्म्मविवरद्वास्थो मुमोचान्तः कृपापरः ॥ २९ ॥ राजामात्यमहायोधनियोगितलवर्गिकैः । महाभटसमूहैश्च परितः परिपूरितम् ॥ ३० ॥ स्थविरालोकसङ्कीर्णं युवतीजनसङ्कुलम् । अशेषविषयोपेतममन्दानन्ददायकम् ॥ ३१ ॥ अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वाथ राजवेश्म सविस्मयः । स तदन्तर्गतो रङ्कश्चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ ३२ ॥ विशेषकम् ॥ निष्पुण्यकोऽस्म्यहं सत्यं मनोनिर्वृतिकारणम् । नेयन्तं कालमालोकि येनेदं नृपमन्दिरम् ॥ ३३ ॥ अस्य द्वारि परिभ्राम्यन्नहं हि बहुशः पुरा । समायातः परं पापैर्द्वारपालैर्निराकृतः ॥३४॥ स्वकर्म्मविवरस्त्वेष परमो मम बान्धवः । येनाद्य नृपधामेदं दर्शितं विश्वसुन्दरम् ॥ ३५ ॥ मन्ये धन्यतमा एते लोकाः क्लेशविवर्जिताः । सदा विलसदानन्दा [2]ये वसन्त्यत्र मन्दिरे ॥ ३६ ॥ अथ प्रासादशिखरे सप्तमे भूमिकातले । आसीनो लीलया प्रोद्यदमन्दानन्दपूरितः ॥ ३७ ॥ अधस्तात्तत्पुरं पश्यन् स बाह्याभ्यन्तरं नृपः । चिन्तयन्तं तथा रोरमद्राक्षीदार्द्रया दृशा ॥ ३८ ॥ युग्मम् ॥ इतो महानसाध्यक्षो धर्म्मबोधकराभिधः । तत्र तां भूपतेर्दृष्टिं पतन्तीं निरवर्णयत्[3] ॥ ३९ ॥ ततः स चिन्तयामास मनस्येवमनाकुलः । अहो ! किमिदमाश्चर्यमधुना वीक्ष्यते मया ॥ ४० ॥ राज-

१ ०तदचि० ता० । २ मोदन्ते यत्र क० ख० ग० घ० । ३ अज्ञासीदित्यर्थः ।

राज्येन यस्तावद् दृश्यते सार्वया दशा । अचिरादेव स स्वामी जायते जगतोऽपि हि ॥ ४१ ॥ अलक्ष्मीभाजनं
मूढो मार्दवीमस्सवर्जनः । रोगग्रस्तसमस्ताङ्गो जगदुद्वेगकारणम् ॥ ४२ ॥ अय निष्पुण्यको रङ्कः कस्मयैव
निकेतनम् । कथं तदा येनेन समसाद्भुदीक्ष्यते ॥ ४३ ॥ युग्मम् ॥ दु ज्ञातमथवा सम्यगवलोकनकारणम् ।
स्वकर्मविवरेणैव यस्मादत्र प्रवेशितः ॥ ४४ ॥ स्वकर्मविवरेणैव सुपरीक्षितकारकः । राजप्रसादायोग्यानां प्रवेशं
न प्रयच्छति ॥ ४५ ॥ अन्यच्च राजराजस्य स प्रियत्वं प्रपद्यते । दृष्टेदं भवनं यस्य प्रीतिरुत्पद्यते परा ॥ ४६ ॥
किञ्चिन्मुखरगुन्मेषरोमाञ्चादिभिरिङ्गितैः । लक्ष्यतेऽयमपि प्रीतः प्रासादस्यास्य दर्शनात् ॥ ४७ ॥ नृपावलोकितो
नूनं तदयं द्रमकोऽधुना । अस्मन्नाथस्तुरूपोऽपि वस्तुत्वं प्रतिपत्स्यते ॥ ४८ ॥ इति चेतसि सञ्चिन्त्य कृपावासित-
मानसः । तमाजुहाव भिक्षार्थं स पौरोगवपुङ्गवः ॥ ४९ ॥ इत्याह्वान-विभ्रमनिर्मुक्ते देयं भिक्षाचरोचितम् ।
आयाते तत्र रङ्केऽथ स दानायादिशज्जनम् ॥ ५० ॥ महाकल्याणकं नाम परमान्नं मनोहरम् । समादायाय
तत्पुत्री तद्दया द्रागुपाययौ ॥ ५१ ॥ इतश्च सदाप्यक्षेण तेनाहूता ससम्भ्रमा । द्रमकोऽचिन्तयदिति स्वबुद्धि-
शक्त्या तदा ॥ ५२ ॥ स्वयमाहूय भिक्षार्थं समानीतोऽहमादरात् । यत्नेनात्र नैवेदं सुन्दरं मम भासते ॥ ५३ ॥
नूनं मां विजने नीत्वा विश्वास्य छन्नमानसौ । ममेदं कर्परं भिक्षापूर्णमुद्दालयिष्यति ॥ ५४ ॥ तत् किं नश्यामि
सहसा भक्षयाम्युपविश्य वा । न कार्यं भिक्षयेत्युक्त्वा यद्वा गच्छामि सत्वरम् ॥ ५५ ॥ चिन्ताचेष्टया क्षणादित्थं तेन
निर्नष्टचेतसा । तद्दयादीयमानं तत्सम नैवावलोकितम् ॥ ५६ ॥ सर्वरोगापहा भद्र ! भिक्षेयं गृह्यतामिति । भूयो

भूयो ब्रुवाणापि वीक्षिता न च तद्दया ॥ ५७ ॥ द्रमकं तं तथा दृष्ट्वा काष्ठवन्नष्टचेतनम् । विस्मितः स ततो दध्यौ महानसनियुक्तकः ॥५८॥ अहो ! किमेष मूढात्मा दीयमानमपि स्फुटम् । परमान्नं न गृह्णाति नोत्तरं च प्रयच्छति ॥ ५९ ॥ तदयं नोचितो मन्ये परमान्नस्य पापभाक् । पापिनां हि कुतः प्राप्तिर्भवेदीदृशवस्तुनः ॥ ६० ॥ अथ-वास्य वराकस्य दोषो नैव मनागपि । दोषः किन्त्वेष रोगाणां चैतन्योच्छेदकारिणाम् ॥६१॥ तत् करिष्याम्यमुं हन्त ! केनोपायेन निर्गदम् । परोपकारः पुण्याय महद्भिर्महते मतः ॥ ६२ ॥ यद्वास्त्येव मदभ्यर्णे भेषजत्रयमुत्तमम् । उच्छिनत्ति क्षणाद् रोगान् प्रयुक्तं विधिना हि यत् ॥ ६३ ॥ तत्राद्यं विमलालोकमञ्जनं जनदुर्लभम् । तत्त्वप्रीतिकरं नाम तीर्थतोय परं पुनः ॥ ६४ ॥ तथेदं परमान्नं च महाकल्याणकाभिधम् । तदनेन त्रयेणापि करिष्येऽमुं निरा-मयम् ॥ ६५ ॥ ध्यात्वेति सूदाध्यक्षोऽयं चक्षुर्नैर्मल्यकारिणा । तेनाञ्जनेन प्रसभं तस्याऽऽनञ्ज विलोचने ॥ ६६ ॥ तेनाचिन्त्यगुणेनास्य चेतना पुनरागता । सहसोन्मीलितं चक्षुश्चित्ताह्लादो मनागभूत् ॥ ६७ ॥ तथापि हि तदाऽऽकूतं भिक्षारक्षणलक्षणम् । पूर्वावेशवशादस्य सम्यग्नैव निवर्त्तते ॥ ६८ ॥ सचेतनं च तं वीक्ष्य धर्म्मबोधकरोऽब्रवीत् । पिबेदमुदकं भद्र ! रोगतानवकारणम् ॥ ६९ ॥ न जानामि निपीतेन किमनेन भविष्यति । इति शङ्काकुलस्तन्न स पुनः पातुमीहते ॥ ७० ॥ तमनिच्छन्तमप्येष धर्म्मबोधकरस्ततः । बलाद् विवृत्य वदनं सलिलं तदपाययत् ॥ ७१ ॥ सोऽप्येतदमृतास्वादं प्रमोदैकनिबन्धनम् । नीरमीरितसन्तापं पीत्वा सुस्थोऽभवत् क्षणात् ॥ ७२ ॥ अथेति द्रमको दध्यौ प्रसन्नीभूतमानसः । अहो ! महोपकारित्वं पुंसोऽस्यानन्यसन्निभम् ॥ ७३ ॥ तथा–

मज्जनयोगेन शिशिरा पटुरश्मिता । जलपानेन पानेन अनिशं सुस्थता मम ॥ ७४ ॥ तदयं पुरुषश्रेष्ठः स्वभावात्
तिवत्सलः । मुधा मया विमूढेन पश्चात्स्येन कल्पितः ॥ ७५ ॥ एवं चिन्तयतोऽप्यस्य मूर्छा तत्र द्रमके । गाढं
मावितचित्त्वाम कपमिभिवर्धते ॥ ७६ ॥ तत्रासमभाजने दृष्टिं पातयन्त मुहुर्मुहुः । तमभाषत भाषमस्ततो
रसवतीपतिः ॥ ७७ ॥ अरे ! द्रमक ! दुर्बुद्धे ! मयैतत्परिनिश्चितम् । त्वत्समः कोऽपि नास्त्यन्यो निर्भाग्यो भव
मण्डपे ॥ ७८ ॥ यस्त्वं कदन्नलाम्पट्यादमृतास्वादसोदरम् । अनया कन्यया दीयमानं नेच्छसि पायसम्
॥ ७९ ॥ भूयांसोऽस्माद् गृहाद्बाह्या दुःखिताः सन्ति जन्तवः । नादरस्तेषु नः किन्तु यत्ने राज्ञा न वीक्षिताः
॥ ८० ॥ त्वं तु भूमीभुजानेन सानुकम्पं निरीक्षितः । अतो निकामं सञ्जाता मम त्वयि दयालुता ॥ ८१ ॥
अतस्त्वयैव दुर्बुद्धे ! गृहाणैतत्तु सादरः । यत्प्रभावादमी पश्य मोदन्ते सर्वजन्तवः ॥ ८२ ॥ कदन्नत्यागवचसा
मुना दीनमनास्ततः । मन्दमन्दमिदं सूदाधिपतिं द्रमकोऽवदत् ॥८३॥ यदेतद्भदितं नाथैस्तत्तस्य खलु नान्यथा ।
प्राणप्रियमिदं किन्तु त्यक्तुमन्नं न हि क्षमः ॥ ८४ ॥ यतोऽर्जितमिदं क्लेशात् काले निर्वाहकं तथा । एतत्तु तावकं
भोज्यं न जाने मम कीदृशम् ॥ ८५ ॥ अवश्यदेयं यद्येतत्त्वया नाथ ! समोचनम् । तदनेन मदीयेन भोज्येन
सह दीयताम् ॥ ८६ ॥ इच्छामीति तदाकर्ण्य ततः पौरोगवाग्रणीः । पश्यतानन्यसामान्यमहो ! मोहविजृम्भि
तम् ॥ ८७ ॥ सर्वम्यामिकरे रक्तो यदेतस्मिन्कदन्नके । रोरोऽसौ परमान्नं मे न तृणायापि मन्यते ॥ ८८ ॥
चिन्तयामि तथाप्येनं किञ्चिद्भूयस्तथास्मिनम् । यदि मोहो विलीयेत स्यात्तस्मै हितसुखकैः ॥ ८९ ॥ इति सञ्चि

कदन्नं भासते भद्र !
न्त्य तेनोक्तं सौम्य ! किं नावबुध्यसे । कदन्नहेतुकाः सेर्वे[1] रोगास्तव शरीरके ॥ ९० ॥ तदा त्वं वार्यमाणोऽपि हास्यसि
मोहादेव तवापि हि । मदीयान्नस्य तु स्वादं यदा ज्ञास्यसि तत्त्वतः ॥ ९१ ॥ येन चोपार्जितं क्लेशात् क्लेशरूपं च वर्त्तते ।
स्वयमप्यदः । को नामामृतमासाद्य विषमापातुमिच्छति ॥ ९२ ॥ क्रियतेऽनेन किं भद्र !
क्लेशस्य च पुनर्हेतुस्तेनैवेदं विमुच्यते ॥ ९३ ॥ व्याधिव्यूहसमुद्भूतदुःखसन्तानहेतुना । हनिष्यति गदानेतान् पायसं
काले निर्वाहिणापि हि ॥ ९४ ॥ क्लेशं विनापि ते नित्यं मया दत्तमिदं पुनः । भविष्यस्यचिराद्राजराजवत् त्वमपि ध्रुवम्
परमौषधम् ॥ ९५ ॥ किञ्चानेनाक्षयो भूत्वा सततानन्दपूरितः । किं न दृष्टं त्वया येन कुरुषे नात्र मद्वचः ? ॥ ९७ ॥
॥ ९६ ॥ किञ्चाञ्जनस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं सलिलस्य च । महौषधं गृहाणैतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ९८ ॥ स प्राह त्यक्त-
ततो मुञ्चाग्रहं सौम्य ! त्यजेदं रोगकारणम् । ततो विश्राणय स्वामिन् ! सत्यस्मिन्मे स्वभेषजम् ॥ ९९ ॥ तन्निर्बन्धं
मात्रेऽस्मिन् म्रियेऽहं स्नेहविभ्रमात् । नैवास्य शिक्षणोपायो विद्यतेऽन्योऽधुना स्फुटम् ॥ १०० ॥ ततोऽत्र
ततो ज्ञात्वा सूदाध्यक्षो व्यचिन्तयत् । पश्चात्कदन्नं तत्त्वज्ञः स्वयमेवैष हास्यति ॥ १०१ ॥ ध्यात्वेति तद्दयाहस्तात्
विद्यमानेऽपि दीयतामिदमौषधम् । तत्तस्मै दापयामास पायसं द्रमकाय सः ॥ १०२ ॥ किं भुक्तेनामुना भावीत्याशङ्काकुल-
कदन्ने तत्र सत्यपि । ततस्तदुपभोगेन या जलाञ्जनसम्भवा । सुखासिका
मानसः । रोरोऽपि परमान्नं तत्तत्रैव बुभुजे शनैः ॥ १०३ ॥

[1] सर्वरो° क० ख० ।

क्षमा तस्य सानन्तगुणतां गता ॥ १०४ ॥ नष्टकल्पाय आतास्ते व्याचख्युः क्षेमदेवतः । सुमुखा च क्षय प्राप
प्रमोदम महानभूत् ॥ १०५ ॥ अथ नष्टभयो हृष्टः सदाम्बश्च जगाद सः । इतः प्रभृति मे नाथो नान्योऽस्ति भवतो
विना ॥ १०६ ॥ यतोऽनुपकृतैरेव भवद्भिः करुणापरैः । अहं सर्वाभयोऽप्येवमेवाथवदनुकम्पितः ॥ १०७ ॥
देवस्तं प्राह यथेवमुपविश्य क्षण त्वया । भूपतो मद्वचः सम्यक् श्रुत्वा तच्च विधीयताम् ॥ १०८ ॥ आसीने
क्रमके तस्मिन् धर्म्मबोधकरस्ततः । चन्दनप्रभसप्रीत्या वाचा बोधयति स्फुटम् ॥ १०९ ॥ यदुक्तं भवता भद्र !
नाथोऽन्योऽस्ति न मेऽधुना । तत्र वाच्यं यतो नाथस्तवाप्ययमुपागतः ॥ ११० ॥ अयं हि भूपतिर्नाथः कृत्स्न
स्य जगतोऽपि हि । विशेषतः पुनर्येऽत्र जन्तवः सन्ति सद्मनि ॥ १११ ॥ कल्याणभागिनः सेवां भजन्ते भूभुजोऽ-
स्य च । पापिनस्तु नरा नैव नामाप्यस्य विजानते ॥ ११२ ॥ तदेष सौम्य ! नाथस्ते जात एव तदा नृपः ।
मन्दिरेऽस्य यदामुष्मिन् प्रविष्टस्त्वं स्वपुण्यतः ॥ ११३ ॥ साम्प्रतं तु भयस्य विक्षेपेण गिरा मम । पापक्षीणमभु
नापमिहाप्यत्र च शर्म्मदम् ॥ ११४ ॥ विशेषतः पुनर्येऽस्य गुणास्तानवमोत्स्यसे । यथा यथा गदा देहे यास्यन्ति
तव तानथम् ॥ ११५ ॥ भेषजमितयस्यास्य परिभोगो द्विधानिशम् । एषां च तानवोपायः क्रमाभ्यासे च
कारणम् ॥ ११६ ॥ स्थीयतामत्र तद्भद्र ! भवन भवता सदा । सज्ज्ञानेन त्वयमिदं प्रदर्श कल्पयानया ॥ ११७ ॥
ततः प्रह्लादितस्वान्तः क्षेमलेशस्य जल्पितैः । गाढमुत्पन्नविश्रम्भः स पपे क्रमकोऽपतत् ॥ ११८ ॥ इद नाथाप्यस्त

१ सुदेश। प्राह ता० कु० स० प०। २ सदा म०।

म्भूष्णुः पापस्त्यक्तुं कदन्नकम् । अन्यत्तु यन्मया नाथ ! कर्त्तव्यं तत्समादिश ॥११९॥ तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास धर्म्मबोधकरस्ततः । भुङ्क्ष्वेदं त्रयमित्युक्तः [1]किमेवं प्रवदत्यसौ ॥ १२० ॥ आ ! ज्ञातमेष तुच्छत्वादित्थं चिन्तयति ध्रुवम् । भोजनत्याजनार्थो मे सर्वोऽयं विस्तरो गिराम् ॥ १२१ ॥ यद्वा दुष्टं जगत्सर्वं मन्यन्ते तुच्छबुद्धयः । प्रतिभाति यदन्धानां सवितापि तमोमयः ॥ १२२ ॥ ध्यात्वेत्यूचे स मा भैषीर्नाधुना त्याजयाम्यदः । पूर्वमत्याजयं भद्र ! तवैव हितकाम्यया ॥ १२३ ॥ अन्यच्च यन्मयाख्यातमिदानीं पुरतस्तव । तच्चित्ते भवता भद्र ! किं किञ्चिदवधारितम् ? ॥ १२४ ॥ अथ निष्पुण्यकोऽवोचन्नैव तन्नाथ ! किञ्चन । गाढमातङ्क–वैधुर्यान्मया हृदि विभावितम् ॥ १२५ ॥ केवलं युष्मदालापैः पेशलैर्मोदितो हृदि । अज्ञातपरमार्थापि प्रीणयत्येव वाक् सताम् ॥ १२६ ॥ यच्चात्र कारणं नाथ ! वैधुर्ये मनसो मम । तदिदानीं गतातङ्कः कथयामि निशम्यताम् ॥ १२७॥ ततः प्रवेशादारभ्य यदासीच्चिन्तितं हृदि । तद्भीतभीतिना सर्वं तेन तस्मै निवेदितम् ॥ १२८ ॥ उक्तं चाकुलचित्तस्य तदेवं नाथ ! मे पुरः पूज्यपादैर्यदाख्यातं तत्किञ्चिन्नैव लक्षितम् ॥ १२९ ॥ नाधुना त्याजयामिति नाथैरुक्तेऽधुना पुनः । स्वस्थचेता मनाग् जातो ब्रूत तत् किं करोम्यहम् ॥ १३० ॥ सूदाधीशस्तदाकर्ण्य वर्णयामास तत्पुरः । विशेषेणेति माहात्म्यं भूपान्नाञ्जनपाथसाम् ॥ १३१ ॥ अहं भद्र ! नरेन्द्रेण प्रागादिष्टो यथा त्वया । योग्येभ्य एव दातव्यं वत्स ! मद्भेषजत्रयम् ॥ १३२ ॥ अयोग्यदत्तं नैवैतदुपकारं करोति यत् । प्रत्युतानर्थ-

१ किमिदं ग० ।

सन्तान वितनोति विशेषतः ॥ १३३ ॥ मया पृष्टं तदा स्वामिन् ! कथं ज्ञास्यामि तानहम् । ततो राज्ञा मयीयेयां समाकर्णय लक्षणम् ॥ १३४ ॥ स्वकर्मविवरद्वारस्थो येषामत्र प्रवेशकः । इदं च मन्दिरं दृष्ट्वा हृष्टचित्ता भवन्ति ये ॥ १३५ ॥ येषां च मामिका दृष्टिर्विशेषेण निरीक्षिका । ते प्रयत्यास्य विज्ञेया योग्या नैवेतरे पुनः ॥ १३६ ॥ युग्मम् ॥ किञ्चैतत् त्रितयं येषामल्पेनापि भासते । गुणकृच्च भवेत् ते सुसाध्या रोगिणो भवाः ॥ १३७ ॥ प्रथमं ये न गृह्णन्ति बलाद्येषां तु दीयते । गुणकारि च कालेन कृच्छ्रसाध्यास्तु ते स्मृताः ॥ १३८ ॥ येभ्यस्तु रोचते नैतत्त्रयं च न गुणावहम् । क्षेपारो दायकेऽप्यस्य ते त्वसाध्या नराधमाः ॥ १३९ ॥ तदित्थं राजराजेन मम यत्सम्प्रदापितम् । तेन ते कृच्छ्रसाध्यस्य लक्षणैः परिलक्ष्यते ॥ १४० ॥ ठक्कुरतो यतः स्वस्य यदि वत्स ! त्वमिच्छसि । तदमुं त्वं भवस्व स्वामित्वेन नरेश्वरम् ॥ १४१ ॥ अनया कन्यया दत्तं भेषजत्रितयं तथा । भुञ्जानो भवनेऽत्रैव तिष्ठ त्वं स्वस्थमानसः ॥ १४२ ॥ एवं ते कुर्वतो भावि निर्गदत्वं शनैः शनैः । यत एव प्रकुर्वाणा नीरुजो बहवोऽभवन् ॥ १४३ ॥ द्रमकोऽप्यथ तच्छिक्षां तथेति प्रतिपद्यत । स्वदेशोऽपि चकारास्य तद्दयां परिचारिकाम् ॥ १४४ ॥ तथैकप्रदेशस्थो भिक्षापात्रमनारतम् । तदेव पालयन् काल कियन्तमपि स स्थितः ॥ १४५ ॥ प्रायेण बहु मन्येऽसौ तन्मोहेन कुभोजनम् । यत्पुनस्तद्यावदेव(त) । तमपथ्युपदर्शिताम् ॥१४६ ॥ तावतापि हि तेनास्य सुकेनाभूद्गुणो महान् । चासक प्रीणयस्येव चारिताम्बुकणोऽपि हि ॥ १४७ ॥

१ ०ज्ञास्यो क० स० प० । २ सम्प्रदापतयोक्तम् । ३ म्यञ्जनताम् ।

तै रोगैर्विक्रियापन्नैरपथ्याधिक्यतोऽन्यदा । बाध्यमानं तमालोक्य तद्दयेत्थमभाषत ॥ १४८ ॥ कथितं भद्र !
तातेन कदन्नं तव वल्लभम् । परमस्वास्थ्यहेतौ तु शैथिल्यं भेषजत्रये ॥ १४९ ॥ अपथ्ये लोलुभानां[1] च लगत्ये-
तन्न भेषजम् । ततोऽधुना क्रन्दतस्ते कोऽपि स्वास्थ्यकरोऽस्ति न ॥ १५० ॥ माभूदाकुलता चित्ते तवेत्यहमपि
स्फुटम् । अपथ्यं सेवमानं त्वां दृष्ट्वापि न निवारये ॥ १५१ ॥ रङ्कोऽवोचदहं तर्हि वार्योवश्यं त्वयानघे ! ।
महामोहवशादेतत्स्वयं त्यक्तुमलं न तु ॥ १५२ ॥ कदाचित् त्वत्प्रभावेण स्तोकस्तोकं विमुञ्चतः । सर्वत्यागेऽपि
शक्तिर्मे कदन्नस्य भविष्यति ॥ १५३ ॥ चारु चारूदितं भद्र ! युक्तमेतद्भवादृशाम् । इत्युक्त्वाधिकमश्नन्तं सा
कदन्नं न्यवारयत् ॥ १५४ ॥ यान्त्यस्य तानवं रोगास्ततस्तत्परिहारतः । न जायतेऽधिका पीडा लगत्यङ्गे[2] च
भेषजम् ॥ १५५ ॥ पित्रादेशादनेकाङ्गिव्यापारकरणोद्यता । तद्दयापि हि तत्पार्श्वे सर्वदा नावतिष्ठते ॥ १५६ ॥
ततो निवारकाभावादपथ्यासेवनोद्यतम् । आमयैः पीडितं भूयः सूदाध्यक्षो ददर्श तम् ॥ १५७ ॥ पप्रच्छ
चाद्य किं सौम्य ! साबाध इव लक्ष्यसे । तद्दयायाः स्वरूपं च सोऽप्यशेषं न्यवेदयत् ॥ १५८ ॥ जगाद च ततो
नाथाः ! प्रयतध्वं तथान्वहम् । यथा पीडा न मे देहे कदापि ह्युपजायते ॥ १५९ ॥ सूदोऽप्युवाच न व्यग्रा
तद्दया त्वां निषेधति । अपथ्यभक्षणोद्युक्तस्त्वं तु जानासि न स्वयम् ॥ १६० ॥ अपराप्यथ ते कापि क्रियते
परिचारिका । साप्यकिञ्चित्करी नूनं तव स्वच्छन्दचारिणः ॥ १६१ ॥ द्रमकः प्राह मा मैवं नाथा ! वदत

१ लोलुपानाम् ख० । २ गुणं विदधाति ।

साम्प्रतम् । नैवाहं युष्मदादेशं लङ्घयामि कथञ्चन ॥ १६२ ॥ धर्म्मबोधकरोऽप्यादीद् यथेव वत्स ! तच्छृणु । अस्य
प्रास्ति यशोधीना सद्बुद्धिर्नाम मे सुता ॥ १६३ ॥ करोमि तव तां वत्स ! विशेषपरिचारिकाम् । किन्तु
वक्ति यदेषाऽसौ त्वया कार्यं तदेव हि ॥ १६४ ॥ ततः सन्निहिता नित्यं प्रतिजागरणे तव । विधास्यतीय
सद्बुद्धिस्तत्पाप्यन्तरान्तरा ॥ १६५ ॥ किञ्च यस्य प्रसन्नैषा सद्बुद्धिर्विश्ववत्सला । अहं च भूपतिश्चैव प्रसन्न
स्तस्य निश्चितम् ॥ १६६ ॥ ततोऽस्ति ते सुखाकाङ्क्षा दुःखेभ्यश्च भयं यदि । मयानेयां तैतो वत्स ! सम्यगाराधु
मर्हति ॥ १६७ ॥ ततेस्यङ्गीकृतवतस्तस्याथ परिचारिकाम् । तां विधाय स निश्चिन्तो धर्म्मबोधकरोऽभवत्
॥ १६८ ॥ द्रमकोऽपि हि सद्बुद्धिसान्निध्यात्तत्तया स्वयम् । कदन्नं तत्परित्यज्य सेवते भेषजत्रयम् ॥ १६९ ॥
पूर्वाभ्यासवशात्तस्य तत्तुच्छे यदि कदाप्यसौ । तथापि तद्वयां नैव विषये गृद्धमायतः ॥ १७० ॥ ततस्तं नैव
बाधन्ते गदास्ते आततानवाः । यापि पीडा भवेत्काचित्सापि क्षीप्रं निवर्तते ॥ १७१ ॥ रहस्युक्तान्यदा तेन
सद्बुद्धिस्तुष्टचेतसा । भद्रे ! किमिदमाश्चर्यं यज्जातं मे महत्सुखम् ॥ १७२ ॥ साप्यवोचन्महाभाग ! प्रभावः
सुमहानयम् । कदन्नपरिहारस्य भेषजास्वादनस्य च ॥ १७३ ॥ द्रमक प्राह यद्येवं सर्वथापि त्यजाम्यहम् ।
इदं कदन्नं मे येन जायते सुखमक्षयम् ॥ १७४ ॥ सा प्राह युज्यते किन्तु सम्यगालोच्य सन्त्यज । अनालोचित
कार्याणामायतिर्न शुभा यतः ॥ १७५ ॥ सर्वस्यागं हि कृत्वा त्वं पुनरेतद् यदीच्छसि । तथाधुनातनी यापि

१ निष्पन्नेमा० क. ख घ । २ ०वीह ख० ग । ३ वत्त य० क. ख ग घ

याप्यता लप्स्यते त्वया ॥ १७६ ॥ श्रुत्वाथ तद्वचस्तस्य मनाग् दोलायितं मनः । महामोहमहीभर्त्तुराज्ञा हि
दुरतिक्रमा ॥ १७७ ॥ महाकल्याणकं भूरि परिभुज्यान्यदाथ सः । कदन्नं बुभुजे तस्यां पार्श्वस्थायामवज्ञया
॥ १७८ ॥ तस्य पायसतृप्तत्वात् सद्बुद्ध्यभ्यासतोऽपि च । कुथितं विरसं निन्द्यं तदथ प्रत्यभासत ॥ १७९ ॥ ततः
स चिन्तयामास भोज्यं मे तावदीदृशम् । तथाप्यत्र ममाकाङ्क्षा दुर्लङ्घ्या काप्यसावहो ! ॥ १८० ॥ एतत्त्या-
गादृते मन्ये निर्विघ्नं नास्ति मे सुखम् । तदेतद् युज्यते हातुं सत्त्वमालम्ब्य सर्वथा ॥ १८१ ॥ एवं निश्चित्य
सद्बुद्धिं स प्रोचे शोधयस्व मे । भद्रे ! भाजनमेतत्त्वं त्यक्त्वा सर्व्वं कदन्नकम् ॥ १८२ ॥ नैतेनातः परं कार्यं
सम्प्राप्ते पायसेऽधुना । को नाम राज्यमासाद्य रङ्कत्वाय समीहते ॥१८३॥ सद्बुद्धिः प्राह यद्येवं जातस्ते निश्चयो
हृदि । धर्म्मबोधकरस्याग्रे तत्तूर्णं कथ्यतामिदम् ॥ १८४ ॥ ततः सहैव सद्बुद्ध्या समेत्य समचीकथत् ।
रोरस्तं स्वमभिप्रायं धर्म्मबोधकराय सः ॥ १८५ ॥ अथ साधूदितं वत्स ! कर्त्तव्यः किन्तु निश्चयः । हास्यतां येन
नो यासीत्युक्ते सूदेन सोऽवदत् ॥ १८६ ॥ पूज्यपादैः कथमिदं भूयो भूयोऽपि कथ्यते । अयं मे निश्चयश्चित्तं
कदन्ने जातु याति न ॥ १८७ ॥ तस्यादेशाज्जनं सर्वमापृच्छ्य स सुधीस्ततः । सद्बुद्ध्या त्याजयामास कदन्नं
सर्वथापि तत् ॥ १८८ ॥ संशोध्य स जलेनाथ तत्पात्रं पायसेन च[1] । पूरयित्वा दिने तस्मिन्महोत्सवमकारयत्
॥ १८९ ॥ सूदाधीशादयो हृष्टा मुदितं राजमन्दिरम् । सपुण्यक इति ख्यातिं लेभेऽथ द्रमकोऽपि सः ॥ १९० ॥

१ तु क० ख० घ० ।

कथास्य विप्रवरस्तत्र जायते न गदन्यथा । सद्बुद्धिरिदवापायोगादपथ्याभावतोऽपि च ॥ १९१ ॥ कश्चिद् धनस्या
स्पकाशा च यदि स्यात्पूर्वदोषता । विपचे स्वयमेवैष तवद्रा मेषमत्रयम् ॥१९२॥ ततश्च स्वस्थता वीर्यं
सौन्दर्यं दर्शनीयता । अन्येऽपि च गुणास्तस्य प्रवर्द्धन्ते प्रतिक्षणम् ॥ १९३ ॥ नाद्यापि सम्यगारोग्य मनुस्ताम्रोग
मन्यते । जायते किन्तु तदेहे विशेषोऽमुष्मदामिति ॥ १९४ ॥ सद्बुद्धिरन्यदा तेन पृष्टा दयान्तरात्मना ।
भद्रे ! भयमिदं तस्य मयैतस्केन कर्मणा ॥ १९५ ॥ साप्यवादीत् पुरा भद्र ! वधमेतत् स्वया कश्चित् । ततः
सम्प्रस्पदः प्राप्त नाजुर्न्न कापि ह्यपते ॥ १९६ ॥ ततः सपुण्यकोऽप्योपद् दधं हि यदि लभ्यते । पात्रेभ्यस्तदद
दास्याम्येतत्सम्प्रस्यपि भयम् ॥ १९७ ॥ इत्युक्त्वा दातुमारेभे सद्बुद्धिमेरितः स तत् । परं न कोऽपि गृह्णाति
तत्रैव किन्न कारणम् ॥ १९८ ॥ ये तत्र मन्दिरे तावत्तेऽग्रेऽपि भयभाजिनः । मन्येभ्यस्तत् भयं भूरि लभन्तेऽन्ये च
देहिनः ॥ १९९ ॥ ततो न कश्चिन्मूळे तदर्थमुपतिष्ठत । सद्बुद्धिं ब्राह्मणोपाय भूयोऽप्यथ स पृष्टवान् ॥ २०० ॥
सर्वतः क्रियतां भद्र ! घोषणेत्युदितस्तया । सोऽप्य निर्गत्य सर्वत्र तां चकार मुहुर्मुहुः ॥ २०१ ॥ गृह्णन्ति तुच्छकाः
केचित्तस्मात्तत् प्रियं वचः । केचिद्धसन्ति केचिच्च शृण्वन्त्यपि न घोषणाम् ॥ २०२ ॥ सोऽथ खिन्नमना वीक्ष्य
तादृशं जनचेष्टितम् । समागत्यैवमन्येद्युः सद्बुद्धेः समचीकथत् ॥ २०३ ॥ गृह्णन्ति प्रमका भद्रे ! महान्तो
न पुनर्जनाः । ममेच्छा सर्वसामान्यप्रदाने पूर्यते पुनः ॥ २०४ ॥ तदुपाय तदाचक्ष्वेत्युक्ता व्याख्याय सावदत् ।

१ अर्थ क० च० ।

सर्वेषां ग्राहणोपाय एक एवात्र विद्यते ॥ २०५ ॥ काष्ठपात्र्यां विशालायां जनाकीर्णे नृपाङ्गणे । वस्तुत्रयं निधायेदं तिष्ठ त्वं स्वस्थमानसः ॥ २०६ ॥ स्वयमेव गृहीष्यन्ति शून्यं दृष्ट्वा तदर्थिनः । स्मरन्तो रोरभावं हि त्वत्करात्ते न गृह्णते ॥ २०७ ॥ आदद्यात्कश्चिदेकोऽपि यदि तत्सगुणो नरः । तेन स्यात्तारितो मन्ये सत्पात्रं तारयेद्यतः ॥ २०८ ॥ ततस्तस्या वचोभिस्तैः सम्पन्नामन्दसम्मदः । चकार तत्तथैवासौ तत्रेदमभिधीयते ॥ २०९ ॥ एष प्रयुक्तं तादृशेनापि ये गृहीष्यन्ति जन्तवः । नीरोगास्ते भविष्यन्ति तत्रयं तत्र कारणम् ॥ २१० ॥ एष तावद्यथादृष्टो दृष्टान्तः प्रतिपादितः । अस्य सम्प्रत्युपनयः समासेन निगद्यते ॥ २११ ॥ अदृष्टमूलपर्यन्तं यत्ता-वत्कथितं पुरम् । अनादिनिधनः ख्यातः स संसारः प्रतीयताम् ॥ २१२ ॥ वप्रश्चात्र महामोहस्तृष्णा च परिखा मता । इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिमुख्या भावास्तु कूपकाः ॥ २१३ ॥ सरांसि विषया जन्तुशरीराणि वनानि च । कषायाः शिशवो ज्ञेयाः सौधानि त्रिदशालयाः ॥ २१४ ॥ कुमतानि मतान्यत्र चित्रदेवकुलानि च । पण्यानि सुखदुःखान्यन्यान्यजन्मानि चापणाः ॥ २१५ ॥ भूपालस्तु जिनो देवो युक्तस्तैस्तैर्विशेषणैः । पूर्वं सर्वज्ञ-धर्म्माप्तेर्मजीवो द्रमकः पुनः ॥ २१६ ॥ अबन्धुरसहायत्वात् कुधीस्तत्त्वाविवेचनात् । धर्म्मस्वाऽभावतो निःस्वोऽबलः कर्म्मद्विडक्षयात् ॥ २१७ ॥ कर्म्माणि रोगा विषयाकाङ्क्षा चै क्षुदनाथता । सर्वज्ञनाथाभावेनो-न्मादो मिथ्यात्वमिष्यते ॥ २१८ ॥ डिम्भाः कुतीर्थिका ज्ञेया वेदना क्लिष्टचित्तता । घटकर्प्परमायुस्तु कदन्नं

१ निःस्वो बालः ख० । २ ऽथ क्षु० घ० ।

विषयाः पुनः ॥ २१९ ॥ रागद्वेषौ जिनमतं द्वारं ग्रन्थिस्तु कर्म्मणाम् । तथभामसमा ज्ञास्याः प्रवेशो ग्रन्थि भेदनम् ॥ २२० ॥ सर्वुपाध्यायगीतार्थगणचिन्तकभिक्षवः । राजामात्यमहायोधनियोगिवद्धर्म्मिकाः ॥ २२१ ॥ यथासुस्वरूपं परिज्ञेया महौषाः श्रावकाः स्मृताः । साध्व्यश्च स्थविरा ज्ञेया युवत्यः श्राविकास्तथा ॥ २२२ ॥ युग्मम् ॥ सप्तरसुमितो लोकाः प्रासादः सप्तभूमिकः । मुक्तिस्तच्छिखरं रम्यं ज्ञानालोकश्च दर्शनम् ॥ २२३ ॥ धर्मबोधकरो प्रोक्तः सद्गुरुर्भव्यबोधकः । तत्कृपा तद्दया ज्ञेया सद्बुद्धिः शोभना मतिः ॥ २२४ ॥ ज्ञानदर्शन चारित्रमय तद्भेषजत्रयम् । कृत्स्नस्यैकदेशेन त्यागः श्रावकता मता ॥ २२५ ॥ सर्वसत्त्वपरित्यागोऽनगारित्व मितीरितम् । तपूषोषणा तु सर्वत्र विज्ञेया धर्म्मदेशना ॥ २२६ ॥ मात्स्यास्तुच्छका ज्ञेया महेच्छास्तु महाधनाः । काष्ठपात्री त्रयाधारा वक्ष्यमाणा कथोच्यते ॥ २२७ ॥ इत्थं समासाद् गदिता मयापि सामान्यरूपा किल योजनेयम् । विशेषतो मूलकथानुसारा ज्ञेया बुधैर्विस्तरयोजना तु ॥ २२८ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्य-श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे

प्रस्तावनावर्णनो नाम प्रथमः प्रस्तावः ।



१ ०मिक्षुका स० ।

द्वितीयः प्रस्तावः ।

इहास्त्यनन्ततीर्थेशचक्रिकेशवशीरिणाम् । उत्पत्तिभूमिर्मनुजगतिर्नाम्ना महापुरी ॥ १ ॥ यत्राङ्घिपरि-
खोपेतः प्राकारो मानुषोत्तरः । वर्षाणि पाटका वर्षधरास्तद्वृत्तयः पुनः ॥ २ ॥ हट्टमार्गो विदेहाख्यो यस्यां
सद्विजयापणः । प्रासादा मेरवो भद्रशालादीनि वनानि च ॥ ३ ॥ महारथ्या महानद्यो यस्यां जन्तुजलाकुलाः ।
राजमार्गौ च कालोदलवणोदौ तदाश्रयौ ॥ ४ ॥ सार्द्धद्वीपद्वयं यत्र त्रयः पाटकसश्रयाः । कल्पवृक्षाः पुनः
स्थानान्तरीयधरणीधवाः ॥ ५ ॥ तां पुरीं कोटिजिह्वोऽपि को वा वर्णयितुं क्षमः [1] । पुण्यैस्तैस्तैर्गुणैः स्वर्गपुरी-
मपि जिगाय या ॥ ६ ॥ सुरासुरनराधीशमौलिलालितशासनः । तत्र कर्म्मपरीणामः समस्ति जगतीपतिः
॥ ७ ॥ विक्रमाक्रान्तभूचक्रः कृपानीतिपराङ्मुखः । यश्चण्डशासनो दण्डं पातयत्यनपेक्षया ॥ ८ ॥ नास्ति मल्लो
जगत्यन्यो ममेत्युच्चैर्मदेन यः । तृणाय मन्यते विश्वं विश्वं विश्वैकविक्रमी ॥ ९ ॥ क्रूरः केलिप्रियो दुष्टलोभादि-
भटवेष्टितः । संसारनाटकं चित्रं नित्यं नाटयते स च ॥ १० ॥ रागद्वेषाभिधानौ द्वौ मुरजौ तत्र नाटके ।
दुष्टाभिसन्धिनामा च तयोरास्फालको मतः ॥ ११ ॥ क्रोधमानादिनामानो गायनाः कलकण्ठकाः । महा-
मोहाभिधानस्तु सूत्रधारः प्रवर्तकः ॥ १२ ॥ भोगाभिलापसंज्ञश्च नान्दीमङ्गलपाठकः । अनेकविव्वोककरः काम-
नामा विदूषकः ॥ १३ ॥ भयादिसंज्ञा विज्ञेयाः कंसिकाश्च पटुस्वनाः । कृष्णादिलेश्यानामानो वर्णकाः पात्र-

१ जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्द्धरूपाः । २ ०विक्रमः क० ख० घ० ।

मण्डनाः ॥ १४ ॥ योनिः प्रविशतस्तस्य नेपथ्य व्यवधायकम् । लोकाकाशोदरा नाम विशाला रङ्गभूमिका ॥ १५ ॥ पुद्गलस्कन्धनामानः देशोपस्करसंचयाः । पात्राणि च विचित्राणि देहान्यसिलदेहिनः ॥ १६ ॥ तत्र च क्वापि दुःखौघप्रस्तनारकरूपिणम् । क्वचिन्नानाविधाकारतिर्यगाकारधारिणम् ॥ १७ ॥ क्वचिद्भूरि चतुर्वर्गमर्त्यभावानुकारिणम् । क्वचिच्चतुर्विधामर्त्यरूपैर्नैकविस्मयम् ॥ १८ ॥ क्वचित्स्तोकप्रमोदार्थं क्वचिदानन्द पूरितम्। क्वचित्सम्पत्तिसम्पन्नं क्वचिद्दारिद्र्यदूषितम् ॥ १९ ॥ क्वचिद्रोगभराक्रान्तं क्वचिद्धारी क्वचिद्धरम् । इत्थं च स्वाज्ञया लोके नटन्तं वीक्ष्य मोदते ॥२०॥ कलापकम् ॥ नियतिर्यदृच्छाद्यासु देवीषु प्रवरा गुणैः । महादेवी तस्य कालपरिणत्यभिधास्ति च ॥ २१ ॥ अतिमात्रप्रेमपात्रं सा भर्तुरमवद्यथा । तां विना स यथा नैव क्षणमप्य वतिष्ठते ॥ २२ ॥ क्षणाहोरात्रमासर्तुवर्षपल्योपमादिना । नृपत्ता परिवारेण परितः परिवेष्टिता ॥ २३ ॥ सुषमा दुःषमाद्याभिः सखीभिः सा च संयुता । सदा चपःपरार्धप्या विडम्बयति देहिनः ॥ २४ ॥ युग्मम् ॥ दम्पत्योरनयोरेव नाटकं वीक्ष्यमाणयोः । याति कालः सदानन्दरसपूरितचेतसोः ॥ २५ ॥ देव्या प्रोक्तोऽन्यदा राजा सर्वं मे स्वस्त्यसत्त्वताः । सम्पन्नं केवलं पुत्रो यदि स्यात्सुन्दरं ततः ॥ २६ ॥ तेनोक्तमावयोरेकचित्तस्याभ्राविता सुतः । महाप्रसाद इत्युक्त्वा प्रतिपन्नं चकार सा ॥ २७ ॥ देव्या दृष्टोऽन्यदा स्वप्ने प्रविशन्नास्येन कश्चितः । निर्गतः पुरुषो नीतः स च मित्रेण केनचित् ॥ २८ ॥ देव्यास्यातमेव स्वप्नं नृपतिस्तत्र व्यचारयत् । पुत्रस्ते

---

१ ०पूरितम् ग० । २ सर्वसम्पत्ता ग० । ३ ०पुस्य पि० ग० । ४ ०मचो स्व० क० ख० ।

भविता किन्तु गेहं मोक्ता गुरोर्गिरा ॥ २९ ॥ एवमप्यस्त्विति प्रोच्य देवी गर्भं बभार सा । नृपोऽप्यभयदानाद्यं
तद्दोहदमपूरयत् ॥ ३० ॥ भूभुजा भव्यपुरुष इति नाम विनिर्म्ममे । देव्या तु सुमतिरिति जातस्याथ तनूभुवः
॥ ३१ ॥ इतोऽगृहीतसङ्केता ब्राह्मण्यस्ति तया सखी । प्रोक्ता प्रज्ञाविशालाख्या पश्येदं सखि ! कौतुकम्
॥ ३२ ॥ यदेष राजा निर्बीजो देवी वन्ध्या तयोः कथम् [1] । सुतः साप्यभ्यधान्मुग्धेऽन्वर्थसंज्ञासि निश्चितम्
॥ ३३ ॥ भूपतिर्बहुबीजोऽयं देवी चानन्तदारका । जगत्त्रितयजन्तूनां जनकत्वेन तत्त्वतः ॥ ३४ ॥
सचिवैरविवेकाद्यैश्चक्षुर्दोषभयात्पुनः । अन्यथा ख्यापितं लोके न जानीषे यदित्यपि ॥ ३५ ॥ युग्मम् ।
तत्कथं ख्यापितः सूनुरयमित्युदिता तया । भूयः प्रज्ञाविशालोचे तत्राकर्णय कारणम् ॥ ३६ ॥ पुर्य्यामगुष्या-
मेवास्ति चिरं परिचितो मम । पुमान् सदागमो नाम हृष्टो हृष्टः स चान्यदा ॥ ३७ ॥ पृष्टो हर्षनिमित्तं च स
एवं मामभाषत । राज्ञीविज्ञापितो राजा निर्बीजत्वविगीतताम् ॥ ३८ ॥ स्वस्य देव्याश्च वन्ध्यात्वमपनेतुमिमं
सुतम् । प्राकाशयत्स चात्यन्तं प्रियो मे तदहं समुत् ॥ ३९ ॥ युग्मम् ॥ कारणं तदिदं भद्रे ! पुत्रस्यास्य
प्रकाशने । ब्राह्मण्यूचे कथं तर्हि तस्याभीष्टः स दारकः ॥ ४० ॥ अथ प्रज्ञाविशालाह यतोऽतिक्रान्तशैशवः ।
स तस्य शिष्यो भविता वल्लभोऽनेन हेतुना ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण्युवाच मे तर्हि तं दर्शय सदागमम् । तत्र प्रमुदिता
प्रज्ञाविशालाथ निनाय ताम् ॥ ४२ ॥ सेव्यमानो जनैर्भव्यैस्तन्वानस्तत्त्वदेशनाम् । विदेहराजमार्गस्थो दृष्ट-

१ दुर्जनानां चक्षुर्दोषभयादित्यर्थः । २ निर्बीजवचनीयताम् क० ख० ग० घ० ।

भाग्यो सदागमः ॥ ४३ ॥ दृष्टागृहीतसङ्केता तद्दर्शनवशादय । सेवा च पर्युपासाते ते द्वे अपि सदागमम् ॥ ४४ ॥ सदागमनिदेशेनान्यदा प्रज्ञाविशालया । स भव्यपुरुषो भाग्या मृत्वानीतस्तदन्तिके ॥ ४५ ॥ दृष्टा सदागम दृष्टः स भव्यपुरुषस्तदा । शिक्षार्थं कलास्तस्य पितृभ्यामर्पितो मुदा ॥ ४६ ॥ ततो दिने दिने याति स पार्श्वे तस्य धीमतः । सदागमस्य शिक्षार्थः सार्द्धं प्रज्ञाविशालया ॥ ४७ ॥ अन्यदा पाश्वर्तोऽसौ समामध्ये सदागमः । सहितस्तैस्त्रिभिस्तावत् कोऽपि तुमुलोऽभवत् ॥ ४८ ॥ येस्य कोलाहलो लोकाः ! श्रूयते नीयतेऽधुना । संसारिजीवनामोऽयं तस्करो वध्यधामनि ॥ ४९ ॥ तदाकर्ण्योन्मुखीपर्भीयमान यथावनो । भस्मना लिप्तसर्वाङ्गं चित्रं गैरिकहस्तकैः ॥ ५० ॥ चर्चितं च मषीपुण्ड्रैः कमवीरस्त्रार्चितम् । शरावमालया गुम्फां विडम्बितभुजान्तरम् ॥ ५१ ॥ वैरत्सिटकखण्डेन विभिन्नसपनातपम् । आरोपितं खरे पश्चलोष्ठ च गलकन्दले ॥ ५२ ॥ नगरारक्षपुरुषैः वेष्टैः परिवेष्टितम् । साधुलोकैः शोच्यमान कम्पमानशरीरकम् ॥ ५३ ॥ विलो दशापि पञ्चपन्थं भयसम्भ्रान्तया दृशा । संसारिजीवनामानमद्राक्षीदय तस्करम् ॥ ५४ ॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ एन विलोक्य च प्रज्ञाविशाला सदया हृदि । दध्यौ नास्य वराकस्य त्रातास्त्यन्यः सदागमात् ॥ ५५ ॥ ध्यात्वेति सन्मुखं गत्वा तमूचे सा मलिम्लुचम् । सदागममिमं भद्र ! शरण्यं शरणं भज ॥ ५६ ॥ तस्करोऽपि तदाकर्ण्य तमुद्दिश्य

१ सदाऽय प० क० ख० । २ अन्यदाऽसौ समामध्ये क्रीडयाऽऽस्ते सदागमः ख० । ३ अयं श्लोकः ता० क० ख० घ० प्रतिषु नास्ति । ४ वीर्यकरण्डकखण्डेन । ५ परितैः प० ग० ।

सदागमम् नाथ ! मां रक्ष रक्षेति पूच्चकारोच्चकैः स्वरम् ॥ ५७ ॥ सदागमेनाऽभीदानाद् विहिताश्वासनस्ततः ।
स्तेनस्तस्य पदद्वन्द्वं शरणं प्रतिपन्नवान् ॥ ५८ ॥ सदागमभयत्रस्तैर्मुक्तमारक्षकैरिमम् । ततोऽग्रहीतसङ्केता विश्वस्तं
दस्युमालपत् ॥ ५९ ॥ भद्र ! केनापराधेन यमकिङ्करसोदरैः । भवानेतैः पुरारक्षपुरुषैर्जगृहे हठात् ॥ ६० ॥
सोऽवोचत् पृष्टया भद्रे ! पर्याप्तं वार्त्तयानया । इयं हि श्रूयमाणापि व्यथते हृदयं सताम् ॥६१॥ यदि त्वानन्य-
सामान्यज्ञानज्ञातजगत्त्रयः । वेत्त्येवामुं व्यतिकरं भगवान् श्रीसदागमः ॥ ६२ ॥ ततः सदागमेनोक्तं महद्दस्याः
कुतूहलम् । अतोऽयं निजवृत्तान्तो भवता भद्र ! कथ्यताम् ॥ ६३ ॥ तस्करः प्राह यद्येवं [1]विविक्तं तद्विधीयताम् ।
न मे कथयतो येन जनलज्जा भवेत्प्रभो ! ॥ ६४ ॥ ततो भगवता सर्वा पर्षदालोकिता सती । दूरदेशं समाश्रित्य
तस्थौ विस्मितमानसा ॥ ६५ ॥ आकर्णय त्वमप्येवं सूरिणा गदिता सती । तत्र प्रज्ञाविशालास्थात्नृपसूनुसमन्विता
॥ ६६ ॥ अथाग्रहीतसङ्केतां समुद्दिश्य विशेषतः । चतुर्णां पुरतस्तेषां दस्युर्वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ६७ ॥ अस्त्यत्र लोके
विख्यातमनन्तजनसङ्कुलम् । यथार्थनामकमसंव्यवहाराभिधं पुरम् ॥ ६८ ॥ तत्रानादिवनस्पतिनामानः कुल-
पुत्रकाः । वसन्ति तत्र च कर्म्मपरिणाममहीभुजा ॥ ६९ ॥ नियुक्तौ तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधनामकौ ।
महत्तमबलाध्यक्षौ तिष्ठतः स्थायिनौ सदा ॥ ७० ॥ युग्मम् ॥ ताभ्यां कर्म्मपरीणाममहाराजस्य शासनात् ।
निगोदाख्यापवरकेष्वसंख्येषु दिवानिशम् ॥ ७१ ॥ क्षिप्त्वा संपिण्ड्य धार्यन्ते सर्वेऽपि कुलपुत्रकाः । प्रसुप्त-

१ स्वयम् ग० । २ निर्जनम् । ३ ०स्त्य क० ख० ग० घ० ।

यन्मूर्च्छितवन्मत्तवन्मृतवच्च ते ॥ ७२ ॥ युग्मम् ॥ ते स्पष्टचेष्टाचैतन्यभाषादिगुणवर्जिताः । छेदभेदप्रतीघातदाहादीन् नाप्नुवन्ति च ॥ ७३ ॥ अपरस्थानगमनप्रवृत्तो नापि कश्चन । क्रियतेऽन्योऽपि त्रैलोक्यव्यवहारः कथंचन ॥ ७४ ॥ संसारिजीवसंघेन तादात्म्येन कुटुम्बिना । कालो निर्गमितः पूर्वं तत्रानन्तो मयापि हि ॥ ७५ ॥ तत्राप्यवसुतोऽन्यैर्दुर्दशास्थानो महत्तमः । व्यवस्थया प्रतीहार्या तत्परिणामित्यथा ॥ ७६ ॥ देवकर्मपरिणाममहाराजनिदेशतः । तन्नियोगाभिधो दूतो देवपादान् दिदृक्षति ॥ ७७ ॥ तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधाभ्यामथ सत्वरम् । मोचयैस्तुदिता यस्या दूतमन्तर्मुमोच सा ॥ ७८ ॥ ततः कृतनमस्कारमासीनं दौष्किासने । कृतकप्रश्नपूर्वं तं दूतमाह महत्तमः ॥ ७९ ॥ केन कार्येण संप्रेष्य भवन्तं दूतसत्तम ! । अनुग्रहोऽयमस्माकं देवपादैः कृतो महान् ॥ ८० ॥ तथाच तन्नियोगोऽपि को युष्माकं विना परः । अनुग्रहार्थो देवस्यागमे हेतुरयं तु मे ॥ ८१ ॥ लोकस्थितस्याभिधा चित्रमात्यानुसारेवासना । भवतां विदितैवास्ति देवस्य महती क्षमा ॥ ८२ ॥ देवोऽन्यदा च ताम्ये यथा लोकस्थिते ! रिपुः । तदागमाभिधोऽस्माकमेक एवास्ति दुर्जयः ॥ ८३ ॥ निःशङ्कमानसो लोकाचमर्यां स च निर्दयो । नयत्यसदसम्पाया कांचिन्निःसार्य मद्भुवः ॥ ८४ ॥ तत एवं स्थिते लोकस्थिते ! कालेन गच्छता । भविताकालस्तोको लोके स्तोकीभवत्यसम् ॥ ८५ ॥ भवतस्तदेवं कर्तव्यमनन्तजनपूरितम् । यस्यर्क्षभवतारारम्यं पुरं मम सनातनम् ॥ ८६ ॥ ततः सदाममस्नाम्ना यावन्तो यान्ति निर्वृतिम् । तावन्ता

१ ०षदे म० ।

॥ ८७ ॥ ततः प्राज्यजनत्वेन वार्त्तामपि न कश्चन । सदागमेन नीतानां
स्तत्संख्ययानीय तत्पदेषु ततस्त्वया ॥ ८८ ॥ ततश्च भुवने भावि नास्माकमयशः स्वसः ! तद् व्यापारं गृहाणैनं विदधे सापि तत्तथा
जनानां प्रश्नयिष्यति ॥ ८८ ॥ ततश्च भुवने भावि नास्माकमयशः स्वसः ! तद् व्यापारं गृहाणैनं विदधे सापि तत्तथा
॥ ८९ ॥ अहं च देवपादोपजीवी यद्यपि तत्त्वतः । तथापि सेवको लोकस्थितेस्तस्या विशेषतः ॥ ९० ॥
तद्द्वारेणात एवाहं तन्नियोग इति स्मृतः । सदागमेन नीताश्च कियन्तोऽप्यधुना जनाः ॥ ९१ ॥ ततोऽहं
प्रहितस्तावज्जनानयनहेतवे । लोकस्थित्या भवन्मूले प्रमाणं यूयमत्र तत् ॥ ९२ ॥ ततो यदादिशत्यार्ये-
त्युक्त्वा दूतस्य जल्पितम् । तथेति प्रतिपेदाते बलाध्यक्षमहत्तमौ ॥ ९३ ॥ महत्तमोऽथ तं दूतमवोचदिति सुन्दर ! ।
उत्तिष्ठात्रत्यलोकानां प्रमाणं दर्शयामि ते ॥ ९४ ॥ गत्वा त्वया यथा तस्मिन् यथादृष्टे निवेदिते । लोकाल्पी-
भावचिन्ता स्यान्न देवस्य कदापि हि ॥ ९५ ॥ इत्युक्त्वात्यन्तबोधेन सहोत्थाय महत्तमः । दूतायोर्ध्वकरस्तस्मै
दर्शयामास तत्पुरम् ॥ ९६ ॥ सर्वतो दर्शयित्वा च दूतमाह महत्तमः । सदागमस्य तस्य त्वं पश्य भद्र ! विमूढताम्
॥ ९७ ॥ स लोकं किल देवस्य निर्वाहयितुमिच्छति । विजानाति वराकस्तत्प्रमाणं न तु सर्वथा ॥ ९८ ॥ तथा—
ह्यत्र पुरे तावत्त्वया प्रत्यक्षमीक्षिताः । प्रासादा गोलकाभिख्याः संख्यातीता बृहत्तमाः ॥ ९९ ॥ निगोदाख्या-
पवरकाः प्रत्येकं तेष्वसंख्यकाः । वसन्ति तेषु चानन्ता एकैकस्मिन्नमी जनाः ॥ १०० ॥ असावनादिसिद्धश्च लोक-
निर्वाहणाग्रहः । सदागमाभिधानस्य रिपोस्तस्य दुरात्मनः ॥ १०१ ॥ अनन्तेनापि कालेन तथापि द्वेषिणामुना ।

१ ०मूलं प्र० क० ख० ग० ।

एकोऽपि मायया यस्के रिक्तमन्यो विधीयते ॥ १०२ ॥ तल्लोकचिरलीभावचिन्ता किं देव चेतसि ?। दूतोऽप्युवाच देवस्यावश्यमत्र सत्यमसत्यमप् ॥ १०३ ॥ युष्माकार्यं विशेषाच्च कथयिष्याम्यदः प्रभोः । किन्तु संपाद्यतां लोकस्थित्यादेशो झटित्यसौ ॥ १०४ ॥ मत्स्यापनोदिताः केऽत्र प्रविष्टेति रहस्यय । तीव्रमोहोदयेनोक्तो बलाध्यक्षः समाकयत ॥ १०५ ॥ किमत्र मन्त्रयेनापि । बहुना कर्म्मभूपतेः । प्राप्यतामयमादेशो घोषणापूर्वकं पुरे ॥ १०६ ॥ निर्विण्णाः स्थानकस्यास्य स्थानान्तरपिपासवः । स्वयमेव चलिष्यन्ति परोलक्षास्ततो जनाः ॥ १०७ ॥ संकथा नेतव्यलोकानां पृष्ठा वृत्तमिम ततः । महेष्यामः स्वर्गेषितास्तन्मध्यावासतो वयम् ॥ १०८ ॥ तीव्रमोहोदयोऽप्यादीदस्यन्वासोपमित्यच । निजस्यापि विज्ञानास्ति भक्ति परिहितस्य न ॥ ॥ १०९ ॥ अनाद्यन्योन्यसंबन्धादत्रैव रतिमागताः । कथं स्थानान्तरं आशु यातुमिच्छन्त्यमी जनाः ? ॥ ११० ॥ नीहाराहारनिभासोच्छ्वासनाश्वर्न्यपि । सर्वेऽप्येते मिथः स्निग्धाः कुर्वन्ति सममेव हि ॥ १११ ॥ अदृष्टान्यस्थानगुणाः स्निग्धाश्चैव परस्परम् । स्वयमेव चलिष्यन्ति तदेतेऽत्र कथं जनाः ॥ ११२ ॥ ततः प्रस्थाप्यलोकानां ज्ञानोपायस्त्वया परः । चिन्त्यतां कोऽपि तच्छ्रुत्वा स पर्याकुलतामगात् ॥ ११३ ॥ इयम माननीयास्ति कर्म्मभूमिपतेरपि । अचिन्त्यशक्तिसम्पन्ना भवत्ती भवितव्यता ॥ ११४ ॥ शक्रचक्रपर्यायकाप्रा महीपाः सोऽपि पूज्याः । मद्वाक्यमेवास्याः समीहन्ते सदैव हि ॥ ११५ ॥ तदेव कथ्ये सा तु प्रतिभाति

१ ०योपि० ख।

यदात्मनः । विधत्तेऽन्यस्य नापेक्षामुत्तमस्याधमस्य वा[1] ॥ ११६ ॥ भर्त्ताहमपि तस्याश्च भयसम्भ्रान्तमानसः । विदधानस्तदादेशं वर्त्ते कर्म्मकरोपमः ॥ ११७ ॥ पर्याकुलस्य तस्याथ बलाध्यक्षस्य चेतसि । स्फुरितं किं मयाज्ञेन चिन्तयात्मा विडम्ब्यते ॥ ११८ ॥ प्रस्थापनीयलोकानां स्वरूपं भवितव्यता । संसारिजीवपत्नी यद्वेत्ति सा पृच्छ्यते ततः ॥ ११९ ॥ एवं विचिन्त्य तेनाथ स्वाभिप्राये निवेदिते । तीव्रमोहः समाह्वास्त मुदितो भवितव्यताम् ॥ १२० ॥ आगतां च निवेश्योच्चैरासने सचिवेरितः । बलाध्यक्षः समस्तं तं वृत्तान्तं तामजिज्ञपत् ॥ १२१ ॥ हसित्वा साथ तं प्रोचे किमिदं गदितं त्वया । एवंविधेषु कार्येषु स्वयमेवोद्यतास्मि यत् ॥ १२२ ॥ मद्भर्त्ता तावदेकोऽयं तज्जातीयास्तथा परे । प्रेष्यन्ते तत्र सोऽवोचत्तदपि त्वं विधास्यसि ॥ १२३ ॥ अथागत्य निवेद्यैतच्चालितोऽहं तया बलात् । तन्नियोगोक्तसंख्यानुसारतोऽन्येऽपि कत्यपि ॥ १२४ ॥ महत्तमबलाध्यक्षावुदितौ च पुनस्तया । मया युवाभ्यां चामीभिः सह यातव्यमध्वनि ॥ १२५ ॥ मया तावदयं नैव मोक्तव्यः पतिरात्मनः । पतिव्रतानां नारीणां पतिरेव हि देवता ॥ १२६ ॥ तथैकाक्षनिवासाख्ये नगरे प्रथमं खलु । अमीभिरस्ति गन्तव्यमधीनं युवयोश्च तत् ॥ १२७ ॥ ताभ्यामथ तथेत्युक्ते ते सर्वे तत्पुरं ययुः । तस्मिंश्च नगरे सन्ति महान्तः पञ्च पाटकाः ॥ १२८ ॥ एकं पाटकमङ्गुल्या दर्शयन्नग्रतः स्थितम् । मा[2]मेवमथ तन्वङ्गि ! तीव्रमोहोदयोऽब्रवीत् ॥ १२९ ॥ त्वमत्र पाटके भद्र ! तिष्ठ विश्वस्तमानसः । पाश्चात्यपुरतुल्यत्वाद्ध्यध्येष धृतिदस्तव

१ च ग० । २ ममैव० क० ख० घ० ।

॥ १३० ॥ यथाहि तत्र प्रासादगर्भागारस्थिता जनाः । सन्त्यनन्ताः पिण्डिताङ्गास्तथैवात्रापि पाटके
॥ १३१ ॥ पर्यन्ते किन्तु ते लोकव्यवहारपराङ्मुखाः । मनीषिभिः समाख्यातास्तेनासांव्यवहारिकाः ॥ १३२ ॥
समागमादिकं लोकव्यवहारममी पुनः । कुर्वन्ति सर्वदा तेन प्रोक्ताः सांव्यवहारिकाः ॥ १३३ ॥ अनादिवनस्पतय
इति तेषां समाभिधा । एषां तु वनस्पतय इति भेदस्तथा परः ॥ १३४ ॥ प्रत्येकचारिणोऽप्यत्र विभिन्नाः सौम्य !
पाटके । सोपापवरकन्यायसङ्गताः सन्त्यसंख्यकाः ॥ १३५ ॥ ततोऽत्र भद्र ! तिष्ठ त्वमित्युक्त्वो तेन पूर्ववत् ।
एकस्मिन्नपवरके स्थापितोऽहं सुलोचने ! ॥ १३६ ॥ केचित्तत्सन्निधौ केचिन्मुत्कलेषु च कचन । पाटकस्यापरेष्वेव
देशेषु स्थापिता जनाः ॥ १३७ ॥ साधारणशरीराख्ये गर्भागारे ततो मया । कालो निर्वाहितोऽनन्तं पूर्वं
स्थित्यैव सुन्दरि ! ॥ १३८ ॥ अथापवरकात् तस्मात्कृष्टा मां भवितव्यता । असंख्यं धारयामास काले प्रत्येकचारिषु
॥ १३९ ॥ इतश्च कर्मनृपतिर्लोकस्थित्याज्ञिकं निजम् । कुटुम्बं सर्वमालोच्य स्वसामर्थ्यमयाणुभिः ॥ १४० ॥
एकभवेद्यसंज्ञाः सर्वावस्थाक्षमाः । अनन्ता गुटिकाः कृत्वा पुराह भवितव्यताम् ॥ १४१ ॥ युग्मम् ॥
भ्रान्त्यात्यखिललोकानां विदधाना क्षणे क्षणे । सुखदुःखादिकार्याणि नानारूपाणि सुन्दरि ! ॥ १४२ ॥
गुटिकास्तव गृह्णीता एकैकस्याथ देहिनः । जीर्णायां पूर्वदत्तायां दातव्या गुटिकापरा ॥ १४३ ॥ ततस्ताः
सर्वसत्त्वेषु स्वशरीर प्रयोजनम् । स्वयमेव करिष्यन्ति न भावी ते ततः श्रमः ॥ १४४ ॥ इत्युदित्वा नृपस्तस्यै

१ सामान्याभिधानम् । २ ०स्त्याऽनेन द० प्र० । ३ आत्मीयसामर्थ्यप्रभवपरमाणुभिः ।

गुटिकास्ताः [1]समर्पयत् । महाप्रसाद इत्युक्त्वा सापि प्रमुदितागृहीत् ॥ १४५ ॥ विधत्ते च समस्तेषु शरीरिषु
[2]तथैव सा । प्रयोगं सर्वदा तासां गुटिकानां निजेच्छया ॥ १४६ ॥ ततश्चाहं यदा तत्राव्यवहारपुरेऽभवम् । गुटिका-
स्तास्तदायच्छत् तया स्थित्या ममापि सा ॥ १४७ ॥ एकाकारं तथा सूक्ष्मं तत्प्रयोगेण किन्तु सा । रूपं मे
विहितवती चित्रं तत्रागता पुनः ॥ १४८ ॥ येतोऽपर्याप्तपर्याप्तस्थूलसूक्ष्माकृतिः क्वचित् । क्वचिदपवरकस्थः
क्वचित्प्रत्येक[3]चार्यपि ॥ १४९ ॥ कन्दमूलत्वगङ्कूरस्कन्धशाखाचरः क्वचित् । पत्रपुष्पफलाकारः क्वचिद् बीजगतः
क्वचित् ॥ १५० ॥ मूलबीजस्कन्धबीजाग्रबीजाद्यात्मकः क्वचित् । क्वचिद् वृक्षलतागुल्महरितौषधिरूपभाक् ॥१५१॥
इत्याद्यनेकरूपोऽहं भवितव्यतया तथा । विहितः पाटके तत्र वर्त्तमानो मुहुर्मुहुः ॥ १५२ ॥ कलापकम् ॥
तथारूपं च संवीक्ष्य पुरान्तरनिवासिनः । समभ्येत्य जनाः क्रूरा मत्पत्न्याः पुर एव माम् ॥ १५३ ॥ नित्यं
छिन्दन्ति भिन्दन्ति पिंषन्ति च दलन्ति च । मोटयन्ति च [4]लुञ्चन्ति तक्ष्णुवन्ति [5]दहन्ति च ॥ १५४ ॥ युग्मम् ।
दृष्ट्वाप्येवं बाध्यमानं मत्पत्नी मामुपेक्षते । तत्रैवं दुःखिनानन्तो गमितः समयो मया ॥ १५५ ॥ गुटिकाया-
मथान्त्यायां जीर्णायामन्यदानघे ! । भवितव्यतया दत्ता ममान्या गुटिका पुनः ॥ १५६ ॥ तत्प्रभावाद् जगा-
माहं द्वितीये पाटके क्षणात् । तत्रासंख्याः पार्थिवाख्याः संवसन्ति जनाः सदा ॥ १५७ ॥ तेषां मध्ये समु-
द्भूतस्ततोऽहमपि [6]पार्थिवः । अन्यान्यगुटिकादानात्तत्रापि नटितस्तया ॥ १५८ ॥ पर्याप्तकापर्याप्तकसूक्ष्मस्थू-

१ समार्पयत् ग० । २ तथाद्यप० क० ख० ग० घ० । ३ ०धार्यपि ग० । ४ लुण्ठन्ति ता० । ५ निहन्ति ग० । ६ पृथ्वीकायिकः ।

लादिरूपिना । पादूपलादिसंघेन चर्मपत्रकवाङ्मुखा ॥ १५९ ॥ भेदनिर्दलनादीनि मया दुःखानि पातक । सोढानि वसता तत्रासंख्य कालं सुलोचने ! ॥ १६० ॥ युग्मम् ॥ गुटिका मम दत्तान्या भवितव्यतया ततः । तृतीये पातके तूर्णं तत्रमामादहं ययौ ॥ १६१ ॥ निवसन्त्याप्यनाभानस्तत्रासंख्याः कुटुम्बिनः । ततो ममापि तन्म ध्य प्रादुर्भूताप्यरूपता ॥ १६२ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगात्तत्र च मम गेहिनी । हिमावश्यायमहिकादीनि रूपाण्यनेकधा ॥ १६३ ॥ शीतोष्णाचमनक्षारक्षेपादीनि मया मुहुः । तितिक्षितानि दुःखानि काल तत्राप्य संख्यकम् ॥ १६४ ॥ भार्यादत्तान्यगुटिकायोगतोऽहं गतस्ततः । तुरीये पातकेऽसंख्यतेजस्कायपरिप्लुते ॥१६५॥ तन्मध्ये पचिकारूपो भास्वरो दहनात्मकः । ततोऽहमपि सम्पन्नस्तेजस्कायाभिधो द्विजः ॥ १६६ ॥ सर्वप्रकार पचकान्यालालावादिसंज्ञया । तत्रापि नटितः पत्न्या गुटिकानां प्रदानतः ॥ १६७ ॥ मम विध्यापनादीनि संभावितानि च भूरिशः । भद्रे ! दुःखानि तत्रापि संख्यातीतमनेहसम् ॥१६८॥ पत्नीदत्तान्यगुटिकायोगाद् यातोऽथ पञ्चमे । पातके वायवीयाख्यासंख्यातक्षत्रियाश्रिते ॥ १६९ ॥ व्यजनाकारोऽनुष्णशीतमालस्यमर्मचक्षुषाम् । तन्मध्ये वायवीयाख्योऽहमपि क्षत्रियोऽभवम् ॥ १७० ॥ संवर्तगुञ्जाझम्झादिरूपैस्तत्रापि भार्यया । गुटिकासंप्रयोगेण भूयो भूयः कदर्थितः ॥ १७१ ॥ व्यजनपावनिरोधाद्यैर्मया दुःखमनेकधा । तितिक्षितमसंख्येय कालं तत्रापि सुन्दरि ! ॥ १७२ ॥ अथान्यगुटिकादानात् प्रथमे पातके पुनः । भवितव्यतया नीतः पूर्वस्मिस्त्येव च स्थितः ॥

१ •माख्यो मांसच• ह० लि० ग० प० ।

॥ १७३ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगादहं नीतस्ततस्तया । पाटकेषु द्वितीयादिष्वपि भूयोऽपि पूर्ववत् ॥ १७४ ॥ एवं
मन्त्रिबलाध्यक्षसमक्षं भवितव्यता । पर्याट्यानन्तशस्तत्र पुरे किञ्चित्प्रसेदुषी ॥ १७५ ॥ मामन्यदावदं[1]न्नाथ !
त्वमत्रास्थाश्चिरं ततः । स्थानाजीर्णापनोदाय नयामि त्वां पुरान्तरे ॥ १७६ ॥ युग्मम् ॥ यदाज्ञापयते देवीत्यु-
दित्वाथ मयि स्थिते । सा मेऽन्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ १७७ ॥ विकलाक्षनिवासाख्यमितश्चास्त्यपरं
पुरम् । विकटाः पाटकाः सुभ्रु ! विद्यन्ते तत्र च त्रयः ॥ १७८ ॥ तत्रोन्मार्गोपदेशाख्यो नियुक्तं[2]: कर्मभूभुजा ।
महत्तमः समस्त्यस्य मायेति विदिता प्रिया ॥ १७९ ॥ गतोऽहं गुटिकायोगात् तत्र प्रथमपाटके । संख्यातीतद्विहृषी-
ककुलपुत्रकसंकुले ॥ १८० ॥ ततो ममापि तन्मध्ये जातस्यापगता क्षणात् । सा प्रसुप्तोदिकावस्था मनाग् जाता
च चेतना ॥ १८१ ॥ रूपैर्जलूकागण्डोलकृमिपूतरकादिभिः । अन्यान्यगुटिकायोगात्तया तत्रापि नाटितः ॥१८२॥
शीतोष्णकर्त्तनाहारमर्दनास्फालनादिकम् । मया दुःखं च संख्येयं कालं तत्र तितिक्षितम् ॥ १८३ ॥ द्वितीये
पाटके नीतो गुटिकातस्तयान्यदा । गृहिणः सन्त्यसंख्यातास्तत्र त्रिकरणाभिधाः ॥१८४॥ जातोऽगृहीतसङ्के[3]ते ! तेषां
मध्येऽहमप्यथ । कुन्थुमत्कुणमत्कोटकीटयूकादिरूपभाक् ॥१८५ ॥ अन्यान्यगुटिकादानात् कुटुम्बिन्या विडम्बितः ।
कालं तत्रापि संख्येयं दुःखं सेहे च पूर्ववत् ॥ १८६ ॥ तृतीयं पाटकं नीतो गुटिकातस्ततस्तया । असंख्यास्तत्र
विद्यन्ते चतुरक्षाः कुटुम्बिनः ॥ १८७ ॥ ततो जातेन तन्मध्ये मया रम्भोरु ! पूर्ववत् । पतङ्गभृङ्गखद्योतदंशा-

१ ०दत् साथ ख । २ ०क्तो मूलभू० क० ख० ग० घ० । ३ ०सङ्गके ग० ।

पाशापारिना ॥ १८८ ॥ अन्यान्यगुटिकायोगाद्यन्वितन च मार्यया । कालं संख्यामितं नानारूप दुःखं विति
विमम् ॥ १८९ ॥ युग्मम् ॥ एवं नवमरूपाणि संख्यातानि पुनः पुनः । पर्याप्य पाग्रूपेषु मानुषे भवित
व्यता ॥ १९० ॥ आपयुत्र भरन्त किं नयामि नगरान्तरम् । पुरेऽत्र ते स्थितिर्नास्ति नियत नित्यवासतः ॥ १९१॥
मयाक्त इति । पत् तुभ्य शोपन तद्विधीयताम् । ततोऽन्यपुरयानाय दत्ता मे गुटिका तया ॥ १९२ ॥ अयो मार्गो
परेऽव्यामंगपरम्पाक्षमङ्कनम् । पञ्चायपत्नुसंस्थान नामास्ति नगरं परम् ॥ १९३ ॥ पञ्चाक्षास्तत्र ये लोकाः स्पष्ट
चेत पमंयुताः । भग्निनस्तऽभिधीयन्ते गमज्ञाथ मनीषिभिः ॥ १९४ ॥ ये पुनस्तत्र विद्यन्ते स्पष्टचैत पवर्जिताः ।
असंज्ञिन इति गपानास्ते संमूर्छनजास्तथा ॥ १९५ ॥ ततः कर्कटकग्राहमेकप्रभृतिरूपभृत् । अजगरमारद्वोरग
प्रमुखरूपमाक् ॥ १९६ ॥ हरिकोकणकोलूकपिकद्विकजुकाकृतिः । एष जलस्थलनभश्चरो जातस्तदन्तरे ॥१९७॥
असंज्ञिसंज्ञिरपञ्चिनरनदेसपार्दितः । संख्यातिगानि दुःखानि विविधानाय पूर्ववत् ॥ १९८ ॥ विशेषकम् ॥
पामान्यमनुष्यानपु पन्ना नीतोऽन्तरान्तरा । असंख्याता पञ्चातानि संमोशानि तथैव च ॥ १९९ ॥
स्थित्वा नैरन्तर्येण परं पल्योपमत्रयम् । अह तत्र पुरे किंचित् माधिक पूर्वकोटिभिः ॥ २०० ॥ अन्यदा गुटिका
दानाद्ध पञ्च मया मृग । वायन गीतलुब्धश्च लुब्धकेन निपातितः ॥ २०१ ॥ मत्रान्तरे च पूर्वस्या जीर्णाया
भविनव्यता । दत्तो म गुटिकामन्यां तद्गताय गतोऽमवम् ॥ २०२ ॥ कालक्रमेण मज्ञातो बलवान् यूथनायकः ।
करणुनिकरेणाहं महिलो व्यचरं वन ॥ २०३ ॥ अन्यदा विपिने तत्र प्रादुर्भूते दवानले । कान्दिशीकमह यूथ

तद्विहाय पलायितः ॥ २०४ ॥ ततश्चिरन्तनग्रामपद्रशुष्कान्धकूपके। तटरूढतृणालक्ष्येऽग्रपादौ पतितौ मम ॥ २०५ ॥ पश्चाद्भागोऽपि पर्यस्तो निरालम्बतया ततः। पतितोऽहं समुत्तानस्तनुभारेण चूर्णितः ॥ २०६ ॥ मूर्च्छान्ते चेतनां प्राप्य प्रोद्भूतप्रबलव्यथः। सञ्जातपश्चात्तापोऽहमिति चेतस्यचिन्तयम् ॥ २०७ ॥ हितमापद्गतं पोष्यं संस्तुतं चोपकारकम्। आत्मवर्गं परित्यज्य नश्यन्त्यात्मभयेन ये ॥ २०८ ॥ तेषामह्रीमतां यूथाधिपशब्दभृतां वृथा। मादृशानां कृतघ्नानामेतदेव हि युज्यते ॥ २०९ ॥ युग्मम् ॥ ततोऽनया भावनया मनाग्माध्यस्थ्यमालिना। सप्तरात्रं मया सोढा तदवस्थेन सा व्यथा ॥ २१० ॥ अत्रान्तरे च कमपि प्रादुष्कृत्य मनोहरम्। पुमांसमेकं सा सुभ्रु! मामूचे भवितव्यता ॥ २११ ॥ तुष्टाहं चेष्टितेनोच्चैरार्यपुत्र! तवामुना। अतो गच्छाधुना रम्ये नगरे त्वं जयस्थले ॥ २१२ ॥ अयं च प्रददे तुभ्यं मया पुण्योदयो यतः। प्रच्छन्नस्तव सोदर्यः सहचारी च भाव्यसौ ॥ २१३ ॥ देव्याः प्रमाणमादेश इति प्रोक्ते मया ततः। सा मे तत्र प्रयाणाय गुटिकामपरां ददौ ॥ २१४ ॥ वदत्येवं च संसारिजीवाख्ये तस्करे तदा। स भव्यपुरुषः प्रज्ञाविशालामेवमब्रवीत् ॥ ॥ २१५ ॥ यथाम्ब! पुरुषः कोऽयं? किं वानेन प्रकथ्यते?। पुराणि कानि वामून्यव्यवहारादिकानि च? ॥ २१६ ॥ केयं च गुटिका चित्रसुखदुःखादिकारिणी?। स्थितिः कालमियन्तं च नरस्यैकस्य वा कथम्? ॥ २१७ ॥ जलूकादीनि रूपाणि स्युर्मनुष्यस्य वा कथम्?। तदम्ब! कथ्यतामस्य भावार्थो मे परिस्फुटः ॥ २१८ ॥ ततः प्रज्ञाविशालाह रूपं यदिदमीक्ष्यते। अस्येदानीन्तनं वत्स! तन्नानेन निवेदितम् ॥ २१९ ॥ संसारिजीवनामायं

किन्तु सामान्यरूपतः । पुरुषोऽप्यसद्देशारमनामानेन प्रकाशितम् ॥ २२० ॥ भास्मनश्चरितं सर्वमिदं च घटमानकम् । निवेदयितुमारब्धमनेन कमलानन ! ॥ २२१ ॥ यथाऽसंव्यवहाराख्यो जीवानां राशिरत्र यः । तद्संव्यवहाराख्यं नगरं तात ! कथ्यते ॥ २२२ ॥ पद्मानामपि पृथ्व्यम्बुप्रसूतीनां च सुन्दर ! एकेन्द्रियाणामेकाक्षनिवासं पुरमुच्यते ॥ २२३ ॥ द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां विकलाक्षं पुरं पुनः । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां तु पञ्चाक्षपशुसंस्थितिः ॥ २२४ ॥ एकभववेदनीयं कर्मचात्राभिधीयते । गुटिकैकभववेद्या सुखदुःखादिकारणम् ॥ २२५ ॥ अथ च पुरुषो यस्य ! सर्वदाप्यजरामरः । अनन्तमध्यतः कालमस्य युक्तैव हि स्थितिः ॥ २२६ ॥ भवन्त्येव हि संसारिजीवस्य विविधानि च । चक्रकादीनि रूपाणि भद्र ! चित्रं किमत्र तत् ! ॥ २२७ ॥ यच्चा जगति नास्त्येव यस्य ! तत्सर्वविधानकम् । घटस्य नैव संसारिजीवस्य घटते स्फुटम् ॥ २२८ ॥ मुग्धबुद्धिस्त्वमद्यापि स्वरूपं यस्य ! वेत्सि न । एतस्य कथयस्वेष तथाप्यचरितं निजम् ॥ २२९ ॥ पश्चादस्य भावार्थं कथयिष्यामि सुस्थिता । ततः सोऽपि तथादेशं तथेति प्रत्यपद्यत ॥ २३० ॥ इति ननु समवैषि मुग्धमन्या ! घनतरकर्मवशं गतस्य जन्तोः । भ्रमणमवितथं गतो तिरश्चां भ्रमुत भवात्ययुना पुनर्नराणाम् ॥ २३१ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे तिर्यग्भवभ्रमणवर्णनो नाम द्वितीयप्रस्तावः ।

१ घटनात्मकम् म०

तृतीयः प्रस्तावः।

प्रोचे संसारिजीवोऽथ गुटिकायाः प्रभावतः। तस्या यत्राहमुत्पेदे तदाकर्णय सुन्दरि ! ॥ १ ॥ अस्त्यस्यां
मनुजगतौ पाटको भरताभिधः। तद्विशेषकभूतं च पुरं नाम्ना जयस्थलम् ॥ २ ॥ [1]ज्योत्स्न्यां सौधेषु सावर्ण्या-
ल(ल्ल)क्ष्येष्वाभाति सुभ्रुवाम्। आरूढानां मुखैर्यत्र शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ ३ ॥ दुर्वारवैरिवनितामुखपद्महिमागमः।
तत्र पद्म इति ख्यातः समभूदवनीपतिः ॥४॥ अपूर्वः कोऽप्यभूद् यस्य प्रतापवडवानलः। यः शीतांशुरिवात्यन्तं
यशोऽर्णवमवर्द्धयत् ॥ ५ ॥ शचीव देवराजस्य लक्ष्मीरिव मुरद्विषः। तस्याभूज्जनितामन्दानन्दा नन्दाभिधा
प्रिया ॥ ६ ॥ अथाहं प्राविशं सुभ्रु ! भवितव्यतयेरितः। नन्दाया उदरे तस्याः समये च विनिर्ययौ ॥ ७ ॥
जातोऽस्माकमयं सूनुरिति मिथ्याभिमानतः। कारयामासतुर्देवीनृपौ जन्मोत्सवं मम ॥८॥ सहजातोऽपि नादर्शि
ताभ्यां पुण्योदयः स[2] तु। अन्तरङ्गा हि नो भावा गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥ ९ ॥ नन्दिवर्द्धन इत्याख्यां दधानः
पितृकल्पिताम्। धात्रिभिः पाल्यमानोऽथ क्रमादहमवर्द्धिषि[3] ॥ १० ॥ इतश्चासंव्यवहारपुरादारभ्य वर्त्तते। द्विविधो
मे परीवारो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ ११ ॥ तत्रान्तरपरीवारमध्ये मेऽस्त्यविवेकिता। धात्री ब्राह्मणजातीया
सर्वानर्थनिबन्धनम् ॥१२॥ मज्जन्मदिवसे सापि सुतं वैश्वानराभिधम्। सुषुवे सोऽप्यवर्द्धिष्ट सममेव मया क्रमात्

१ सौधेषु ज्योत्स्ना सावर्ण्याल्लक्ष्येष्वा० ग०। २ सुतः ग०। ३ ०वर्द्धिषम् ग०।

किन्तु सामान्यरूपतः । पुरुषोऽस्त्यत्रैवात्मनामानेन प्रकाशितम् ॥ २२० ॥ आत्मनश्चरितं सर्वमिदं च चेष्टमा नकम् । निवेदयितुमारब्धमनेन कमलानन ! ॥ २२१ ॥ तथाऽसंव्यवहाराणां जीवानां राशिरत्र यः । तद् संव्यवहाराख्यं नगरं तात ! कथ्यते ॥ २२२ ॥ पञ्चानामपि पृथ्व्यम्बुप्रभृतीनां च सुन्दर ! एकेन्द्रियाणामेकाक्षनिवासं प्रकल्प्यते ॥ २२३ ॥ द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां विकलाक्षं पुरं पुनः । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां तु पञ्चाक्षपशुसंस्थितिः ॥ २२४ ॥ एकभववेदनीयं कर्मात्रभिहोच्यते । गुटिकैकभववेद्या सुखदुःखादिकारणम् ॥ २२५ ॥ अथ च पुरुषो वत्स । सर्वदाप्यजरामरः । अनन्तमप्यतः कालमस्य पुरेषु हि स्थितिः ॥ २२६ ॥ भवन्त्येव हि संसारिजीवस्य विविधानि च । अब्दकादीनि रूपाणि भद्र ! चित्रं किमत्र तत् ? ॥ २२७ ॥ यद्वा जगति नास्त्येव वत्स ! तत्संविधानकम् । यदस्य नैव संसारिजीवस्य घटते स्फुटम् ॥ २२८ ॥ मुग्धबुद्धिस्त्वमद्यापि सरूप वत्स ! वेत्सि न । एतस्य रूपयत्येष तवात्मचरितं निजम् ॥ २२९ ॥ पश्चाच्चास्य भावार्थं कथयिष्यामि सुस्थिता । ततः सोऽपि तदादेश तथेति प्रत्यपद्यत ॥ २३० ॥ इति ननु समवसि मुग्धमत्या ! घनतरकर्मवशं गतस्य जन्तोः । भ्रमणमवितथं गतौ तिरश्चां शृणु गतावधुना पुनर्नराणाम् ॥ २३१ ॥

इति श्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे तिर्यग्भवभ्रमणवर्णनो नाम द्वितीयप्रस्तावः ।

---

१ घटनात्मकम् ग०

तृतीयः प्रस्तावः ।



प्रोचे संसारिजीवोऽथ गुटिकायाः प्रभावतः । तस्या यत्राहमुत्पेदे तदाकर्णय सुन्दरि ! ॥ १ ॥ अस्त्यस्यां मनुजगतौ पाटको भरताभिधः । तद्विशेषकभूतं च पुरं नाम्ना जयस्थलम् ॥ २ ॥ [1]ज्योत्स्न्यां सौधेषु सावर्ण्याल(ल्ल)क्ष्येष्वाभाति सुभ्रुवाम् । आरूढानां मुखैर्यत्र शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ ३ ॥ दुर्वारवैरिवनितामुखपद्महिमागमः । तत्र पद्म इति ख्यातः समभूदवनीपतिः ॥४॥ अपूर्वः कोऽप्यभूद् यस्य प्रतापवडवानलः । यः शीतांशुरिवात्यन्तं यशोऽर्णवमवर्द्धयत् ॥ ५ ॥ शचीव देवराजस्य लक्ष्मीरिव मुरद्विषः । तस्याभूज्जनितामन्दानन्दा नन्दाभिधा प्रिया ॥ ६ ॥ अथाहं प्राविशं सुभ्रु ! भवितव्यतयेरितः । नन्दाया उदरे तस्याः समये च विनिर्ययौ ॥ ७ ॥ जातोऽस्माकमयं सूनुरिति मिथ्याभिमानतः । कारयामासतुर्देवीनृपौ जन्मोत्सवं मम ॥८॥ सहजातोऽपि नादर्शि ताभ्यां पुण्योदयः स[2] तु । अन्तरङ्गा हि नो भावा गोचरश्चर्म्मचक्षुषाम् ॥ ९ ॥ नन्दिवर्द्धन इत्याख्यां दधानः पितृकल्पिताम् । धात्रिभिः पाल्यमानोऽथ क्रमादहमव[3]र्द्धिषि ॥ १० ॥ इतश्चासंव्यवहारपुरादारभ्य वर्त्तते । द्विविधो मे परीवारो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ ११ ॥ तत्रान्तरपरीवारमध्ये मेऽस्त्यविवेकिता । धात्री ब्राह्मणजातीया सर्वानर्थनिबन्धनम् ॥१२॥ मज्जन्मदिवसे सापि सुतं वैश्वानराभिधम् । सुषुवे सोऽप्यवर्द्धिष्ट सममेव मया क्रमात्

१ सौधेषु ज्योत्स्ना सावर्ण्यालक्ष्येष्वा० ग० । २ सुतः ग० । ३ ०वर्द्धिषम् ग० ।

॥ १३ ॥ घातयन् वैरकलहाभिधानौ विषमौ पदौ । ईर्ष्यासूयाभिधे बाहू स्थूलहस्ते समुद्वहन् ॥ १४ ॥ ऊरू
हेस्तौ दधदनुशयानुपशमाभिधौ । पैशुन्यसंज्ञकं चित्रस्फुटिलं च कटितटम् ॥१५॥ परमर्मोद्घटनाख्यं दधदप्युदरं
गुरुम् । अपानमार्गसद्गीर्णमुरोऽन्यस्थापनामकम् ॥१६॥ ह्रस्वौ च कलयन्बाहू धारमत्सरसंज्ञिकौ । चित्राणां क्रूरता-
रूपां सुदीर्घां च शिरोधराम् ॥ १७ ॥ असभ्यभाषणाख्यास्यैर्विषमैर्दशनैर्युतः । चञ्चस्वासहनत्वाख्यौ कर्णावल्पतरौ
वहन् ॥१८॥ चिभ्रत् वामसमाख्यस्यं चिपिटं नैर्घृण्यं तथा । रक्ते दृशे नृशंसत्वरौद्रत्वाख्ये दृशौ दधत् ॥१९॥ शुक्लो
मूर्ध्ना त्रिकोपेनानार्याचरणसंज्ञिना । केशभारेण पिङ्गस्याक्षपालाख्यालानुहारिणा ॥ २० ॥ परोपतापसंज्ञेन कुर्वन् स्व
नाम सार्थकम् । ततोऽसौ मायणीयनुरन्यदा ददृशे मया ॥२१॥ षड्भिः कुलकम् ॥ दृष्ट्वा च प्रादुरभवद्वैरिण्यपि हि
वस्ततः । मम गेहास्नोरिवापथ्ये प्रीतिस्वभावनीयसी ॥ २२ ॥ ज्ञात्वाथ सोऽपि मद्भावं समागत्य च सत्वरम् ।
मां हर्षात् समालिङ्गमाटपन् स्नेहमद्भुतम् ॥ २३ ॥ नत्सर्गोऽसंपन्न्योन्यमावयोर्विरहासहा । अतिमात्रमभूत् मैत्री
क्रमाच्च कमलेक्षणे । ॥२४॥ अथान्यदामुना मैत्रीं कुर्वन्तमभिवीक्ष्य माम् । रुष्टः पुण्योदयो मित्र चेतस्येवमचिन्त
यत् ॥ २५ ॥ अहो ! मूर्खः कुमारोऽयं हितं मित्रं विहाय माम् । वैश्वानरेण यन्मैत्री कुरुते विद्विषामुना ॥२६॥
तत्किं निवारयाम्येनमथवा वारितोऽप्यसौ । मित्र न त्यक्ष्यति क्रूरं कलङ्कमिव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥ तत्किं परि

१ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । २ ०भिधे ता० क० ग० घ० । ३ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । ४ ०रसंज्ञिके ता०
क० ग० घ । ५ मसभ्यभा० क० स० ग० घ० । ६ नासिकम् । ७ रोगिणः ।

त्यजाम्येनं न ह्येतदपि साम्प्रतम् । भवितव्यतयैतस्यादिष्टः सहचरोऽस्मि यत् ॥२८॥ वेदनासमुद्घातेऽपि स्थिरमध्यस्थभावतः । तोषितोऽहमनेनापि पुरा द्विरदरूपिणा ॥ २९ ॥ तदकाण्डे न मे त्यक्तुं कुसङ्गोऽप्येष युज्यते । ध्यात्वेति स तथैवास्थात् मत्समीपे महामनाः ॥ ३० ॥ इतः संजज्ञिरे बाह्या वयस्या बहवो मम । ततो विचित्रक्रीडाभिस्तैः क्रीडामि निजेच्छया ॥ ३१ ॥ बलिनोऽपि महान्तोऽपि ते च क्षत्रसुता अपि । वैश्वानरयुतं सर्प्पमिव मां वीक्ष्य बिभ्यति ॥ ३२ ॥ प्रणतिं चाटुकर्म्माणि धावनं पुरतोऽपि च । पदातय इवाजस्रं ततः कुर्वन्ति ते मम ॥ ३३ ॥ तत्र पुण्योदयो हेतुरचिन्त्यमहिमाश्रयः । शक्तिर्वैश्वानरस्येयमिति चित्ते त्वभून्मम ॥ ३४ ॥ एवं भावनया तन्वि ! तत्र वैश्वानरेऽन्वहम् । दधानो द्विगुणां प्रीतिमहं जातोऽष्टवार्षिकः ॥ ३५ ॥ अथ मामर्प्पयत्तातो महोत्सवपुरस्सरम् । कलाचार्याय वर्येऽह्नि कलाग्रहणहेतवे ॥ ३६ ॥ ततोऽहमग्रेऽधीयाननिजभ्रात्रादिभिः सह । तत्समीपे प्रववृते ग्रहीतुं सकलाः कलाः ॥ ३७ ॥ जज्ञे पुण्योदयेनानुकूलवातेन नुन्नया । कलाजलधिपारीणो मतिनावाचिराय च ॥ ३८ ॥ किन्तु विसार्य शास्त्रार्थं वैश्वानरविमोहितः । अकार्षं[1] कलहं भद्रे ! सहाध्यायिभिरन्वहम्[2] ॥ ३९ ॥ मर्म्मोद्घट्टनमश्लीलभाषणं ताडनं तथा । कुर्वे तेषां क्षमे नापि मध्यस्थमपि तद्वचः ॥ ४० ॥ विदधानाः कलाभ्यासं मातापित्रनुरोधतः । ते तु कालं नयन्ति स्म मयकोद्वेजिता अपि ॥४१॥ माभूदनर्थः सर्वेषामिति बुद्ध्या च ते बुधाः । मद्वृत्तं कथयन्ति स्म कलाचार्यस्य नैव तत् ॥ ४२ ॥ तथापि नित्य-

१ ०मार्प्पं० ग० ता०। २ सदाध्या० क० ख० घ० ।

॥ १३ ॥ धारयन् वैरकलहाभिधानौ विषमौ पदौ । ईर्ष्यासूयाभिधे सक्थे स्थूलह्रस्वे समुद्वहन् ॥ १४ ॥ ऊरू हेस्रौ दधदनुशयानुपशमाभिधौ । पैशुन्यसंज्ञकं निम्नत्कुटिलं च कटितटम् ॥१५॥ परमर्मोद्घटनाख्यं दर्शयन्नुदरं गुरुम् । अपमानमहिमसङ्कीर्णमुरोऽन्तस्तापनामकम् ॥१६॥ ह्रस्वौ च कलयन्बाहू धारमत्सरसंज्ञितौ । बिभ्राणः क्रूरता-रूपां सुदीर्घां च शिरोधराम् ॥ १७ ॥ असभ्यभाषणाद्यास्यैर्विषमैर्दशनैर्युतः । चण्डत्वासहनत्वाख्यौ कर्णावल्पतरौ वहन् ॥१८॥ बिभ्रत् तामसताख्यं चिपिटं नैर्घृण्टं तथा । रक्ते भ्रुवे नृशंसत्वरौद्रत्वाख्ये दृशौ दधत् ॥१९॥ युक्तो मूर्ध्नो त्रिकोणेनानार्याचरणसंज्ञिना । केशभारेण पिङ्गत्वाख्यालावालानुकारिणा ॥ २० ॥ परोपतापसंज्ञेन कुर्वन् स्व नाम सार्थकम् । ततोऽसौ मायणीथपुरन्यदा ददृशे मया ॥२१॥ अष्टभिः कुलकम् ॥ दृष्ट्वा च प्रादुरभवद्वैरिण्यपि हि तस्मतः । मम स्नेहास्नोरिवापथ्ये प्रीतिस्तत्रातनीयसी ॥ २२ ॥ ज्ञात्वाथ सोऽपि मद्भाव समागत्य च सत्वरम् । मां सर्वाङ्गं समालिङ्गमाटयन् स्नेहमद्भुतम् ॥ २३ ॥ नखमांसवदन्योन्यमावयोर्विरहासहा । अतिमात्रममून्मैत्री क्रमाच्च कमलेक्षणे ! ॥ २४ ॥ अथान्यदामुना मैत्रीं कुर्वन्तमभिवीक्ष्य माम् । रुष्ट पुण्योदयो मित्र चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ २५ ॥ अहो ! मूर्खः कुमारोऽयं हित मित्रं विहाय माम् । वैश्वानरेण यन्मैत्रीं कुरुते विधिनाऽमुना ॥२६॥ तत्कि निवारयाम्येनमथवा वारितोऽप्यसौ । मित्र न त्यक्ष्यति ध्रुवं कलङ्कमिव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥ तत्किं परि

१ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । २ ०मिथे ता० क० ग० घ० । ३ ह्रस्वे ता० क० ग० घ० । ४ ०रसंमिते ता० क० घ० च । ५ असत्यमा० क० ख० ग० घ० । ६ नासिकाम् । ७ रोगिणः ।

त्यजाम्येनं न ह्येतदपि साम्प्रतम् । भवितव्यतयैतस्यादिष्टः सहचरोऽस्मि यत् ॥२८॥ वेदनासमुद्घातेऽपि स्थिरमध्यस्थभावतः । तोषितोऽहमनेनापि पुरा द्विरदरूपिणा ॥ २९ ॥ तदकाण्डे न मे त्यक्तुं कुसङ्गोऽप्येष युज्यते । ध्यात्वेति स तथैवास्थात् मत्समीपे महामनाः ॥ ३० ॥ इतः संजज्ञिरे बाह्या वयस्या बहवो मम । ततो विचित्रक्रीडाभिस्तैः क्रीडामि निजेच्छया ॥ ३१ ॥ बलिनोऽपि महान्तोऽपि ते च क्षत्रसुता अपि । वैश्वानरयुतं सर्प्पमिव मां वीक्ष्य बिभ्यति ॥ ३२ ॥ प्रणतिं चाटुकर्म्माणि धावनं पुरतोऽपि च । पदातय इवाजस्रं ततः कुर्वन्ति ते मम ॥ ३३ ॥ तत्र पुण्योदयो हेतुरचिन्त्यमहिमाश्रयः । शक्तिर्वैश्वानरस्येयमिति चित्ते त्वभून्मम ॥ ३४ ॥ एवं भावनया तन्वि ! तत्र वैश्वानरेऽन्वहम् । दधानो द्विगुणां प्रीतिमहं जातोऽष्टवार्षिकः ॥ ३५ ॥ अथ मामर्प्पयत्तातो[1] महोत्सवपुरस्सरम् । कलाचार्याय वर्येऽह्नि कलाग्रहणहेतवे ॥ ३६ ॥ ततोऽहमग्रेऽधीयाननिजभ्रात्रादिभिः सह । तत्समीपे प्रववृते ग्रहीतुं सकलाः कलाः ॥ ३७ ॥ जज्ञे पुण्योदयेनानुकूलवातेन नुन्नया । कलाजलधिपारीणो मतिनावाचिराय च ॥ ३८ ॥ किन्तु विसार्य शास्त्रार्थं वैश्वानरविमोहितः । अकार्षं कलहं भद्रे ! सहाध्यायिभिरन्वहम्[2] ॥ ३९ ॥ मर्म्मोद्घट्टनमश्लीलभाषणं ताडनं तथा । कुर्वे तेषां क्षमे नापि मध्यस्थमपि तद्वचः ॥ ४० ॥ विदधानाः कलाभ्यासं मातापित्रनुरोधतः । ते तु कालं नयन्ति स्म मयकोद्वेजिता अपि ॥४१॥ माभूदनर्थः सर्वेषामिति बुद्ध्या च ते बुधाः । मद्वृत्तं कथयन्ति स्म कलाचार्यस्य नैव तत् ॥ ४२ ॥ तथापि नित्य-

१ ०मार्प्प० ग० ता०। २ सदाध्या० क० ख ० घ० ।

॥ १३ ॥ धारयन् वैरकलहाभिधानौ विषमौ पदौ । ईर्ष्यासूयाभिधे जङ्घे स्थूलह्रस्वे समुद्वहन् ॥ १४ ॥ ऊरू हंसौ वधवञ्चनयानुपक्षमाभिधौ । पैशून्यसंज्ञकं चित्रसकुटिलं च कटितटम् ॥१५॥ परमर्मोद्घटनाख्यं दर्शयन्नुदरं गुल्मम् । दधानमतिसङ्कीर्णमुरोऽन्यत्तापनामकम् ॥१६॥ हंसौ च कलपन्माहु क्षारमत्सरसंज्ञिकौ । बिभ्राणः क्रूरतारूपां सुदीर्घां च शिरोधराम् ॥ १७ ॥ असभ्यभाषणाख्यैर्विषमैर्दशनैर्युतः । चण्डत्वासहनत्वाख्यौ कर्णावल्पसरौ वहन् ॥१८॥ बिभ्रत् तामसभावास्य चिपिट नैर्घृण्ट तथा । रक्ते दृशे नृशंसत्वरौद्रत्वाख्ये दधौ दधत् ॥१९॥ युक्तो मूर्ध्ना त्रिविक्षेपेनानार्याचरणसंज्ञिना । केशभारेण पिङ्गत्वाक्ष्यालामालानुकारिणा ॥ २० ॥ परोपतापसङ्गेन कुर्वन् स्व नाम सार्थकम् । ततोऽसौ प्राणिवधनुरन्यदा ददृशे मया ॥२१॥ त्रिभिः कुलकम् ॥ दृष्ट्वा च प्रादुरभवद्वैरिण्यपि हि तन्मतः । मम गैढास्नेहरिवापध्ये प्रीतिस्तत्रातिनीयसी ॥ २२ ॥ ज्ञात्वाथ सोऽपि मद्भाव समागत्य च सत्वरम् । मां सर्वाङ्गं समालिङ्ग्याटयन् स्नेहमद्भुतम् ॥ २३ ॥ नखमांसवदन्योन्यमावयोर्विरहासहा । अतिमात्रमभून्मैत्री क्रमाच्च कमलेक्षणे ! ॥२४॥ अथान्यदाधुना मैत्री कुर्वन्तमभिवीक्ष्य माम् । हृष्टः पुण्योदयो मित्र चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ २५ ॥ अहो ! मूर्खः कुमारोऽयं हितं मित्रं विहाय माम् । वैश्वानरेण यन्मैत्री कुरुते विद्विषामुना ॥२६॥ तत्किं निवारयाम्येनमथवा वारितोऽप्यसौ । मित्रं न त्यक्ष्यति क्षुद्र कलङ्कमिव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥ तत्किं परि

१ ह्रस्वे सा० क० ग० घ० । २ ०मिधे ता० क० ग० घ० । ३ ह्रस्वे सा० क० ग० घ० । ४ ०रसंज्ञिके ता० क० ग० घ । ५ चपलमा० क० स० ग० घ० । ६ नासिकाम् । ७ रोगिणः ।

त्यजाम्येनं न ह्येतदपि साम्प्रतम् । भवितव्यतयैतस्यादिष्टः सहचरोऽस्मि यत् ॥२८॥ वेदनासमुद्घातेऽपि स्थिर-मध्यस्थभावतः । तोषितोऽहमनेनापि पुरा द्विरदरूपिणा ॥ २९ ॥ तदकाण्डे न मे त्यक्तुं कुसङ्गोऽप्येष युज्यते । ध्यात्वेति स तथैवास्थात् मत्समीपे महामनाः ॥ ३० ॥ इतः संजज्ञिरे बाह्या वयस्या बहवो मम । ततो विचित्रक्रीडाभिस्तैः क्रीडामि निजेच्छया ॥ ३१ ॥ बलिनोऽपि महान्तोऽपि ते च क्षत्रसुता अपि । वैश्वानरयुतं सर्प्पमिव मां वीक्ष्य बिभ्यति ॥ ३२ ॥ प्रणतिं चाटुकर्म्माणि धावनं पुरतोऽपि च । पदातय इवाजस्रं ततः कुर्वन्ति ते मम ॥ ३३ ॥ तत्र पुण्योदयो हेतुरचिन्त्यमहिमाश्रयः । शक्तिर्वैश्वानरस्येयमिति चित्ते त्वभून्मम ॥ ३४ ॥ एवं भावनया तन्वि ! तत्र वैश्वानरेऽन्वहम् । दधानो द्विगुणां प्रीतिमहं जातोऽष्टवार्षिकः ॥ ३५ ॥ अथ मामर्प्पयत्तातो[1] महोत्सवपुरस्सरम् । कलाचार्याय वर्येऽह्नि कलाग्रहणहेतवे ॥ ३६ ॥ ततोऽहमग्रेऽधीयाननिज-भ्रात्रादिभिः सह । तत्समीपे प्रववृते ग्रहीतुं सकलाः कलाः ॥ ३७ ॥ जज्ञे पुण्योदयेनानुकूलवातेन नुन्नया । कलाजलधिपारीणो मतिनावाचिराय च ॥ ३८ ॥ किन्तु विसार्य शास्त्रार्थं वैश्वानरविमोहितः । अकार्षं कलहं भद्रे ! सहाध्यायिभिरन्वहम्[2] ॥ ३९ ॥ मर्म्मोद्घट्टनमश्लीलभाषणं ताडनं तथा । कुर्वे तेषां क्षमे नापि मध्यस्थमपि तद्वचः ॥ ४० ॥ विदधानाः कलाभ्यासं मातापित्रनुरोधतः । ते तु कालं नयन्ति स्म मयकोद्वेजिता अपि ॥४१॥ माभूदनर्थः सर्वेषामिति बुद्ध्या च ते बुधाः । मद्वृत्तं कथयन्ति स्म कलाचार्यस्य नैव तत् ॥ ४२ ॥ तथापि नित्य-

१ ०मार्प्प० ग० ता०। २ सदाध्या० क० ख ० घ० ।

साभिप्रायं फलवस्येव मामकम् । सचेष्टितं कलाचार्यः सकलं स कलानिधिः ॥ ४३ ॥ मामयोग्य इति ज्ञात्वा
ततः सोऽपि न किञ्चन । शिक्षयत्यथवा सुप्तं को बोधयति पन्नगम् ॥ ४४ ॥ यदि वान्यमिषेणैष कदाचिच्छि-
क्षयेदपि । कुर्वे ततोऽहमस्यापि ताडनाक्रोशनादिकम् ॥४५॥ ततः सोऽपि कलेर्भीत्या ते चापि सहपाठिनः । न
संश्लेषमपीच्छ(च्छ)न्ति मम पापस्येव मेऽनघे । ॥४६॥ अथ दध्यावहं चित्ते महामोहस्य दोषतः । अहो! वैश्वानरस्यास्य
माहात्म्यं किञ्चिदद्भुतम् ॥ ४७ ॥ यश्चिरालिङ्गनेनैष वल्लभं विधाय माम् । करोत्यधृष्यं लोकानां प्रज्वलन्त
मिवानलम् ॥ ४८ ॥ सदैष बन्धुः सर्वस्वं शरीरं जीवितं च मे । चञ्चापुरुषकल्पो हि पुरुषो रहितोऽमुना ॥ ४९ ॥
इति पुष्टाय सन्धिं ! तत्र वैश्वानरे मम । स्थिरोऽनुरागः संजज्ञे नीलीराग इवांशुके ॥ ५० ॥ एकान्तगोष्ठ्या
मन्येद्युरथ वैश्वानरः स माम् । प्रहृष्टमानसं दृष्ट्वा समभाषिष्ट दुष्टधीः ॥ ५१ ॥ कुमार ! त्वत्प्रसादस्य प्राणैरपि
न निष्क्रयम् । गच्छाम्यहं चिकीर्षामि दीर्घमायुस्तथापि ते ॥ ५२ ॥ रसायनमहं ह्येकं सुदीर्घायुर्निबन्धनम् ।
जानामि तन्मदादेशाद्विधायार्पयामि ते ॥ ५३ ॥ एवं भवत्विति मया प्रोक्ते मद्य विधाय सः । क्रूरचित्ता
भिधानानि वटकानि समार्पयत् ॥ ५४ ॥ अभ्यधाच्च मया काले संचितेन त्वया सखे ! । एकैक चन्क भक्ष्यमेषां
मध्यादसंशयम् ॥ ५५ ॥ ततोऽवश्यं कुमारस्य दीर्घमायुर्भविष्यति । रसमन्त्रौषधादीनामनुभावो हि नान्यथा ॥
॥ ५६ ॥ मत्रान्तरे च भविता स्थानेऽस्त्वदभीप्सिते । इत्युपश्रुतिमभोपीदेष क्वापि न स्वहम् ॥ ५७ ॥ दध्यौ
च तां निशम्याऽपभवस्य नरकं गमी । कुमारो वटकैरेभिर्दीर्घमायुश्च लप्स्यते ॥ ५८ ॥ अन्यथा हि कृपहारमभूदी

प्रमोदं परमं प्राप विचिन्त्येति स वञ्चकः । मयापि
दृगुपश्रुतिः । ममाभिरुचितं स्थानं सदा नरक एव यत् ॥ ५९ ॥
तान्यगृह्यन्त वटकानि प्रमोदिना ॥ ६० ॥ इतश्च तातो विश्वासपात्रं विदुरनामकम् । आदिशद् यत् कुमारोऽस्ति
समादिष्टो मया पुरा ॥ ६१ ॥ यथानन्यमनस्केन कलादानं त्वयानिशम् । कार्यं नाहमपि प्रेक्ष्यस्त्वां द्रक्ष्या-
म्यहमेव हि ॥ ६२ ॥ ततो मे गमनं कार्यव्यग्रत्वाच्चेन्न जायते । ततः शुद्धिस्त्वया तस्यानेयामन्यत सोऽपि
तत् ॥ ६३ ॥ कुर्वताथ नृपादेशं तेन सर्वोऽपि लक्षितः । सहाध्यायिकलाचार्यकलिव्यतिकरो मम ॥ ६४ ॥
मेनःक्षतिभयात्तेन चिरादकथितोऽपि हि । अन्यदातिभरं दृष्ट्वा स भूपाय निवेदितः ॥ ६५ ॥ तदाकर्ण्य च
तातोऽपि विषादमलिनाननः । विदुरं सत्वरं प्रेष्य कलाचार्यमजूहवत् ॥ ६६ ॥ ततस्तमागतं तूर्णमभ्युत्था-
नासनादिभिः । सत्कृत्य कृत्यविदुरः क्षोणीपतिरदोऽवदत् ॥ ६७ ॥ अयि ! बुद्धिसमुद्रार्य ! कलाग्रहणमेधते ।
कुमाराणामयं प्राह बाढं देवानुभावतः ॥ ६८ ॥ भूपतिः पुनरप्यूचे समुल्लासिमनोरथः । कलाः काश्चित्किमा-
जग्मुः कुमार नन्दिवर्द्धनम् ॥ ६९ ॥ कलाचार्योऽप्यथोवाच नैव काप्यस्ति सा कला । न या प्राप्ता परां
काष्ठां कुमारे वसुधेश्वर ! ॥ ७० ॥ ततोऽथ मुदितोऽवादीद् धन्योऽयं नन्दिवर्द्धनः । आर्य ! संजज्ञिरे यस्य
कलाचार्या भवादृशाः ॥ ७१ ॥ मैवं वद महीनाथ ! वयं केऽत्र तव ध्रुवम् । अनुभावोऽयमित्युक्तस्तेन तातोऽ-
वदत्पुनः ॥ ७२ ॥ आर्योपचारवचसा किमनेन तवैव हि । प्रसादेन कुमारोऽभून्निःशेषगुणभाजनम् ॥ ७३ ॥

१ मनःक्षिति० क० ख० घ०, मत्तः क्षिति० ग० । २ अये ! बु० क० ख० ग० घ० ।

४

तेनोक्तमेवं चेचर्हि वञ्चयः स्वामी न सेवकैः । इत्यहं विज्ञपयितुं देवमिच्छामि किञ्चन ॥ ७४ ॥ तच्च युक्तमयुक्तं वा देवः संसोढुमर्हति । वचनं हि समीचीनं वल्लभं च सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥ यदुक्तार्थौ यथार्थोक्तौ कः कुधः समयो ननु । वातेनेत्युदितो युधिसम्प्रोऽप्यापदन्तुनः ॥ ७६ ॥ एवं यदि ततो देव ! यदादिष्टं त्वया यथा । गुणभाजनमेषोऽभूत्कुमारस्तथयैव हि ॥ ७७ ॥ देव ! किन्तु गुणग्रामः कुमारस्याखिलोऽपि हि । वैश्वानरस्य सम्पर्कान्नस्यतीमयति सर्वथा ॥ ७८ ॥ गुणानामखिलानां च प्रशमो भूषणं परम् । नित्यं सन्निहितस्य च कुमारस्य निहन्त्यसौ ॥ ७९ ॥ मोहान्मित्रं कुमारस्तु मन्यते शत्रुमप्यमुम् । तदीयमित्रसम्पर्कात्कुमारस्य वृथा गुणाः ॥ ८० ॥ ततस्तातस्तदाकर्ण्य वचाहत श्रोत्रकैः । दुःखितो वेदकाभिख्य नरमेवं समादिशत् ॥ ८१ ॥ आकारय द्रुतं भद्र ! कुमारं नन्दिवर्धनम् । मित्रापसदसंसर्गात् येनाहं वारयाम्यहम् ॥ ८२ ॥ नत्वा सोऽप्याह देवस्य प्रमाणं खलु शासनम् । कुमारसंस्तथापि च किन्त्विद निश्चितं मया ॥ ८३ ॥ यदन्तरङ्गभूतोऽयं कुमारस्य वयस्यकः । अपसारयितुं नैव शक्योऽपि हि शक्यते ॥ ८४ ॥ ततोऽस्य त्याजने किञ्चिदुच्यते यदसौ तदा । मारणाद्यादिकमपि विप्रं कुरुते ध्रुवम् ॥ ८५ ॥ देवोऽप्यार्थे कुमारं तत्र किञ्चिद् वक्तुमर्हति । ज्ञायते हि यथानर्थः शिक्षयापि तथा कृतम् ॥ ८६ ॥ कलाचार्योऽवदद् देव ! सत्यमेतेन भाषितम् । कुमारशिक्षणो युक्ता वयमप्यासहे यतः ॥ ८७ ॥ किन्त्वनर्थभयादेव न किञ्चिद् वक्तुमीश्महे । तत्र वचस्य कुमारस्य कर्तुं

सर्गनिवारणम् ॥ ८८ ॥ भाव्यार्य ! क उपायोऽत्र तातेनेत्युदिते ततः । न जानीमो वयमपीत्युवाच पुनरप्यसौ ॥ ८९ ॥ विदुरोऽथावदद् देव ! श्रूयतेऽत्र समागतः । कश्चिज्जिनमतज्ञाख्यः सिद्धपुत्रो निमित्तवित् ॥ ९० ॥ अत्रोपायं त्रिकालज्ञः स जानाति कदाचन । तस्मादेष समाहूय प्रष्टुं सम्प्रति युज्यते ॥ ९१ ॥ हृष्टस्तातोऽथ विदुरं संप्रेष्य तमजूहवत् । सद्यः समागतायास्मै कार्यं च तदचीकथत् ॥ ९२ ॥ विभाव्याख्यत सोऽप्येवमेक एवात्र विद्यते । उपायो नेतरः कोऽपि [1]तं च शृणु नरेश्वर ! ॥ ९३ ॥ अस्तीह क्लेशनिर्मुक्तं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् । नगरं चित्तसौन्दर्यं कल्याणैकनिकेतनम् ॥ ९४ ॥ दुष्टशिष्टजनस्तोमनिग्रहानुग्रहोद्यतः । नाम्ना शुभपरीणामस्तत्रास्ति वसुधाधवः ॥ ९५ ॥ अगण्यपुण्यलावण्यशीलादिगुणभाजनम् । तस्य चास्ति महीभर्त्तुर्वल्लभा निष्प्रकम्पता ॥ ९६ ॥ सर्वदा विहितावासा मुनीनामपि मानसे । मञ्जूषा गुणरत्नानां क्षान्तिर्नाम तयोः सुता ॥ ९७ ॥ ततो यदैष तां कन्यां कुमारः परिणेष्यति । अनेन पापमित्रेण तदा मैत्रीं विहास्यति ॥ ९८ ॥ यतः प्रभावादेतस्या दूरादेव पलायते । वैश्वानरोऽयं भूपाल ! जाङ्गुल्या इव पन्नगः ॥ ९९ ॥ ततः शुभपरीणामात् मदर्थं क्षान्तियाचने । अमात्यमादिशत् तातो भद्रे ! मतिधनाभिधम् ॥ १०० ॥ देवो यदादिशत्येवमुक्त्वा यावदसौ ततः । गन्तुं प्रववृते तावदूचे नैमित्तिकः पुनः ॥ १०१ ॥ किं क्लेशेनामुना भूप ! न हि तत्र भवादृशाम् । गम्यते मानुषैरेवं तत्रार्थे शृणु कारणम् ॥ १०२ ॥ भावाः सर्वेऽपि भूपाल ! पुरराजप्रियादयः । द्विविधा

---

१ शृणु त च न० ग० । २ ०णामं मदर्थे क्षान्तिमर्थितुम् ग० ।

तेनोक्तमेव चेत्तर्हि भजपः स्वामी न सेवकैः । इत्यहं विज्ञपयितुं देवमिच्छामि किञ्चन ॥ ७४ ॥ तत्र युक्तमयुक्तं वा देवः संशोद्धुमर्हति । यच्चन हि समीचीनं वक्तुमं च सुदुर्लभम् ॥ ७५ ॥ यदस्त्वार्यो यथार्योक्तौ कः क्षमः समयो ननु । तावेनेत्युदितो बुद्धिसद्मोऽप्यायवस्तुनः ॥ ७६ ॥ एवं यदि ततो देव ! यदादिष्टं त्वया यथा । गुणभाजनमेषोऽभूत्कुमारस्तथयैव हि ॥ ७७ ॥ देव ! किन्तु गुणग्रामः कुमारस्याखिलोऽपि हि । वैश्वानरस्य सम्पर्कान्मलीमसति सर्वथा ॥ ७८ ॥ गुणानामखिलानां च प्रशमो भूषणं परम् । नित्यं नाभिहितस्त्व च कुमारस्य निहन्त्यसौ ॥ ७९ ॥ मोहान्मित्रं कुमारस्तु मन्यते शत्रुमप्यमुम् । तदीयमित्रसम्पर्कात्कुमारस्य वृथा गुणाः ॥ ८० ॥ ततस्तातस्तदाकर्ण्य समाहूत इत्योचकैः । दुःखितो वेदकामिम्य नरमेवं समादिशत् ॥ ८१ ॥ आकारय द्रुतं भद्र ! कुमारं नन्दिवर्धनम् । मित्रापशदसंसर्गाद् येनाशु वारयाम्यहम् ॥ ८२ ॥ नत्वा सोऽप्याह देवस्य प्रमाणं खलु शासनम् । कुमारसंस्तवादेव किञ्चिद निश्चितं मया ॥ ८३ ॥ यदन्तरङ्गभूतोऽयं कुमारस्य वयस्यकः । अपसारयितुं नैष शक्येनापि हि शक्यते ॥ ८४ ॥ ततोऽस्य स्थापने किञ्चिदुच्यते यदसौ तदा । आत्मघातादिकमपि विदुरं कुरुते ध्रुवम् ॥ ८५ ॥ देवोऽत्रार्थे कुमारं तत्र किञ्चिद् वक्तुमर्हति । ज्ञायते हि यथामर्षः शिक्षयापि तथा कृतम् ॥ ८६ ॥ कलाचार्योऽवदद् देव ! सत्यमेतेन भाषितम् । कुमारशिक्षणो युक्ता वयमप्यासहे यतः ॥ ८७ ॥ किन्त्वनर्थभयादेन न किञ्चिद् वक्तुमीश्महे । तत्र सकल कुमारस्य कर्तुं

१ अप । प० ।

सर्गनिवारणम् ॥ ८८ ॥ भाव्यार्य ! क उपायोऽत्र तातेनेत्युदिते ततः । न जानीमो वयमपीत्युवाच पुनरप्यसौ ॥ ८९ ॥ विदुरोऽथावदद् देव ! श्रूयतेऽत्र समागतः । कश्चिज्जिनमतज्ञाख्यः सिद्धपुत्रो निमित्तवित् ॥ ९० ॥ अथोपायं त्रिकालज्ञः स जानाति कदाचन । तस्मादेष समाहूय प्रष्टुं सम्प्रति युज्यते ॥ ९१ ॥ हृष्टस्तातोऽथ विदुरं [illegible] तमजूहवत् । सद्यः समागतायास्मै कार्यं च तदचीकथत् ॥ ९२ ॥ विभाव्याख्यत सोऽप्येवमेक [illegible] विद्यते । उपायो नेतरः कोऽपि [1]तं च शृणु नरेश्वर ! ॥ ९३ ॥ अस्तीह क्लेशनिर्मुक्तं मन्दभाग्यैः सुदुर्ल- [illegible] । [illegible] विलसौन्दर्यं कल्याणैकनिकेतनम् ॥ ९४ ॥ दुष्टशिष्टजनस्तोमनिग्रहानुग्रहोद्यतः । नाम्ना शुभपरी- [illegible] ॥ ९५ ॥ अगण्यपुण्यलावण्यशीलादिगुणभाजनम् । तस्य चास्ति महीभर्तुर्वल्लभा [illegible] ॥ ९६ ॥ सर्वदा विहितावासा मुनीनामपि मानसे । मञ्जूषा गुणरत्नानां क्षान्तिर्नाम तयोः सुता [illegible] ॥ [illegible] कुमारः परिणेष्यति । अनेन पापमित्रेण तदा मैत्री विद्यास्यति ॥ ९८ ॥ यतः [illegible] प्रणश्यते । वैश्वानरोऽयं भूपाल ! जाङ्गुल्या इव पन्नगः ॥ ९९ ॥ ततः शुभपरीणीमात् [illegible] तातो भवे ! मतिधनाभिधम् ॥ १०० ॥ देवो महाविशरगेवमतथा [illegible] पुनः ॥ १०१ ॥ किं क्लेशेनाधुना भूप ! न हि तत्र भवा- [illegible] कारणम् ॥ १०२ ॥ [illegible] सर्वेऽपि भूपाल ! पुरराजपितादयः । क्षिप्रा [illegible]

1 ऽथ भा० क० [illegible]

हि मवन्त्यत्र बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ १०३ ॥ तत्र बाह्येषु भावेषु गमनागमनादिकः । भवादृशानां व्यापारो
नान्तरेषु कदाचन ॥ १०४ ॥ एवञ्च पुरराजादि पर्यन्ते सर्वमान्तरम् । ततो न शक्यते गन्तुं भवतस्तत्र भद्रिणा
॥ १०५ ॥ प्रभवस्यार्य ! कस्तर्हि तत्रेति क्षितिपोदिते । असौ पुनरुवाचैव य एवाभ्यन्तरो नृपः ॥ १०६ ॥
कः सोऽपीति पुनः पृष्टस्तातेन वचकोऽवदत् । विवेककर्म्मठः कर्मपरिणामो नरेश्वरः ॥ १०७ ॥ तेनैव क्ष्मासुजा
शान्तिपित्रे तस्मै समासुजे । भटसूक्त्या पुरं दत्तं तवतोऽसौ हि तद्वशः ॥ १०८ ॥ प्रार्थनाविषयः कर्मपरिणामः
स भादृशाम् । नचेति पृष्टस्तातेन पुनर्नैमित्तिकोऽब्रवत् ॥ १०९ ॥ नेतदेव स हि भावो नृपः स्वैरी न गृह्यते ।
अभ्यर्थनोपरोधोपचारैः परकृतैः क्वचित् ॥ ११० ॥ किन्त्वेषोऽपि नृपः कालपरिणत्यादिकं निजम् । सर्वं कुटुम्ब
मापृच्छ्य सदा कार्ये प्रवर्तते ॥ १११ ॥ ततो रोचिष्यतेऽमुष्य यदा पृष्ट्वा कुटुम्बकम् । तदा स्वयं कुमाराय
स शान्तिं दापयिष्यति ॥ ११२ ॥ भुस्वेत्यथ नृपोऽवोचदार्य ! तर्हि हता वयम् । यतो रोचिष्यते तस्य कदापीति
न बुध्यते ॥ ११३ ॥ दैवज्ञः पुनरप्याह कृतं खेदेन भूपते ! । किमत्र क्रियते कार्यमित्थमेव यत्
॥ ११४ ॥ नरः प्रमादी शक्येऽर्थे स्यादुपालम्भभाजनम् । अशक्यवस्तुविषये पुरुषो नापरा
ध्यति ॥ ११५ ॥ किन्त्वस्त्यस्य कुमारस्य गुप्तः पुण्योदयः सुहृत् । येनाजरकृतं सर्वमनर्थं सोऽपनेष्यति ॥ ११६ ॥
एतदाकर्ण्य संजातस्तातः स्वस्थमना मनाक् । अत्रान्तरे च पयाधि ! मन्दिनैषमपक्रमत ॥ ११७ ॥ न कोपात् तेजसो वृद्धिः किन्तु मध्यस्थभावतः । दर्शयन्निति लोकानां सूर्यो मध्यस्थतां ययौ ॥११८॥

ततो मध्याह्नसमयं विज्ञायावनिशासनः । नैमित्तिककलाचार्यौ पूजयित्वा विसृष्टवान् ॥ ११९ ॥ नैमित्तिकगिरा जातनिर्णयोऽप्यथ भूपतिः । इत्यादिदेश विदुरमपत्यस्नेहमोहितः ॥ १२० ॥ ज्ञेयो भावः कुमारस्य भवता भद्र ! धीमता । पापमित्रादसौ शक्यः किं वियोजयितुं न वा ? ॥ १२१ ॥ देवो यदादिशत्येवं विदुरेणार्थं भाषिते । चक्रे नृपतिरुत्थाय कृत्यं मध्यन्दिनोचितम् ॥ १२२ ॥ द्वितीयेऽह्नि मदभ्यर्णं विदुरोऽपि समाययौ । कल्ये किं नागतोऽसीति स मया समभाषि च ॥ १२३ ॥ सोऽथ सञ्चिन्तयामास समादिष्टोऽस्मि भूभुजा । परिज्ञातुं कुमारस्याभिप्रायं तावदादरात् ॥ १२४ ॥ ततो मया कुसंसर्गदोषाणां प्रतिपादिका । सुसाधुभ्यः श्रुता यास्ति कथयाम्यस्य तां कथाम् ॥ १२५ ॥ विज्ञास्यामि ततोऽमुष्य सुखेनैवाहमाशयम् । विचार्येति विचारज्ञः प्रत्यभाषत मामसौ ॥ १२६ ॥ कुमार ! किञ्चिदाक्षेण्यं कल्ये मेऽभून्मयोदितम् । कीदृशं तत्ततस्तेन प्रोचे हृद्या कथा श्रुता ॥ १२७ ॥ ममाप्याख्याहि तामेवमनुयुक्तो मयाथ सः । विदुरस्तां समारेभे समाख्यातुं कथामिति ॥ १२८ ॥ अस्त्यस्यां मनुजगतौ पुर्यां भरतपाटके । क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं सम्पदां पदम् ॥ १२९ ॥ तत्रास्ति बलवान्कर्म्मविलासो नाम भूपतिः । शुभसुन्दर्यकुशलमाले तस्य प्रिये उभे ॥ १३० ॥ मनीषिबालनामानौ तयोः पुत्रौ यथाक्रमम् । गुणानां वसतिर्ज्येष्ठो दोषाणामपरः पुनः ॥ १३१ ॥ स्वदेहाख्ये वने ताभ्यां दृष्टः कश्चिन्नरोऽन्यदा । स तयोः पश्यतोरेवारोहत् नाकुं तदुच्छ्रयम् ॥ १३२ ॥ मुद्धाख्यवृक्षशा-

१ ऽथ भा० क० घ० । २ व्यग्रता । ३ मनोज्ञा । ४ वल्मीकम् ।

सायां ततस्त्वं स पाशकम् । निबध्य कन्धरायां च निधाय स्वमशुश्रत ॥ १३३ ॥ ततो मां साहसमिति जल्प
न्तौ सम्भ्रमेण तौ । मनीषिबालौ तरसा तत्समीपमुपेयतुः ॥ १३४ ॥ बालेन छिन्नपाशोऽथ मूर्च्छया स नरः
क्षितौ । पतितो वायुदानेन ताभ्यामाश्वासितस्ततः ॥ १३५ ॥ समासादितचैतन्य कुमारावूचतुस्ततः । किमेतद्
भवता भद्र ! कृत कापुरुषोचितम् ॥ १३६ ॥ को वास्य करणे हेतुः समभूद् दुरतिक्रम । नैवास्ति वचना-
कथेन तदिव कथयाचयोः ॥ १३७ ॥ दीर्घदीर्घ स निःश्वस्य पुरुषस्तावभाषत । अलं मदीयकथया युवाभ्यां
चारु नो कृतम् ॥ १३८ ॥ यदहं निमदुःस्तार्थि निर्वापयितुमुद्यतः । भवद्भ्यां वारितः कार्यस्तस्य विघ्नोऽधुना पि
मे ॥ १३९ ॥ इत्युक्त्वा स पुनर्बद्धुमात्मानमुपस्थितः । तावद् बालेन ताभ्यां प्रत्येयं सममापि सः ॥ १४० ॥
तावद्वावेयतां भद्र ! स्ववृत्तान्तस्ततो न चेत् । भवेद् कोऽपि प्रतीकारं कुर्वः स्वरुचितं ततः ॥ १४१ ॥ पुरुषः
प्राह यद्यस्ति निर्बन्धस्तन्निशम्यताम् । बभूव भवसन्ताख्यः सर्वस्वमिव मे सुहृत् ॥ १४२ ॥ स्नेहेन कुर्वता सर्वं
पृष्ट्वा पृष्ट्वा ममेप्सितम् । स्वप्नेऽपि स्पर्शनाख्योऽद्य तेन न प्रतिकूलितः ॥ १४३ ॥ तेनान्यदा ममाभाग्यैः
पुमाचार्यः सदागमः । दृष्टो दिवसे चाय पर्यालोच सहामुना ॥ १४४ ॥ एष दिने दिने चक्रे तत्संसर्गं यथा
यथा । तथा तथायं निःस्नेहो जातो मयि शनैः शनैः ॥ १४५ ॥ मयाथ चिन्तितं हन्त किमेतद् यदयं सुहृत् ।
परापर्षितजन्मेव निःस्नेहः समभून्मयि ॥ १४६ ॥ आ ! ज्ञातमभानर्थसन्ततिः सकलाप्यसौ । सदा सदा
गमस्यास्य पर्यालोचात्समापत ॥ १४७ ॥ विमृश्येति महाशोककलङ्कसङ्कुलचेतसा । मया कम्पकम्पमपि किया

न्कालाऽतलाङ्कतः ॥ १४८ ॥ साद्ध सदागमनाथ किञ्चिदालोच्य सोऽन्यदा । सम्बन्धं सर्वथात्याक्षीद् भवजन्तुर्मया समम् ॥ १४९ ॥ मत्प्रियं ललनातूलीचेलचर्चादिकं मृदु । मद्वाचा यत्पुराग्राहि तदप्येतेन तत्यजे ॥ १५० ॥ केशोत्पाटनशीतोष्णास्नानभूशयनादिकम् । ततः प्रभृति किन्त्वेष सेवते स्म ममाप्रियम् ॥ १५१ ॥ ततस्तं तादृशं वीक्ष्य मया चेतसि चिन्तितम् । गृहीतः शत्रुबुद्ध्याहं तावन्मित्रेण सर्वथा ॥ १५२ ॥ तथाप्यकाण्ड एवायं न मोक्तव्यः सुहृन्मया । निश्छद्मनां हि मित्राणां प्रणयो मरणावधिः ॥ १५३ ॥ भद्रकश्च स्वरूपेण भवजन्तुरसौ मयि । अधुनैवेदृशो जज्ञे सदागमविमोहितः ॥ १५४ ॥ ततो मोहे गते पूर्वमिव स्निह्यति चेन्मयि । ध्यात्वेति तस्य देहाख्ये गेहेऽहं पूर्ववत् स्थितः ॥ १५५ ॥ अन्येद्युर्मां समाक्रुश्य[1] निष्कास्य च ततो गृहात् । जगाम निर्वृतौ पुर्यामगम्यायां स मादृशाम् ॥ १५६ ॥ प्रियमित्रवियुक्तस्य निष्फलैरधुना मम । किं प्राणैश्चिन्तयित्वेति मयैवं विदधे ततः ॥ १५७ ॥ अथ बालो जगादैवं साधु स्पर्शन ! साधु ते । स्थानेऽध्यवसितं मित्रविरहो हि सुदुःसहः ॥ १५८ ॥ धार्यास्तथापि भद्रेण प्राणा मदुपरोधतः । अन्यथा गतिरेषैव ममापि हि भविष्यति ॥ १५९ ॥ अम्लिकाभिर्न पूर्यन्ते यद्यप्याम्रमनोरथाः । तद्वियोगप्रतीकारबुद्ध्या धार्यस्तथाप्यहम् ॥ १६० ॥ स्पर्शनोऽथाब्रवीदार्य ! साधु साधु त्वया पुनः[2] । वचनामृतसेकान्मे शमितः शोकपावकः ॥ १६१ ॥ धृता एव मया प्राणाः किमुक्तेन घनेन[3] वा । कुमार ! सांप्रतं नूनं भवजन्तुस्त्वमेव मे ॥ १६२ ॥

१ तिरस्कृत्य । २ सुतः ता० क० ख० घ० । ३ बहुना ।

ततस्तयोरियं मैत्री मध्ये दृष्ट्वा मनीष्यपि । न कोऽप्यकृत्रिम मित्रं यावत् त्यजति धीधनः ॥ १६३ ॥ न चा सदाममेनापि स्यात्यजते कारणं विना । यतः स भूपतेऽत्यन्त पर्यालोचितकारकः ॥ १६४ ॥ तेन मन्योऽय मेतेन मैत्री चालस्य चाधुना । एवं संचिन्तयन्नेन स्पर्शनेनाभिभाषितः ॥ १६५ ॥ कृतं मनीषिणाप्यस्या लपनं लोकयात्रया । मैत्री चाभूत् यहिर्द्वैरथा सर्वे च नगरं ययुः ॥ १६६ ॥ गत्वा च गेह देवीभ्यां सहि तस्य महीपतेः । नत्वा स्पर्शनवृत्तान्तः कुमाराभ्यां निवेदितः ॥ १६७ ॥ एटः कर्म्मविलासोऽथ चिन्तयामास चेतसि । स्पर्शनेनामचस्यार्द्धं साधु मैत्री कुमारयोः ॥ १६८ ॥ अपथ्यमामयस्येव स्पर्शनोऽसौ यतो मम । वृद्धिहेतुर्मया चैष दृष्टोऽनेकशः पुरा ॥ १६९ ॥ अनादिरूढः किन्त्वेष स्वभावो मम वर्तते । हितोऽस्य यो मया भाव्य विपरीतेन तस्य यत् ॥ १७० ॥ यस्त्वेतस्याहितस्तस्यानुकूलः सर्वथाप्यहम् । परित्यजति यत्नेन स्यात्पोऽवश्यं मयाऽपि सः ॥ १७१ ॥ तदर्थसंस्थिते भाव वीक्ष्य वीक्ष्य कुमारयोः । यथोचितं विधा स्यामीति ध्यात्वा सोऽन्यथाविदम् ॥ १७२ ॥ सुन्दरं विदधे वत्सौ । यदेष स्पर्शनो धने । लोकावेशात् स्वयन् आपान् प्रैतो मैत्रीविधानतः ॥ १७३ ॥ तदाकुलतमालापि दृष्ट्वो धन्याऽस्मि निश्चितम् । एतस्स न्मधतो नाम यथार्थं माथि मे यतः ॥ १७४ ॥ स्पर्शनस्य हितो यो हि स ममास्यन्तवल्लभः । मस्मिथ रक्तो मे सद्गुर्वसरागेण लक्ष्यते ॥ १७५ ॥ ध्यात्वेति बालं सा प्राह साधु वत्स । त्वया कृतम् । स्पर्शनेनास्तु ते

१ तयम० म० । २ अ न० क० स० प० । ३ भवो ता० क० स० प० ।

नित्यमवियोगो मदाशिषा ॥ १७६ ॥ तदा च शुभसुन्दर्याप्येवं चेतसि चिन्तितम् । सम्बन्धः पापमित्रेण मम
सूनोर्न सुन्दरः ॥१७७॥ रिपुरेष महानर्थकारणं सहजो हि मे । कदर्थिताहमेतेन पुरापि बहुशो यतः ॥१७८॥
अस्ति केवलमेतावान् स्वास्थ्यहेतुर्यदेष मे । सूनुरस्मिन् विरागी च लक्ष्यते मुखरागतः ॥ १७९ ॥ इत्थं विचि-
न्त्य गाम्भीर्यान्नैव किञ्चिदुवाच सा । मध्याह्ने च तदा जाते सर्वे स्वं स्वं पदं ययुः ॥ १८० ॥ ततश्च मैत्री बालस्य
स्पर्शनेन सहैधते । मनीषी तु न विश्रम्भं तस्य गच्छति सर्वथा ॥ १८१ ॥ स्पर्शनस्तु तयोः पार्श्वं बहिरन्तश्च
नोज्झति । चिन्तयामास चान्येद्युर्मनीषी निजमानसे ॥ १८२ ॥ स्वरूपं तावदद्यापि स्पर्शनस्य न लक्ष्यते । हातुं
वा संग्रहीतुं वा ततोऽयं नैव पार्यते ॥ १८३ ॥ मूलशुद्धिस्ततोऽमुष्य विधातुं मम युज्यते । तस्यां च सम्यग्
जातायां करिष्यामि यथोचितम् ॥ १८४ ॥ एवं विचिन्त्य विजने समाहूयाङ्गरक्षकम् । बोधाभिधानं तन्मूल-
शुद्ध्यर्थं स समादिशत् ॥ १८५ ॥ अङ्गीकृत्य तदादेशमथ बोधोऽपि सत्वरम् । विविधाशेषविषयवेषभाषाविच-
क्षणम् ॥ १८६ ॥ स्वामिकार्ये बद्धकक्षमतिदक्षमलक्षितम् । तदर्थं स्वं प्रभावाख्यं पुरुषं प्राहिणोच्चरम् ॥ १८७ ॥
युग्मम् ॥ कियन्तमप्यथो कालं नानादेशेषु सोऽपि हि । परिभ्रम्यान्यदा बोधसमीपं समुपाययौ ॥ १८८ ॥
सत्कारमुचितं कृत्वा पृष्टो बोधेन सादरम् । स स्वरूपं कथयितुं प्रारेभे प्रणिधिस्ततः ॥ १८९ ॥ युष्मदादेशतस्ता-
वदितो निर्गत्य सर्वतः । बहिरङ्गेषु देशेषु परिभ्रान्तोऽहमुद्यतः ॥ १९० ॥ प्रस्तुतार्थस्य गन्धोऽपि तेषु नासादितः

१ ततो दे० क० ख० ग० घ० । २ चरः ।

परम् । ततोऽहमन्तरङ्गेषु विषयेषु समाविशम् ॥ १९१ ॥ ददृशे तत्र चैकत्र मिलत्पक्ष्मीनिभं मया । पुरं राजस चित्ताख्यमपायैकनिकेतनम् ॥ १९२ ॥ हेतुः पापप्रवृत्तीनां शक्राद्यैरपि दुर्लभः । तत्रातुलबलो राजा नामतो रागकेशरी ॥ १९३ ॥ लीलयोद्धृतनिःशेषराज्यभारो धियां निधिः । विषयाभिलाषनामा तस्यास्ति सचिवाग्रणीः ॥ १९४ ॥ ततस्तत्र पुरे यावदहं नृपगृहान्तिके । जगामोल्लसितोऽकस्मात्तावत्कोलाहलो महान् ॥ १९५ ॥ ततश्चाभिमहारम्भलौल्यादिनृपतिभिस्तैः । एवैरपेतं मिथ्याभिनिवेशादिभिरुत्करैः ॥ १९६ ॥ गर्भजन्ममस्य मुक्तेममज्ञानाद्यपरिवृतम् । चापलादिभटाकीर्णं कन्दर्पपटहारवम् ॥ १९७ ॥ शिशोकादिव्यसनपूर्यं विलासादिन्न माकुलम् । रागकेशरिभूभर्तुरभित निर्ययौ बलम् ॥ १९८ ॥ विक्षेपकम् । ततोऽचिन्ति मया मन्ये धियामुः काप्यर्य नृपः । तत्र किं कार्यमस्यैवं यावदस्मि वितर्कयुक् ॥ १९९ ॥ तावदस्यैव विषयाभिलाषस्यातिदारुणः । विपाको नाम नासीरे पुरुषो ददृशे मया ॥ २०० ॥ युग्मम् ॥ ततश्च स प्रियप्रश्नपूर्वं तस्य महीपतेः । प्रस्थान कारणं पृष्टो विपाको मोममापत ॥ २०१ ॥ आपार्थमेव देवेन रागकेशरिणा पुरा । विषयाभिलाषनामा मिलपे सचिवो निजः ॥ २०२ ॥ यदुतार्य ! तथा किञ्चित् त्वं विधेहि यथा मम । विश्वं विश्वमिदं सम्यक् किङ्करत्वं प्रपद्यते ॥ २०३ ॥ आदाय तदमात्योऽथ शिरसा नृपशासनम् । स्वामिकार्येषम भक्तिपूर्वं तत्क्षण मपश्यसम् ॥ २०४ ॥ नियमेन स्पर्शनादिगुरमाजुपपत्रकम् । प्राहिणोत् त्वरित विश्वपक्षीकरणहेतवे ॥ २०५ ॥

१ अभिमसैन्ये । २ मम मापते स्व० ।

युग्मम् ॥ तेनाप्यनन्यसामान्यविक्रमेणाखिलं जगत् । लीलयैव विनिर्जित्य कृतं देवस्य किङ्करम् ॥ २०६ ॥
किन्तु सम्प्रति तस्येतिरिव सैस्यस्य नाशकृत् । सन्तोषो नाम चरटः श्रूयते कश्चिदुत्थितः ॥ २०७ ॥ कृत्वा च
तत्पराभूतिं जनस्तेन कियानपि । निर्वाह्य देवागम्यायां निर्वृतौ प्रापितः पुरि ॥ २०८ ॥ एतदाप्तजनश्रुत्या
श्रुत्वा देवो रुषारुणः । प्रस्थानभेरीं तस्याथोन्मूलनार्थमताडयत् ॥ २०९ ॥ अत्रान्तरे च संक्रुद्धं कल्पान्तत-
पनोपमम् । देवं निरीक्ष्य मन्त्रीशः शनकैरब्रवीदिति ॥ २१० ॥ कोऽयं देव ! तवायासः सन्तोषेऽस्मिंस्तपस्विनि ।
मृगेन्द्रस्य मृगे किं स्यात् संरम्भः कुम्भिभेदिनः ॥ २११ ॥ देवोऽवादीदिदं सत्यं किन्त्वार्योद्वेजिता वयम् ।
कुर्वता तेन पापेन त्वन्मानुषपराभवम् ॥ २१२ ॥ अनुन्मूल्य ततो दुष्टमेनं मे न भवेद् रतिः । मन्त्र्यूचे स्तोक-
मेवेदं कार्यं मुञ्च ततः क्रुधम् ॥ २१३ ॥ प्रशान्तस्तद्गिरा मेघवृष्ट्येव दवपावकः । जज्ञे देवोऽथ चक्रे च निःशेषं
गमनोचितम् ॥ २१४ ॥ ततः स्नेहजलापूर्णे प्रेमाबन्धाभिधे पुरः । न्यस्ते कुम्भे तथोद्घुष्टे केलिजल्पजयध्वनौ
॥ २१५ ॥ गीतेषु मङ्गलेषूच्चैश्चाटुवाक्याभिधेषु च । प्रकामं कामकलहातोद्येषु प्रहतेषु च ॥ २१६ ॥ अङ्गरागा-
भिरामाङ्गः स्वीकृताशेषभूषणः । मिथ्यावलेपमारोहद् रथं देवो महारथः ॥ २१७ ॥ विशेषकम् ॥ देवोऽ
स्मार्षीत् तदा चैवमहो ! क्षूणमभून्मम । अनापृच्छ्यैव यत्तातं प्रस्थितोऽस्मि द्विषद्वधे ॥ २१८ ॥ मयोक्तमस्य

१ लीलयेव ख० । २ किङ्करीक्रियतेऽखिलम् ग० । ३ शस्य० क० ख० ग० । ४ स्पर्शनादिपराभवम् । ५ दस
हजार धनुर्धर साथे एकलो युद्ध करी शके तेवो योद्धो । ६ पमादः ।

कस्तात ! स प्रोचे मुग्धधीरसि । महामोहपितैतस्य ननु त्रैलोक्यविश्रुतः ॥ २१९ ॥ किञ्चैष प्रेरणया तात्य प्रवरे निवसनसे । रागकेसरिणेऽमुष्मै पालयित्वा जगच्चिरम् ॥ २२० ॥ तथापीदं जगत्सर्वं पार्श्वस्थोऽपि स्वलक्षितः । स एव पालयत्यन्यः को हि स्यादस्य पालकः ॥ २२१ ॥ तदेष निर्जिताशेषसुरासुरनरेश्वरः । महामोहनरेन्द्र स्ते कथं प्रत्यक्षतां गतः ॥ २२२ ॥ ततो मयोदितं सौम्य ! न कार्यः प्रेक्षितस्त्वया । अश्वनीनोऽस्मि वृत्तान्त स्यैतस्याविदुरो यतः ॥ २२३ ॥ मयापि च महामोहः सामान्येन श्रुतः पुरा । रागकेसरिराजेन्द्रजनकस्तेन नो पुनः ॥ २२४ ॥ वृत्तान्तमुत्तरमपि तस्यमाख्यातुमर्हसि । इत्युक्तः स मया वक्तुं पुनरेवं प्रचक्रमे ॥ २२५ ॥ कम्पमानजराजीर्णाविषाश्लतिकापरम् । लम्बमानतमःसंप्रभूपुर्णं चिभ्रत तथा ॥ २२६ ॥ तृष्णाख्यवेदिकायां च विपर्यासाख्यविष्टरे । उपविष्टं महामोहं गत्वा देवोऽथ दृष्टवान् ॥ २२७ ॥ युग्मम् ॥ तदंघ्री च नमस्कृत्य निविश्याऽऽसनि योचिते । कृताञ्जलिः स तातस्य प्रस्तुतार्थं व्यजिज्ञपत् ॥ २२८ ॥ तन्निशम्याब्रवीदेष महामोहमहीपतिः । वत्स ! जीर्णपटस्येव मा(मा)यो मे वर्ततेऽन्तिमः ॥ २२९ ॥ तद् पालनमयस्येव यन्मदङ्गस्य यापते । तत्सारं वत्सति मयि प्रस्थानं युज्यते न ते ॥ २३० ॥ देवोऽभादीत् ततः शान्तं पाप हतममङ्गलम् । मन न्तकल्पावस्थापि देहं तातस्य जायताम् ॥ २३१ ॥ प्रस्थानं न च तातस्य मयि तिष्ठति युज्यते । तथात ! प्रस्तुतार्थेऽस्मिन्ननुजानीत मां द्रुतम् ॥ २३२ ॥ वत्स ! तावन्मयावश्यं गम्य तत्र पुनः स्थिरतो । अनुजेस्यामि

१ मकर यतो यस्य मयणाः—न्नत स्पर्शः । २ कोपः । ३ निवेदया० क० ख० ।

धायाथ महामोहः समुत्थितः ॥ २३३ ॥ जनकस्याथ निर्बन्धं ज्ञात्वा देवोऽवदत्पुनः । यद्येवं तात ! तदहमपि
तातपदानुगः ॥ २३४ ॥ भवत्वेवं न जात ! त्वां मोक्तुं वयमपीश्महे । इति वाचा स्वतातस्य देवोऽथ मुदि-
तोऽभवत् ॥ २३५ ॥ तातामात्ययुतः सोऽथ रागकेशरिभूपतिः । कम्पयन्नखिलं लोकं समन्ताच्चलितैर्बलैः
॥ २३६ ॥ संतोषचरटोच्छित्त्यै प्रचचाल महाबलः । तदिदं पान्थ ! जानीहि नृपप्रस्थानकारणम् ॥ २३७ ॥
॥ युग्मम् ॥ त्वां कुतूहलिनं वीक्ष्य मयैतच्च निवेदितम् । अग्रानीके नियुक्तस्यान्यथास्त्यवसरो न मे ॥ २३८ ॥
इत्याख्याय विपाकोऽथ जगाम विहितानतिः । दध्यौ चाहं तदा राजकार्य्यमेतावता कृतम् ॥ २३९ ॥ यतो
विषयाभिलाषगृहमानुषपञ्चकम् । विपाकेन यदाख्यातं तत्राद्यः स्पर्शनो ह्यसौ ॥ २४० ॥ मूलशुद्धिः स्प-
र्शनस्य ततो लब्धा स्फुटा मया । एतावदेव नवरं व्यभिचारीह वर्त्तते ॥ २४१ ॥ यदात्मनः पराभूतिः स्पर्श-
नेन सदागमात् । निवेदिता विपाकेन तस्य[2] सन्तोषतस्तु सा[3] ॥ २४२ ॥ सदागमानुगः कश्चिद् यद्वा सोऽपि
भविष्यति । विचिन्त्येत्यागतोऽत्राहं प्रमाणं संप्रति प्रभुः ॥ २४३ ॥ बोधोऽथ तद्युतः सर्वं तद्गत्वाऽऽख्यन्मनीषिणे।
तुष्टचित्तेन तेनापि प्रभावः पूजितस्ततः ॥ २४४ ॥ पृष्टो मनीषिणान्येद्युः स्पर्शनो भद्र ! किं तव । कुतः
सदागमेनैव विरहो भवजन्तुना ॥ २४५ ॥ उताऽऽसीत्कश्चिदन्योऽपि सोऽप्यूचेऽन्योऽप्यभूत्परम् । कृतं तत्क-
थया तस्य नामतोऽपि बिभेमि यत् ॥ २४६ ॥ किञ्चासीदुपदेष्टैव भवजन्तोः सदागमः । पीडां चक्रे स तु

१ वत्स । २ स्पर्शनस्य । ३ पराभूतिः ।

क्रूरकर्मा मर्मविच्च मम ॥ २४७ ॥ नामाभ्यासात्तुमेतस्य युक्तं पापात्मनो न च । पापिनां हि कथा श्रेय प्रतिबन्धविधायिनी ॥ २४८ ॥ कुमारः प्राह तन्नामश्रवणे कौतुकं मम । न चासभिकृतस्येन कर्तव्यं तद्वच त्वया ॥ २४९ ॥ नाममात्रश्रवणमात्रेण पापं किञ्चित् भवेत च । नहि पावक इत्युक्ते दाहः संपद्यते कश्चित् ॥ २५० ॥ तन्निर्बन्धं ततो ज्ञात्वा स्पर्शनोऽभाषतीदिति । नाम दुर्नामकस्यास्य यदि संतोष इष्यते[1] ॥ २५१ ॥ दृष्ट्वा च कुमारोऽपि सम्यमासादिता ध्रुवम् । प्रभावेन स्पर्शनस्य मूलशुद्धिः सुबुद्धिना ॥ २५२ ॥ यतः सन्तोष इत्यन्तः पर्यंकोऽस्पटमानकः । तत्रासीदधुना सोऽपि घटितः स्पर्शनोक्तितः ॥ २५३ ॥ मयापि तर्कितं पूर्वं सम्यग् यमेष सुन्दरः । विषयाभिलाषापेक्षादसौ हि जनवञ्चकः ॥ २५४ ॥ तथापि बालभावेन मया मित्रतयादृतः । तमावकसावेपासौ चिरात् मुच्यते न मे ॥ २५५ ॥ किन्त्विदानीमविश्वस्तेनास्य भाव्यं विशेषतः । प्रस्तावे पुनरायाते स्वान्योऽप्य सर्वथा मया ॥ २५६ ॥ ध्यात्वेति पूर्वस्थित्यैव मनीषी विलसत्यच । सार्द्धं स्पर्शनया ताभ्यां कासारोपवनादिषु ॥२५७॥ अन्येद्युः स्पर्शनोऽओचदिति बालमनीषिणौ ।[2] किं सारं? किं च वाञ्छन्ति विश्वे विश्वेऽपि जन्तवः ॥ २५८ ॥ बालेन मुखमित्युक्ते स्पर्शनः पुनरब्रवीत् । तदेव सेव्यते किं न सर्वदा सर्वदेहिभिः ॥ २५९ ॥ कस्तस्य सेवनोपायः ? इति बालोदितः पुनः । अहमेवेति साक्षेपं स्पर्शनः समभाषत ॥ २६० ॥ बालेन कथमित्युक्तः स्पर्शनः पुनरभ्यधात् । समस्ति योगशक्तिर्मे अनाभर्यविधायिनी ॥ २६१ ॥ लीये त्वयि

१ मनीषी । २ ०वैम चि० ख० ।

[1]तया चाहं प्रविश्याङ्गं शरीरिणाम्। कोमलस्पर्शसम्बन्धं कुर्वन्ति यदि ते ततः ॥ २६२ ॥ ततो निरुपमं शर्म्म
लभन्ते ते न संशयः। तन्निशम्याह बालोऽपि भवता वञ्चिता वयम् ॥ २६३ ॥ इयत्कालं यतो मित्र ! त्व-
य्येतत् कथितं न नौ। तदावयोः स्वशक्तिं तामधुनापि प्रदर्शय ॥ २६४ ॥ ततः किं क्रियतामेतदित्यभिप्रायतो-
ऽमुना। निरीक्षितं मुखाम्भोजं स्पर्शनेन मनीषिणः ॥ २६५ ॥ किं करोत्येष पश्यामीति धियाऽऽह मनीष्यपि।
वयस्य ! क्रियतां बालजल्पितं किमसुन्दरम् ? ॥ २६६ ॥ स्पर्शनोऽप्यथ हृष्टात्मा कृतध्यानादिनाटनः। कुमारयोः
प्रविश्याङ्गं त्वचि लीनोऽभवत् क्षणात् ॥ २६७ ॥ बालो जातमृदुस्पर्शस्पृहोऽथ स्पर्शनप्रियम्। सेवते सर्वदा
गृद्धो मृदुस्त्रीवसनादिकम् ॥ २६८ ॥ दुःखकारणमप्येतद्विपर्यासवशाच्च सः। पामाकण्डूयनमिव मन्यते सुखम-
द्भुतम् ॥ २६९ ॥ मनीषी तु समुत्पन्नमृदुस्पर्शस्पृहोऽपि हि। नैव तत्तदसेविष्ट तत्त्वज्ञः स्पर्शनप्रियम् ॥ २७० ॥
कालं कियन्तमप्ये[2]षोऽनुवर्त्योऽस्ति मया खलु। इति बुद्ध्या कदाप्येतद्यद्यप्येष निषेवते ॥ २७१ ॥ लौल्याभावात्
तथाप्यस्य सन्तोषसुखशालिनः। [3]उल्लाघस्येव पथ्यान्नं कुरुते सुखमेव तत् ॥ २७२ ॥ अन्यदा प्रकटीभूय स्प-
र्शनो बालमालपत्। मदीयस्य श्रमस्यास्ति मित्र ! किञ्चित् फलं न वा ? ॥ २७३ ॥ बालेन बाढमस्तीति
गदिते मुदितात्मना। जातो मम [4]विधेयोऽयं दध्याविति स दुर्म्मतिः ॥ २७४ ॥ तेनागत्य तथैवाथ प्रोक्तः
प्रोचे मनीष्यपि। योगशक्तेरचिन्त्यायास्तव मित्र ! किमुच्यते ॥ २७५ ॥ साकूतं तद्वचः श्रुत्वा स्पर्शनेनाथ

१ योगशक्त्या। २ ०प्यथोऽनु० ग० घ०। ३ रोगमुक्तस्य। ४ आधीनः।

चिन्तितम् । बेदः सत्येप मात्रधे रम्पते न हि सर्वथा ॥ २७६ ॥ उचितमात्रमेतेन ततो मह्य विकत्थनम् । युक्त नात्रेति सचिन्त्य स्पर्शनो मौनमाश्रयत् ॥ २७७ ॥ त प स्पर्शनवृत्तान्तं सुखोत्पादनलक्षणम् । स्वमातुः कथयामास दृष्टो बालः परेद्यवि ॥ २७८ ॥ अथाऽकुशलमालाह मयाऽज्ञातेव लक्षितम् । स्पर्शनेन सहानेन संयोगस्तव सुन्दरः ॥ २७९ ॥ किन्त्वेकी ममाप्यस्ति योगशक्तिर्गरीयसी । यत्तस्य दर्शयिष्यामि ततोऽहमपि कौतुकम् ॥ २८० ॥ बालेनोक्ते तर्हि तस्य महत्त्वमभ्यासमाश्रयः । सोपे कथ्यं ततो योगशक्तिस्ते दर्श्यते यदा ॥
॥ २८१ ॥ इतश्च शुभसुन्दर्या मनीषी स्पर्शनस्य तम् । वृत्तान्तं कथयामास ततः साम्येममभ्यधात् ॥ २८२ ॥ वत्स ! योगस्वभावेन पापमिश्रेण नो शुभः । यदेव कारणं दुःखपदवेः परम मतम् ॥ २८३ ॥ मनीषी प्राह नैवात्र विशेष मयमस्त्वया । उचितोऽस्य मया नाहमस्य वचनगोचरः ॥ २८४ ॥ केवलं त्यागकालोऽस्य मयाम्ब ! प्रतिपाल्यते । प्रतिपन्नः सदोषोऽपि नाकाण्डे त्यागमर्हति ॥ २८५ ॥ शुभसुन्दर्ययोचाथ साधु जात ! त्वया कृतम् । अहो ! ते नीतिवेदित्वमहो ! ते दीर्घदर्शिता ॥ २८६ ॥ देवीभ्यामेव वृत्तान्त तमाकर्ण्य नृपोऽपि हि । चित्ते मनीषिणस्तुष्टो रुष्टो बालस्य दूषकैः ॥ २८७ ॥ दिने दिनेऽथ बालोऽपि नितान्तं स्पर्शने रतः । अङ्गीकृतपशुधर्मः कृत्याकृत्याविवेचकः ॥ २८८ ॥ देवतागुरुवन्दारुः कलाभ्यासपराङ्मुखः । विगीतानामकृत्यकलो जातो निरर्गलः ॥ २८९ ॥ युग्मम् ॥ सारसं तं च संवीक्ष्य मनीषी आत्ममोहतः । बहुधा

१ दुः स०, मेदः म० । २ स्पोत्कर्षम् । ३ ०मपि पु० क० प० । ४ लोकनिम्नानिर्भीकः ।

तेनात्यन्तं शिक्षितोऽपि बोढं व्यामूढमानसः । द्यूतकार इव द्यूतं
शिक्षयामास स्पर्शनत्यागहेतवे ॥ २९० ॥ तेनात्यन्तं शिक्षितोऽपि बोढं व्यामूढमानसः । द्यूतकार इव द्यूतं
तत्याज स्पर्शनं न सः ॥ २९१ ॥ तं शिक्षानुचितं ज्ञात्वा तूष्णीकोऽभून्मनीष्यथ । कालदष्टे हि किं कुर्याद्
बलवानपि मान्त्रिकः ॥ २९२ ॥ इतः सामान्यरूपाख्याऽपरा देव्यस्य भूपतेः । अस्ति मध्यमबुद्धिस्तु सुतस्त-
स्याः प्रशस्तधीः ॥ २९३ ॥ गतश्चासीन्नृपादेशाद् देशान्तरमथागतः । स्पर्शनेन सहाद्राक्षीदेष बालमनीषिणौ
॥ २९४ ॥ पृष्टः स्पर्शनवृत्तान्तं बालस्तस्मै न्यवेदयत् । योगशक्तिं स्पर्शनश्च बालप्रोक्तो ददर्श यत् ॥ २९५ ॥
स्पर्शनस्य विधेयोऽभूदेषोऽपि सुखलालसः । वञ्चनाचञ्चुभिः पुम्भिः को न वा विप्रतार्यते ॥ २९६ ॥ अन्यदा
स्पर्शनत्यागकृते स्नेहान्मनीषिणा । शिक्षितस्तत्कथाख्यानाद् दध्यौ मध्यमबुद्धिकः ॥ २९७ ॥ स्वसंवेद्यमिदं
तावन्मम स्पर्शनजं सुखम् । असावपि च नो मिथ्या मनीषी जातु भाषते ॥२९८॥ तत्किं कार्यं मया यद्वा गत्वा
पृच्छामि मातरम् । ध्यात्वेति गत्वा सोऽम्बायास्तं वृत्तान्तमचीकथत् ॥ २९९ ॥ अम्बाप्यूचेऽधुना तावद्युक्ता
मध्यस्थतैव ते । कालान्तरे पुनः पक्षः श्रयणीयो बलाधिकः ॥ ३०० ॥ संशयापन्नचित्तेन भिन्ने कार्यद्वये
यतः । कार्यः कालविलम्बोऽत्र दृष्टान्तो मिथुनद्वयम् ॥ ३०१ ॥ तथाहि—पुरे तथाविधाख्येऽभूदृजुर्नाम
महीपतिः । [2]प्रगुणाऽस्य प्रिया पुत्रो मुग्धाख्यः स्मरसुन्दरः ॥ ३०२ ॥ तस्य चाभूदकुटिला वल्लभा रतिस-
न्निभा । याति प्रीतिमतोः कालो मुग्धाकुटिलयोस्तयोः ॥ ३०३ ॥ वसन्तसमयेऽन्येद्युः स मुग्धः प्रेयसीयुतः ।

१ बाढव्या० ख० । २ प्रगुणा ग० ।

रन्तु पुष्पद्रुमाकीर्णे भवनोपवने ययौ ॥ २०४ ॥ कस्तूरीमेति पुष्पाणां भूत्वा कनकचर्पिकाम् । इत्युक्त्वा क्रीडया यातौ तौ कुर्वेञ्च पृथक् पृथक् ॥ २०५ ॥ कालज्ञविचक्षणाख्यौ तदा व्यन्तरदम्पती । पश्यतः स्माम्बरे यान्तौ मिथुन तद्यथास्थितम् ॥ २०६ ॥ दुर्निवारतयाशाणां रागस्तीव्रोऽभवत्ततः । व्यन्तरस्याकुटिलायां व्यन्तर्यास्तु नृपात्मजे ॥ २०७ ॥ किलैनां वञ्चयामीति मुग्धा प्रोचे विचक्षणाम् । कालज्ञः सोऽथ यदेति ! गच्छ तावत् त्वमग्रतः ॥ २०८ ॥ देवार्चनकृते भूपभवनोपवनादितः । आदाय यावदायामि कुसुमानि कियन्त्यपि ॥ २०९ ॥ तस्यां स्थितायां मौनेन मुग्धलीनमनस्तया । सोऽम्बरादवतीर्यास्तुञ्ज मुग्धवपुर्धितम् ॥ २१० ॥ विमङ्क्षानविज्ञातवपूरीमावकारणः । मुग्धरूपधरः पुष्पपूर्णां स स्वर्णचर्पिकाम् ॥ २११ ॥ निर्वर्ण्याकुटिलाम्य र्भागस्यैतामवोचत । प्रिये ! चिरात् स्थितासीति विलक्षा साप्यभूत्ततः ॥ २१२ ॥ युग्मम् ॥ चल प्रिये ! विपादे नेत्युक्त्वा रन्तुमनाः स च । व्यन्तरम्यसकोऽनैषीत् तामन्तःकदलीगृहम् ॥ २१३ ॥ इतस्तथैव विज्ञातचरित्रा विचक्षणा । सुभग मानयाम्येनमिति चिन्तामरातुरा ॥ २१४ ॥ विधायाकुटिलारूपं भूत्वा कनकचर्पिकाम् । आर्यपुत्र ! चिरोऽस्थीति वदन्ती मुग्धमासदत् ॥ २१५ ॥ युग्मम् ॥ मुग्धः प्राह प्रिये ! मुग्धु मिठोऽस्मि क्षिपतां किमु ! । तावोचत् वदत यस्मि मुग्धः प्रोवाच किं नु तत् ! ॥ २१६ ॥ विचक्षणावदत् याचः परस्मिन्कदली-गृहे । मानयावो विशेषेण रम्यामुपवनश्रियम् ॥ २१७ ॥ मुग्धेन प्रतिपन्ने तौ तदेव कदलीगृहम् । जग्मतुर्मिथुन

१ •क्ये तदा म० । २ •त्तम० त० । ३ च तत् ग० ।

तत्र पूर्वायातमपश्यताम् ॥ ३१८ ॥ अथेक्षितं विस्मिताभ्यां मिथुनाभ्यां परस्परम् । दृष्टः स्वेतरयोर्भेदस्तिलमा-
त्रोऽपि नो पुनः ॥ ३१९ ॥ मुग्धोऽथ चिन्तयामास वनदेवीप्रसादतः । मन्येऽहं द्विगुणो जज्ञे दयितेयं तथा
मम ॥ ३२० ॥ ताताय तदिदं ज्ञाप्यं महाभ्युदयकारणम् । ध्यात्वेति स समाचख्यावितरेषां निजाशयम्
॥ ३२१ ॥ चत्वार्यपि महीभर्तुरास्थानमगमंस्ततः । तान्प्रालोक्य ऋजुर्देवी परिवारश्च विस्मितः ॥ ३२२ ॥
किमेतदिति पृष्टोऽथ सादरं मेदिनीभुजा । वनदेवीप्रसादोऽयमिति मुग्धो न्यवेदयत् ॥ ३२३ ॥ ऋजुराह कथं
वत्स ! सोऽप्याचख्यौ यथास्थितम् । श्रुत्वेति नृपतिर्दध्यावहो ! मे धन्यता परा ॥ ३२४ ॥ अहो ! मे
देवतातुष्टिस्ततो हर्षातिरेकतः । स पुरे परितस्तत्र महोत्सवमकारयत् ॥ ३२५ ॥ द्विगुणत्वाभिमानेन कुमारा-
कुटिले अपि । अभूतां प्रमदोदश्वदुच्चरोमाञ्चकञ्चुके ॥ ३२६ ॥ केलिप्रियतया हृष्टः कालज्ञोऽपि बभूव सः । द्वितीया
वनिता केयमिति किन्तु व्यचिन्तयत् ॥ ३२७ ॥ विभङ्गज्ञानविज्ञातस्वकान्ताचेष्टितस्ततः । स दध्यौ पुनरप्येवं
रुषा परुषिताशयः ॥ ३२८ ॥ मारयामि दुराचारं किममुं राजदारकम् । अमरत्वेन नाकाले निहन्तुं शक्यते
त्वियम् ॥३२९॥ यद्वा ध्यानं न चार्वेतन्निहतेऽत्र यतो ध्रुवम् । मेदज्ञाऽकुटिला नैव मामेषाऽभिलषिष्यति ॥३३०॥
प्रियापि न मया वक्तुं शक्या किमपि सागसा[1] । आदायान्यत्र गच्छामि तत्किं मुग्धवधूमिमाम् ? ॥ ३३१ ॥
एतदप्यत्र नो युक्तमकाण्डगमनाद् यतः । मेदज्ञा भाविनी नेयं मम नापि विचक्षणा ॥ ३३२ ॥ ततः कालविलम्बो-

१ सपापेन ।

त्र विशातु युज्यते मम । ध्यास्येति तस्थौ मौनेन व्यन्तरस्त्यक्तकोपधीः ॥ २३३ ॥ व्यन्तर्यपि तथारूपश्चात्तस्य
प्रियपेशिता । सत्रपा विविधानुज्ञान् कृत्वा तस्थौ यथास्थितिः ॥ २३४ ॥ कुर्वतोर्मर्त्यकृत्यानि कुमाराकुटिला-
ङ्गुपोः । तयोर्व्यन्तरदम्पत्योर्ययौ कालः कियानपि ॥ २३५ ॥ अथ तत्र पुरे मोहविलयाभिधकानने । प्रतिबोधक-
नामाऽऽगात् गुरुर्गुणगुणान्वितः ॥२३६॥ तदागममथाकर्ण्य प्रमनाः पृथिवीपतिः । ससुतादिपरीवारः प्रययौ त विव
न्दिपुः ॥ २३७ ॥ स्वर्णाम्भोजसमासीन नरामरनिषेवितम् । मुनिनाथ महीनाथस्तं पवन्देऽथ भक्तिभाक् ॥२३८॥
यथास्थानं निषण्णेषु निखिलेषु जनेष्वथ । सूरिणा विदधे धर्म्मदेशना मोहनौक्षिनी ॥ २३९ ॥ अथाचार्य
यशोवास्या विधृते मोहदुर्दिने । मनोऽम्भोम्नि व्यन्तरयोर्दर्शनार्कोऽदीप्यत ॥ २४० ॥ अत्रान्तरे तदङ्गाभ्यां रक्त
कृष्णाङ्गनिर्मिता । बीभत्सा भीषणा नि पा नार्येका निर्ययौ बहिः ॥ २४१ ॥ प्रतापमसहा सोढुं निश्शेषाचार्य
भास्वतः । निर्गत्य पर्षदः सा च तस्थौ दूरे पराङ्मुखी ॥ २४२ ॥ पश्चात्तापानलालीढौ सद्यस्तौ व्यन्तरावथ । निव
ऽप यथार्थं नत्वाऽस्यातां मुनीश्वितुः ॥२४३॥ कृपानुभ कथ नाथ ! तदस्मात्पापपङ्कतः । आवयोर्निर्गमो भावी
निःस्वामगवयोरिव ॥ २४४ ॥ भगवानाह भद्राभ्यां खेदः कार्यो न मानसे । न दोषो भवतोः शुद्ध स्वरूपं युव
योर्यतः ॥ २४५ ॥ किन्तु युष्मच्छरीराभ्यां येय स्त्री निर्गताधुना । दोषः सर्व्वपमेतस्याः पापाया विश्वदाश्रयौ ?
॥२४६॥ केयं कथं वा दोषाणां कारण करुणानिधे ! । इति स प्रश्नितस्ताभ्यां भगवानवदत्पुनः ॥ २४७ ॥ महा

१ भन्यदाऽस्मत्पुरे क० ख० घ०, अन्यदाऽस्मिन् पुरे ग० । २ ०नाशनी ख० ग० । ३ ०तप्यत ग० ।

भागौ ! महापापा भोगतृष्णेयमुच्यते । ऐहिकामुष्मिकानर्थश्वापदैकमहाटवी ॥ ३४८ ॥ इयं चात्यन्तदुर्लङ्घ्या विद्यते यावदन्तरा । तावज्जीवाध्वनीनानां कुतो मुक्तिपुरीगतिः ? ॥ ३४९ ॥ इह स्थातुमशक्ता च स्थिता सम्प्रति दूरतः । इयं भवन्तौ मत्पार्श्वात् निर्गच्छन्तौ प्रतीक्षते ॥ ३५० ॥ आवयोर्मुक्तिरेतस्याः कथं नाथ ! भविष्यति । इति पृष्टः पुनस्ताभ्यां भगवानभ्यधादिति ॥ ३५१ ॥ सर्वथेह भवे नेयं युवाभ्यां त्यक्तुमीश्यते । भवद्भ्यां किन्तु सम्यक्त्वं प्राप्तमस्याः क्षयक्षमम् ॥ ३५२ ॥ तत्प्रभावाद् बाधिकेयं भाविनीह भवेऽपि न । भावी भवान्तरे त्वस्या विनाशोऽपि हि सर्वथा ॥ ३५३ ॥ तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं मुदितौ देवदम्पती । महाप्रसाद इत्युक्त्वा पतितौ तस्य पादयोः ॥ ३५४ ॥ दृष्ट्वा तमथ वृत्तान्तं श्रुत्वा च भगवद्वचः । संवेगं परमं प्रापुर्नृपराज्ञीसुतस्नुषाः ॥३५५॥ यथावृत्तावबोधेन त्रपानुशयवन्ति च । निनिन्दुर्दुष्कृतं स्वं स्वं चित्ते तानि मुहुर्मुहुः ॥ ३५६ ॥ अत्रान्तरे तदङ्गेभ्यो निर्गतैः परमाणुभिः । घटितं विशदं [1]दीप्रं लोचनाह्लाददायकम् ॥ ३५७ ॥ रक्षितानि मया रक्षितानि यूयमिति ब्रुवन् । डिम्भरूपं सप्रमोदं तस्थौ भगवतः पुरः ॥ ३५८ ॥ युग्मम् ॥ अथान्यदसितं निन्द्यं तदन्वेव विनिर्ययौ । तस्मात् तु निरगात् कृष्णं तृतीयमपि भीषणम् ॥ ३५९ ॥ प्रवर्द्धमानं तच्चाथ धूमज्वालावदुच्चकैः । मुष्टिनाहत्य शिरसि प्रकृत्याद्येन धारितम् ॥ ३६० ॥ श्यामवर्णं डिम्भयुग्मं विनिर्गत्याथ पर्षदः । पराङ्मुखं स्थितं दूरे जनयज्जनकौतुकम् ॥३६१॥ भगवानथ राजादीन्यूचे [2]ज्ञात्वा तदाशयम् । भवद्भिर्न हि भद्राणि खेदः कार्यो मनागपि ॥३६२॥

१ दीप्तं लो० ग० । २ ज्ञाततदाशयः ग० ।

यतो न दोषो युष्माकमेष दोषोऽस्य केवलम् । कृष्णस्य डिम्भरूपस्य ज्ञातानन्तरजन्मनः ॥ २६३ ॥ अथ तान्
पिरे नाथ ! किमेतदितरे च के । कथं चाऽद्येनैषमानं तृतीय सिनिवारितम् ॥ २६४ ॥ वाचयमवरोऽप्योचदज्ञान
मिदमुच्यते । येनाजीता जना नैव कृत्याकृत्यं विजानते ॥ २६५ ॥ डिम्भरूप द्वितीय तु कृष्ण पापं निगद्यते ।
अज्ञानाज्जायते यच्च प्रत्यक्षं भवतामदः ॥ २६६ ॥ आदिमं डिम्भरूपं तु क्षीरडिण्डीरसोदरम् । शुद्धाशयकरं श्रेष्ठ-
मिदमार्जवमुच्यते ॥ २६७ ॥ अत एवामुना पापं वर्धमानमनर्थकृत् । यष्टिनाऽस्य शिरसि स्वरूपेणैव धारितम्
॥ २६८ ॥ किञ्चैतदार्जवं येषां धन्यानां वर्धते हृदि । अज्ञानादाचरन्तोऽपि ते पापं स्वल्पपापकाः ॥ २६९ ॥
तदेवंविधमाद्यानां भद्राणां युज्यतेऽधुना । अज्ञानपापे निर्धूय सम्यग्धर्मनिवेशनम् ॥ २७० ॥ ततो भागवतं
वाक्यं श्रुत्वेदममृतोपमम् । संसारवासात् तैः सर्वैः स्वं स्वं चित्तं निवर्तितम् ॥ २७१ ॥ नरेन्द्रोऽथ गुरोः पार्श्वे
देवीसुतपसुतायुतः । शुभाचाराभिधं ज्येष्ठं राज्ये न्यस्याददे व्रतम् ॥ २७२ ॥ डिम्भरूपे ततः कृष्णवर्णे
तूर्णं पलायिते । शुक्लडिम्भ पुनस्तेषां प्रविष्टं तनुषु क्षणात् ॥ २७३ ॥ कुर्वाणावृजुतावादिप्रशंसां व्यन्तरावपि ।
भगवन्तं नमस्कृत्य हृष्टौ स्वं स्थानमीयतुः ॥ २७४ ॥ विवेक मोक्षमप्यापि शरीरे गच्छतोस्तयोः । सुखसम्प
च्चमाहात्म्यात् केवलं सा न चाविका ॥ २७५ ॥ विचक्षणाऽऽह कालज्ञमन्यदा रहसि स्थिता । आर्यपुत्र ! यदा
दृष्टा त्वयार्जवकृतज्ञना ॥ २७६ ॥ तदा किं चिन्तितं ? सोऽपि स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् । विचक्षणाऽऽह सत्यस्त्वं
कालज्ञ इति भीयसे ॥ २७७ ॥ युग्मम् ॥ तेनापि पृष्टा सोवाच पर्यालोच्य तदावनम् । कालज्ञः प्राह सत्येन

त्वमप्यत्र विचक्षणा ॥३७८॥ ततः प्रीतिसमायुक्तौ शुद्धसम्यक्त्वलाभतः । कृतार्थौ तौ निजं कालं निन्यतुर्देवदम्पती ॥ ३७९ ॥ तदिदं ते मया पुत्र ! कथितं मिथुनद्वयम् । सन्दिग्धेऽर्थे विलम्बेन कालस्य गुणभाजनम् ॥ ३८० ॥ कालक्षेपस्ततः कर्तुं तवापि सुत ! युज्यते । इति मातृवचः श्रुत्वा मध्यमोऽथ तथाऽकरोत् ॥ ३८१ ॥ इतश्च दर्शयात्मीयं मातर्योगबलं मम । बालेनेत्युक्ताऽकुशलमालाऽविक्षत् तदङ्गके ॥ ३८२ ॥ ततः स्पर्शनमातृभ्यां भृशमाश्रितविग्रहः । अन्त्यजामपि नो नारीं स मुञ्चति नराधमः ॥ ३८३ ॥ ततो लोकैर्निन्द्यमानं मोहान्धीभूतमानसम् । मध्यमो भ्रातृमोहेन बहुधा तमशिक्षयत् ॥ ३८४ ॥ बालः प्राह ध्रुवं भ्रातर्विप्रलब्धो मनीषिणा । स्वर्गे विवर्त्तमानं मां नेक्षसे कथमन्यथा ? ॥ ३८५ ॥ ये मूढा जातिदोषेण कोमलं ललनादिकम् । नेच्छन्ति ते महारत्नं मुञ्चन्ति स्थानदोषतः ॥ ३८६ ॥ ततस्तत्रात्मनो वाचं मेघवृष्टिमिवोषरे । विज्ञाय विफलां मौनं भेजे मध्यमबुद्धिकः ॥ ३८७ ॥ एवं च तिष्ठतां तेषां बालमध्यमनीषिणाम् । अथान्यदा समायातो वसन्तः कृतमन्मथः ॥ ३८८ ॥ ततोऽनङ्गत्रयोदश्यां सार्द्धं मध्यमबुद्धिना । बालो लीलाधरं नाम मित्राम्बायुग् ययौ वनम् ॥ ३८९ ॥ तत्रोत्तुङ्गमनोहारिप्रासादान्तःप्रतिष्ठितः । पूजयित्वा नतस्तेन देवो मकरकेतनः ॥ ३९० ॥ अथ प्रदक्षिणां तस्य ददानो देवसद्मनः । पश्यन्ननङ्गपूजार्थमङ्गनागणमागतम् ॥३९१॥ बालो ददर्श पार्श्वस्थे गुप्तस्थाने व्यवस्थितम् । तस्यैव रतिनाथस्य सुन्दरं वासमन्दिरम् ॥ ३९२ ॥ युग्मम् ॥ कुतूहलवशेनाऽथ द्वारि संस्थाप्य मध्यमम् । स

१ स्पर्शनाऽकुशलमालासहितः ।

तदन्तर्गतोऽपश्यन्महाशय्यां मनोभवः ॥ ३९३ ॥ रतियुक्तेन कामेन क्रान्तमभ्यां सुकोमलाम् । तां च मन्दप्रका-
शत्वादसौ पस्पर्श पाणिना ॥ ३९४ ॥ तस्याः संस्पर्शलोलोऽथ स्पर्शनाभ्यासविलम्बनात् । अविमृश्यापायति
बालस्तस्यां शेते स मूढधीः ॥ ३९५ ॥ अहो ! सुखमहो ! स्पर्श इति सचिन्तयन्नयम् । चकार तत्र शय्यायां
मुहुर्विपरिवर्तनम् ॥ ३९६ ॥ इतश्च नगरे तत्र परिज्ञो नृपोऽपरः । शत्रुमर्दननामाऽस्ति पृथिवीतलविश्रुतः[1] ॥
॥ ३९७ ॥ तस्याग्रमहिषी चारुरूपा मदनकन्दली । तत्र मन्मथपूजार्थमाययौ सपरिच्छदा ॥ ३९८ ॥ गर्भा-
गारस्थित साऽथ पूजयित्वा रतिप्रियम् । वासावासगृहे तत्र त शय्यास्थितमर्चितुम् ॥ ३९९ ॥ तत्र मन्दप्रकाश-
त्वात्कामभ्रान्त्याऽथ बालकम् । चन्दनादिभिरभ्यर्च्य निजावासं जगाम सा ॥४००॥ बालः कोमलहस्ताभ्यसस्पर्शे
तस्या मृगीदृशः । अनुभूयाथ संजातकामावेशो व्यचिन्तयत् ॥ ४०१ ॥ विश्वसारो न जात्वीदृक् स्पर्शः प्राप्तो
मया पुरा । तदिय हा ! हरिणाक्षी कथं संपत्स्यते मम ॥ ४०२ ॥ इति संचिन्तयस्तस्यां शय्यायां स मुहुर्लुठन् ।
आससाद रतिं नैव तप्ताश्मक्षिप्तमीनवत् ॥४०३॥ कथं बालो विनिर्याति नाद्यापीति विचिन्तयन् । मध्यो मेऽप्य
मतोऽभ्राक्षीदथ बाल तथास्थितम् ॥ ४०४ ॥ ततः स चिन्तयामास विवेककलिताशयः । हहा ! बालेन किमि
दमकार्यं कुधिया कृतम् ॥ ४०५ ॥ सुखदापि हि नो देवशय्यासंभोगमर्हति । किन्त्वेषा वन्दनीयेव गुरुपत्नीव
सर्वदा ॥ ४०६ ॥ विचिन्त्येत्यमुना बालो बहुधा बोधितोऽपि हि । नैवोत्तरं ददाति स शय्यासंस्पर्शलालसः ॥

[1] चारुरूपा क० ख० । [2] मध्यक्षितो क० ख० प० ।

॥ ४०७ ॥ अत्रान्तरे च तद्देवकुलाधिष्ठायकः सुरः । तत्रायातः क्रुधा बद्ध्वा तं बालं बहिरक्षिपत् ॥ ४०८ ॥ कुर्वन्
हाहारवं दीनो मध्यस्तदनु निर्ययौ । किं किं किमिति जल्पाको विश्वक् लोकोऽप्यधावत ॥ ४०९ ॥ किमेतदिति
पप्रच्छ मध्यमं संभ्रमाज्जनः । लज्जया स पुनर्नैव किञ्चिदप्युत्तरं ददौ ॥ ४१० ॥ अवतीर्य नरं कश्चिद् व्यन्त
रोऽथ रुपारुणः । बालदुर्नयमाख्याय लोकानामब्रवीदिति ॥ ४११ ॥ भो ! लोकाः ! पश्यतामेव भवतां तदयं
कुधीः । निहन्तव्यो मयेदानीं दण्डसाध्या ह्यमूदृशाः ॥ ४१२ ॥ इत्युक्त्वा स तथा यावत्कुरुते तावदब्रवीत् ।
भ्रातृमोहान्मध्यमस्तं कृपया च जनोऽपरः ॥ ४१३ ॥ प्रसीद मुच्यतां स्वामिन्नेकवारं तपस्व्यसौ । ततस्तत्कृपया
बालं जीवन्तं व्यन्तरोऽमुचत् ॥ ४१४ ॥ आक्रुश्यमानो लोकेन वधबन्धार्दितस्ततः । कृच्छ्रेण स्वगृहं नीतो
बालो मध्यमबुद्धिना ॥ ४१५ ॥ दध्यौ कर्मविलासोऽथ ज्ञात्वा वृत्तमिदं जनात् । कियदेतन्मयि वामे भावि
बालस्य बह्वपि ॥ ४१६ ॥ इतो देहव्यथां पृष्टो बालो मध्यममभ्यधात् । न कापि मम देहार्त्तिर्मनोऽर्त्तिः किन्तु
बाधते ॥ ४१७ ॥ किन्निमित्ता ह्यसौ भ्रातरिति मध्येन भाषितः । कामस्य वामशीलत्वादेषं भूयोऽप्यदोऽब्रवदत्
॥ ४१८ ॥ न वेद्मि किन्तु कन्दर्पवासौकोद्वारि तिष्ठता । किं निर्यान्ती विशन्ती वा कापि स्त्री ददृशे त्वया ?
॥ ४१९ ॥ दृष्टेति मध्यमेनोक्ते बालः पुनरभाषत । तत्किं केयमिति भ्रातर्भवता लक्षिता न वा ? ॥ ४२० ॥
सुष्ठु संलक्षिता सा हि देवी मदनकन्दली । शत्रुमर्दनभूमर्तुरिति मध्योऽब्रवदत्ततः ॥ ४२१ ॥ तदाकर्ण्य कथं सा

१ ०वं भू० क० ख० घ० ।

स्यान्माख्यामिति चिन्तया । दीर्घदीर्घतरानुष्णाभिःश्वासान्बालकोऽमुचत् ॥ ४२२ ॥ तदर्थी सत्यमिति ज्ञात्वा मध्यमधीरय । अचिन्तयदिति स्वान्ते तापवस्यानुरागिता ॥ ४२३ ॥ जनयत्येव सा दृष्टा यतो मदनकन्दली । सौन्दर्यातिशयेनोच्चैरभिलाषं स्वगोचरम् ॥ ४२४ ॥ द्वारस्य संकटत्वेन तस्याः स्पर्शो मयापि च । कामचास गृहद्वारस्थितेनासादितो यदा ॥ ४२५ ॥ कामावस्था ममाप्यासीत् मनाग्दोलायितं मनः । परस्त्रीगमनं युक्त कुलीनानां तथापि न ॥ ४२६ ॥ ततो निवारयाम्येनं बालमस्मात् दुराग्रहात् । ध्यात्वेति मध्यमोऽवादीदिति तं मृदुभाषया ॥४२७॥ दुराग्रहमम्नुं मुञ्च भ्रातर्नीतौ मनः कुरु । यदनीतिफलं दृष्टं सद्योऽपि भवता स्वरात् ॥४२८॥ मोचितोऽसि मया कृच्छ्रात् तस्मिन्सर्वस्व दुर्नयात् । तच्चकारिश्शिरोरत्नकल्पा सा हि नृपप्रिया ॥ ४२९ ॥ लक्षितोऽहं मननेति ज्ञात्वोचे बालकोऽप्यथ । भ्रूपे त्व मोचितोऽसीति न मूपे मारितो भृशम् ॥ ४३० ॥ कन्दर्पप घनैर्भ्रातरम रिप्यं तदा यदि । नैनं प्राप्स्य मनस्ताप मृत्योरप्यधिकं तदा ॥ ४३१ ॥ बालस्य तद् दुराकूतं विनिश्चित्यानिवर्तकम् । मेजेऽथ मध्यमो मौनं ययौ चास्त रविस्तदा ॥ ४३२ ॥ निःसंचारासु रथ्यासु संजातास्वथ बालकः । नृपप्रियां रिरंसुस्तां निर्ययौ निभृतं निशि ॥ ४३३ ॥ घना धकारलुप्तायां रात्रौ कुत्रैष गच्छति । विचिन्त्येति प्रेम्णानुययौ मध्यमोऽपि तम् ॥ ४३४ ॥ अत्रान्तरे च केनापि नरेणागत्य बालकः । निन्ये दीनं रटन् बर्हि वै चैर्वृष्णास्वराम्वना ॥ ४३५ ॥ गमिष्यसि क रे ! दुष्ट ! गृहीत्वा भ्रातरं मम । उच्चैरेवं वदन्मध्यस्तं मुमायन्स

१ ०बन्धे बद्ध्वा० ख० ।

धावत ॥ ४३६ ॥ नगरान्निर्ययौ यावदुद्यतासिरसौ जवात् । लोचनागोचरं तावद्ययौ बालापहारकः ॥ ४३७ ॥
[1]मोक्ष्यत्येष किल क्वापीत्याशया मध्यमोऽथ सः । दीनः कण्टकविद्धांह्रिः क्षुत्पिपासाश्रमाकुलः ॥ ४३८ ॥
स्थाने स्थाने बालवार्त्तां पृच्छन् स्नेहविमोहितः । दिनानि सप्त पर्यट्य पुरं प्राप कुशस्थलम् ॥ ४३९ ॥
युग्मम् ॥ जीर्णकूपं तदभ्यर्णे स दृष्ट्वाथ व्यचिन्तयत् । स्वं क्षिपाम्यत्र किं भ्रातृविकलैरसुभिर्मम ? ॥ ४४० ॥
ध्यात्वेति स्वं क्षिपत्यत्र यावद् बद्ध्वा गले शिलाम् । तावन्नन्दननामा तमद्राक्षीद्राजपूरुषः ॥ ४४१ ॥ सोऽथ मा
साहसमिति ब्रुवन्नेत्य विधृत्य च । प्रोचे मध्यमिदं निन्द्यं [2]कुतोऽध्यवसितं त्वया ? ॥ ४४२ ॥ मध्येन बालविरह-
वृत्तान्तेऽथ निवेदिते । नन्दनः प्राह यद्येवं तर्हि मा खेदमुद्वह ॥ ४४३ ॥ भावी भद्र ! तव भ्रात्रा सार्द्धं प्रायेण
सङ्गमः । मध्येन कथमित्युक्ते नन्दनः पुनरभ्यधात् ॥ ४४४ ॥ स्वाम्यस्माकं पुरेऽत्रास्ति हरिश्चन्द्राभिधो नृपः ।
स चोपद्रूयते क्षुद्रैः सीमभूपतिभिः सदा ॥४४५॥ तैरुपद्रुतमन्येद्युस्तं विलोक्य नरेश्वरम् । तन्मित्रं खेचरो नाम्ना
रतिकेलिरदोऽवदत् ॥ ४४६ ॥ ददामि तुभ्यं भूपाल ! क्रूरविद्यां महाबलाम् । यत्प्रभावात् त्वमेतैर्न रिपुभिः परिभू-
यसे ॥ ४४७ ॥ महाननुग्रह इति क्ष्माभृताभिहितेऽथ ताम् । तस्मै दत्त्वा पूर्वसेवां स नर्पाद्धिमकारयत् ॥ ४४८ ॥
इतो दिनादष्टमेऽह्नि कश्चिन्नीत्वा महीपतिः । विद्यायाः साधनं तस्याः खेचरेण व्यधाप्यत ॥ ४४९ ॥ द्वितीये-
ऽह्नि च स क्ष्मापं पुंसैकेन सहानयत् । होमं चक्रे सप्तरात्रं पुंसस्तस्यासृजा नृपः ॥ ४५० ॥ पुमांसमर्पयामास

१ मोक्षत्येष क० । २ कुतो ध्यव० ग० ।

तं च राजा ममाधुना । स एव च पुमान् भद्र ! भावी भ्राता तव ध्रुवम् ॥ ४५१ ॥ अथोचे मध्यमो भद्र !
पथेयं तर्हि त्वं ध्रुवम् । कृपां कृत्वानयस्वेह यथाहमुपलक्षये ॥ ४५२ ॥ निःश्वासोच्छ्वाससंलक्ष्यजीवितं कृपणा-
कृतिम् । गत्वाथ कृपयोत्पाट्य नन्दनो बालमानयत् ॥ ४५३ ॥ प्रत्यभिज्ञाय तं कृच्छ्रान्मध्यो नन्दनमब्रवीत् ।
स यथार्थं मम भ्राताऽनुगृहीतोऽस्मि त्वया ॥ ४५४ ॥ नन्दनोऽभिदधे राजद्रोहोऽयं त्वत्कृते कृतः । किन्त्वा-
सुजास्य निरूपय विद्यां रौद्र तर्पयिष्यति ॥ ४५५ ॥ इति श्रुत्व मयेदानीं तद् पार्श्वं त्वरितं पुमाम् । मच्चिन्ता
नैव कर्तव्या यद्भाव्यं भवतान्मम ॥ ४५६ ॥ ततो नन्दनमापृच्छ्य बालमुत्पाट्य मध्यमः । क्लेशानासादय-
न्मार्गे तांस्तान् स्वं पुरमागमत् ॥ ४५७ ॥ अनुभूतं त्वया भ्रातः किं दुःखेनेति मध्यमः । मनाग् आतपलं बाल
मालपत्कतिभिर्दिनैः ॥ ४५८ ॥ स प्राह मां तदोत्क्षिप्य त्वत्समक्षं निबध्य च । निन्ये प्रेतवनं प्रेतपतितुल्यः स
खेचरः ॥ ४५९ ॥ तत्राग्निकुण्डपार्श्वस्थः पुमानेको मयेक्षितः । ससंभ्रममुपाचैव खेचरः स च तं मुदा ॥ ४६० ॥
चिन्तितं नृप ! सिद्धं ते पुमान्प्राप्तः सलक्षणः । ततोऽस्यासृक्पलाहुत्या विद्यां मद्धया त्वप ॥ ४६१ ॥ तथेति
प्रतिपद्याथ पृथ्वीनाथः प्रमोदभाक् । विद्यां जपितुमारेभे सहायीकृतखेचरः ॥ ४६२ ॥ मांसमुत्कृत्य मद्देहात्
सकृपाकृष्य च शोणितम् । ददावस्याहुतये राज्ञे खेचरोऽपि स निष्कृपः ॥ ४६३ ॥ रटन्तं मां च संवीक्ष्य नार
कोपमवेदनम् । परमाधार्मिक इव मोदते हृदि खेचरः ॥ ४६४ ॥ घोराट्टहासवेतालकिलकिलासृग्वर्पणादिभिः ।

१ त्वपाकृतिम् । २ राजा ।

विभीपिकाभिर्भूपस्याक्षुभितस्य मनागपि ॥ ४६५ ॥ अष्टाग्रशतजापान्ते सिद्धास्मीति वदन्त्यथ । सा विद्या-
ऽऽविरभूत् [1]तेन [2]नताविक्षच्च तत्तनुम् ॥ ४६६ ॥ युग्मम् ॥ दारिताशेषवर्ष्माणमारसन्तं निरीक्ष्य माम् ।
धराधीशोऽथ सीत्कारमकरोत्करुणापरः ॥ ४६७ ॥ विद्याया एष एवास्याः कल्पः प्रोक्तो यद[3]स्य न । कृपा
कार्येति भाषित्वा खेचरस्तमवारयत् ॥ ४६८ ॥ मम देहमलिम्पच्च विष्वग्लेपेन केनचित् । वागवाच्या मयाऽऽसादि
वेदना महती ततः ॥ ४६९ ॥ लेपानुभावसंजातदवदग्धद्रुमोपमम् । मामुत्पाट्य पुरे तत्र जग्मतुर्नृपखेचरौ ॥
॥ ४७० ॥ जापम[4]म्लाशनोच्छूनतनोर्मे पिशितैः पुनः । सप्तरात्रमदादष्टशतमष्टशतं नृपः ॥ ४७१ ॥ निर्ययौ
जीवितं नेदं हतं मम तथापि हे[5] । तवापि विदिता भ्रातर्मदीयातः परं कथा ॥ ४७२ ॥ मध्यस्तं प्राह
दुःखानां नोचितोऽसि त्वमीदृशाम् । अहो ! खेचरनैष्ठुर्यमहो ! विद्यानृशंसता ॥ ४७३ ॥ [6]तदा च वार्त्ताप्रश्नाय
मनीषी लोक[7]यात्रया । आजगामाकर्णयच्च माध्यमं परिदेवनम् ॥ ४७४ ॥ प्रविश्यान्तस्ततस्ताभ्यां विहितो-
चितसत्क्रियः । मध्यबुद्धिं स पप्रच्छ परिदेवनकारणम् ॥ ४७५ ॥ निःश्वस्य मध्यमोऽप्याख्यत् बालव्यतिकरं
ततः । उद्यानयानादारभ्य यावत् खेचरकर्त्तनम् ॥ ४७६ ॥ पूर्वमेव परिज्ञातसर्वव्यतिकरोऽप्यथ । मनीष्यज्ञ
इव प्राह विस्मयस्मेरलोचनः ॥ ४७७ ॥ किं जातं बालकस्येदृग् यद्वाग्रेऽपि मयोच्यत । स्पर्शनेनामुना सार्द्धं

१ विद्यासाधकेन । २ प्रणता । ३ अस्योपरि इत्यर्थः । ४ अम्लभोजनेन शोफयुक्तशरीरस्य । ५ हि क० ख० ग० घ० । ६ तथा च ग० । ७ ०यानया ग० ।

संगतिः श्रेयसी न ते ॥ ४७८ ॥ बालोऽभवीदथ भ्रातस्तातस्त्वमग्रेसरणाम् । यद्यपि लभे दुःस्थ कियदेतद्वचो
मम ॥ ४७९ ॥ महेच्छानां महाकार्यसाधनोद्यमिनां मनः । दुनोति नान्तरापाति व्यसनं हि कदाचन ॥ ४८० ॥
त त्रिधानुषितं बालं परिहाय मनीष्यथ । नीत्वा कक्षान्तरे मध्यमपदत् मदतां वरः ॥ ४८१ ॥ सौम्य ! यद्येष
जानाति बालो नास्मद्धितं सुधीः । तदस्य ग्रहलग्नेन विनिष्टस्य त्वयापि किम् ? ॥ ४८२ ॥ मध्यमोऽप्यस्य यावत्
भ्रातर्युवोऽहमधुनाऽचिरात् । त्वदाज्ञाप्रतिकूलेन बालेनालमत परम् ॥ ४८३ ॥ अन्यच्च पृच्छयसे विप्र ! विमलो
कमलाकरः । असौ बालस्य वृत्तान्तस्तावेन बुबुधे न वा ? ॥ ४८४ ॥ मनीष्यमिदधे भद्र ! विवेकेन न केवलम् ।
अगाधबोधि किं सर्व समग्रैर्नागरैरपि ॥ ४८५ ॥ तथाहि मधुलोकानां तावद्विदित एव सः । अनङ्गागारवृत्ता
न्वस्तस्य विज्ञास्यते हि किम् ? ॥ ४८६ ॥ गमिष्यसि क रे ! दुष्टेत्यादि स्वाम्यपनेन ये । प्रवादास्तैः खेचरद्वतैर्वृत्ता
न्वस्तु प्रचारितः ॥ ४८७ ॥ श्रुत्वेति मध्यमो दध्यौ प्रच्छन्नमपि निर्मितम् । पाप गर्भ इव व्यक्त व्यक्तीभवति
कालतः ॥ ४८८ ॥ तदस्याच्छादनेच्छा मे मूढस्यत्यन्तता परम् । पटेन हि तिरोधातुं प्रभात केन शक्यते ॥ ४८९ ॥
व्याख्येत्युचे सोदर्यमार्य ! श्रुत्वा कथामिमाम् । त्वया तातेन मातृभ्यां पौरैश्चाचरितं किम् ? ॥ ४९० ॥
मनीषी भाषते साऽथ बाले निर्गुणधुर्यहि । माध्यस्थ्य क्लिश्यमाने च करुणा महती स्थापि ॥ ४९१ ॥ तारमन्या
स्तामतिर्दुष्टसंसर्गामामसुस्थिते । मयजन्तो च मे भद्र ! जाता श्रीविर्गुणाधिके ॥ ४९२ ॥ युग्मम् ॥ दिष्ट्या

१ विनष्टस्य क० ख० ग० । २ पुरन्धरे ।

बालस्य तज्जातं विलोमे[1] मयि यद्भवेत् । इति प्रमुदितोऽकार्षीदट्टहासं पिता पुनः ॥ ४९३ ॥ हा जात ! क गतो-
ऽसीति दैवन्माता[2] त्वामशोचत । नापायो मत्सुतस्याभूदिति मे मुमुदे प्रसूः[3] ॥ ४९४ ॥ बालापहारे पौराणां
प्रीतिर्स्त्वद्गमने[4] कृपा । बभूव पक्षपातश्च स्वस्थानावस्थिते मयि ॥ ४९५ ॥ निर्यातेन मयाऽज्ञायि शर्वर्यां[5] वीरच-
र्यया । तैस्तैः परस्परालापैः पौराणां चरितं त्विदम् ॥ ४९६ ॥ तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास मध्यधीर्जातशुद्धधीः ।
अहो ! पुंस्त्वे समानेऽपि नराणां महदन्तरम् ॥ ४९७ ॥ मनीषीव जनैरेके प्रशस्यन्ते यदुत्तमाः । आक्रुश्यन्तेतरां
शश्वदन्ये बाल इवाधमाः ॥ ४९८ ॥ अपरे त्वनुकम्प्यन्ते मादृशा मध्यमा जनाः । ममाप्युत्तमतां लातुं सांप्रतं
सांप्रतं ततः ॥ ४९९ ॥ तदर्थिना मयावश्यं त्यक्तव्या बालसङ्गतिः । नहि दुर्बुद्धिसंपर्कः शुभोदर्काय जायते
॥ ५०० ॥ मध्यधीरिति संचिन्त्य भाषते स्म मनीषिणम्[6] । त्यक्त एव मया भ्रातः ! सङ्गो बालस्य दुर्मतेः
॥ ५०१ ॥ भ्रात्रापि हि किमेतेन विविधानर्थहेतुना । कनकेनापि किं तेन कर्णच्छेदो भवेद् यतः ॥ ५०२ ॥
साधु साध्विति संभाष्य मध्यमापृच्छ्य चाथ तम् । जगाम स निजं धाम मनीषी विदुषां वरः ॥ ५०३ ॥
मध्यमोऽपि बहिर्नैव निर्याति त्रपया तया । ह्रीमतां ह्रीर्बहिश्चारे पदयोः शृङ्खला खलु ॥ ५०४ ॥ इतश्चाकुशल-
माला स्पर्शनेन सहैव हि । बालस्याङ्गाद्विनिर्गत्य सस्नेहं तमभाषत ॥ ५०५ ॥ साधु वत्स ! त्वयाऽलीकजल्पाको
लोकवञ्चकः । निराचक्रे मनीष्येष सत्यं नैन्वसि[7] मे सुतः ॥ ५०६ ॥ स्पर्शनोऽप्यब्रवीदम्ब ! युक्तमेतदमूदृशाम् ।

---

१ प्रतिकूले । २ सामान्यरूपा । ३ माता । ४ त्वदीयगमने । ५ रात्रौ । ६ णे० ख० । ७ तन्नासि ख० ।

एव च मयि मित्रप्रेमानुरागो दर्शितो भृशम् ॥ ५०७ ॥ त्रयाणामपि चेतानीं तुल्या नः सुखदुःखता । अमूर् ये स्वत्र विप्राः स्वस्त्वान् को वा गणयेद् बुधः ॥ ५०८ ॥ बालोऽब्रवीदथ भ्रातो वयमप्येतदेव हि । मनीषी किन्त्व सावेतन्न जानीते विचेतनः ॥ ५०९ ॥ स्पर्शनः प्राह किं तेन सातप्रत्यूहहेतुना । अहमस्मा च ते मित्र ! सुख संपत्तिपनम् ॥ ५१० ॥ एवमेवदिति प्रोक्ते बालकेनाथ तद्वपुः । तथैवाकृष्टलमासास्पर्शनो मेजतुः पुनः ॥ ५११ ॥ स्पर्शनव्यसनोद्भूतः कुमनोरथधूमवान् । स्मरदावानलोऽज्वालीदथ बालमनोवने ॥ ५१२ ॥ ततः प्रदोष एवोक्तः प्रदोषः पुनरप्यसौ । निर्जगाम रिरंसुस्तां देवीं मदनकन्दलीम् ॥ ५१३ ॥ तं निर्यान्तमपश्यच्च मध्यः किन्तु मनीषिणः । यतो विचिन्तयच्चित्ते नोचे किञ्चन चारुधीः ॥ ५१४ ॥ बालोऽथ पृथिवीनाथस्य नागमत् ययौ । लोकान्धकारबाहुल्यात् यामिकैरप्यलक्षितः ॥ ५१५ ॥ मणिप्रदीपपर्यङ्कवितानादिविराजितम् । विवेश सोऽथ तद्वासमन्दिरं विश्वसुन्दरम् ॥ ५१६ ॥ सा च श्वश्रूगृहासन्नप्रसाधनगृहे तदा । आत्मान मुपसन्त्पासीद् देवी मदनकन्दली ॥ ५१७ ॥ ततस्तच्छून्यमालोक्य वेश्मानालोकितायतिः । बालः पल्यङ्क मारोहत् कोमलस्पर्शलालसः ॥ ५१८ ॥ अथ यावत् क्षणीस्तत्र निधायोष्णीषकं पटीम् । सुखमानी लुठत्येष पल्य ङ्कान्तर्लुठापयत् ॥ ५१९ ॥ प्रदोषकर्म निर्माय कृतरक्षोऽङ्गरक्षकैः । तावन्नृपासन्नो वासमन्दिरद्वारमाययौ ॥ ५२० ॥ आगतं च तमालोक्य बालः सम्भ्रान्तमानसः । लुठन् पपात पर्यङ्कादुपलः पर्वतादिव ॥ ५२१ ॥ श्रुत्वाऽऽस्फोटरवं

१ गणयत्यपि स० । २ ०पवनोद्भूतः । ३ मदिवत् । ४ ०र्नृपमा० ग० ।

मध्यगतोऽथैक्षत तं तथा । नृपो व्यचिन्तयच्चायं कथमत्रागतो हतः ॥ ५२२ ॥ उच्छीर्षकपटालोकाद् ज्ञात्वा
शय्याधिरोहणम् । देवीलुब्धोऽसकावित्यकुप्यत् तं प्रति भूपतिः ॥ ५२३ ॥ ततो न्यस्यावटौ[1] पादं चालयित्वा भुजौ
बलात् । बबन्ध बालं भूपालस्तत्पटेनैव रोषणः ॥ ५२४ ॥ विभीषणाभिधानाय तर्दकायाथ तं नृपः । समाहू-
यार्पयामास साक्षेपं तमुवाच च ॥ ५२५ ॥ अरे ! कदर्थनीयोऽयं तथाशेषां निशीथिनीम् । अत्राहमस्य पापस्य
शृणोम्यारटनं यथा ॥ ५२६ ॥ ततः प्रमाणमादेश इत्युक्त्वा स बिभीषणः । बालमाकृष्य केशेषु निन्येऽभ्यर्णा-
ङ्गणावनौ ॥ ५२७ ॥ अयःस्तम्भे निबध्याथ वज्रकण्टकसंकटे । कशाघाततप्ततैलसेचनास्थिभिदादिभिः ॥५२८॥
कदर्थनाभिरत्यर्थमशेषामपि शर्वरीम् । रसन्तं वीरसं बालं तं ततर्द स निर्दयः ॥ ५२९ ॥ युग्मम् ॥ तदा-
क्रन्दरवात् प्रातः श्रवणाच्च परस्परम् । तत्रायातं पुरं सर्वं किमेतदिति कौतुकात् ॥ ५३० ॥ तैथास्थं[2] बालमा-
लोक्य लोकः सर्वो विरागवान् । कथमद्यापि पापोऽयं जीवतीत्याक्रुशद् भृशम् ॥ ५३१ ॥ तदाक्रोशाश्च
बालस्य क्षते क्षार इवाभवन् । बिभीषणोऽप्युपावृत्तं पौराणां पुरतोऽवदत् ॥ ५३२ ॥ ततोऽहो ! धृष्टतास्येति
विद्वेषं बालके भृशम् । प्रययुस्ते नृपं व्यज्ञपयच्चैको महत्तमः ॥ ५३३ ॥ अहितो देवपादानां दुष्टोऽसौ शिक्ष्यतां[3]
तथा । अन्यस्याप्यनये नैवं प्रवृत्तिर्जायते यथा ॥ ५३४ ॥ तस्य चास्ति नरेन्द्रस्य सुरेन्द्रस्येव गीष्पतिः ।
सुबुद्धिर्जिनसिद्धान्तशुद्धधीः सचिवोत्तमः ॥ ५३५ ॥ प्रसाद्यानन्यसाध्येन केनाप्यद्भुतकर्म्मणा । पार्थिवं प्रार्थ-

---

१ ग्रीवायाः पश्चाद्भागः । २ तत्रस्थं ग० । ३ शिष्यताम् क० ख० ग० घ० ।

यामास चतुरः स चरं पुरा ॥ ५३६ ॥ हिंसकर्मणि यत्र । नालोच्योऽहं कदाचन । देशो च स वरं तस्मै नृपति
कविनां वरः ॥ ५३७ ॥ ततश्चैनमनालोच्य सचिवं शुचिचेतसम् । आरक्षानादिदेशोग्रशासनोऽजनिशासन
॥५३८॥ अरे ! पुरे विडम्ब्यैष चतुष्के पुरुषाधमः । हन्यतां त्वरितं दुष्टा निग्राह्या हि महीभुजाम् ॥५३९॥ ते[1] च
रासभमारोप्य प्रख्याप्य च तथा तथा । लोकैराकृष्यमाणं च प्रमोदभरनिर्भरैः ॥ ५४० ॥ विस्तीर्णे नगरे तत्र
सकले सकलं दिनम् । चालकं भ्रमयामासुर्विकृत्या इव मानसम् ॥ ५४१ ॥ युग्मम् ॥ अथ ते नीतवन्तस्तं सन्ध्यायां
वध्यभूमिकाम् । उल्लम्ब्य वटशाखायां ययुः स्थानं जनान्विताः ॥ ५४२ ॥ कथञ्चिद्दैवयोगेनात्रुटद्[2] चालकस्य
पाशकः । पतितो भूतले मूर्च्छां गतो मृत इव स्थितः ॥५४३॥ गत्वा चेतनां कच्छ्रात् प्राप्य कूजन् शनैः शनैः ।
स निजं सदनं भूमिकम्पेन समाययौ ॥ ५४४ ॥ इतश्च मध्यधीचालकश्रान्त लोकवार्तया । प्रातरेव परिज्ञाय
चिन्तयामास चेतसा ॥ ५४५ ॥ पश्यताहो ! मनीष्युक्तचागिविधानाविधानयोः । प्रत्यक्षमिह लोकेऽपि लक्ष्यते
किंपदन्तरम् ॥ ५४६ ॥ यतस्तदुपदेशेन त्यक्तचालकसङ्गतेः । न क्लेशो नापदमाप् मम संप्रति पूर्ववत् ॥
॥ ५४७ ॥ चालस्त्वेवमन्यतस्तद्गीर्भिश्छिन्नीविभ्रमः कुधीः । अगाधे व्यसनाम्भोधौ निमज्जति पुनः पुनः ॥ ५४८ ॥
ततो मम किमप्यस्ति मन्ये भाग्यमभङ्गुरम् । येनाधुनापि संमग्ने गच्छिद्धामिमुखं मनः ॥ ५४९ ॥ एवं चिन्त

१ मयतो वं घ० । २ ०षा पु० क० ख० ग० घ० । ३ तेऽथ रा० क० ग० । ४ ०न्यद् क० ख० ग० ।
५ ०वर्पमिन ख० । ६ नीका ।

यतस्तस्याहोरात्र ताद्वलाङ्कितम्। प्रातर्गत्वामुना २८। बालः स्वं वृत्तमाख्यत ॥ ५५० ॥ शिक्षानर्हस्य
तस्याथ बालस्य परिदेवनम्। कृत्वा मनाग्बहिर्वृत्या स्वावासं मध्यमोऽगमत् ॥ ५५१ ॥ बालोऽपि चूर्णिताशेषदेहो
हतमनोरथः। महीपतिभयादुग्रान्निर्याति न बहिः क्वचित् ॥ ५५२ ॥ अन्यदा च पुरे तत्र प्रबोधनरतिर्गुरुः। निज-
विलसिताभिख्ये कानने समवासरत् ॥ ५५३ ॥ इतश्च स्पर्शनद्वेषिमनीषिहृतमानसः। जगाद भूपतिः कर्मविलासः
शुभसुन्दरीम् ॥ ५५४ ॥ वामोऽहं स्पर्शनावामे तद्वामे दक्षिणः पुनः। स्वरूपमेतन्मे देवि! तावत्ते विदितं
सदा ॥ ५५५ ॥ किञ्चोपकरणं वामाचरणे बालकप्रसूः। दक्षिणाचरणे त्वं तु वर्त्तसे देवि! मे सदा ॥ ५५६ ॥
ततः स्पर्शनरक्तस्य मया बालस्य दर्शितः। स्ववामताफललवस्तत्सवित्रीप्रयोगतः ॥ ५५७ ॥ स्पर्शनप्रतिकूलस्य
त्वत्पुत्रस्य मनीषिणः। निजानुकूलताव्युष्टिविशेषोऽद्यापि नो पुनः ॥ ५५८ ॥ साधुवादानपायादि जज्ञेऽस्य
यदिदं किल। अहमेव त्वयोपेतस्तत्र यद्यपि कारणम् ॥ ५५९ ॥ तथाप्येतावदेवास्य फलं न खलु युज्यते।
तस्याधिकफलप्राप्त्यै देवि! यत्नमतः कुरु ॥ ५६० ॥ शुभसुन्दर्यथोवाच चारु चारूदितं त्वया। देव! देवप्रसा-
दानां मनीषी योग्य एव यत् ॥ ५६१ ॥ देवादेशं करोम्येषाधुनैवेत्यभिधाय सा। योगशक्त्या विवेशाथ गत्वा
वर्ष्म मनीषिणः ॥ ५६२ ॥ तस्याथ जातहर्षस्य सुधासिक्ततनोरिव। निजविलसिते तत्र गमनेच्छा वनेऽभवत् ॥
॥ ५६३ ॥ गच्छामि कथमेकाकी तत्राहमिति चिन्तयन्। स गत्वा मध्यमायाथ निजाकूतमचीकथत् ॥ ५६४ ॥

१ प्रतिकूलः। २ स्पर्शनप्रतिकूले। ३ अनुकूलः। ४ व्युष्टि=फल।

देवः सामान्यरूपापि राज्ञादिष्टामयत् वपुः । मध्यमस्याथ पानेच्छास्याप्यभूत्तत्र कानने ॥ ५६५ ॥ सखायाप्यवश्यं गन्तव्यमिति मध्येन सख्यवा । वाखोऽचालि वशावेऽथ तद्युद्यान त्रयोऽप्ययुः ॥ ५६६ ॥ अथ नानाविधैस्तत्र क्रीडन्तस्ते कुतूहलैः । प्रमोदशेखरं नाम ददृशुर्जिनमन्दिरम् ॥ ५६७ ॥ वन्दारुजनतावारुम्य निमाकर्ण्य दूरतः । विविशुस्ते जिनावासं कौतुकोत्सुकचेतसः ॥ ५६८ ॥ अपश्यन्न तदन्तस्ते देवं नाभिसमुद्भवम् । प्रबोधनरतिं तं च मुनीन्द्रं संघसंयुतम् ॥ ५६९ ॥ मनीषी भाविमग्रस्तात् नत्वा विम्बं जिनेशितुः । सञ्चिन्त्य नतवान् सूरिं पृष्ठलग्नश्च मध्यमः ॥ ५७० ॥ धर्मलाभाशिषा तेन मुनीन्द्रेणाभिनन्दितौ । मुदितावथ तौ भूमौ यथास्थान निषेदतुः ॥ ५७१ ॥ मातृमित्रापवित्रस्तु बालः कस्यापि नानमत् । किन्तु प्राम्याकृतिं विभ्रचि पसादान्तिके तयोः ॥ ५७२ ॥ इतश्चोत्साहितस्तेन सचिवेन सबुद्धिना । इतो मदनकन्दस्याचन्द्रःपुरसमन्वितः ॥ ५७३ ॥ सपौरः सपरीवारस्तमाचार्य विवन्दिषुः । जगाम कानने तत्र शत्रुमर्दनभूपतिः ॥ ५७४ ॥ मुक्त्वाथ राजचिह्नानि प्रणम्य च जिनेश्वरम् । मुनिनाथ महीनाथस्तमवन्दत भक्तिभाक् ॥ ५७५ ॥ सबुद्धिरपि संप्रन्य देवं नत्वाभिजुस्य च । मुनीशं द्वादशावर्तवन्दनेनाभ्यवन्दत ॥ ५७६ ॥ लब्धाशीःषु निषण्णेषु यथास्थान जनेष्वथ । कीर्णकर्णसुधावर्षां विदधे देशनां गुरुः ॥ ५७७ ॥ तां श्रुत्वाह नृपो प्राप किं प्रमोऽत्र सुखार्थिभिः ? । गुरुः प्रोचे जिनप्रोक्तो धर्म्मः धर्म्मनिव धनम् ॥ ५७८ ॥ भूपतिः प्राह यद्येव कथमेते शरीरिणः । धर्म्मं सर्वे न कुर्वन्ति

१ इति खा० ता० । २ ०प्युः ग० । ३ मत्वा ग० । ४ ०नां ग्रा० ग० । ५ ०स्तोचे मु० स० ।

शर्म्मदं शर्म्मकाङ्क्षिणः ॥५७९॥ सूरिरूचे महाराज ! सुकरैव सुखस्पृहा । हृषीकविजितैर्जीवैर्धर्म्मः किन्त्वेष दुष्करः ॥ ५८० ॥ हृषीकाणि च राजेन्द्र ! पञ्चामूनि प्रचक्षते । स्पर्शनं रसना घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं तथैव च ॥ ५८१ ॥ इन्द्रोपेन्द्रादयो येऽमी वर्त्तन्ते भुवनेश्वराः । तेप्यमीषां हृषीकाणां सर्वे किङ्करतां गताः ॥ ५८२ ॥ एवं चाख्याय पञ्चार्थी बोधायाथ मनीषिणः । ज्ञानविज्ञाततद्वृत्तः सूरिरूचे विशेषतः ॥ ५८३ ॥ अथवा सन्तु शेषाणि हृषीकाणि जगज्जये । स्पर्शनेन्द्रियमेवैकं समर्थं बत वर्त्तते ॥ ५८४ ॥ अभ्यधादथ भूनाथः किमत्र भुवने क्वचित् । भगवंन्नस्य[1] जेतारः सन्ति केऽपि नरा न वा ? ॥ ५८५ ॥ सूरिराह महीनाथ ! न हि सन्ति न सर्वथा । तादृशा विरलाः किन्तु तत्राकर्णय कारणम् ॥ ५८६ ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमा गुणैः । चतुर्विधा भवन्तीह पुरुषा भुवनोदरे ॥ ५८७ ॥ तत्रानादिभवाभीष्टं यैरिदं स्पर्शनेन्द्रियम् । सदागमोपदेशेन ज्ञायते बहुदोषदम् ॥ ५८८ ॥ गृहस्थैरपि सत्त्वाढ्यैः सन्तोषस्य वशेन यैः । स्पर्शनेन्द्रियलौल्येन क्रियते न कुचेष्टितम् ॥ ५८९ ॥ जित्वा[2] च सर्वथापीदं कर्म्म निर्मूलयन्ति ये ॥ ५९० ॥ ये च निर्वृतिप्राप्त्यावसरमादाय दीक्षां च स्पर्शनेन्द्रियम् । मासाद्य लभन्ते शाश्वतं सुखम् । ते ह्युत्कृष्टतमा भूप ! निर्दिष्टाः शुद्धबुद्धिभिः ॥ ५९१ ॥ कलापकम् ॥ तदा दध्यौ मनीषीति यादृग्भगवतोदितम् । [3]स्पर्शनाक्षं स्पर्शनोऽसौ तादृग्मे प्रतिभासते ॥ ५९२ ॥ तन्नूनं पुरुषव्याजसंस्थितं स्पर्शनेन्द्रियम् । अस्मान्प्रतारयत्येतदन्यथेदृगसौ कथम् ? ॥ ५९३ ॥ तथा भगवतादिष्टा ये चोत्कृष्टतमा

---

१ ०र्षस्तस्य ग० । २ ०त्वाऽथ स० ग० । ३ स्पर्शनेन्द्रियम् ।

नराः। स्पर्शनाख्यानवो मन्ये भवजन्तुस्वभाविषः ॥५९४॥ यतः सोऽपि विशुद्धात्मा सदागमसमागमात्। जित्वा स्वं स्पर्शनं दुष्टं सन्तुष्टः प्राप निर्वृतिम् ॥ ५९५ ॥ मनीषिभिवरां मित्रे भावितस्त्वं विलोक्यसे। ततोऽत्र भवता किञ्चित् किं तत्समाचारितम् ? ॥५९६॥ इति पृष्टोऽथ मध्येन सदा लक्षितचेतसा। मनीषी कथयामास निजाकूतठेदातनम् ॥ ५९७ ॥ युग्मम् ॥ बालस्तु पापकर्मत्वाद् गुरोर्गिरि निरादरः। दिशो दशापीक्षमाणोऽद्राक्षीन्मदन-कन्दलीम् ॥ ५९८ ॥ तां च चन्द्रमुखीं दूरेः पिबन्ती वचनामृतम्। तस्य तास्तः समीपस्थां स दध्यौ मदनातुरः ॥५९९॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिरहो ! सौभाग्यमद्भुतम्। ततोऽनुरूप एवास्यास्तनुस्पर्शः स तादृशः ॥ ६०० ॥ इत्याधनस्पर्शसङ्कल्पनास्तस्य पाप्मनः। प्रवर्द्धन्ते सदा वार्द्धेरिव ग्रीष्मे महोर्मयः ॥ ६०१ ॥ भगवान् पुनरप्याह भूपोत्कृष्टतमा नराः। तावद्वेते मयाख्याता उत्कृष्टानधुना शृणु ॥ ६०२ ॥ बोधप्रभावतः कृत्वा मूलशुद्धिं यथा स्थिताम्। पञ्चके ये सजन्त्यत्र न जातु स्पर्शनेन्द्रिये ॥६०३॥ शरीरस्थितये किञ्चिदाचरन्तोऽपि तत्प्रियम्। ये च गृद्धेरभावेन भवन्ति सुखभाजनम् ॥६०४॥ गुणानुरागिणो दोषभीरुका लोकवल्लभाः। परोपकारनिरता कृतज्ञाश्च भवन्ति ये ॥ ६०५ ॥ देवतागुरुतत्त्वानि स्वधिया ये च जानते। उत्कृष्टास्ते नराः प्रोक्ताः कृतिभिः पृथिवीपते ! ॥ ६०६ ॥ कलापकम् ॥ अथ दध्यौ मनीषीति पारमार्थ्यापि सूरिभिः। उत्कृष्टचरितं तादृक् किञ्चिदात्मनि भाति मे ॥ ६०७ ॥ मध्योऽपि दध्यौ वाच्या गुरुणा वर्णिता गुणाः। उत्कृष्टानां घटन्तेऽत्र ते सर्वेऽपि महाप्रजे

१ तथा भवम्—धयावनम्। २ नृपो० स०। ३ तथाख्याता ता० क० स० प० ।

॥६०८॥ गुरुराह नरेन्द्रैवमुत्कृष्टाः कथिता नराः । मध्यमानां स्वरूपं यत्तदिदानीं निशम्यताम् ॥६०९॥ भोगानेके
प्रशंसन्ति प्रणिन्दन्ति पुनः परे । किं कर्त्तव्यमतोऽस्माभिरिति मुह्यन्ति ये किल ॥ ६१० ॥ कालक्षेपं विधायाथ
स्पर्शनाक्षे सुखैषिणः[1] । येऽनुकूला भवन्त्यत्र किन्तु नात्यन्तलम्पटाः ॥ ६११ ॥ बुधोपदेशं नादृष्टदुःखाः कुर्वन्ति
सर्वथा । यदा स्युर्दृष्टदुःखास्तु तदा ये च प्रकुर्वते ॥ ६१२ ॥ देवतागुरुतत्त्वानि बुधोक्ता[2] ये च जानते । तज्ज्ञै-
र्नरा नराधीश ! मध्यमास्ते प्रकीर्तिताः ॥ ६१३ ॥ कलापकम् ॥ दध्यौ मध्योऽथ मध्यानां सूरिणा ये गुणा-
गुणाः । गदितास्ते स्वसंवेद्या ममापि निजगोचरे ॥ ६१४ ॥ मनीष्यपि तदाध्यायदादिष्टं गुरुणा स्फुटम् ।
चरितं मध्यमानां यत्तन्मदीयेऽनुजे स्थितम् ॥ ६१५ ॥ सूरिरूचे समाख्याता मध्यमा मानवा इति । जघन्यनरस-
म्बन्धिस्वरूपमधुनोच्यते ॥ ६१६ ॥ तत्त्वतः शत्रुरूपेऽपि येऽमुष्मिन् स्पर्शनेन्द्रिये । बन्धुबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते मोहान्धी-
भूतबुद्धयः ॥ ६१७ ॥ कृत्याकृत्यविवेकाज्ञा निस्त्रपाः कुलदूषणाः । नानापायसमालीढाः कुशीला लोकगर्हिताः
॥ ६१८ ॥ देवतागुरुतत्त्वानां प्रत्यनीका दुराशयाः । भवन्ति ये च भूपाल ! जघन्यास्ते नराः स्मृताः ॥ ६१९ ॥
॥ विशेषकम् ॥ अथेति दध्यतुश्चित्ते मध्यबुद्धिमनीषिणौ । इदं सूरिवचः सर्वं बालेऽत्र घटते स्फुटम् ॥ ६२० ॥
सूरिराह तदेवं ते जघन्याः कथिता नराः । भूयांस एव भूमीश ! ते चात्र भुवनोदरे ॥ ६२१ ॥ शेषास्तु
गणिता एव सकलेऽपि जगत्त्रये । स्पर्शनेन्द्रियजेतारो नरेन्द्र ! विरलास्ततः ॥६२२॥ तथेति प्रतिपन्नेऽथ गुर्वादेशे

१ सुखेषिणः ग० । २ बुधोक्त्या ये ग० ।

महीपता। सुबुद्धिसचिवो वाचमूचाथ रचिताञ्जलिः ॥ ६२३ ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमा नराः। यथानुपूर्व्या व्याख्याता च एते भगवन्। किल ॥ ६२४ ॥ एवंविधस्वरूपास्ते प्रकृत्यैव भवन्ति किम्?। स्वरूपजनक कारण चास्ति किञ्चन? ॥ ६२५ ॥ भगवानाह मन्त्रीश! प्रकृत्या नेदृशा अमी। ईदृक्स्वरूपजनक कारण किन्तु विद्यते ॥ ६२६ ॥ तत्रोत्कृष्टतमास्तावत् ये नराः प्रतिपादिताः। उत्कृष्टेभ्यः कृतार्थत्वात् भिन्नास्ते न तु तत्त्वतः ॥६२७॥ यतस्त एव निःशेषं कर्म्म निर्मूल्य मूलतः। यदा निर्वृतिमायान्ति तदोत्कृष्टतमाः स्मृताः ॥ ६२८ ॥ तेषां च तत्र शुद्धानां स्वरूपेण व्यवस्थितेः। जनको जननी चापि विद्यते नैव कश्चन ॥ ६२९ ॥ जायन्ते कर्म्मवैचित्र्यादितरे संसृतौ पुनः। स एवैषामतः कर्म्मविलासो जनको मतः ॥ ६३० ॥ शुभाशुभससामान्यभेदात्कर्म्म च त्रिधा। सुन्दरी हि शुभत्वेन तत्र या कर्म्मपद्धति ॥ ६३१ ॥ पक्षा अकुशलमाला च या च सामान्यरूपिका। उत्तमाधममध्यानां जनन्यस्ता यथाक्रमम् ॥ ६३२ ॥ युग्मम् ॥ तथ्यौ मध्याधमावेतौ साम्यमेतैः सहोदितम्। न केवलं गुणैः किन्तु पितृभिश्चापि धारिणा ॥ ६३३ ॥ उत्कृष्टस्य पुनर्य्यं भवजन्तुषु निश्चितम्। पितरौ स्पर्शनेनोक्तौ यतस्तस्य न कश्चपि ॥ ६३४ ॥ जननीजनकौ परिवर्जितावेव नः पुनः। नियतं पूर्वनिर्णीतरूपा एव यथं ततः ॥ ६३५ ॥ मन्त्र्यूचे भगवन्नेषां नराणां रूपमीदृशम्। शुभमेव सदा यस्मात् परावर्तोऽपि संभवेत्? ॥ ६३६ ॥ मुनीन्द्रोऽभवदुत्कृष्टतमानां वीतकर्म्मणाम्। शुभमेव सदा रूपमन्येषां भद्र! नो पुनः ॥ ६३७ ॥ यतस्ते भद्रगाः कर्म्मविलासस्य सुनिश्चितम्। स स्वन्योन्य

परावर्त्तं करोत्येषां निजेच्छया ॥ ६३८ ॥ मनीष्यथ पुनर्दध्यावदोऽपि घटते स्फुटम् । यतो विषमशीलोऽयमस्माकं
जनको ध्रुवम् ॥ ६३९ ॥ यतो य एष बालस्य स्वसूनोरपि सर्वथा । व्यसनान्येवमाधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः
॥ ६४० ॥ सुबुद्धिः पुनरप्याह विशदीभवदाशयः । भगवन् ! कस्य माहात्म्यात् स्युरुत्कृष्टतमा नराः ?
॥ ६४१ ॥ सूरिरूचे न कस्याप्यन्यस्य किन्तु स्ववीर्यतः । तदवाप्तेरुपायस्तु भावदीक्षाऽऽर्हती मता ॥ ६४२ ॥
उत्कृष्टतमताहेतुर्दीक्षेयं युज्यते मम । एवं मनीषी चारित्रपरिणामं तदाऽभजत् ॥ ६४३ ॥ मन्त्र्यूचे नाथ !
योऽस्माभिर्गृहिधर्म्मो विधीयते । उत्कृष्टतमताहेतुः स सम्भवति वा नवा ॥ ६४४ ॥ स प्राहोत्कृष्टतमतां साक्षादेषा
जिनोदिता । प्रव्रज्या साधयत्युच्चैरयं तु व्यवधानतः ॥ ६४५ ॥ तत् श्रुत्वा चिन्तयामास मध्यबुद्धिर्विशुद्धधीः ।
युक्तो ममैषोऽनुष्ठातुं गृहिधर्मो जिनोदितः ॥ ६४६ ॥ इतश्च तत्तत्संकल्पकल्पनाकुलचेतसः । विस्मृतात्मस्वरूपस्य
बालस्याजनि शून्यता ॥ ६४७ ॥ भूताविष्ट इवाश्लेष्टुं दुष्टस्तां स नृपप्रियाम् । ततो विमुक्तमर्यादस्तत्संमुखमधावत
॥६४८॥ अकाले तुमुलोत्ताले जने जातेऽथ संभ्रमात् । तं क्ष्मेन्द्रः क्षुद्रमद्राक्षीद् दिक्षु चक्षुः क्षिपन् क्षणात् ॥६४९॥
प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय तदाकूतं दृगिङ्गितैः । उच्चैश्चकार हुङ्कारं नृपः कोपारुणेक्षणः ॥ ६५० ॥ बालकोऽथ समुद्भूत-
भीतिर्वीतस्मरज्वरः । आयातचेतनः पश्चात् नश्यन् दीनोऽपतद् भुवि ॥६५१॥ आविर्भूय स्पर्शनोऽपि निर्ययौ सूर्यव-
ग्रहात् । बालं प्रतीक्षमाणश्च तस्थौ दूरे पैराङ्मुखः ॥६५२॥ तेन बालचरित्रेण ह्रीणौ मध्यमनीषिणौ । महात्मानो

१ °दा क० ख० ग० घ० । २ आचार्यविग्रहात् । ३ पराङ्मुखम् क० ख० ग० ।

महीयसा । सुबुद्धिसचिवो वाचमुवाच रचिताञ्जलिः ॥ ६२३ ॥ अधन्यमध्यमोत्कृष्टास्तथोत्कृष्टतमा नराः ।
यथानुपूर्व्या व्याख्याता य एते भगवन् ! किल ॥ ६२४ ॥ एवंविधस्वरूपास्ते प्रकृत्यैव भवन्ति किम् ? ।
ईदृक्स्वरूपजनकं कारणं वास्ति किञ्चन ? ॥ ६२५ ॥ भगवानाह मन्त्रीश ! प्रकृत्या नेदृशा अमी । ईदृक्स्व
रूपजनकं कारणं किन्तु विद्यते ॥ ६२६ ॥ तत्रोत्कृष्टतमास्तावद् ये नराः प्रतिपादिताः । उत्कृष्टेभ्यः कृतार्थत्वाद्
भिन्नास्ते न तु तत्त्वतः ॥६२७॥ यतस्त एव निःशेषं कर्म्म निर्मूल्य मुक्तकाः । यदा निर्वृतिमश्नन्ति तदोत्कृष्टतमाः
स्मृताः ॥ ६२८ ॥ तेषां च तत्र मुक्तानां स्वरूपेण व्यवस्थिते । जनको जननी चापि विद्यते नैव कश्चन
॥ ६२९ ॥ जायन्ते कर्म्मवैचित्र्यादितरे संसृतौ पुनः । स एवैषामतः कर्म्मविलासो जनको मतः ॥ ६३० ॥
शुभाशुभसामान्यभेदात्कर्म्म च त्रिधा । सुन्दरी हि शुभत्वेन तत्र या कर्म्मपद्धतिः ॥ ६३१ ॥ परा
अकुशलमाला च या च सामान्यरूपिका । उपमाधममध्यानां जनन्यस्ता यथाक्रमम् ॥ ६३२ ॥ युग्मम् ॥
तथ्यो मध्याधमोऽस्माकं साम्यमेतैः सहोदितम् । न केवलं गुणैः किन्तु पितृभिश्चापि सदृशा ॥ ६३३ ॥
उत्कृष्टतम एवार्थं भवभन्तुम निश्चितम् । पितरौ स्पर्धनेनोक्तौ यतस्तस्य न कावपि ॥ ६३४ ॥ जननीजनकौ
परिकल्पिताविव नः पुनः । नियतं पूर्वनिर्मितरूपा एव वयं ततः ॥ ६३५ ॥ मन्यसे भगवन्नेषां नराणां
रूपमीदृशम् । शुभमेव सदा यद्वा परावर्त्तोऽपि संभवेत् ? ॥ ६३६ ॥ मुनीन्द्रोऽवदत्कृष्टतमानां वीतकर्म्मणाम् ।
शुभमेव सदा रूपमन्येषां भद्र ! नो पुनः ॥ ६३७ ॥ यतस्ते चञ्चगाः कर्म्मविलासस्य सुनिश्चितम् । स स्वन्योन्य

परावर्त्तं करोत्येषां निजेच्छया ॥ ६३८ ॥ मनीष्यथ पुनर्दध्यावदोऽपि घटते स्फुटम् । यतो विषमशीलोऽयमस्माकं जनको ध्रुवम् ॥ ६३९ ॥ यतो य एष बालस्य स्वसूनोरपि सर्वथा । व्यसनान्येवमाधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥ ६४० ॥ सुबुद्धिः पुनरप्याह विशदीभवदाशयः । भगवन्! कस्य माहात्म्यात् स्युरुत्कृष्टतमा नराः ? ॥ ६४१ ॥ सूरिरूचे न कस्याप्यन्यस्य किन्तु स्ववीर्यतः । तदवाप्तेरुपायस्तु भावदीक्षाऽर्हती मता ॥ ६४२ ॥ उत्कृष्टतमताहेतुर्दीक्षेयं युज्यते मम । एवं मनीषी चारित्रपरिणामं तदाऽभजत् ॥ ६४३ ॥ मन्त्र्यूचे नाथ! योऽस्माभिर्गृहिधर्म्मो विधीयते । उत्कृष्टतमताहेतुः स सम्भवति वा नवा ॥ ६४४ ॥ स प्राहोत्कृष्टतमतां साक्षादेषा जिनोदिता । प्रव्रज्या साधयत्युच्चैरयं तु व्यवधानतः ॥ ६४५ ॥ तत् श्रुत्वा चिन्तयामास मध्यबुद्धिर्विशुद्धधीः । युक्तो ममैषोऽनुष्ठातुं गृहिधर्मो जिनोदितः ॥ ६४६ ॥ इतश्च तत्तत्संकल्पकल्पनाकुलचेतसः । विस्मृतात्मस्वरूपस्य बालस्याजनि शून्यता ॥ ६४७ ॥ भूताविष्ट इवाश्लेष्टुं दुष्टस्तां स नृपप्रियाम् । ततो विमुक्तमर्यादस्तत्संमुखमधावत ॥६४८॥ अकाले तुमुलोत्ताले जने जातेऽथ संभ्रमात् । तं क्ष्मेन्द्रः क्षुद्रमद्राक्षीद् दिक्षु चक्षुः क्षिपन् क्षणात् ॥६४९॥ प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय तदाकूतं दृगिङ्गितैः । उच्चैश्चकार हुङ्कारं नृपः कोपारुणेक्षणः ॥ ६५० ॥ बालकोऽथ समुद्भूतभीतिर्वीतस्मरज्वरः । आयातचेतनः पश्चात् नश्यन् दीनोऽपतद् भुवि ॥६५१॥ आविर्भूय स्पर्शनोऽपि निर्ययौ सूर्यवप्रहात्[2] । बालं प्रतीक्षमाणश्च तस्थौ दूरे पैराङ्मुखः[3] ॥६५२॥ तेन बालचरित्रेण ह्रीणौ मध्यमनीषिणौ । महात्मानो

---

१ °दा क० ख० ग० घ० । २ आचार्यवप्रहात् । ३ पराङ्मुखम् क० ख० ग० ।

हि लेक्षन्ते परस्यापि कुचेष्टितैः ॥ ६५३ ॥ ततः कोऽस्य वराकस्योपरि कोपो विधीयते । विचिन्त्येति नृपः
शान्तीभूतः सूरिमदोऽवदत् ॥ ६५४ ॥ अभक्ष्यमशक्यमविचार्यमलौकिकम् । भगवन्नस्य पापस्य पुंसः किमपि
चेष्टितम् ॥ ६५५ ॥ चानन्त्येवाथवा पूज्या विमलज्ञानशालिनः । यदनेन पुराऽकारि प्रकृत्य यच्च संप्रति ॥६५६॥
पूर्वक चरित चास्य संभाव्येतापि कर्हिचित् । प्रत्यक्षमप्यश्रद्धेयं सर्वथा त्वधुनातनम् ॥ ६५७ ॥ रागादिध्वान्त-
तिग्मांशो त्वयि सन्निहिते यतः । ईदृशोऽध्यवसायोऽतिक्षुद्राणामपि किं भवेत् ? ॥ ६५८ ॥ सूरिराह महाराज !
न कर्त्तव्योऽत्र विस्मयः । यतोऽमुष्य वराकस्य दोषो नैव मनागपि ॥ ६५९ ॥ विप्रहावस्य निर्गत्य निर्गतो मद
यत्प्रसादात् । योऽयं सर्वसमाप्त्यर्थं दोषस्तस्यैव केवलम् ॥ ६६० ॥ स्पर्शनाख्य मयाऽऽस्यापि यदिदानीं सुदुर्जयम् ।
भूप ! तद्रूप प्रभाव स्पर्शनः प्रतिपद्यताम् ॥६६१॥ ततो नास्त्येव दुष्कर्म तल्लोके सकलेऽपि हि । कुर्वन्ति यन्न तो
नैव यदस्य वशवर्तिनः ॥ ६६२ ॥ अथ चाक्षलमालाबनन्याविष्टविग्रहः । स्पर्शन शत्रुभप्येन मन्यते मित्र
मुत्तमम् ॥ ६६३ ॥ किञ्च देहभृतां सोपक्रमं च निरुपक्रमम् । कर्म्म द्विविधमुर्वीश ! वर्णितं सर्ववेदिभिः ॥६६४॥
तत्र सोपक्रम साधुसन्निधानादिहेतुभिः । क्षयक्षयोपशमोपशममार्यं प्रपद्यते ॥ ६६५ ॥ सन्निधाने जिनस्यापि
न पुनर्निरुपक्रमम् । ध्वान्तविध्वंसनेऽन्धस्य न भास्वानपि हि क्षमः ॥ ६६६ ॥ अपन्यनररूपस्य निरुपक्रम
कर्म्मणः । अस्य दुश्चरितैर्भूप ! कार्यस्तस्मान्न विस्मयः ॥ ६६७ ॥ मन्युयाचेवमेवेद किन्तु वेधोऽधुना प्रभो ! ।

१ कम्पन्ते क० स० प० । २ ध्याम्य वि० क० प० ।

युष्मत्प्रसादेनेदक्षान् विचारानवभोत्स्यते ॥ ६६८ ॥ तं प्रशस्य महामात्यमथावसरभाषिणम् । बालोदर्के मही-
नाथः पप्रच्छ स्वच्छधीर्गुरुम् ॥ ६६९ ॥ गुरुरूचे महाराज ! गतेषु भवदादिषु । लब्धसंज्ञममुं बालं स्पर्शनोऽसौ
श्रयिष्यति ॥ ६७० ॥ त्वद्भयादथ बालोऽयमत्र स्थातुमशक्नुवन् । अटव्यादिष्वटन् गन्ता कोल्लाके सन्निवेशने
॥ ६७१ ॥ तत्र कर्म्मपुरकाख्यग्रामासन्नं सरोवरम् । श्रमोदन्यार्दितश्चायं मज्जनाय समेष्यति ॥ ६७२ ॥
इतश्च तत्र मातङ्गमिथुनं किञ्चिदेष्यति । हनिष्यति च मातङ्गस्तीरद्रुमपतत्रिणः ॥ ६७३ ॥ विजनत्वात् तु
मातङ्गी सरः स्नानाय वेक्ष्यति । सैन्द्रक्ष्यति तदा चैनं तीरदेशमुपागतम् ॥ ६७४ ॥ अथ सा स्पृश्यपुंसोऽस्मा-
त्सरोवतरणागसा । भीता निमज्य संस्थाता पद्मपत्रतिरोहिता ॥ ६७५ ॥ सरोऽवतीर्य तत्पार्श्वं गतोऽनाभोगतस्ततः ।
असावपि हि चण्डालीशरीराश्लेषमाप्स्यति ॥ ६७६ ॥ तस्यां जाताभिलापस्यामुष्य सा श्वपची ततः ।
कथयिष्यति पृथ्वीश ! चण्डालस्त्रीत्वमात्मनः ॥ ६७७ ॥ तथाप्येष बलात्पापस्तदाश्लेषं विधास्यति । मा तु
हाहारवं कर्त्ता(०र्त्री) संभ्रमभ्रान्तमानसा ॥ ६७८ ॥ समेष्यति तमाकर्ण्य संभ्रान्तस्तत्पतिर्जवात् । प्रज्वलिष्यति
कोपेन दृष्ट्वा चैनं तथास्थितम् ॥ ६७९ ॥ आकर्णाकृष्टकोदण्डः कम्पमानममुं ततः । स हन्तैकेन बाणेन कुरङ्ग-
मिव लुब्धकः ॥ ६८० ॥ मृत्वाथ नरके घोरे गन्तोद्धृत्तस्ततोऽप्यसौ । अनन्तकालं भूपाल ! भ्रमिष्यति भवोदधौ

१ श्रमोदन्याभिभूतोऽयम् क० ख० ग० घ० । २ उदन्या=तृषा । ३ सा द्रक्ष्यते तदा क० ख०ग० ।
४ चाण्डाली ।

॥ ६८१ ॥ रागोपेक्ष्य कलमालास्पर्शनौ नाथ ! दारुणौ । पक्षपातेनास्य संपन्नमिव संपत्स्यते तथा ॥ ६८२ ॥
न रूपेक्ष्य कलमालास्पर्शनौ ममवमिमौ । एकस्यास्यैव पुंसः किमुतान्येषामपि प्रभु ! ॥ ६८३ ॥ सूरिराह
महामात्य ! सर्वेषां भववासिनाम् । समर्थौ योगिनावेतौ मुख्यकारणं केवलम् ॥ ६८४ ॥ आविर्भावतिरोभावरूपा
स्थानविक्षेपतः । योगिनां च भवस्येव शक्तिर्विस्मयकारिणी ॥६८५॥ रागोपे ममवन्नेतौ किमस्माकमपि प्रभु ! ।
धरिमा वाक्‌मित्युक्ते नृपः सचिवमभ्यधात् ॥ ६८६ ॥ इद ममवता शावकादिष्टमधुना सखे ! । स्पर्शनाकुलमाले
चद् सहानेन यास्यतः ॥ ६८७ ॥ ततः पश्चाचमाकार्यं पर्यैते न रिपू पुनः । येषु मे विगतो येन सस्यः स्यां
शत्रुमर्दनः ॥ ६८८ ॥ दृष्टस्यादय भूयोऽपि पर्यैते विश्वतस्तदा । निष्पीड्ये लोहयन्त्रेण हित्वार्येष कृपालुताम्
॥ ६८९ ॥ मुक्त यद्यपि नो वक्तुमिव ममपतोऽन्तिके । तथापि रागधर्मोऽयमित्यादिष्टमिदं तव ॥ ६९० ॥
म श्री दृष्यापहो ! वेषस्यानयोरुपरि क्रुधा । हिंसाकर्मानियोग यद्यमपि व्यसमरद् वरम् ॥ ६९१ ॥ भवत्वेव
तथापीद गुरवो बोधकारणम् । कल्पयिष्यन्ति मे त्वाज्ञाप्रतिपत्तिः परं वरा ॥ ६९२ ॥ व्यास्येति स नृपादश
तथेति प्रतिपन्नवान् । धरित्र्ये च भूमीश विक्षेपाद् योषोत्सवे ॥ ६९३ ॥ एवमाज्ञापनेनालमनयोरन्तरज्ञयोः ।
भयमुन्मूलनोपायो न यत सरलाशय ! ॥ ६९४ ॥ किन्त्वहिंसासमीचीनास्तेयाद्यैः साधनैर्धवम् । अन्तरङ्गद्विषां
कालयवनोदरतोऽरम् ॥ ६९५ ॥ महासत्त्वमनेर्विषमप्रमादास्यमेतयोः । अन्तरङ्ग लोहयन्त्र समूलोन्मूलनक्षमम्

१ कोपः । २ •सत्त्वाभीर्वाणी ।

॥ ६९६ ॥ युग्मम् ॥ एतन्निष्पीडनाकाङ्क्षा ततो यद्यस्ति ते नृप ! । स्ववीर्ययष्ट्याऽवष्टभ्य तद्यन्त्रं वाह्यतां स्वयम्
॥ ६९७ ॥ तदा च भगवद्वाणीवात्यया ववृधेऽधिकम् । कर्म्मद्रुदाही चारित्रभाववह्निर्मनीषिणः ॥ ६९८ ॥ मना-
कृसंजातसंदेहः प्रत्युवाच गुरुं स च । प्रभो ! भागवती दीक्षा या पूर्वं प्रतिपादिता ॥ ६९९ ॥ यदप्रमादयन्त्रं च
संप्रति प्रतिपाद्यते । अन्योन्यमनयोः कोऽपि विशेषो विद्यते न वा ? ॥७००॥ युग्मम् ॥ शब्दभेदाद्विशेषोऽन्यो
नास्तीति गुरुणोदिते । मनीष्यथ पुनर्वाचमुवाच विनयाञ्चिताम् ॥७०१॥ तर्हि प्रसीद मे नाथ ! संसारोरगजाङ्गु-
लीम् । तूर्णं भागवतीं दीक्षां देहि यद्यस्ति योग्यता ॥७०२॥ सूरिराह भृशं योग्योऽसीति सुष्ठु प्रदीयते । अथोवाच
नृपः कोऽयं भगवन् ! सात्त्विकाग्रणीः ? ॥७०३॥ मादृशै रणनिर्व्यूढसाहसैरपि दुर्वहा । दीक्षाधूरभ्युपगता धुर्यप्रेङ्खेन
लीलया ॥ ७०४ ॥ भगवानप्युवाचैवं विशामीश ! निशम्यताम् । राजा कर्म्मविलासोऽस्ति भोक्तास्य नगरस्य ते
॥७०५॥ तस्याग्रमहिषीशुभसुन्दरीकुक्षिसंभवः । सूनुर्मनीषिनामायं गुणरत्नैकरोहणः ॥ ७०६ ॥ तस्यैवाकुशलमा-
लाकुक्षिजो बाल एष च । तथा सामान्यरूपाभूर्मध्योऽभ्यर्णे मनीषिणः ॥ ७०७ ॥ राज्ञाथ विस्मितेनोचे भोक्ता-
मुष्य पुरस्य किम् । कर्म्मविलासो नृपतिर्न पुनर्भगवन्नहम् ? ॥ ७०८ ॥ सूरिराह महाराज ! स एवात्र ध्रुवं प्रभुः ।
यतस्तदाज्ञां कुर्वन्ति पौराः सर्वेऽपि विभ्यतः ॥ ७०९ ॥ स्वेच्छया राज्यमादातुं दातुं वा जगतीपतिः । तवापि
स प्रभुः स्थामविनिर्जितजगत्त्रयः ॥ ७१० ॥ यद्येवं भगवन्नेष कस्मान्नेहोपलभ्यते ? । इति क्षितीश्वरेणोक्ते जगाद

१ ०याश्रितः ख० । २ ०वद् येन ता० ग० । ३ एव च ता० ग० ।

गणभृत्पुनः ॥७११॥ राजन् ! कर्म्मविलासोऽयमन्तरङ्गो नरेश्वरः । नान्तरङ्गा हि लोकाः स्युर्दृश्याः पथि भवादृशाम् ॥७१२॥ केवलं गुप्तरूपेण सर्वकार्याणि कुर्वतः । पश्यन्ति बुद्धिदृष्ट्यैव ज्ञानस्वच्छतबुद्धयः ॥७१३॥ अथ विज्ञातवत्त्वेन प्रोचे राजा शुभ्रबुद्धिना । देव ! ज्ञातो मयाप्येष राजा योऽभाणि सूरिभिः ॥ ७१४ ॥ देवाय कथयिष्यामि रूपमस्य परिस्फुटम् । अहमेव मदन्तेस्तु सर्वमत्र निवेदितम् ॥ ७१५ ॥ इत्थमावसरं ज्ञात्वा पूर्वं संज्ञावबुद्धिना । तेनानतशिरस्केन प्रोक्तं मध्यमबुद्धिना ॥ ७१६ ॥ योऽयं भगवतादिष्टो भवतानवकारणम् । गृहिधर्म्मः स मे नाथ ! दीयतामुचितो यदि ॥ ७१७ ॥ सर्वसंयमदीक्षां नादातुं शक्नुवन्ति ये । तेषां गृहस्थधर्म्मोऽसौ युक्त एव भवादृशाम् ॥ ७१८ ॥ प्रभो ! गृहस्थधर्म्मोऽसौ किंरूप इति भूभुजा । पृष्टः सम्यक्त्वमूलानि व्रतानीत्यवदद् गुरुः ॥७१९॥ ततस्तं धर्म्ममादित्सुर्गुरुं राजा व्यजिज्ञपत् । दीयतां भगवन्नेष गृहिधर्म्मो ममापि हि ॥७२०॥ योग्ययोरथ भूनाथमध्ययोः प्रददौ तयोः । कर्म्मजाड्यच्छिदाधर्म्मं गृहिधर्म्मं मुनीश्वरः ॥ ७२१ ॥ मनीषिदीक्षादानार्थमुद्यतेऽथ मुनीश्वरे । तमभाषत भूभर्ता भक्तिनिर्भरया गिरा ॥ ७२२ ॥ स्वामिन् ! मनीषिणानेन प्रव्रज्याऽद्यैव मार्गितः । किन्तु स्वतोषसत्कं चिकीर्षेऽस्य त्वदाज्ञया ॥ ७२३ ॥ तूष्णीकेऽथ स्थिते सूरौ भूपतिं सचिवोऽभ्यधात् । प्रभ्यस्तुतिविधौ देव ! प्रभवन्ते नैव साधवः ॥ ७२४ ॥ यद्यप्येते तद्विषयोपदेशं ददतेऽन्यदा । प्रस्तावसमये लोकानादिशन्ति तथापि न ॥ ७२५ ॥ किन्त्वेतां विदितामेते प्रशंसन्त्येव ते नृपम् । अस्मिन्नर्थे मनीष्येव स्वयमेवोद्यते ततः ॥७२६॥ मनीषी राजमन्त्रिभ्यामर्थेऽस्मिन्नर्पितस्ततः । तद्वचस्तेन मेने च प्रार्थना

मङ्गभीरुणा ॥ ७२७ ॥ अथ भूभर्तुरादेशान्नियोगिपुरुषाः क्षणात् । पुरं देवगृहं तच्च चक्रिरे विततोत्सवम् ॥७२८॥
मनीषिमध्यमामात्यप्रमुखैः परिवारितः । उत्तस्थौ नरनाथोऽपि स्नात्रं कर्त्तुं जगत्पतेः ॥ ७२९ ॥ महताथ
विमर्द्देन विदधे वसुधाधवः । स्नात्रं युगादिदेवस्य पुरस्कृत्य मनीषिणम् ॥ ७३० ॥ मनीषिसत्त्वसंतुष्टास्तदा तत्र
सुरा अपि । समागत्य जिनेन्द्रस्य पूजां पुष्पोच्चयैर्व्यधुः ॥ ७३१ ॥ विलिप्य पूजयित्वा च कृत्वा चारात्रिकं प्रभोः ।
मनीषिनृपमुख्यास्ते भक्त्या साधून् ववन्दिरे ॥ ७३२ ॥ स्वगेहनयनायाथ समारोप्य जयद्विपे । मनीषिणं नृपो
जज्ञे छत्रभृद् श्रद्धया स्वयम् ॥ ७३३ ॥ जनन्या शुभसुन्दर्योल्लासवत्याथ संश्रितः । करेणुकाधिरूढेन युतो
मध्यमबुद्धिना ॥७३४॥ सुबुद्धिप्रमुखै राजलोकैः पौरैश्च नन्दितः । प्रापदापणमार्ग्गेण मनीषी नृपमन्दिरम् ॥७३५॥
युग्मम् ॥ तत्र स क्षणमाऽऽस्थानं दत्त्वा लोकान् विसृज्य च । जगाम मज्जनस्थानं भूपतेस्तोषवृद्धये ॥ ७३६ ॥
भ्रातुः सूनुमिवैतं च देवी मदनकन्दली । सर्वशुद्धान्तसंयुक्ता स्नपयामास गौरवात् ॥ ७३७ ॥ वाससी सूक्ष्म-
शुक्ले च परिधाय विधाय च । जिनार्चां भोजनस्थानं जगाम स गतस्मयः ॥७३८॥ तत्रानेकविधाहारं रसनाविहि-
तोत्सवम् । बुभुजे भूभुजा साकं निरभिष्वङ्गमानसः ॥ ७३९ ॥ ततस्ताम्बूलमादाय विश्रम्य शयने क्षणम् । राजा-
मात्यादियुक्तोऽसौ दत्त्वाऽऽस्थानीमुपाविशत् ॥ ७४० ॥ राजा सुबुद्धिमूचेऽथ सखे ! त्वदनुभावजा । सिद्धिसौ-
धैकनिःश्रेणिः श्रेयःश्रेणिरसौ मम ॥ ७४१ ॥ यतो देवं गुरुं धर्म्मं प्राप्यं प्रोत्साहितस्त्वया । बभूव चेदृशा सार्द्धं

१ ०संस्थानं क० ख० ग० घ० । २ सभाम् ।

नररत्नेन मीलकः ॥ ७४२ ॥ त्वमेवंविधकस्याऽहेतुरस्य मेऽभवः सखे !। त्वमेव हितकारी तवभार्या ते सुबु-
द्धिवा ॥ ७४३ ॥ प्रस्तुताय महामात्यः पविलेखस्य मे प्रभो !। परभाग नहीत्वमारोपयितुमर्हसि ॥ ७४४ ॥
भाग्यसंपत् तवैवासौ सर्वकल्याणकारिणी। पुंसां परोपरोधेन न स्युः श्रेयांसि जातुचित् ॥ ७४५ ॥ मनीष्युवाच हे
राजन् ! हर्षो दर्शनजो यसौ । प्रभामासनिभो भाविकैवल्यानन्दभास्वतः ॥७४६॥ आमेत्युदित्वा भूपालः सचिवं
पुनरभ्यधात् । अभ्यर्थनिगुरूणां विवेच्ये वीक्ष्यतां सखे ! ॥ ७४७ ॥ मन्त्र्युवाचात्र किं चित्रं ? यथार्थो हि मनी
षिणः । प्रयुक्ता एव जायन्ते हेतुमात्रं गुरुः पुनः ॥ ७४८ ॥ इतश्च नृपमापृच्छ्य पूर्वमेव निजे गृहे । मध्यः साध
र्म्मिकस्नेहाभीत आसीत्सुबुद्धिना ॥७४९॥ तदा सोऽभ्याययौ तत्र विहितस्नानभोजनः । मनीषिणा दापिते चोप
विष्टो गुरुविष्टरे ॥ ७५० ॥ राजाथ मध्यमुद्दिश्य समभाषत मन्त्रिणम् । महोपकर्त्ता सत्त्वेष महाभागः सखे !
मम ॥ ७५१ ॥ यतोऽप्रमादात्कपन्त्र दुष्करं गुरुणा यदा । प्रोषेऽभूदाकृत्त्वं मे भीरोरिव तदाहवे ॥ ७५२ ॥
ततोऽनेन यदा धर्मो यथास्ते गृहमेधिनाम् । स निवृत्तोर्ममाप्युत्वेधिवस्मास्म्यमभूत् तदा ॥ ७५३ ॥ तदिस्थ स्वा-
स्थ्यदानेन ममायमुपकारकः । अमात्यः प्राह देवेन साध्वेवदवधारितम् ॥ ७५४ ॥ यतः स्याद् धर्म्मसंप्राप्तौ
हेतुमात्रमपीह यः । संसारे नापरस्तस्माज्जन्तोरस्त्युपकारकः ॥७५५॥ किञ्च सान्त्वनाभार्यं तवस्तुल्यस्वभावतः ।
मध्यमाभासनं नून मध्यमस्यास्य युज्यते ॥ ७५६ ॥ राजा वध्याधिपस्थलं भिक्ष्यामानो यसौ मम । बभूव

१ मेऽभवः क० स० ग० । २ नविनीरयम् । ३ ०ति क० स० प० ।

किल भूपत्वाद् यदहं पुरुषोत्तमः ॥ ७५७ ॥ अर्थापत्त्या त्वमात्येन साम्प्रतं गणितः पुनः । मध्यमजनलेख्येऽहं धिग् मां मिथ्याभिमानिनम् ॥ ७५८ ॥ मनीषिणमपेक्ष्यैनं त्यजद्भिर्बालचेष्टितम् । यद्वा मध्यमरेखापि मादृशां रतिदुर्लभा ॥ ७५९ ॥ ध्यात्वेति मन्त्रिणं राजाऽवादीदार्य ! कुतो मम । तत्र चैत्ये गतस्याभूदानन्दो वचनातिगः ॥ ७६० ॥ कथं च तस्य बालस्याध्यवसायस्तथाविधः । संपन्नः साधुलोकेऽपि तादृशे निकटस्थिते ॥७६१॥ अमात्योऽभिदधे देव ! तच्चैत्यं सान्वयाभिधम् । प्रमोदशेखरं येन प्रमोदस्तेन तेऽभवत् ॥७६२। बालदुष्टाभिसन्धेस्तु सूरिरेवाह कारणम् । किञ्च बालस्य नामैव हन्त्यमुं संशयं स्वयम् ॥७६३॥ किञ्च द्रव्यक्षेत्रकालभवभावाद्यपेक्षया । शुभाशुभपरिणामाः सत्त्वानां स्युरनेकधा ॥७६४॥ ततो बालस्य दोषोऽयमुद्यानक्षेत्रतोऽप्यभूत् । नृपोऽवोचत्कथं तर्हि तद्दोषायाभवन्न नः ॥७६५॥ सुबुद्धिः प्राह संप्राप्य सामग्रीं पुरुषादिकाम् । निजविलसिताख्यं तत् चित्रकार्यकरं वनम् ॥ ७६६ ॥ अत एव प्रभो ! तां तां सामग्रीं प्राप्य तद्वनम् । चक्रे बालास्मदादीनां स्वं स्वं भावं पृथक् पृथक् ॥७६७॥ नृपोऽवोचत् त्वयायं मेऽपनीतः संशयः सखे ! । पूर्वोद्दिष्टं कर्म्मविलासरूपं कथयाधुना ॥७६८॥ मन्त्र्यूचे देव ! यद्येवमेकान्ते स्थीयतां ततः । ततो मनीष्यनुज्ञातो तौ कक्षान्तरमीयतुः ॥७६९॥ जगाद मन्त्री ये देव ! सूरिणा वर्णिता नराः । उत्कृष्टतमा उत्कृष्टा मध्यमाश्च जघन्यकाः ॥७७०॥ तन्मध्ये प्रथमे ज्ञेयाः सिद्धाः कर्म्ममलोज्झिताः । मनीषिमध्यबालाख्याः शेषास्त्वेते यथाक्रमम् ॥ ७७१ ॥ उक्तः कर्म्मविलासो

१ यद्यहं क० ग० । २ मध्यमजनताऽपि । ३ नृपोऽवोचे त्वया क० ख० ग० घ० ।

यः स एषामेव तु प्रमो ।। ईदृक्स्वरूपजनकः स्वस्वकर्मोदयो मतः ॥ ७७२ ॥ शुभसुन्दरीसामान्यरूपाऽकुशलमा
लिका । अमीषां मावरो देव ! याः सूरिभिरुदाहृताः ॥७७३॥ सिसोऽस्य परिणतयः स्वस्वकर्मोदयस्य ताः । शुभ
मिभाशुभरूपाः पविज्ञेया यथाक्रमम् ॥ ७७४ ॥ प्रभूतमत्यस्ता एवैतानेकविधरूपिणः । आख्याताः स्पर्शनो यस्तु
तत् दुष्टं स्पर्शनेन्द्रियम् ॥७७५॥ तच्छ्रुत्वा भूपतिर्दध्यावन्यव्याजेन सूरिभिः । सान्वयाद्वैरिदं सर्वं प्रोक्तमासीत्पुरो
मम ॥ ७७६ ॥ केवलं न मया सम्यक् परिज्ञातं तदा हृदि । सुबुद्धिर्ज्ञातवान् यत्नु साधुसङ्गोऽत्र कारणम् ॥७७७॥
व्याख्येस्यभिदधे राजास्माभिः संप्रत्यय सखे ! । वृत्तान्तो विदितः सम्यक् किन्त्वेतदधुनोच्यते ॥ ७७८ ॥ कालं
कियन्तमप्येष मनीषी चेत् प्रतीक्षते । वयमप्यमुना सार्धमेषाऽध्वस्तदा मतम् ॥ ७७९ ॥ क्षणमप्यासितु शक्ता
यथास्य विरहे वयम् । तादृग् नाद्यापि चारित्रवासना जायते च नः ॥ ७८० ॥ तत्तया कथमप्यार्य ! प्रलोभय
मनीषिणम् । यथा विषयभागेषु कि(क०)ञ्चित्कालं विलम्ब्यते ॥७८१॥ मन्मुखाच्च प्रमोराज्ञा प्रमाण सर्वथा मम ।
तथापि किञ्चित्स्वार्थे देव विज्ञापयाम्यहम् ॥ ७८२ ॥ देवेनोक्तं यच सोढुं यथास्य विरहं क्षमाः । तद्युक्तं पक्षपातो
हि गुणे(०णि)षु सुकृतात्मनः ॥ ७८३ ॥ यत्पुनर्लोभयित्वैनं कश्चित् कालं प्रतीक्षय । इत्यादिष्टं न तद्देव ! युक्तं मे
प्रतिभासते ॥ ७८४ ॥ यतः स्नेहो भवत्येवं प्रमन्यारम्भकर्षणात् । अस्मिन् प्रस्तुत वैरिस्व निर्विपासो मयाघ्रात्
॥ ७८५ ॥ न चैष विपर्ययैर्देव ! देविकैरपि लोभ्यते । हित्वा मोहं ततः कार्यः कार्येऽस्य प्रगुणादरः ॥ ७८६ ॥

---

१ यस्तु सा० क० ख० ग० घ० । २ किञ्चित् ग० ।

आमेत्युक्त्वाथ पप्रच्छ सत्वर व्रतवासरम् । सांवत्सरं समाहूय सिद्धार्थं नाम पार्थिवः ॥ ७८७ ॥ दिनादस्माद्दिनं
साधु नवमं देव ! विद्यते । इत्युक्तवन्तं भूपालस्तं सत्कृत्य विसृष्टवान् ॥७८८॥ गते तत्र दिने राजाऽकारयद्दिवसा-
ष्टकम् । पूजां समस्तचैत्येषु महोत्सवपुरःसरम् ॥ ७८९ ॥ तेषु च द्विरदारूढो मनीषी जिनवन्दनाम् । समेतः
क्षितिशक्रेण चक्रे शक्र इवान्वहम् ॥ ७९० ॥ अष्टमे च दिने प्राप्ते कृतसर्वोचितक्रियः । विहितोदारनेपथ्यः प्रधानं
रथमास्थितः ॥ ७९१ ॥ सारथीभूतभूपालो वारस्त्रीधृतचामरः । धृतश्वेतमहाच्छत्रो वन्दिवृन्दकृतस्तुतिः ॥७९२॥
रथारूढैर्मध्यबुद्धिसुबुद्ध्यादिभिरावृतः । कुर्वन् पौरदृगानन्दमर्थिसार्थं कृतार्थयन् ॥ ७९३ ॥ चतुरङ्गचमूपेतः प्रेक्ष्य-
माणः सुरैरपि । मनीषी व्रतमादातुं तदुद्यानमथागमत् ॥ ७९४ ॥ कलापकम् ॥ इतश्च स्यन्दनारोहादार-
भ्यालोकयन्नृपः । रूपं मनीषिणः सत्त्वपरीक्षार्थं विशेषतः ॥ ७९५ ॥ परं न लक्षितः कोऽपि तस्य निर्मल-
चेतसः । विकारस्तादृशे हर्षहेतौ सत्यपि भूभुजा ॥ ७९६ ॥ गुणिरागादथ क्षीणतद्विबन्धककर्म्मणः । आविर्बभूव
चारित्रपरिणामो महीपतेः ॥ ७९७ ॥ देव्या मदनकन्दल्याः सामन्तानां च भूपतिः । सुबुद्धेर्मध्यबुद्धेश्च तं भावं
निजमाख्यत ॥ ७९८ ॥ तैरप्युद्भूतचारित्रपरिणामैरथोदितम् । चारु चारूदितं देव ! युक्तमेतद्भवादृशाम्
॥ ७९९ ॥ सत्त्वं विलोक्य देवस्य तथैतस्य मनीषिणः । अस्माकमपि नो चित्तं संसारे रमतेऽधुना ॥ ८०० ॥
साधु साध्विति भूपालः प्रत्येकमुपवर्ण्य तान् । तदैव स्थापयामास राज्ये सूनुं सुलोचनम् ॥ ८०१ ॥ जिनवेश्म

१ ज्योतिषिनम् । २ ०वक्षी० ग० ।

प्रणिपत्याथ पूजयित्वा जगद्गुरुम् । गुरुभ्यो नियमाकृत ते सर्वेऽप्याचचक्षिरे ॥ ८०२ ॥ सर्वसन्तापहारिण्या धरिस्तानथ दीक्षया । मन्यप्रदीपचन्द्रिकया चकोरानिव चन्द्रमाः ॥ ८०३ ॥ तेषां संवेगपुष्कलं कल्योऽयमिति च क्षणम् । विदित्वा जनतामध्ये सूरिभिर्धर्मदेशना ॥ ८०४ ॥ अथ पप्रच्छ राजर्षिः सुत्र पारगमनीषिणः । चित्रं वाक्यमन्यस्य कस्याप्यस्ति कश्चित्प्रभो ! ॥ ८०५ ॥ सूरिरूचे त्वया यास्य ज्ञाताम्बा शुभसुन्दरी । यावन्त स्वसुतास्तेषां सर्वेषामीदृश मनः ॥ ८०६ ॥ राजर्षिर्भनबोधाय पुनः प्रोचे विदन्नपि । भगवन् ! शुभसुन्दर्याः किं सन्ति बहवः सुताः ? ॥८०७॥ जगाद गुरुरायुष्मन् ! ये केचन जगत्त्रये । मनीषिसदृशाः सत्वास्ते सर्वेऽस्या ध्रुवं सुताः ॥ ८०८॥ किञ्च मिथ्यात्रयेऽप्यत्र जना ये मध्यमोपमाः । ते सर्वे खलु सामान्यरूपायास्तनयाः स्मृताः ॥ ८०९ ॥ ये पुनर्बालकल्पनिभा भविनो भुवनत्रये । सर्वेऽकुशलमालाया विज्ञेयास्ते तनूरुहाः ॥८१०॥ राजर्षिरूचे यदेवमेवं तर्हि व्यवस्थिते । त्वयिते ममकमेतदधुना निश्चितं मया ॥ ८११ ॥ मातृत्रयेण चास्य जघन्योत्तम मध्यमम् । सर्वं कर्मविलासस्य जगदेतत्कुटुम्बकम् ॥ ८१२ ॥ सूरिरूचे न संदेहः सम्यगार्येण लक्षितम् । मार्गानुसारिणी बुद्धिर्भवत्येव भवादृशाम् ॥ ८१३ ॥ तदेव च स्थितेऽप्यस्य त्यक्त्वा बालचेष्टितम् । मनीषिचरिते यत्नः कर्तव्यो मध्यबुद्धिभिः ॥ ८१४ ॥ कुसंसर्गाच्च बालस्य बभूवुः क्लेशराशयः । तस्मात् स एव यत्नेन हातव्यः सुखकाङ्क्षिभिः ॥ ८१५ ॥ कुसंसर्गपरित्यागाद्विहापि सुखभाजनम् । मनीषी समभूदेव परत्र च शिवगामी ॥८१६॥

१ सुताः ।

इत्युक्तवन्त त सूरिं नत्वा मुदितमानसाः । कुमा[illegible]ः सर्वे स्थानं निजनिजं ययुः ॥ ८१७ ॥ विजहारान्यतः सूरिर्मनीष्यथ शिवं क्रमात् । प्रययौ देवलोकं तु मध्यबुद्ध्यादिसाधवः ॥ ८१८ ॥ बालस्य तु यदादिष्टं सूरिभिः शाविचेष्टितम् । तत्तथैवाखिलं जातं नान्यथा ज्ञानिनां वचः ॥ ८१९ ॥ [इति] स्पर्शनकथानकम् ॥ कथानकमिदं तन्मे शृण्वतो लङ्घितं दिनम् । तेनाऽऽगममहं न ह्यः कुमार ! भवदन्तिके ॥ ८२० ॥ अथावोचं महं भद्र ! सुन्दरं विदधे त्वया । श्रोतुं युज्यत एवासौ कथाद्भुतरसप्रपा ॥ ८२१ ॥ अहो ! अतिदुरन्तेयं पापमित्रस्य संगतिः । यतोऽजायन्त बालस्य केवलं क्लेशराशयः ॥ ८२२ ॥ विदुरोऽचिन्तयत्तावत् कथार्थो विदितोऽमुना । ततो वचोऽवकाशो मे भविता संप्रति ध्रुवम् ॥ ८२३ ॥ इतश्चादूरदेशस्थः श्रुत्वा तद्वचनं मम । वैश्वानरः स साशङ्कश्चिन्तयामासिवानिदम् ॥ ८२४ ॥ कुमारस्यायमुल्लापः सुन्दरो मे न भासते । दुष्टोऽयं विदुरो ह्यस्य मद्रूपं ज्ञापयिष्यति ॥ ८२५ ॥ विदुरोऽथावदच्चारु कुमारेणावधारितम् । किञ्चाख्यानमिदं श्रुत्वा मयापीदं विचिन्तितम् ॥ ८२६ ॥ कदाचिदपि नो पापमित्रसङ्गः प्रजायते । चेन्नन्दिवर्द्धनस्यापि ततो भवति सुन्दरम् ॥ ८२७ ॥ नैष मे भविता भद्र ! कदापीति मयोदिते । विदुरोऽथ मम स्थित्वा कर्णाभ्यर्णेऽभ्यधात् पुनः ॥ ८२८ ॥ दुष्टो वैश्वानरोऽप्येष श्रूयते लोकवार्त्तया । सम्यक् परीक्ष्य एवायं कुमार ! भवता ततः ॥ ८२९ ॥ स्पर्शनो बालकस्येव माभूदेष तवापि हि । पापमित्रतयानर्थसन्ततेः कारणं परम् ॥ ८३० ॥ अत्रान्तरे कुरङ्गाक्षि ! वैश्वानरनिदेशतः । क्रूरचित्ताभिधानं तद् वटकं भक्षितं मया ॥ ८३१ ॥ ध्मातताम्रोपमं वक्त्रं

विभ्रमवज्नुभावतः। विदुरं निष्ठुरैर्वाक्यैरवादिपमिदं ततः ॥८३२॥ पाप ! निस्त्रप ! मां बालकस्य त्वं कल्पपस्परे ! । अमेयमहिमानं च मन्मिश्रं स्पर्धनोपमम् ॥ ८३३ ॥ मयैवं विक्षुब्धेन विदुरस्य दुरात्मना । दत्ता चपेटा चार्वङ्गि ! कपोलप्रविदारिणी ॥ ८३४ ॥ मद्वचा फूत्कृतेनाथ प्रहर्तुं धाविते मयि । विदुरः स पलायिष्ट 'वेपमानश्च दुर्भयात् ॥ ८३५ ॥ श्रुत्वा मदीयवृत्तान्तं च सर्वमथ तन्मुखात् । तातोऽस्माद्‌ यन्नविष्यथामालम्ब्योपाय वर्जितः ॥८३६॥ मयीताक्षेपविषयस्य प्राप्तस्य नवयौवनम् । तातोऽप्य पृथगावासं परिवारं च मे ददौ ॥ ८३७ ॥ सांसारिकसुखैस्तैस्तैर्वर्तमानस्य मे ततः । कियन्त्यप्यमरस्येव दिनानि व्यतिचक्रमुः ॥ ८३८ ॥ अथान्येद्युरहं यावत् तातं नत्वा निर्गतोऽस्मि । आगां तावदमुत्राभवद्धे कलकलो महान् ॥ ८३९ ॥ प्रस्थितोऽहं ततो यावत्तं प्रान्तस्थं प्रति द्रुतम् । सेनानीर्धवलस्तावदभ्यागच्छन्मयेक्षितः ॥ ८४० ॥ मामेत्य नत्वा स प्राह देवस्त्वामादिशत्यदः । यदितस्त्वमपि निर्याते द्रुतोऽम्बेस्यैवमाख्यत ॥ ८४१ ॥ राज्ञः कनकचूडस्य सूनुः कनकशेखरः । कुशावर्तपुरात्तातापमानेन समागतः ॥ ८४२ ॥ युष्मत्समीपमधुना वने मलयनन्दने । वहिरस्त्येतदाकर्ण्य प्रमाणं देव एव हि ॥ ८४३ ॥ युग्मम् ॥ तन्मुख्याः सबन्धुं तं प्रत्युद्गन्तु मम स्वयम् । चलिताः समस्तमप्येतीत्याख्यातु प्रहितोऽस्म्यहम् ॥ ८४४ ॥ गत्वाहमथ तातस्य मिलितः सपदि वने । अप्राक्ष धवलं वपुः कुप ! कनकशेखरः ॥ ८४५ ॥ धवलः प्राह कनकचूडस्तन्मातृसोदरः । अतो

१ कम्पमान॰ मु० । २ सर्वमप्यथ मु० ।

मातुलजोऽयं ते भ्राता कनकशेखरः ॥ ८४६ ॥ अथान्तिकगतस्तातः कृतपादनमस्कृतिम् । समालिलिङ्ग तं गाढं प्रेम्णा कनकशेखरम् ॥ ८४७ ॥ कृतायामस्य योग्यायां प्रतिपत्तौ मयापि च । महता तं विमर्देन निजावासेऽनयन्नृपः ॥ ८४८ ॥ ताताम्बाभ्यां च स प्रोचे चारु! चारु! त्वया कृतम् । स्वाननेन्दुं दर्शयित्वास्माकं यत्त्वमदा मुदम् ॥ ८४९ ॥ कुमारैतदपि प्राज्यं राज्यं पैतृकमेव ते । निर्विकल्पमनास्तिष्ठ तस्मादत्र यथासुखम् ॥ ८५० ॥ उक्त्वेत्यस्यार्पयत्तातो वेश्म मद्वेश्मसन्निधौ । स्थितस्यात्र च कालेन स्नेहः सह मयाऽभवत् ॥ ८५१ ॥ अन्यदा विजने पृष्टो मया कनकशेखरः । जनकस्यापमानेन भवानत्रागतः किल ॥ ८५२ ॥ जनकेन ततः कीदृगपमान. कृतस्तव । इत्यहं श्रोतुमिच्छामि ततः सोऽप्येवमाख्यत ॥ ८५३ ॥ तातेन चूतमञ्जर्या जनन्यात्यन्तलालितः । कुशावर्त्तपुरे तावदहमासं कुमारकः ॥ ८५४ ॥ अन्यदा मित्रवृन्देन कलितः केलिलालसः । गतः शमावहं नाम काननं नन्दनोपमम् ॥ ८५५ ॥ मूर्त्तिमानिव सद्धर्म्मस्तत्राशोकतरोस्तले । ध्यानस्थितो मयाऽदर्शि दत्तनामा मुनीश्वरः ॥ ८५६ ॥ नत्वोपविष्टस्तं हृष्टः समित्रोऽहं तदग्रतः । ध्यानं सोऽप्युपसंहृत्य ददावस्माकमाशिषम् ॥ ८५७ ॥ अथ पृष्टो मया धर्म्मं श्रद्धया श्रमणाग्रणीः । श्रमणश्राद्धभेदेन स द्विधा तमचीकथत् ॥ ८५८ ॥ गृहिधर्म्मं गृहीत्वाहं स्वगृहे मुदितस्ततः । सवयस्यः समायातो मुनिरप्यन्यतो गतः ॥ ८५९ ॥ अन्यान्यश्रावकैः सार्द्धं विदधानस्य संगतिम् । दृढा पाषाणरेखेव ममाभूद्धर्म्मवासना

---

१ समा० क० ख० ग० घ० । २ साकं वि० क० ख० ग० घ० ।

॥ ८६० ॥ सोऽन्येद्युः पुनरायातो गत्वोद्याने मुनिर्मया । नत्वाऽपृच्छि भवन्तोऽर्हं किं सारमथ सोऽवदत् ॥ ८६१ ॥
अहिंसाध्यानयोगश्च रागादीनां विनिग्रहः । साधर्म्मिकानुरागश्च सारमेतज्जिनागमे ॥ ८६२ ॥ मयाथ चिन्तितं
तावदहिंसादित्रयं मया । कर्तुं न शक्यमारम्भविषयादिनिषेविणा ॥ ८६३ ॥ साधर्मिकानुरागे तु प्रयतिष्ये
स्वशक्तितः । निश्चित्येति यतिं नत्वाऽऽवगामाहं स्वमाश्रयम् ॥ ८६४ ॥ तावानुग्राममथ प्राप्य ततः प्रभृति
सर्वतः । साधर्मिकाणां वात्सल्यं मया कर्तुं प्रचक्रमे ॥ ८६५ ॥ भोजनाच्छादनद्रव्यालङ्कारार्थैरतोषयम् ।
साधर्मिकान् यथाकामं च भूनिव निशानहम् ॥ ८६६ ॥ परमेष्ठिनमस्कारमपि पठेच यो जनः । स देशे योदया
पूर्वं विशिष्टोऽकरदो मया ॥ ८६७ ॥ रथयात्राजिनस्नात्राष्टाह्निकादिमहोत्सवैः । एकच्छत्रमभूद्राज्यं तदार्हद्धर्म्म
भूपतेः ॥८६८॥ तां तादृशीमथालोक्य जिनधर्म्मप्रभावनाम् । मिथ्यादृग् दुर्मुखो नाम मन्त्री प्रद्वेषमाप्तवान् ॥८६९॥
दोषपाशेमहाम्भोधिः स दुरात्माहितः किल । रहसि स्थितमन्येद्युस्तातमेवं व्यजिज्ञपत् ॥ ८७० ॥ देवाय
नीतिमुल्लङ्घ्य धर्म्मव्याजेन विप्लुतः । यः प्रारम्भि कुमारेण सुन्दरो मे न भाति सः ॥ ८७१ ॥ न लुम्पन्ति हि
मर्यादां करदम्भरमिया जनाः । ये मुक्ता मुक्तकाचाराः कमनर्थं न कुर्वते ? ॥८७२॥ अकार्येऽत्र प्रवृत्तेषु तेषु स्वच्छन्द
चारिषु । कस्यात्र यूयं राजानः किं वा राज्यं विनाज्ञया ॥ ८७३ ॥ तदिदं यत् कुमारेण देव । प्रारम्भ्यलौकिकम् ।
राजनीतेः समुत्तीर्य कुरुसते तत्र सुन्दरम् ॥ ८७४ ॥ तातः प्राहार्य । यद्येवं स्वयमबोध्यता त्वया । कुमारो न यय

१ सद्धर्मजिनशासने ।

तस्य संमुखं भाषितुं क्षमाः ॥ ८७५ ॥ तातादेशमवाप्यैवमथागत्य स दुर्मुखः । सप्रपञ्चं तथैवोचे ममापि पुरतः
शठः ॥ ८७६ ॥ अपि प्रादुर्भवत्कोपविह्वलीभूतचेतसा । न्यगद्यत मया सोऽथ विधायाकारसंवरम् ॥ ८७७ ॥
आर्य ! युक्तमिदं वक्तुं तदा मां प्रति यद्यहम् । पारदारिकचौरादिदुष्टानां विदधेऽर्चनम् ॥ ८७८ ॥ ये तु
स्वगुणमाहात्म्याद् देवानामपि पूजिताः । पूजायां महतां तेषां कोऽस्माकं धर्म्मविप्लवः ? ॥८७९॥ एते च करद-
ण्डाभ्यां मुक्ता अपि महाशयाः । नानीतिं कुर्वते क्वापि सदाचारपथाध्वगाः ॥ ८८० ॥ तथा नाथो जगन्नाथो
येषामेतेषु किङ्करः । यः स्याद्राजा स एवात्र राजा शेषास्तु किङ्कराः ॥ ८८१ ॥ एवं चाचरता ब्रूहि ? राजनी-
तेर्विलङ्घनम् । किं मया विदधे ? येन भवानेवं प्रजल्पति ॥ ८८२ ॥ अलीकं धर्म्मवात्सल्यं मदीयं वदता पुनः ।
परिस्फुटीकृतं नूनं दुर्मुखत्वं त्वयात्मनः ॥८८३॥ अथ विज्ञाय मे भावं स दध्याविति दुर्मुखः । निबिडा तावदेतस्य
वासना जिनशासने ॥८८४॥ तथापि हि मयात्रार्थे परिपृष्टोऽस्ति भूपतिः । स्वयमेव ततोऽवश्यं विधास्ये स्वसमी-
हितम् ॥८८५॥ सान्त्वयाम्यधुना त्वेनमिति ध्यात्वाऽवदत्स माम् । भवच्चित्तपरीक्षार्थं कुमारैतन्मयोदितम् ॥८८६॥
नान्यथा तत् कुमारेण विचार्यं वचनं मम । इत्युक्त्वा निरगादेष दुर्मुखो मत्समीपतः ॥८८७॥ अथाहं चिन्तयामास
पापात्मैष ध्रुवं शठः । यदेवमभ्यधात् पूर्वमाकूतेन महीयसा ॥ ८८८ ॥ पश्चात् पुनर्झटित्येव चकाराकारसंवरम् ।
तन्न विज्ञायते हन्त किमसावाचरिष्यति ॥ ८८९ ॥ ध्यात्वेति तस्य वृत्तान्तं ज्ञातुं प्राहिणवं चरम् । चतुराख्यं
स चागत्य दिनैः कैश्चिन्ममाख्यत ॥ ८९० ॥ इतस्तावदहं गत्वा देवादेशेन दुर्मुखम् । विनयेन समाराध्य

॥ ८६० ॥ सोऽन्येद्युः पुनरायातो गत्वोद्याने मुनिर्मया । नत्वाऽप्रच्छि भवन्तोऽर्हे किं सारमथ सोऽवदत् ॥ ८६१ ॥ यर्हिंसाध्यानयोगश्च रागादीनां विनिग्रहः । साधर्म्मिकानुरागश्च सारमेतज्जिनागमे ॥ ८६२ ॥ मयाथ चिन्तितं तावदहिंसादित्रयं मया । कर्तुं न शक्यमारम्भविषयादिनिषेविणा ॥ ८६३ ॥ साधर्मिकानुरागे तु प्रयतिष्ये स्वशक्तितः । निश्चित्येति यतिं नत्वाऽऽग्रगामाहं स्वमाश्रयम् ॥ ८६४ ॥ ज्ञातानुग्रामश्च प्राप्य ततः प्रभृति सर्वतः । साधर्मिकाणां वात्सल्यं मया कर्तुं प्रचक्रमे ॥ ८६५ ॥ भोजनाच्छादनद्रव्यालङ्कारादैरतोपयम् । साधर्मिकान् यथाकाम च शृणिष निजाानहम् ॥ ८६६ ॥ परमेष्ठिनमस्कारमपि धत्ते च यो जनः । स देवो बोधया पूर्वे विहितोऽत्करवो मया ॥ ८६७ ॥ रथयात्राजिनस्नात्राष्टाहिकादिमहोत्सवैः । एकच्छत्रमभूद्राज्य यथार्हद्धर्म्मे भूपतेः ॥८६८॥ तां तादृशीमथालोक्य जिनधर्म्मप्रभावनाम् । मिथ्यादृग् दुर्मुखो नाम मन्त्री प्रद्वेषमादधौ ॥८६९॥ दोषपाथोमहाम्भोधिः स दुरास्माहितः किल । रहसि स्थितमन्येद्युस्तातमेष व्यजिज्ञपत् ॥ ८७० ॥ देवाप नीतिमुल्लङ्घ्य धर्म्मव्याजेन विप्लवः । यः प्रारम्भि कुमारेण सुन्दरो मे न भाति सः ॥ ८७१ ॥ न लुम्पन्ति हि मर्यादां कल्पान्तेऽपि यथा जनाः । ते मुक्ता मुक्ताकलापाराः कमनर्थं न कुर्वते ? ॥८७२॥ अकार्येऽत्र प्रवृत्तेषु तेषु स्वच्छन्द चारिषु । कस्यात्र नृप राजानः किं वा राज्य विनाशया ॥ ८७३ ॥ तदिदं यत् कुमारेण देव । प्रारब्धमलौकिकम् । राजनीतेः प्रभुत्वीर्ये युज्यते तन्न सुन्दरम् ॥ ८७४ ॥ तातः प्राहार्य ! यथेयं स्वयमेवोत्प्रेक्षितं त्वया । कुमारो न चयं

१ हस्तिनापुरे ।

तस्य संमुखं भाषितुं क्षमाः ॥ ८७५ ॥ तातादेशमवाप्यैवमथागत्य स दुर्मुखः । सप्रपञ्चं तथैवोचे ममापि पुरतः
शठः ॥ ८७६ ॥ अपि प्रादुर्भवत्कोपविह्वलीभूतचेतसा । न्यगद्यत मया सोऽथ विधायाकारसंवरम् ॥ ८७७ ॥
आर्य ! युक्तमिदं वक्तुं तदा मां प्रति यद्यहम् । पारदारिकचौरादिदुष्टानां विदधेऽर्चनम् ॥ ८७८ ॥ ये तु
स्वगुणमाहात्म्याद् देवानामपि पूजिताः । पूजायां महतां तेषां कोऽस्माकं धर्म्मविप्लवः ? ॥८७९॥ एते च करद-
ण्डाभ्यां मुक्ता अपि महाशयाः । नानीतिं कुर्वते क्वापि सदाचारपथाध्वगाः ॥ ८८० ॥ तथा नाथो जगन्नाथो
ऽेषामेतेषु किङ्करः । यः स्याद्राजा स एवात्र राजा शेषास्तु किङ्कराः ॥ ८८१ ॥ एवं चाचरता ब्रूहि ? राजनी-
तेर्विलङ्घनम् । किं मया विदधे ? येन भवानेवं प्रजल्पति ॥ ८८२ ॥ अलीकं धर्म्मवात्सल्यं मदीयं वदता पुनः ।
परिस्फुटीकृतं नूनं दुर्मुखत्वं त्वयात्मनः ॥८८३॥ अथ विज्ञाय मे भावं स दध्याविति दुर्मुखः । निबिडा तावदेतस्य
वासना जिनशासने ॥८८४॥ तथापि हि मयात्रार्थे परिपृष्टोऽस्ति भूपतिः । स्वयमेव ततोऽवश्यं विधास्ये स्वसमी-
हितम् ॥८८५॥ सान्त्वयाम्यधुना त्वेनमिति ध्यात्वाऽवदत्स माम् । भवच्चित्तपरीक्षार्थं कुमारैतन्मयोदितम् ॥८८६॥
नान्यथा तत् कुमारेण विचार्यं वचनं मम । इत्युक्त्वा निरगादेष दुर्मुखो मत्समीपतः ॥८८७॥ अथाहं चिन्तयामास
पापात्मैष ध्रुवं शठः । यदेवमभ्यधात् पूर्वमाकूतेन महीयसा ॥ ८८८ ॥ पश्चात् पुनर्झटित्येव चकाराकारसंवरम् ।
तन्न विज्ञायते हन्त किमसावाचरिष्यति ॥ ८८९ ॥ ध्यात्वेति तस्य वृत्तान्तं ज्ञातुं प्राहिणवं चरम् । चतुराख्यं
स चागत्य दिनैः कैश्चिन्ममाख्यत ॥ ८९० ॥ इतस्तावदहं गत्वा देवादेशेन दुर्मुखम् । विनयेन समाराध्य

जायस्तस्याग्ररक्षकः ॥ ८९१ ॥ स चान्यदा समाहूय श्रावकानभ्यधादिति । अरे ! कुमारो यद्धर्म्मग्राहितो यः प्रयच्छति ॥८९२॥ यच्च भूमीसुताऽऽमाभ्यः सम्भूतो भवतां करः । समर्प्पणीयं तत्सर्वमपि प्रच्छन्नमेव मे ॥८९३॥ कथितं च कुमारायैतद् चेत् तद्दो न जीवितम् । ऊरीकृत्य तदादेशं श्रावकास्ते ययुस्ततः ॥८९४॥ इतः च दुर्मुखा देव ज्ञात राज्ञा तथापि सा । केनापि हेतुना तस्यै कृत्वा गजनिमीलिकाम् ॥८९५॥ अथाभ्यापमहं तातामिप्रेत मकरोरिदम् । दुर्मुखः स्वधिया कुर्यात् यच्च चिन्त्यते ततः ॥ ८९६ ॥ तातेन तु सहास्माकं विग्रहो नैव युज्यते । पितरौ पुण्यदीक्षारौ यतो मम तोषितौ ॥ ८९७ ॥ आपीडामिमं प्रद्युम्नितानीं धक्ष्यते मया । अपक्रममभेषेतस्य स्मात्सांप्रतं मम ॥ ८९८ ॥ पर्यालोच्येत्यनाख्याय कस्याप्या[illegible]तः । अत्रागच्छमहं तातापमानस्ततसो मम ॥ ८९९ ॥ अथाभोचमहं साधु कुमार ! भवता कृतम् । इहायातोऽसि यत् त्यक्त्वा पराभवपदं पदम् ॥ ९०० ॥ स्वदेशमपि मुञ्चन्ति मानम्लानौ हि मानिनः । तमोहानौ व्रजत्येव द्वीपान्तरमहस्करः ॥ ९०१ ॥ एवं परस्परमीत्या तयोरास्ते व्यतीयुषि । दिवसोनौ भवावासे तातागमनमुपायकौ ॥ ९०२ ॥ तातान्तेऽय मता चार्यौ माघचापकरासनः । उत्थाय सदसो दृष्टा नेष्टः कनककेसरम् ॥ ९०३ ॥ कुतः समतिकेसरिराज्ञः ! इति वत्सता । ऊर्ध्वीभूयाथ सस्नेहं तेन ते परिरेभिरे ॥९०४॥ एते मदीयतातस्य माननीया महत्तमाः । इत्याथस्यौ मया पृष्टो दृष्टः कनककेसरः ॥ ९०५ ॥ सर्वेऽप्यथ समासीना विहितप्रतिपत्तयः । तातास्यैर्मे ततस्तातः प्रोचे

१ ०म्पर्य त० क० प० ।

कनकशेखरम् ॥ ९०६ ॥ कुमारामीभिराख्यातमिदं त्वत्तातमन्त्रिभिः । यतः प्रभृत्यनाख्याय कुमारो निर्ययौ
गृहात् ॥ ९०७ ॥ ततः प्रभृति मूर्च्छन्तौ विलपन्तौ च भूरिशः । प्रापतुर्न रतिं क्वापि दीनौ देवीनरेश्वरौ ॥९०८॥
युग्मम् ॥ तद्दुःखदुःखादाक्रन्दमुखे जाते जनेऽपि हि । संभूय बोधयामासुः सचिवास्तौ मृदूक्तिभिः ॥ ९०९ ॥
तथाप्यचेतयन्तौ तौ तत्प्राणत्यागभीरुकः । चतुरो ज्ञापयामास सहेतुं त्वदपक्रमम् ॥ ९१० ॥ कुमारो विद्यते
तावदिति तौ लब्धचेतनौ । जगाम क्व स इत्युक्तौ चतुरं तमपृच्छताम् ॥ ९११ ॥ ततः सोऽप्यब्रवीत् किञ्चि-
दाख्यातं मम तेन न । यानहेतुरपि मया चतुरत्वेन लक्षितः ॥ ९१२ ॥ किन्तु संभावयाम्येतद्गतो भावी जय-
स्थले । यतः पितृष्वसा नन्दा पद्मराजश्च वत्सलौ ॥ ९१३ ॥ साधु ज्ञातं त्वयेत्युक्त्वा चतुराय नृपो ददौ ।
तुष्टिदानं दुर्मुखं तु सदोषं निरवासयत् ॥ ९१४ ॥ भोजनं कार्यमावाभ्यां कुमारे खलु वीक्षिते । इति प्रतिज्ञां
चक्राते ततो देवीनरेश्वरौ ॥ ९१५ ॥ इतः कनकचूडं तं नृपं तत्रैव वासरे । वेत्रिणा सूचितोऽभ्येत्य दूतः
कोऽपि व्यजिज्ञपत् ॥ ९१६ ॥ अस्ति पूर्यां विशालायां नन्दनो नाम भूपतिः । तस्य प्रभावतीपद्मावत्यौ च
दयिते उभे ॥ ९१७ ॥ तयोर्यथाक्रमं पुत्र्यौ तत्राद्या विमलानना । परा रत्नवती नाम रतिप्रीती इवापरे
॥ ९१८ ॥ इतश्च कनकपुरे प्रभावत्याः सहोदरः । अस्ति प्रभाकरो राजा तत्पुत्रस्तु विभाकरः ॥ ९१९ ॥ तस्मै च
प्रददौ सत्यप्रतिज्ञा सा प्रभावती । निजां दुहितरं पूर्वप्रपन्नां विमलाननाम् ॥ ९२० ॥ सान्यदा गुणसंभारभावितं

१ इत्युक्त्वा च० ग० ।

ख्यातस्तस्याङ्गरक्षकः ॥ ८९१ ॥ स चान्यदा समाहूय भाषकानभ्यधादिति । अरे ! कुमारो यद्धर्म्मप्रतिष्ठो यः
प्रयच्छति ॥८९२॥ यच्च भूमीसुदाऽऽभाष्यः सम्भृतो भवता करः । समर्पणीय तत्सर्वमपि प्रच्छन्नमेव मे ॥८९३॥
कथितं च कुमारायैतच्चेत् तदो न जीवितम् । ऊरीकृत्य तदादेशं भाषकास्ते ययुस्ततः ॥८९४॥ इदं च दुर्मुखा
देव ज्ञातं राज्ञा तथापि सः । केनापि हेतुना तस्थौ कृत्वा गजनिमीलिकाम् ॥ ८९५ ॥ अथाभ्यायमहं तातामिप्रेत
मकरोदिदम् । दुर्मुखः स्वधिया कुर्याद् यद्यं क्षिप्यते ततः ॥ ८९६ ॥ तातेन तु सहास्माकं विग्रहो नैव युज्यते ।
पितरौ दुष्प्रतीकारौ यतो मम यतोदितौ ॥ ८९७ ॥ नापीदृशमिमं प्रभुमिदानीं क्षम्यते मया । अपक्रमणमेवैतस्त
स्माच्चरुत्तरं मम ॥ ८९८ ॥ पर्यालोच्येत्यनाख्याय कस्याप्यथ परिच्छदः । अत्रागच्छमहं तातापमानस्त्वसौ
मम ॥ ८९९ ॥ अथावोचमहं साधु कुमार ! भवता कृतम् । महापातोऽसि यत् त्यक्त्वा परामपदं पदम्
॥ ९०० ॥ स्वदेशमपि मुञ्चन्ति मानम्लानौ हि मानिनः । तेजोहानौ मयस्येव द्वीपान्तरमहस्करः ॥ ९०१ ॥
एवं परस्परप्रीत्या तदा रात्रे व्यतीयुषि । विश्रुतोर्नौ महावासे ताताह्वानमुपायतौ ॥ ९०२ ॥ तातान्तेऽथ गता
वावां यावत्तावदरालयः । उत्थाय सहसो दृष्टा नेमुः कनककेसरम् ॥ ९०३ ॥ कुतः सुमतिकेसरिराज्ञा ! इति
जल्पता । ऊर्ध्वीकृत्याथ सस्नेहं तेन ते परिरेभिरे ॥९०४॥ एते मदीयतातस्य माननीया महत्तमाः । इत्याचख्यौ
मया पृष्टो दृष्टः कनककेसरः ॥ ९०५ ॥ सर्वेऽप्यथ समासीना विहितप्रतिपत्तयः । तातास्म्यैर्मि ततस्तातः प्रोचे

१ ०व्यर्थं च० क० च० ।

कनकशेखरम् ॥ ९०६ ॥ कुमारामीभिराख्यातमिदं त्वत्तातमन्त्रिभिः । यतः प्रभृत्यनाख्याय कुमारो निर्ययौ
गृहात् ॥ ९०७ ॥ ततः प्रभृति मूर्च्छन्तौ विलपन्तौ च भूरिशः । प्रापतुर्न रतिं क्वापि दीनौ देवीनरेश्वरौ ॥९०८॥
युग्मम् ॥ तद्दुःखदुःखादाक्रन्दमुखे जाते जनेऽपि हि । संभूय बोधयामासुः सचिवास्तौ मृदूक्तिभिः ॥ ९०९ ॥
तथाप्यचेतयन्तौ तौ तत्प्राणत्यागभीरुकः । चतुरो ज्ञापयामास सहेतुं त्वदपक्रमम् ॥ ९१० ॥ कुमारो विद्यते
तावदिति तौ लब्धचेतनौ । जगाम क्व स इत्युक्तौ चतुरं तमपृच्छताम् ॥ ९११ ॥ ततः सोऽप्यब्रवीत् किञ्चि-
दाख्यातं मम तेन न । यानहेतुरपि मया चतुरत्वेन लक्षितः ॥ ९१२ ॥ किन्तु संभावयाम्येतद्गतो भावी जय-
स्थले । यतः पितृष्वसा नन्दा पद्मराजश्च वत्सलौ ॥ ९१३ ॥ साधु ज्ञातं त्वयेत्युक्त्वा[1] चतुराय नृपो ददौ ।
तुष्टिदानं दुर्मुखं तु सदोषं निरवासयत् ॥ ९१४ ॥ भोजनं कार्यमावाभ्यां कुमारे खलु वीक्षिते । इति प्रतिज्ञां
चक्राते ततो देवीनरेश्वरौ ॥ ९१५ ॥ इतः कनकचूडं तं नृपं तत्रैव वासरे । वेत्रिणा सूचितोऽभ्येत्य दूतः
कोऽपि व्यजिज्ञपत् ॥ ९१६ ॥ अस्ति पूर्यां विशालायां नन्दनो नाम भूपतिः । तस्य प्रभावतीपद्मावत्यौ च
दयिते उभे ॥ ९१७ ॥ तयोर्यथाक्रमं पुत्र्यौ तत्राद्या विमलानना । परा रत्नवती नाम रतिप्रीती इवापरे
॥ ९१८ ॥ इतश्च कनकपुरे प्रभावत्याः सहोदरः । अस्ति प्रभाकरो राजा तत्पुत्रस्तु विभाकरः ॥ ९१९ ॥ तस्मै च
प्रददौ सत्यप्रतिज्ञा सा प्रभावती । निजां दुहितरं पूर्वप्रपन्नां विमलाननाम् ॥ ९२० ॥ सान्यदा गुणसंभारभावितं

---

१ इत्युक्त्वा च० ग० ।

विमलानना । सुभाय मामथैः पठ्यमानं कनकशेखरम् ॥ ९२१ ॥ तत्र आतानुरागाय त्यक्तान्यसकलक्रिया ।
योगिनीव परारमान ध्यायन्त्यस्ति तैयैव सा ॥९२२॥ तस्यास्तारगतस्यानदर्शनात् सिलेऽप्यथ । विपीदति परीवारे
दृष्यो रत्नवती सुधीः ॥९२३॥ यतः प्रभृति सुभाय नाम कनकशेखरम् । ततः प्रभृत्यसौ मद्गे स्वान्तशून्या मम
स्वसा ॥९२४॥ सुग्धाया नूनमेतस्याश्चित्तचौरः स एव तत् । तातायाख्यामि तदिव त निगूढारयर्च यथा ॥ ९२५ ॥
विचिन्त्येति तयाख्याते नृपालोऽपि व्यचिन्तयत् । विमाकराय दत्तेय प्रमाणस्यास्ति यद्यपि ॥९२६॥ तथापि
नान्यथा संप्रत्येतस्या जीवितं भवेत् । तत् प्रेष्यतेऽसौ कनकशेखराय स्वयंवरा ॥ ९२७ ॥ कथञ्चित् बोधयिष्यामः
पश्चादपि विभाकरम् । ध्यात्वेति स तथाऽऽदर्शन् रत्नवत्येति भाषितः ॥९२८॥ ताताहमपि यास्यामि विमलाननया
सह । तस्या हि विरहे नाहं स्थातुं क्षणमपि क्षमा ॥९२९॥ किन्तु नाहं करिष्यामि पतिं कनकशेखरम् । यदङ्गनानां
तापस्य महतेरस्य कारणम् ॥९३०॥ लक्ष्मीष्टस्य मित्रस्य पत्न्या भाव्यं मया ततः । ममत्वेषमिति प्रोच्य तामपि
प्राहिणोन्नृपः ॥९३१॥ नन्दनोर्वीशनन्दिन्यौ ते च नित्यप्रयाणकैः । देवाथ गजिस्थानेऽत्र विधेये समागते ॥९३२॥
ताभ्यां च विज्ञपयितुं स्वरूपं प्रहितोऽस्म्यदः । देवपादान्तिके देव प्रमाणमधुना ततः ॥ ९३३ ॥ श्रुत्वा कनक
चूडस्तत् ततः कन्यकयोस्तयोः । आवासं दापयामास प्रसेनचलाधिपात् ॥ ९३४ ॥ तस्मात्सुमतिकेसरि

---

१ त्वमेव क० ग० च० । २ पुरी क० च०, पुरा ख० ग० । ३ नाम कम० ख०, मामा कम० क० च०, भाम्या कम० ग० । ४ ०मस्मयो ता० क० च० च० । ५ स०कन्यकयोस्तयो० ख० । ६ ०ईवो० ग० ।

वराङ्गानथ पार्थिवः । समाहूय समादिक्षद् विषादानन्दपूरितः ॥ ९३५ ॥ कन्याऽऽगतिः पश्यताहो ! हर्षकारणमप्यसौ । घृताहुतिनिभा भाति कुमारविरहानले ॥९३६॥ तद् यात यूयमस्त्येव कुमारो हि जयस्थले । कन्याऽऽगतिं ममावस्थां चाख्यातुं पद्मभूभुजे ॥९३७॥ एतद् द्वयमपि श्रुत्वा कुमारं स प्रहेष्यति । किञ्चानेन सहाऽऽनेयः कुमारो नन्दिवर्द्धनः ॥ ९३८ ॥ अयमेव यतो रत्नवत्याः समुचितो वरः । इत्युक्त्वा प्रेषितास्तेन वयमत्र समागताः ॥ ९३९ ॥ एतैस्तदिदमाख्यातमस्मभ्यं वत्स ! मन्त्रिभिः । एवं व्यवस्थितेऽस्माभिर्भवतोरिदमुच्यते ॥ ९४० ॥ कुरुतं माधुना कालविलम्बं लघु गच्छतम् । राज्ञः कनकचूडस्य चित्तानन्दकृते युवाम् ॥ ९४१ ॥ युवयोर्विरहोऽस्माभिः सोढुं यद्यपि नेश्यते[1] । कार्यगौरवमालोच्य तथापि प्रेषितौ युवाम् ॥ ९४२ ॥ अथ[2] तं पितुरादेशं प्रतीष्यावां ससंमदौ । प्रस्थितौ प्रवरामात्यचतुरङ्गबलान्वितौ ॥ ९४३ ॥ व्यक्ताव्यक्तौ च तौ वैश्वानरपुण्योदयौ मया । सार्द्धं प्रचेलतुर्मार्गो लङ्घितोऽथ कियानपि ॥ ९४४ ॥ इतश्च नरकद्वारभूतं दुष्टजनाश्रयः । जन्मभूरस्त्यनर्थानां रौद्रचित्ताभिधं पुरम् ॥९४५॥ तत्रानीतिपरः शिष्टविद्वेषी दुष्टसंग्रही । दुष्टाभिसन्धिनामास्ति राजा चरटसन्निभः ॥ ९४६ ॥ अनभिज्ञा परार्त्तीनामनुरक्ता निजे प्रिये । प्रियास्य निष्करुणताभिधाना पूतनाकृतिः ॥ ९४७ ॥ वृद्धिहेतुः पुरस्यास्य[3] वल्लभा तन्निवासिनाम् । तयोर्हिंसाभिधा चास्ति दुहितात्यन्तभीषणा ॥ ९४८ ॥ इतस्तामसचित्ताख्ये नगरेऽस्ति नरेश्वरः । सूनुर्द्वेषगजेन्द्राख्यो महामोहमहीपतेः ॥ ९४९ ॥ इतो वैश्वानरस्याम्बा

१ नेक्ष्यते क० ख० ग० घ० । २ अथ तं क० ख० ग० । ३ रौद्रचित्तपुरस्य ।

विमलानना । सुभाय मागधैः पठ्यमानं कनकशेखरम् ॥ ९२१ ॥ तत्र भावानुरागाय स्वभ्यस्तान्यसकलक्रिया । योगिनीव परारमाल ध्यायन्त्यस्ति तमेव सा ॥९२२॥ तस्यास्तावदगतस्यानवर्शनादखिलेऽप्यथ । विषीदति परीवारे रूपो रत्नवती सुधीः ॥९२३॥ यतः प्रभृति सुभाय नाम कनकशेखरम् । ततः प्रभृत्यसौ सखे स्वान्तशून्या मम स्वसा ॥९२४॥ मुग्धाया नूनमेतस्याश्चित्तचौरः स एव तत् । तावायास्यामि तदिव त निगूढास्यय यथा ॥ ९२५ ॥ विचिन्त्येति तथास्याते भूपालोऽपि व्यचिन्तयत् । चिमाकराय दत्तेय प्रमावस्यास्ति यद्यपि ॥९२६॥ तथापि नान्यथा संप्रत्येतस्या जीवित भवेत् । तत् प्रेष्यतेऽसौ कनकशेखराय स्वयवरा ॥ ९२७ ॥ कथञ्चित् बोधयिष्यामः पश्चादपि चिमाकरम् । ध्यात्वेति स तथाकुर्वन् रत्नवत्येति भाषितः ॥९२८॥ तातादमपि यास्यामि विमलाननया सह । अस्या हि विरहे नाह स्थातु क्षणमपि क्षमा ॥९२९॥ किन्तु नाह करिष्यामि पतिं कनकशेखरम् । यदङ्गनानां सापत्न्य महावैरस्य कारणम् ॥९३०॥ तदभीष्टस्य मित्रस्य पत्न्या भाव्य मया ततः । भवत्वेवमिति प्रोच्य तामपि प्राहिणोन्नृपः ॥९३१॥ नन्दनोर्मीश्चनेन्द्रन्यौ ते च निस्वप्रयाणकैः । देवाय वहिरुद्यानेऽत्र चिचेते समागते ॥९३२॥ ताभ्यां च विज्ञपयितुं स्वरूप प्रहितोऽस्म्यहः । देवपादान्तिके देवः प्रमाणमधुना ततः ॥ ९३३ ॥ श्रुत्वा कनकचूडस्तत् तयोः कन्यकयोस्तयोः । आवासं दापयामास चरसेनमहाधिपात् ॥ ९३४ ॥ अस्मान्सुमतिकेसरि

१ त्वमेव क० ग० घ० । २ पुरी क० घ०, पुरा ख० ग० । ३ माम कन० ख०, मामा कन० क० घ०, माम्ना कन० ग० । ४ ०मत्र्यमौ ता० क० ख० घ० । ५ स कन्यकयोस्तयो ख० । –६ ०र्हेयो ग० ।

किन्त्वियं स्यात् कुमारस्यानुरक्ता सर्वदा यदि । ततो रम्यं मया प्रोचे भान्युपायोऽत्र कः पुनः ? ॥ ९६५ ॥ स प्राहायमुपायोऽत्र यन्नाशङ्कयं त्वया क्वचित् । निर्मन्तुं[1] वा संमन्तुं[2] वा जन्तुं मारयता हठात् ॥ ९६६ ॥ सरागया किमनया भवितेति मयोदिते । स पुनः प्राह मत्तोऽपि सप्रभावेयमुच्चकैः ॥ ९६७ ॥ मयाऽऽलीढो नरो यस्मात् केवलं त्रासयेज्जनान् । श्लिष्टोऽनया[3] पुनस्तेषां नाशयेदपि जीवितम् ॥ ९६८ ॥ तदियं संमुखीकार्या कुमारेणेति तद्वचः । श्रुत्वाऽहं हन्मि शार्दूलशशैणादीन् पथि व्रजन् ॥ ९६९ ॥ जज्ञेऽनुकूला हिंसाथ जातोऽहं चातिभीषणः । बभूव प्रत्ययश्चापि वाक्ये वैश्वानरोदिते ॥९७०॥ प्राप्ता वयं च कनकचूड[4]मण्डलसन्निधौ । भद्रे ! विषमकूटाख्यस्तत्र चास्ति गिरिर्गुरुः ॥९७१॥ राज्ञः कनकचूडस्य देशोपद्रवकारिणः । तत्राम्बरीषनामानश्चरटाः सन्ति दुर्मदाः ॥९७२॥ पुरा कनकचूडेन विद्रुतास्ते च भूरिशः । ततस्तत्सुतमायान्तं तैर्ज्ञात्वा रुरुधे पथः ॥९७३॥ अथान्तिकगतेऽस्माकं दले किलकिलारवम्[5] । वानरा इव कुर्वाणाः प्रहर्तुं ते डुढौकिरे ॥ ९७४ ॥ तैश्चरटभटैरसङ्कटा अपि बलोत्कटाः । अयुध्यन्त शरासारैरसुरैरमरा इव ॥९७५॥ बहुत्वाद् द्विषतामीषद्भग्नेष्वस्मद्भटेष्वथ । लग्नः प्रवरसेनेन चरटेशेन मे रणः ॥ ९७६ ॥ ततोऽविवेकितासूनुवटकास्वादतस्तदा । ग्रीष्मेऽर्क इव जज्ञेऽहं दुर्दर्शस्तेजसा भृशम् ॥९७७॥ विपक्षः स क्षणादेव पुण्योदयविभावतः । शस्त्रास्त्रविद्याशक्तोऽपि विदधे विधुरो मया ॥९७८॥ स्यन्दनादवतीर्याथ करवालकरो रयात् । मत्संमुखमधाविष्ट स रुष्टश्चरटेश्वरः ॥ ९७९ ॥ मयाथ हिंसाश्लिष्टेन तस्याभ्यापततो जवात् । अच्छिद्यतार्द्ध[6]-

१ निरपराधम् । २ सापराधम् । ३ हिंसया । ४ कनकशेखरम् । ५ ०लिकि० ता० क० ग० घ० । ६ शरेण ।

प्रागुक्ता याऽविवेकिता । सा तस्य भूभुजो भार्या मदस्यन्मोअलोचने ! ॥ १५० ॥ सा च वैश्वानरे गर्भस्थिते तामसचित्ततः । रौद्रचित्तपुरे तत्राऽऽययौ केनापि हेतुना ॥ १५१ ॥ स हेतुः सकलत्रस्य सपुरस्य च भूभुजः । समग्रोऽपि व्यतिकरश्चोपरत्र प्रपञ्च्यते ॥ १५२ ॥ स्वरूपं चेदं भद्रे ! नाज्ञासिषमहं तदा । सदागमानुमानात्तु मया ज्ञात्वाऽधुनोच्यते ॥ १५३ ॥ अविवेकितयाऽपात्र स्थितायाः समभावत । दुष्टाभिसन्धिना तेन सार्धं परिचय स्ततः ॥ १५४ ॥ यतो द्वेषगजेन्द्रस्य प्रतिपन्नः स भूपतिः । ततोऽविवेकितामेतां स्वामिनीं मन्यते सदा ॥ १५५ ॥ मयाऽविवेकिता सा मां नीत्वा मर्त्यगतौ गता । रौद्रचित्तात् ततोऽभ्येत्य स्नेहेनास्मान् मदन्तिके ॥ १५६ ॥ मम माऽन्येव साऽद्भुत वैश्वानरमिमं सुतम् । आत्मस्वजनवर्गं च क्रमादस्मै न्यवेदयत् ॥ १५७ ॥ वैश्वानरस्य तस्यैवं तवमित्राऽभवत्तदा । रौद्रचित्ते नयाम्येनं कुमारं नन्दिवर्धनम् ॥१५८॥ दापयामि च तां हिंसामस्मै दुष्टाभिसन्धिना । येन जातु न मे कापि कार्यं व्यभिचरत्यसौ ॥ १५९ ॥ अथोक्तस्तत्र यानाय तेनाहमिदमभ्यधाम् । तत्रागच्छन्तु कनकशेखराद्या इमेऽपि किम् ? ॥ १६० ॥ ततो वैश्वानरोऽवादीदन्तरङ्गमिदं पुरम् । एकेनैव मया सार्धं यातव्यं तत्र तत्त्वया ॥ १६१ ॥ ततस्तद्वचसा तत्र गतोऽहं तेन संयुतः । अज्ञानहतचित्तत्वादविमृष्टविचारितः ॥ १६२ ॥ वैश्वानरोपरोधेन दत्तां दुष्टाभिसन्धिना । तत्रोपयम्य तां हिंसां भिक्षितोऽहं पुनर्बले ॥ १६३ ॥ मार्गेऽथ गच्छता वैश्वानरेणाहमभाषिषि । कुमाराय कृतार्थोऽहं हिंसया ते विवाहनात् ॥ १६४ ॥

१ द्वेषगजेन्द्रस्य । २ दुष्टाभिसन्धिः । ३ कास्या क० ख० ग० घ० ।

ङ्गाधिपतिर्नृपः ॥९९५॥ विभाकरपितुस्तस्य प्रभाकरधराभुजः । महाबलतयायं हि वर्त्तते स्वामिसन्निभः ॥ ९९६ ॥
कनकशेखर-राज्ञः कनकचूडस्य वर्त्तते यस्तु संमुखः । वङ्गाधिपो द्रुमो नाम स विभाकरमातुलः ॥ ९९७ ॥
स्यास्ति संमुखस्तु कुमार ! यः । स विभाकर एवायं प्रभाकरनृपात्मजः ॥९९८॥ एवमेष समाख्याति यावद् दूतो ममाग्रतः । लग्नमायोधनं तावदुभयोरपि सेनयोः ॥ ९९९ ॥ प्रभूतहेतिसंपातपर्यस्ततपनातपः । प्रसृतासृक्सरित्पूरश्चिरं जज्ञे च सङ्गरः ॥ १००० ॥ भीषणेऽथ रणे तत्र वर्त्तमाने मदोद्धुरैः । परैः समभरं दत्त्वा भग्नमस्मद्बलं
ण तु ॥ १००१ ॥ विगाहमाना नः सैन्यकासारं कासरा इव । अस्मदन्तिकमापेतुस्तेऽथ प्रत्यर्थि-
॥ १००२ ॥ अथाविवेकितासूनुवटकास्वाददारुणः । कलिङ्गाधिपमाह्वासि वचोभिः कटुभिर्युधे
शस्त्रास्त्रवृष्टिनिर्नष्टकौतुकायातखेचरः । तत्रावयोरथाक्षीणः क्षणं जज्ञे रणक्षणः ॥ १००४ ॥
मया वक्षः शक्त्या द्विविधयाप्यथ । कलिङ्गेशस्य कालिङ्गवददार्यत लीलया ॥ १००५ ॥ सार्द्धं
द्रुमानो द्रुमोऽपि सः । मया साक्षेपमाहूतो ववलेऽभिमुखं मम ॥ १००६ ॥ दूरादेवार्द्धचन्द्रेण
शिरः । मया फलमिवाकर्त्ति हिंसालिङ्गितमूर्त्तिना ॥ १००७ ॥ तयोर्भग्नं ततः सैन्यमस्माकं
च मे जयारावः सिद्धविद्याधरादिभिः ॥ १००८ ॥ इतः पूँपत्कैः कनकशेखरश्च विभाकरः ।
तैरस्त्रैर्युयुधाते महाबलौ ॥ १००९ ॥ विभाकरो रथं त्यक्त्वा निष्ठितान्याखिलायुधः । उद्यतासिरधाविष्ट

णः ग० । २ समुखं क० ख० ग० घ० । ३ बाणेन । ४ बाणैः ।

चन्द्रेण शिरः कमललीलया ॥९८०॥ अमूरय मुदासाक बले कलकलः कला। व्यधुर्ममोपरिष्टाच्च पुष्पवृष्टिं दिवौकसः ॥ ९८१ ॥ हरिनाथ बल धन दीनमङ्गीकृत मया। कुमारेण च सम्प्राप्तौ कुशावर्तपुरं ततः ॥ ९८२ ॥ राजा कनकचूडोऽसहायस्या सुदिनेऽधिकम्। आचपोरतिविमर्दोत्प्रवेशकमकारयत् ॥ ९८३ ॥ विमलाननां कनकशेखरेण शुभे दिने। मया रत्नवती चाथ पृथ्वीशः पर्यणाययत् ॥ ९८४ ॥ दिनत्रये व्यतीतेऽथ क्रीडितुं ते उभे अपि। पूर्वमुद्युक्तपानमावामापृच्छय जग्मतुः ॥ ९८५ ॥ आवामपि नृपास्थाने चावहुर्चाविहे तदा। तावदाविरभूद् दासीपुत्रवेत्सुमतो चरिः ॥ ९८६ ॥ किमेतदिति संभ्रान्तं यथावास्थानमुत्थितम्। इते नवोढे केनापीति प्रवाद मचामुमोत् ॥ ९८७ ॥ अथासमक्षमुपाल दधावे तस्य पृष्ठतः। ददर्श परसेनां च व्रजन्ती नातिदूरतः ॥ ९८८ ॥ तत्र वैमाकरं नामोद्घुष्यमाणं च मागधैः। निशम्य सर्वैरसामिमिन्वित स्वस्वचेतसि ॥ ९८९ ॥ पूर्वं यस्य प्रभावस्या दशाऽऽसीद्विमलानना। सोऽयं विभाकरो वध्यहारं कुरुते ध्रुवम् ॥ ९९० ॥ ध्यात्वेति पश्चेर्षात्मेस्वसिमधुवेष्टिते मया। चलेऽरिवलं मार्गैर्गजाभोत इव त्रिभिः ॥ ९९१ ॥ अरुध्यन्त ततीशाच चपामि सुसमागताः। मया कनकचूडेन तत्सुतेन च ते त्रयः ॥ ९९२ ॥ इतः कनकचूडापाऽऽवस्थो यः पूर्वमागतिम्। नन्दनोर्वीशमन्द(न्दि)न्योस्तदा चास्ति स मेऽन्तिके ॥९९३॥ अरे ! विकट ! आनीय क एते नायकाग्रपः। एवं च स मया पृष्टः पृष्ठार्थविदुरोऽवदत् ॥ ९९४ ॥ त्रिधाभूतपरानीकमध्ये यः संमुखस्तव। सोऽयं समरसेनाख्यः कलि

१ चिन्तयता० ता० क० ग० घ०। २ ०चूडक० क० ख० घ०; ०सुतक० ग०। ३ ०कम् क० ख० घ०।

ङ्गाधिपतिर्नृपः ॥९९५॥ विभाकरपितुस्तस्य प्रभाकरधराभुजः । महाबलतयायं हि वर्त्तते स्वामिसन्निभः ॥ ९९६ ॥
राज्ञः कनकचूडस्य वर्त्तते यस्तु संमुखः[2] । वङ्गाधिपो द्रुमो नाम स विभाकरमातुलः ॥ ९९७ ॥ कनकशेखर-
स्यास्ति संमुखस्तु कुमार ! यः । स विभाकर एवायं प्रभाकरनृपात्मजः ॥९९८॥ एवमेष समाख्याति यावद् दूतो
ममाग्रतः । लग्नमायोधनं तावदुभयोरपि सेनयोः ॥ ९९९ ॥ प्रभूतहेतिसंपातपर्यस्ततपनातपः । प्रसृतासृक्सरि-
त्पूरश्चिरं जज्ञे च सङ्गरः ॥ १००० ॥ भीषणेऽथ रणे तत्र वर्त्तमाने मदोद्धुरैः । परैः समभरं दत्त्वा भग्नमस्मद्बलं
क्षणात् ॥ १००१ ॥ विगाहमाना नः सैन्यकासारं कासरा इव । अस्मदन्तिकमापेतुस्तेऽथ प्रत्यर्थि-
पार्थिवाः ॥ १००२ ॥ अथाविवेकितासूनुवटकास्वाददारुणः । कलिङ्गाधिपमाह्वासि वचोभिः कटुभिर्युधे
॥ १००३ ॥ शस्त्रास्त्रवृष्टिनिर्नष्टकौतुकायातखेचरः । तत्रावयोरथाक्षीणः क्षणं जज्ञे र[1]णक्षणः ॥ १००४ ॥
हिंसावेशान्मया वक्षः शक्त्या द्विविधयाप्यथ । कलिङ्गेशस्य कालिङ्गवद दार्यत लीलया ॥ १००५ ॥ सार्द्धं
कनकचूडेन युद्धमानो द्रुमोऽपि सः । मया साक्षेपमाहूतो ववलेऽभिमुखं मम ॥ १००६ ॥ दूरादेवार्द्धचन्द्रेण[3]
द्रुमस्याथ द्रुतं शिरः । मया फलमिवाकर्त्ति हिंसालिङ्गितमूर्त्तिना ॥ १००७ ॥ तयोर्भग्नं ततः सैन्यमस्माकं
मुदितं पुनः । चक्रे च मे जयारावः सिद्धविद्याधरादिभिः ॥ १००८ ॥ इतः पृषत्कैः[4] कनकशेखरश्च विभाकरः ।
युयुधाते महाबलौ ॥ १००९ ॥ विभाकरो रथं त्यक्त्वा निष्ठितान्याखिलायुधः । उद्यतासिरधाविष्ट
युद्ध्वोच्चैर्दैवतैरस्त्रैर्युयुधाते महाबलौ ॥ १००९ ॥ विभाकरो रथं त्यक्त्वा निष्ठितान्याखिलायुधः । उद्यतासिरधाविष्ट

१ महारणः ग० । २ समुखं क० ख० ग० घ० । ३ बाणेन । ४ बाणैः ।

न्तु कनकध्वजम् ॥ १०१० ॥ स्यन्देन स्यन्दनं हित्वा ततः कनकध्वजः । कृपाणपाणिस्तं योद्धुं दधावे क्रोधदुर्धरः ॥ १०११ ॥ सन्नाहसज्जि चन्द्र कृत्वा ततः कनकध्वजः । मारस्य खड्गमुष्ट्योर्ष्वा विमाकरमपातयत् ॥१०१२॥ दर्पोद्धुरं फलकस विनिमार्य निजे पदे । वायुदानाम्बुसेकाद्यैस्त समाश्वासयच्च सः ॥ १०१३ ॥ लब्धसंज्ञ तमूचे च साधु साधु नृपात्मज ! । न क्षत्रियधनं तच्च त्वया मुक्त मनागपि ॥१०१४॥ तदिदानीं पुनर्योद्धुमुत्तिष्ठ क्षत्रियोत्तम ! । एतावता जितो नासि विजयी चास्मि नेयता ॥ १०१५ ॥ तद्वचोभिस्ततो हृष्टस्त ममाषे विमाकरः । आर्य ! पर्याप्तमधुना युधाऽस्त्विमूलया ॥ १०१६ ॥ भवता विजितो नाहं करवालेन केवलम् । अमुना चरितेनापि किन्तु माहात्म्यशंसिना ॥ १०१७ ॥ उक्तवन्त तमेव स्वरथे कनकध्वजः । स्वयमारोपयामास सहोदरमिवादरात् ॥ १०१८ ॥ नयोढे राजपुत्र्यौ ते गृहीत्वाथ विवाहवाः । पुरे चयमविक्षाम हृष्टोमोदयोमिते ॥ १०१९ ॥ ततः प्रमुदिताशेषपौरलोकविलोकितौ । अगमतुर्नृपकनकध्वजौ स्वस्वसेश्मनि ॥ १०२० ॥ वीरो कलिङ्गसङ्ख्यो विख्याते येन लीलया । पराजितः सोऽप कुमारो नन्दिवर्द्धनः ॥ १०२१ ॥ अहो ! धैर्यं महोरूपमहो ! भाग्यमहो ! बलम् । तद्विमितममर्त्योऽयं न मर्त्यो भवतीक्षः ॥ १०२२ ॥ इय रत्नवती धन्या या बभूवास्य वल्लभा । धन्या वयमपि येप यासां दृष्टिपथ ययौ ॥ १०२३ ॥ पद्मा सकलमप्येतन्नूनं धन्यतम पुरम् । यदद्भुतचरित्रेण पवित्रीक्रियतेऽमुना ॥ १०२४ ॥ शृण्वन्नगरनारीणामिति प्रीतस्तदा गिरः ।

१ वेगेन । २ नृपात्मजः ता०, नृपात्मजम् क० म० घ० । ३ ०मुना ता० ।

अहमप्यगमं राजकुलाभ्यर्णे रथस्थितः ॥ १०२५ ॥ इतश्च पद्मनाथस्य दुहिता जयवर्मणः । आस्ते कनकचूडस्य प्रिया मलयमञ्जरी ॥१०२६॥ तस्याः कन्यास्ति कन्दर्पनृपक्रीडावनावनिः । रूपास्तत्रिदशस्त्रैणरूपा कनकमञ्जरी ॥१०२७॥ तां च वातायनासीनां पश्यन्तीं मां तदादरात् । विव्याध मदनव्याधः सारङ्गीमिव सायकैः ॥१०२८॥ तस्यां लावण्यपीयूषवाप्यां दृष्टिः ससंभ्रमा । पपात तृषितश्रान्तपान्थस्येव ममापि हि ॥ १०२९ ॥ तारामेलक्षणादेवेक्षणेन क्षणमीक्षणम्[1] । अयुज्यत मिथश्चित्तं चित्तेन च तदावयोः ॥ १०३० ॥ ततस्तेतलिना सारथिना ज्ञात्वास्मदाशयम् । लाघवस्य भयान्नुन्नरथः स्वावासमासदम्[2] ॥ १०३१ ॥ विमुक्ताशेषकर्तव्यौ स्मरज्वरभरातुरौ । आवासेऽथ[3] दिवाशेषमनयाव[4] कथञ्चन ॥ १०३२ ॥ किं ममावस्थितस्यात्र सांप्रतं गततेजसः । इतीव विमृशन् भानुर्द्वीपान्तरमथागमत् ॥१०३३॥ वासरेणाप्यथ क्षीणं तत्क्षणं सह सन्ध्यया । तादृग्मित्रवियोगो हि विसोढुं केन शक्यते ? ॥१०३४॥ विद्राणवदनाम्भोजा विदूरीभूतवल्लभा । म्लानिमासादयामास चक्रवाकीव पद्मिनी ॥१०३५॥ कज्जलैरिव संपूर्णं कर्दमैरिव मेदुरम् । तापिच्छैरिव[5] संच्छन्नं ध्वान्तग्रस्तं बभौ जगत् ॥१०३६॥ तमालकज्जलश्यामध्वान्तपन्नगमौलिषु । बभुः फणामणिनिभास्तारकास्तारकान्तयः ॥ १०३७ ॥ अगाधे तिमिराम्भोधौ रत्नौघा इव सर्वतः । प्रदीपाः प्रस्फुरन्ति स्म प्राज्यप्रसृमरप्रभाः ॥१०३८॥ अथोल्ललास शीतांशुः पूर्वा-

---

१ ०क्षण इवे० ता० क० ख० घ० । २ ०दृशम् घ० । ३ आवामथ क० ख० ग० । ४ ०षं गमयावः ग० ।
५ तमालवृक्षैरिव ।

प्रागमवाप्नुसे । तिलकमान्वन श्यामकर्पूरलक्ष्मीवतः ॥१०३९॥ प्रासादः कलशेनेव छत्रेणेव नरेश्वरः । रेजे चन्द्रेण पूर्वाद्रिर्विनोदस्यशालिना ॥१०४०॥ तमःकरिघटां विष्वग् विचरन्तीं जगद्वने । कराग्रैर्दारयामास मृगेन्द्र इव चन्द्रमाः ॥ १०४१ ॥ सुधाभिरिव निर्धौतं क्षीरोदेनेव पूरितम् । कुङ्कुमासैरिवाकीर्णं ज्योत्स्नापूर्णं जगद् बभौ ॥ १०४२॥ विशिखैरिव कामस्य करयोः शशिनः करैः । त्रियामा यापयामेव सागास्थ्कच्छादयायायोः ॥ १०४३ ॥ प्राप्यां प्रादुर्बभूवाथ प्रभावश्च प्रेमाप्रमोः । मित्राम्भोराशिमौर्वाग्नेर्ज्वालाजालमिवोत्थितम् ॥ १०४४ ॥ कराग्रैरथ पूर्वाद्रितटान्यालम्ब्य वारिधेः । निर्ययावर्यमानेककोककलोकविलोकितः ॥ १०४५ ॥ तमस्तरुवनं विष्वग् कुसुमं विस्फुरत्करः । मूलादुन्मूलयामास यथेनावनवारणः ॥ १०४६ ॥ विध्वस्ते तिमिरे दूरं वैधेनेव विवस्वता । लोचनानीव पद्मानि विकासं शिश्रियुस्तराम् ॥ १०४७ ॥ उदितेऽप्येषमुष्णांशौ समायातेऽपि तेतलौ । च्यायं त्वामेव पद्माक्षीं नाहं किञ्चिद्वेत्त्ययम् ॥ १०४८ ॥ इतः कनकचूडेन प्रोचे कनकशेखरः । क्षिपज्ञयसमुद्भूत दर्पोविषयशालिना ॥ १०४९ ॥ येनानेन क्षितौ नन्दिवर्धनेन महाबलौ । कलिङ्गपञ्चाधिपती न सामान्यः कुमार । सः ॥ १०५० ॥ न च प्राप्यम्ययेनापि वयमस्य महात्मनः । निष्कम्प वत्स ! गच्छामः प्राप्तकालमिदं ततः ॥ १०५१ ॥ विधेते मम मलयमञ्जरीकुक्षीसंभवे । मणिमञ्जरीकनकमञ्जर्यौ तनये उभे ॥ १०५२ ॥ ततः पुरैव सा नन्दिवर्धनज्येष्ठयाचे । पीठवर्धनसंज्ञाय दत्तास्ति मणिमञ्जरी ॥ १०५३ ॥ युज्यते सांप्रतं

१ रजनी । २ सूर्येण । ३ विस्फु० ष० ।

तस्मै दातुं कनकमञ्जरी । तथेति तां पितुर्वाचं मेने कनकशेखरः ॥ १०५४ ॥ प्रदातुमथ तां मह्यं नृपः कनकमञ्जरीम् । मत्पार्श्वे प्रजिघायाशु मन्त्रिणं विमलाभिधम् ॥ १०५५ ॥ सोऽप्येत्य नत्वा मां प्रोचे देवस्त्वां देव ! वक्त्यदः । यदस्ति दुहितास्माकं नाम्ना कनकमञ्जरी ॥ १०५६ ॥ तामस्मदुपरोधेन कुमारो बन्धुवत्सलः । स्वपाणिग्रहणेनाशु प्रमोदयितुमर्हति ॥ १०५७ ॥ मयाथ मुदितेनास्यं पार्श्वस्थस्य स्वसारथेः । वीक्षितं तेतलेः सोऽपि प्रोचे सद्भावकोविदः ॥१०५८॥ कुमारेणानुवर्त्योऽयं कुशावर्त्तपुरेश्वरः। प्रणयप्रार्थना देव ! तस्येयं मान्यतां ततः ॥ १०५९ ॥ प्रमाणं नस्त्वमत्रासि त्वं प्रतीत्युदिते मया । महाप्रसाद इत्युक्त्वा समुत्तस्थौ स मन्त्र्यथ ॥१०६०॥ स्वरूपेऽथ यथावृत्ते गत्वा तेन निवेदिते । प्रमोदमेदुरमनाः समभूद् भूमिवासवः ॥ १०६१ ॥ सायं लग्नेऽथ तत्रैव वासरे स नरेश्वरः । आवयोः कारयामास करग्रहमहोत्सवम् ॥ १०६२ ॥ तत्र चिन्तितसंजाते पाणिग्रहमहामहे । तदाभूदावयोः प्रीतिः कापि वाचामगोचरः ॥ १०६३ ॥ इतो विभाकरस्यापि विहिते व्रणकर्म्मणि । संजातदेहारोग्यस्य मैत्री सार्द्धं मयाऽभवत् ॥१०६४॥ संमान्य सोऽन्यदा राज्ञा विसृष्टः स्वपुरं ययौ । ते चाम्बरीषचरटा मयाऽपि हि विसर्जिताः ॥ १०६५ ॥ कालं कियन्तमप्यस्थां तत्रैव विषयानहम् । भजन्कनकमञ्जर्या रत्नवत्या च संयुतः ॥ १०६६ ॥ अन्यदा यामिनीयामे चरमेऽहमचिन्तयम् । पुण्योदयस्य माहात्म्यमविदन्मूढमानसः ॥१०६७॥ अहो ! वैश्वानरस्यास्य कोऽपि स्नेहभरो मयि । मत्कार्यायैष मुक्तात्मकार्यस्ताम्यति यत्सदा ॥ १०६८ ॥

१ रा० ख० ।

प्रियापा अपि हिंसापा अहो ! माहारम्यमद्भुतम् । मित्रेण वर्णितानेन यास्कारगसौ ध्रुवम् ॥ १०६९ ॥ मया पञ्च विठौ वज्रकठिनाधिपती नृपौ । साधुवादम पञ्चाशे मनेष्वस्यन्तदुर्लभः ॥ १०७० ॥ यदसौ च मयाऽप्रापि प्रिया कनकमञ्जरी । प्रभापासिञ्चयः सोऽयं समप्रोऽप्यनयो खलु ॥ १०७१ ॥ सुदेवो यो ममाभीष्टो प्रशसति निरन्तरम् । स एव मे सुहृत् प्रेयान्प्रतिपक्षः परः पुनः ॥ १०७२ ॥ एष मे व्यापतः क्रूरविषवाऽज्ञनि सा यया । विनापि वटकास्वाद साधादैश्वानरोऽभवम् ॥ १०७३ ॥ ततो निर्मन्तुमप्यारमपरिच्छदमहं सदा । आक्रोशामि ताडयामि सर्वं ज्वलितावपः ॥ १०७४ ॥ हिंसयाश्लिष्यमाणस्य पुनः संततरक्तया । बभूव मम पापर्द्धिव्यसन सदर्शनतम् ॥१०७५॥ तच्च मचेष्टितं दृष्ट्वा दध्यौ कनककेसरः । अहो ! किमिदमेतस्य चरित्रमसमञ्जसम् ॥१०७६॥ हिंसावैश्वानराश्लिष्टो यदयं पापकर्मणि । प्रवर्त्तमानो धर्मस्य दूरात् दूरेण वर्त्तते ॥ १०७७ ॥ तदह वारया म्येनमेतस्मात्पापकर्मणः । येत्पुनः कथमप्येष स्यात् सर्वगुणभाजनम् ॥ १०७८ ॥ केवलस्य च मे वाक्य म्नाविभ कोपनम् । तातास्यर्पे पुनः प्रोक्तः कुर्यात् तथावलज्जया ॥१०७९॥ तदहं शिक्षयिष्यामि प्रस्तावे तात संयुतः । ध्यात्वेति स गृहीतार्थ चकार पितरं निजम् ॥१०८०॥ अथान्येद्युः समासीनो मां नमस्कर्तुमागतम् । भूर्ख माश्वसदूर्पीशः धीर्यैर्धैर्यादिभिर्गुणैः ॥१०८१॥ वत्सवोऽप्यापदयातेऽङ्गेनैव स्वरूपतः । कुशलो नृपयस्येन किन्तु पद र्पासूषम् ॥ १०८२ ॥ स कीदृशाति भूपेन पृष्टः स पुनरभ्यधात् । सद्वैश्वानरो हिंसा भार्या चास्त्यस्य गर्हिता

१ ०वर्द्धमा० क० ख० ग० घ० ।

॥१०८३॥ तत्संगतिरतस्यास्य सर्वाप्यन्या गुणावली । पुष्पश्रीरिव काशस्य निष्फला तात! सर्वथा ॥ १०८४॥ महीपतिरथोवाच यद्येवं तर्हि पापयोः । त्याग एव तयोर्नृणां श्रेयान्नाश्रयणं पुनः ॥ १०८५ ॥ वयस्यः स हि कर्त्तव्यो यः पापविनिवर्त्तकः । कार्या भार्यापि सा पुंसा या लोकद्वयसाधिका ॥ १०८६ ॥ ततस्तयोस्तया वाचा घृताहुत्येव पावकः । ज्वलितोऽहं नृपं वाक्यैर्निष्ठुरैरभ्यधामिति ॥ १०८७ ॥ अरे! मृतक! मत्प्राणान् हिंसा-वैश्वानराविमौ । पापौ जल्पसि ? नो वेत्सि ? राज्यं कस्यौजसा मम ॥ १०८८ ॥ अनयोर्हि विना मूढ! पित्रापि भवतः किमु । कलिङ्गवङ्गाधिपती शक्येते जेतुमुद्धतौ ? ॥१०८९॥ तत्पुत्रस्तु मयेत्यूचे किमु मत्तोऽपि पण्डितः । वर्त्तसे वृषल[1]! त्वं मां यदेवं शिक्षयस्यरे! ॥ १०९० ॥ मच्चेष्टितमथालोक्य तादृशं तावज्ञया । स्मितं विदधतू[2] राजयुवराजौ सविस्मयौ ॥१०९१॥ अये! मामवमन्येते हास्येनैतौ दुराशयौ । तदेतौ शिक्षयामीति कृष्टाथ क्षुरिका मया ॥१०९२॥ उक्तं च भवतं गेहेनर्दिनौ रे! कृतायुधौ । हिंसावैश्वानरस्थाम येन वां दर्शयाम्यहम् ॥ १०९३ ॥ लौललोलं[3] यममिव प्रेक्ष्य मां कृष्टशस्त्रिकम् । तौ कुमारनृपौ मुक्त्वा दूरेऽभूदखिला सभा ॥ १०९४ ॥ अथागृहीतसङ्केते! पुण्योदयवशादहम् । तयोर्घातमकृत्वैव निर्गत्यागां स्ववेश्मनि ॥ १०९५ ॥ दृष्टौ मयाथ तौ राजयुवराजौ रिपूपमौ । दुःस्वप्नस्येव मे वार्त्तां कुर्वाते नैव तावपि ॥ १०९६ ॥ अन्येद्युर्दारुको नामाययौ दूतो जयस्थलात् । स मया प्रत्यभिज्ञातः सत्कृतश्च व्यजिज्ञपत् ॥ १०९७ ॥ प्रज्ञाकरमतिघनबुद्धिविशालनामभिः । कुमार! भवदभ्यर्णे

---

१ नीच!। २ ०तां रा० ग०। ३ ललमानजिह्वम्।

प्रहितोऽहं महत्तमैः ॥१०९८॥ मयाथ चिन्तितं चञ्चाम्याकुलीकृतचेतसा। अथ महत्तमैः प्रेषि तातेन न पुनः कथम् ॥ १०९९ ॥ कुशलं तातपादानामिति पृष्टो मयाथ सः। जगाद पुनरप्येवं कुमार ! कुशलं खलु ॥ ११०० ॥ केवलं यवनाथेन यवनास्येन भूभुजा। वारिधिपथमादाय वयस्थलमरुध्यत ॥ ११०१ ॥ पर्याहारे ततो भग्ने पतिना छलिनारिणा। गम्भीरहृदयोऽप्युच्चैर्देवोऽभूद्विधुरो मनाक् ॥ ११०२ ॥ अन्यं निवारणोपायमपश्यन्तोऽस्य विद्विषः। संभूयालोचयामासुरेवं ते महत्तमाः ॥ ११०३ ॥ मदोद्धतमहुं जेतुमरातिं नन्दिवर्धनः। कुमार एवालम्भूष्णुः सुपर्ण इव पन्नगम् ॥ ११०४ ॥ ततः कुमाराह्वानाय धृतस्तूर्णं प्रहीयते। ज्ञापनीयं न देवस्य केवलं सर्वथाप्ययः ॥ ११०५ ॥ यतस्तनयवात्सल्यात् कदापीदृक्संकटे। कुमारागमनं तस्य सुन्दरं नैव भासते ॥ ११०६ ॥ ततस्तैः सर्वसंमत्या प्रहितोऽहमिहागमम्। कुमार ! देवप्रच्छन्नं प्रभाव सांप्रतं महान् ॥ ११०७ ॥ हिंसावैश्वानराद्युच्चैस्तच्छ्रुत्वाथ यवस्मतुः। सुन्दरोऽवसरस्तत्रापयोर्भावीति संमदात् ॥ ११०८ ॥ मनास्यायैव कनकचूडतद्भ्रयोस्तयोः। तदेवाथ यथाकार्हं यतुरङ्गचमूयुतः ॥ ११०९ ॥ तदा कनकमञ्जर्या वत्सलत्वेन केवलम्। मया सह समागन्तुं प्रहिता मणिमञ्जरी ॥ १११० ॥ अथ वैश्वानरेणाहं कुर्वन् विविध संकथाः। जयस्थलपुराभ्यर्णमगमं कतिभिर्दिनैः ॥ ११११ ॥ विलोक्य सहसा तत्र परितः वेरवाहिनीम्। समनह्यत युद्धाय दर्पमसदनीकिनी ॥ १११२ ॥ दृष्ट्वा सर्वाभिसारेणापतन्ती मत्सैवाहिनीम्। संनद्धाभिमुखं दर्पा

१ यद्भुवैमाय। २ सेना। ३ ०वेमाम्।

दाययौ द्विषतां चमूः ॥ १११३ ॥ कल्पान्तमिलितप्राच्यप्रतीच्याम्भोधिभैरवः । अभूदथ रणारम्भः सेनयोरु-
मयोरपि ॥ १११४ ॥ कृत्वा क्षणं रणं रुग्णोऽस्मद्दले तेन वैरिणा । तमभ्यधाविषमहं केशरीवाभिकुञ्जरम्
॥ १११५ ॥ रथौ रणरसेनाथ मिलितौ गाढमावयोः । समुत्पत्याथ वङ्गेशशिरश्छिन्नं मयासिना ॥ १११६ ॥
ततः संमदसंपूर्णा वर्णयन्तः पराक्रमम् । मन्मूर्ध्नि कुसुमक्षेपं चक्रिरे सुरखेचराः ॥ १११७ ॥ मत्सैन्यमथ
संजज्ञे हर्षकोलाहलाकुलम् । तच्च सर्वं परानीकं समजनि वशंवदम् ॥ १११८ ॥ सपौरः सपरीवारः सशुद्धान्तः
ससंमदः । पुरान्निर्गत्य तातोऽथ मत्संमुखमुपाययौ ॥ १११९ ॥ स्यन्दनादवतीर्याहमपतं तातपादयोः । सोऽ-
प्युत्थाप्य समालिङ्गन्मां मूर्द्धनि चुचुम्ब च ॥ ११२० ॥ अहमम्बां ननामाथ सापि चाश्लिष्य मूर्द्धनि । परि
चुम्ब्य च हर्षाश्रुपूर्णाक्षी[3] मामभाषत ॥ ११२१ ॥ नूनमेतज्जनन्यास्ते हृदयं वज्रनिर्मितम् । तवापि विरहे वत्स !
विदीर्णं शतधा न यत् ॥ ११२२ ॥ अस्मान्नगररोधाच्च दिष्ट्याऽऽकृष्टा वयं त्वया । तच्चिरं नन्द तच्छ्रुत्वा जज्ञेऽहं
न्यङ्मुखो ह्रिया ॥ ११२३ ॥ ततोऽहं स्यन्दनारूढो जननीजनकादियुक् । महेन महता तत्र प्रविवेश जयस्थले
॥ ११२४ ॥ ततो राजकुले गत्वा नत्वा च पितरावहम् । स्वावासमगमं पौरोत्सवप्रीणितमानसः ॥ ११२५ ॥
पुण्योदयवशाज्जज्ञे ममेयं च तदोन्नतिः । हिंसावैश्वानरजेयमिति चित्ते मम त्वभूत् ॥ ११२६ ॥ विधाय दिन-
कर्त्तव्यमशेषमथ सुस्थितः । समं कनकमञ्जर्या शर्वर्यामहमस्वपम् ॥ ११२७ ॥ उत्थायाथ निशाशेषेऽटव्यां

१ रुद्धेऽस्म० घ० । २ ०माज० ता० क० ग० घ० । ३ क्षा मा० क० ख० घ० ।

पापर्द्धयेऽगमम् । हत्वा च प्राणिनस्तत्र सन्ध्यायां गृहमागमम् ॥ ११२८ ॥ तदा च विदुरं तात प्रोवाच कथमद्य न । कुमारो दृश्यते भद्र ! ततः सोऽप्यस्मयाविति ॥ ११२९ ॥ देवाद्य प्रातरेवाहं स्मरन्मैत्रीं चिरन्तनीम् । कुमारस्यालयेऽगच्छं नाद्राक्षं तत्र तं पुनः ॥ ११३० ॥ ततस्तस्य परीवारः प्रोवाच मृगयाकृते । रात्रावेव गतोऽटव्यां कुमारो नास्त्यतो गृहे ॥ ११३१ ॥ किमद्यैव गतः किं वा तदर्थं याति सोऽन्वहम् । इति पृष्टो मया सोऽथ जगाद पुनरप्यदः ॥ ११३२ ॥ असौ हिंसा कुमारेण परिणीता यदाद्यपि । तदादि पार्श्वं नित्य नान्यथा लभते रतिम् ॥ ११३३ ॥ मयाथ चिन्तितमहो ! दुर्दैवेन हता वयम् । कुमारस्य कुसंसर्ग पौनःपुन्यविधानतः ॥ ११३४ ॥ अस्ति वैश्वानरस्तावत्पुराप्यस्याधमः सुहृत् । अधुना तु कुतोऽप्यस्य हिंसा पापा प्रियाऽभवत् ॥ ११३५ ॥ तदत्र किं विधातव्यमिति चिन्तयतो मम । दिनमद्यतनं देव ! व्यतीयाय कथञ्चन ॥ ११३६ ॥ कुमारादर्शने हेतुं जानीहि तदयं प्रभो ! । तदाकर्ण्य जगादैव तातोऽपि विमनायितः ॥ ११३७ ॥ मृगयाव्यसनं भद्र ! महापापमिदं मतम् । न चास्मद्वंशजैरेतत्कारणाद्यैरसेव्यत ॥ ११३८ ॥ तदस्य देवभूतेयं हिंसा भार्योपमा यदि । निवार्यते कुमारस्य सुन्दरं जायते तदा ॥ ११३९ ॥ विदुरोऽप्याह वैश्वानरवन्मित्रसमा । कुमारस्य प्रियतमा देवेयमपि लक्ष्यते ॥ ११४० ॥ पश्चाज्जिनमतज्ञाख्यः स एवात्र निमित्तवित् । भूपते पुनरायातस्तदाहूय स पृच्छ्यते ॥ ११४१ ॥ तातादेशात्तमाहूय विदुरोऽथ

१ ०पुण्यवि० पा० च० प०।

प्रस्तुतार्थमचीकथत् ॥ ११४२ ॥ परिभाव्याथ सोऽवोचदेक एवेह
समानयत् । तातोऽपि तस्मै सत्कृत्य प्रस्तुतार्थमचीकथत् ॥ ११४२ ॥ नगरं चित्तसौन्दर्यं पूर्वमाख्यायि
विद्यते । उपायो नापरः कोऽपि सकर्णाकर्ण्यतां स च ॥ ११४३ ॥ नगरं चित्तसौन्दर्यं पूर्वमाख्यायि
यन्मया । तस्मिन् शुभपरीणामो यश्च विश्वम्भरेश्वरः ॥११४४॥ यथा चास्य क्षान्तिमाता कथिता निष्प्रकम्पता ।
देव्यन्यास्ति तथा चारुचरिता चारुताभिधा ॥ ११४५ ॥ तत्कुक्षिसंभवा तस्य तनयास्ति दयाह्वया । आह्लाद-
हेतुर्लोकानां मुनीनामपि वल्लभा ॥ ११४६ ॥ ततो यदैव तां कन्यां कुमारः परिणेष्यति । तदास्य स्वयमेवैषा
हिंसा भार्या विनङ्क्ष्यति ॥ ११४७ ॥ इयं दाहात्मिका यस्मात्सा पुनर्हिमशीतला । ततोऽनयोर्विरोधोऽस्ति सदा-
ग्निजलयोरिव ॥ ११४८ ॥ परिणेष्यति तामार्य ! कदायमिति भाषितः । तातेन स पुनः प्रोचे यदा दास्यति
तत्पिता ॥ ११४९ ॥ कदा दास्यति सोऽपीति तातेन गदितः पुनः । स जगाद कुमारेऽसौ प्रगुणो भविता यदा
॥ ११५० ॥ कदा स प्रगुणो भावीत्युक्तस्तातेन सोऽभ्यधात् । आख्यातमेव तच्चैतद्भवतां पुरतः पुरा ॥ ११५१ ॥
यथा शुभपरीणाममनुकूलयितुं क्षमः । स एव तत्पतिः कर्म्मपरिणामो नरेश्वरः ॥ ११५२ ॥ ततश्च स यदा कर्म्म-
परिणाममहीपतिः । सुप्रसन्नमना भावी कुमारे नन्दिवर्द्धने ॥ ११५३ ॥ तदा शुभपरीणामादालोच्य स्वं
कुटुम्बकम् । स्वयमेव कुमाराय स दयां दापयिष्यति ॥ ११५४ ॥ (युग्मम्) ॥ किञ्च संलक्षयाम्येतन्निमित्तस्य
बलादहम् । अयमर्थः क्वचित्काले यदवश्यं भविष्यति ॥ ११५५ ॥ ततोऽत्रावधीरणा कर्त्तुमुचिता भवतामिह । तातोऽ-
भ्यधात्कथं सूनोः कर्त्तुं शक्याऽवधीरणा ॥ ११५६ ॥ दैवज्ञोऽथ जगादैवं देव ! तत् किं विधीयते ? । बहिरङ्गः

कुमारस्य स्यात्सुपत्रय एव चेत् ॥ ११५७ ॥ ततस्तत्र न युष्मेव मयतामयधीरणा । दोषः कोऽपि न युष्माकमा
न्तोपद्रवे स्थिर ॥ ११५८ ॥ ततो यदाविश्वस्यार्थं इत्युक्त्वा विससर्ज तम् । समान्य तातः कालोऽथ व्यती
याय कियानपि ॥ ११५९ ॥ अन्यदा यौवराज्याय तातो मम शुभे दिने । कारयामास सामग्रीमालोच्य
सचिवैः समम् ॥ ११६० ॥ तातेनाथाभिषेकार्थमाहूतः अथयावरम् । पौरान्तःपुरसामन्तसंकीर्णां नृपसंस
दम् ॥ ११६१ ॥ अत्रान्तरे प्रतीहार्या प्रणिपत्य निवेदितः । मन्त्री स्फुटवचनाकपस्तातमेत्य व्यजिज्ञपत
॥ ११६२ ॥ यथास्ति नृपशार्दूल ! शार्दूलपुरनायकः । भवतां भ्रात एवेह नृपोऽरिदमनाभिधः ॥ ११६३ ॥
गुणभाषिक्यमञ्जूषा रतिचूलेभप्रियोद्भवा । नाम्ना मदनमञ्जूषा समस्ति दुहितास्य च ॥ ११६४ ॥
सा च लोकप्रवादेन परिश्र नान्दिवर्धनम् । निशम्य समभूत्तत्र नितान्तमनुरागिणी ॥ ११६५ ॥ तथाऽथ
रतिचूलाये स्वामिप्रायो निवेदितः । कथयामास देवाय रतिचूलापि तत्पतौ ॥ ११६६ ॥ भवानुमथ तां नन्दि
वर्धनायान्तमशो निशाम् । देवः संप्रेषयामास मामत्र भवदन्तिके ॥ ११६७ ॥ तमिदम्म विज्ञामीशोऽभ्युपपन्मति
घनाननम् । सोऽप्यूचे देव ! सम्बन्धः सदृशोऽनेन युज्यते ॥ ११६८ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते तातेनाथ मयापि सः ।
नगरे यत्किपहूरे तपपेतः पुरं भवेत् ॥ ११६९ ॥ सार्द्धं हे योमनक्षपे भवेदिति तदीरिते । यथोक्तमम्पया भेर्न
सम्भूतोन हि ते भवेत् ॥११७०॥ इव चारुर्मित्र शास्त्रे सम्यगाप्यमुक्तान्मया । तस्माद मया प्रोक्तं मान्यथा यातु

१ ०कुमि० क० ख० ग० घ० । २ चरितं ग० घ० ड० ट० । ३ ०पा क० ख० घ० । ४ नगर यत् ख० ।

जायते ॥ ११७१ ॥ उवाच स्फुटवचनो मैवं वोचः कुमार ! यत् । मया पदं पदेनैतद् गणितं गणशः स्वयम्
॥ ११७२ ॥ ततो विघटते नैव तुषमात्रमपि ध्रुवम् । प्रमाणमीदृशं त्वं तु विप्रलब्धोऽसि केनचित् ॥ ११७३ ॥ लोक-
मध्ये दुरात्मैष मामलीकं करोत्यतः । हिंसावैश्वानरौ बाढं ततो मम विजृम्भितौ ॥ ११७४ ॥ योगशक्त्या च मद्देहे
भृशं ताभ्यामधिष्ठिते । तदाऽभवमहं सुभ्रु ! प्रलयज्वलनोपमः ॥ ११७५ ॥ कोशादथं चकर्षाहं तमालश्यामलच्छ-
विम् । खड्गं वल्मिकनिर्गच्छत्कृष्णसर्पभ्रमप्रदम् ॥११७६॥ तदा पुण्योदयो दध्यौ मम पूर्णोऽधुनावधिः । चक्रे भवि-
तव्यताया इयत्कालं च शासनम् ॥ ११७७॥ मत्सम्बन्धस्य योग्योऽयं नाधुना नन्दिवर्द्धनः । ततः परित्यजाम्ये-
नमिति ध्यात्वा ननाश सः ॥ ११७८ ॥ ततो मयाऽसिना लोके हाहारवमुखेऽपि हि । द्विधारिदमनामात्यश्चक्रे
पशुरिव क्षणात् ॥ ११७९ ॥ ततो हा वत्स ! हा वत्स ! किमकार्यमिदं कृतम् । इति ब्रुवाणस्तातो मे रभसाद-
भ्यधावत ॥ ११८० ॥ विस्मार्य पापं तातत्वं स्नेहं चाप्युपकारिताम् । मया तथैव तातस्योत्तमाङ्गं त्रोटितं
ततः ॥ ११८१ ॥ ततः पूत्कुर्वती जात ! मा साहसमिति द्रुतम् । समेत्य खड्गमाच्छेत्तु ममाम्बा व्यलगत्करे
॥ ११८२ ॥ ममेयमप्यरिर्जज्ञे यैवं मयि रिपून्प्रति । आक्रोशतीत्यहं ध्यायन्विदधे तामपि द्विधा ॥ ११८३ ॥
ततो हा नाथ ! हा भ्रातर्हा कुमारेति रावकृत् । आगाद् रत्नवती शीलवर्द्धनो मणिमञ्जरी ॥ ११८४ ॥ एका-
लोचितमेतेषां सर्वेषामपि पाप्मनाम् । इति मे ध्यायतोऽत्यन्तं रौद्रता ववृधे ततः ॥ ११८५ ॥ अथैकैक-

१ ०वच० ग० । २ ब्रुवन् ग०, ध्रुवम् क० ख० घ० ।

कुमारस्य स्यामुपक्रम एव चेत् ॥ ११५७ ॥ ततस्तत्र न युज्येत भवतामवधीरणा । दोषः कोऽपि न युष्माकमा-
न्तरोपक्रमे त्विह ॥ ११५८ ॥ ततो यथाविभवस्यार्य इत्युक्त्वा विससर्ज तम् । संमान्य तातः कालोऽथ व्यती
याय कियानपि ॥ ११५९ ॥ अन्यदा यौवराज्याय तातो मम शुभे दिने । कारयामास सामग्रीमालोच्य
सचिवैः समम् ॥ ११६० ॥ तातेनाथाभिषेकार्थमाहूतः प्रययावहम् । पौरान्तःपुरसामन्तसंकीर्णां नृपसंस
दम् ॥ ११६१ ॥ अत्रान्तरे प्रतीहार्या प्रणिपत्य निवेदितः । मन्त्री स्फुटवचनावसरस्तातमेत्य व्यजिज्ञपत्
॥ ११६२ ॥ यथास्ति नृपशार्दूल ! शार्दूलपुरनायकः । भवतां भ्रात एवेह नृपोऽरिदमनाभिधः ॥ ११६३ ॥
गुणमाणिक्यमञ्जूषा रतिचूडाप्रियोद्भवा । नाम्ना मदनमञ्जूषा समस्ति दुहितास्य च ॥ ११६४ ॥
सा च लोकप्रवादेन चरितं नन्दिवर्धनम् । निशम्य समभूत्तत्र नितान्तमनुरागिणी ॥ ११६५ ॥ तयाऽथ
रतिचूडायै स्वाभिप्रायो निवेदितः । कथयामास देवाय रतिचूडापि तत्कथां ॥ ११६६ ॥ प्रदातुमथ तां नन्दि
वर्धनायाऽग्रमया निजाम् । देवः संप्रेषयामास मामत्र भवदन्तिके ॥ ११६७ ॥ तन्निशम्य विशामीशोऽपश्यन्मति
धनाननम् । सोऽप्यूचे देव ! सम्बन्धः सर्वांशाऽनेन युज्यते ॥ ११६८ ॥ भवत्स्वेवमिति प्रोक्ते तातेनाथ मयापि सा ।
समये पश्चिमपहूरे तथैवः पुरं भवेत् ॥ ११६९ ॥ सार्धे द्वे योजनशते भवेदिति तदीरिते । मयोक्तमन्यथा नैवं
पर्यूढोने हि ते भवेत् ॥११७०॥ इदं चाकर्णितं चास्ये सम्यमाप्तमुखान्मया । तत्प्रमाणं मया प्रोक्तं नान्यथा तातु

१ ०कमि क० ख० म० प० । २ चरितं भा० क० ख० ग० । ३ ०पा क० ख० प० । ४ वगाद पत ख० ।

घाट्य कपाटे च गर्भागाराद् विनिर्गतः ॥ १२०० ॥ आलुलोके मया राजकुलं सकलमप्यथ । परं न कोऽपि जागर्त्ति ततोऽहं ध्यातवानिदम् ॥१२०१॥ सराजकुलमेतन्मे नगरं रिपुसन्निभम् । वर्त्तते खलु येनैवं पापेन क्लेशितोऽस्म्य-हम् ॥१२०२॥ एवं मे ध्यायतो वैश्वानरहिंसे विजृम्भिते । ज्वलज्ज्वलनकुण्डं च दृष्ट्वा भूयोऽप्यचिन्तयम् ॥१२०३॥ वैरनिर्यातनोपायः प्राप्तोऽयं सुन्दरो मया । भृत्वा शरावमस्मात्तत्पुरेऽङ्गारान् क्षिपाम्यहम् ॥ १२०४ ॥ पुरं राजकुलं चैतद् यथा भवति भस्मसात् । ध्यात्वेति तत्तथा सद्यो मया चक्रे दुरात्मना ॥ १२०५ ॥ ततो विश्वग् जनाक्रन्दघोरं लग्नं प्रदीपनम् । दह्यमानः कथमपि निर्ययावहमप्यतः ॥ १२०६ ॥ ब्रुवन्तो लात लातेति परावस्कन्दशङ्कया । नगराच्च भटाः केऽपि मामनु प्रदधाविरे ॥ १२०७ ॥ क्षीणाङ्गः क्षीणशक्तिश्च समुद्भूतमहाभयः । तेभ्यः पलायमानोऽहमरण्ये न्यपतं ततः ॥ १२०८ ॥ कीलकैः कण्टकैस्तीक्ष्णैर्विद्धपादो व्रज-न्नहम् । न्यङ्मुखो न्यपतं निम्नदेशेऽथ विषमस्थलात् ॥ १२०९ ॥ अत्रान्तरे समापेतुः केऽपि तत्र मलिम्लुचाः । तथास्थितं च मां दृष्ट्वा मिथ एवं बभाषिरे ॥ १२१० ॥ परकूले पुमानेष (पुंसाऽनेन) बहुमूल्यं हि लप्स्यते । स्वस्वामिपार्श्वे तद् धृत्वा त्वरितं नीयतामरे ! ॥ १२११ ॥ चूर्णिताखिलदेहोऽपि तच्छ्रुत्वा दास्यवं वचः । हिंसावैश्वानरोल्लासादुदतिष्ठं झटित्यहम् ॥ १२१२ ॥ चौरेणोक्तमथैकेनाभिप्रायोऽस्य न सुन्दरः । तच्छीघ्रं बध्यतामेष दुर्ग्रहो भविताऽन्यथा ॥ १२१३ ॥ कोदण्डैर्गाढमाहत्य वालयित्वा बलाद्भुजौ । बबन्धुर्ददतो गालीर्व-

२ विश्वा० क० ख० ।

प्रहारेण मयाऽन्तःकनिकेतनम्। एककालमनीयन्त तानि त्रीण्यपि पाप्मना ॥ ११८६ ॥ हा आर्यपुत्र! हा आर्यपुत्रेति प्रलपन्त्यथ। दृष्टान्तमेनमाकर्ण्यापियौ कनकमञ्जरी ॥ ११८७ ॥ मिलिता मम श्वश्रूणामेवैपापि दुराशया। येष कोशस्थो! वैरि मेऽभूत् हृदयमप्यदः ॥ ११८८ ॥ एतस्याः शत्रुघातस्तस्य ततो व्यपनयाम्यहम्। इति मे व्यापदस्तस्यां तदा प्रेम व्यलीयत ॥ ११८९ ॥ युग्मम् ॥ भित्वा कर्म्मविपाणडाल मया कनकमञ्जरी। छित्वा कदलीवेषमपि चक्रे वराकथ ॥ ११९० ॥ अत्रान्तरे च संरम्भान्महामात्यादिना पतत्। अन्तरीय च महेशाभुत्तरीय च भूतले ॥११९१॥ विवर्त मुक्तकीभूतकेश वेतालमभिमम्। डिम्भैर्विलोक्य माशुवेमके किलि(ल)किलारवः ॥ ११९२ ॥ ताभिहन्तुमपासर्क इव कर्कशमानसः। मयाविपमहं यावन्मण्ड लाग्रमयसूरः ॥ ११९३ ॥ सामन्ताः सचिवास्तावत्स्वजनाश्चापरेऽपि हि। मत्करात्खड्गमाच्छेत्तु युगपत्प्रवृषा विरे ॥ ११९४ ॥ समप्रेक्षी यम इव तान्सर्वानपि सर्वतः। निघ्नन् सर्वांन्वसा भूमिमगमं कियतीमपि ॥ ११९५ ॥ खड्गमाच्छिद्य संभूय समग्रैरपि तैरथ। खेदयित्वा च बद्धोऽहं वानेय इव वारणः ॥ ११९६ ॥ असम्पदघनैरुच्चैरा रटन्त च तेऽथ माम्। भूतापिष्टमिव क्षिप्त्वा गर्भागारेऽत्ररी व्यधुः ॥ ११९७ ॥ क्षुधितस्तृषितः खिन्नः प्रलपन्नसम ञ्जसम्। कपाटौ शिरसा निघ्नन् निद्रयाप्यवधीरितः ॥ ११९८ ॥ विषतापानलालीढो महानारकवत् भृशम्। मास मेक तथावस्थस्तत्रासौ दुःखमासहम् ॥ ११९९ ॥ युग्मम् ॥ कथमप्याप्तनिद्रोऽहं मूषिकच्छिन्नबन्धनः। निद्रयुत

१ मूषक॰ स॰ ग॰ ।

॥१२२८॥ निवेदिते यथावृत्ते ततो वृत्ते मयात्मनः । स पुनः प्राह हा मित्र ! सुन्दरं न कृतं त्वया ॥ १२२९ ॥
यदेतदतिनिस्त्रिंशं मन्त्रिपित्रादिमारणम् । विदधे परलोकेहलोकक्लेशैककारणम् ॥ १२३० ॥ हिंसावैश्वानरोल्ला-
सादथाध्यायमहं तदा । एषोऽपि मम वैर्येव यस्य नो भाति मत्कृतम् ॥ १२३१ ॥ तदमुं मारयिष्यामि समयेऽहं
दुराशयम् । सांप्रतं तु न सामग्री काप्यस्त्येतस्य मारणे ॥ १२३२ ॥ इति ध्यानान्मुखं कालं ममालोक्य विभा-
करः । दध्यौ जल्पो मदीयोऽयं नास्य नूनं सुखायते ॥१२३३॥ ततः संतापितेनालमनेनेति विचिन्त्य सः । चक्रे
कथापरावर्तममात्यांश्चैवमादिशत् ॥१२३४॥ शरीरं जीवितं बन्धुर्ममायं नन्दिवर्द्धनः । तस्मादिष्टागममहः कार्यतां तेऽपि
तं व्यधुः ॥ १२३५ ॥ स्नपयित्वा परिधाप्य भोजयित्वा विलिप्य च । भूषयित्वाथ भूपालस्ताम्बूलं मे स्वयं ददौ
॥ १२३६ ॥ व्रजित्वाऽऽस्थानशालायामुपविष्टास्ततो वयम् । प्रोचे तत्र च मां तस्य सचिवो मतिशेखरः ॥१२३७॥
विदितं किं कुमारेण देवभूयमियाय यत् । सुगृहीतनामधेयः प्रभाकरधरेश्वरः ॥१२३८॥ विभाकरवधोपायचिन्तया
भ्रान्तचेतसा । आर्तेनेवाथ तच्छ्रुत्वा कन्धरा धूनिता मया ॥१२३९॥ ततो विभाकरः साश्रुलोचनो मामदोऽवदत् ।
ताते दिवं गते तातकार्यं कार्यं त्वया सखे ! ॥ १२४० ॥ एते वयमिदं राज्यमिदं च नगरं मम । सर्वमेव तवायत्तं
यथेष्टं तन्नियुज्यताम् ॥ १२४१ ॥ वैश्वानरवशादस्थां मौनेनैव तदा त्वहम् । अस्तं गतेऽथ तिग्मांशौ दत्तं प्रादोषिकं
सदः ॥१२४२॥ तदन्ते राजकं सर्वं विसृज्य स्नेहतोऽस्वपत् । मया सहैकपल्यङ्के विभावर्यां विभाकरः ॥१२४३॥

१ ०स्ति त० ख० । १ भोजनमण्डपात् ।

दन च ममाथ ते ॥ १२१४ ॥ परिवाप्य सरवीरसर्व तैरथ खेटितः । कृत्वाग्रे निर्दय घातान् ववानैर्वन्य गोरिव ॥ १२१५ ॥ सेः कनकपुरासन्नां पल्लीं भीमनिकेतनाम् । नीत्वाऽहं रणवीरस्य पल्लीभर्तुः प्रदर्शितः ॥ १२१६ ॥ पोष्यतामेष रे ! येन समभूत्राक्ष्पीनतः । विक्रेतु नीयत इति पल्लीशोऽप्यादिदेश तान् ॥ १२१७ ॥ तदादेशादथैकेन किरातेन स्ववेश्मनि । नीतोऽहं छोटितस्तस्य ददौ मालीर्निरर्गलः ॥ १२१८ ॥ कुपितः सोऽथ मां लोष्टुपल्लादिभिरताडयत् । स्वामिना मेऽर्पित इति कृत्वा किन्तु जघान न ॥ १२१९ ॥ दापित कर्प्परे तेन कदममथ राजमत् । पुत्रशाखामक्षितस्यात् दीनास्योऽहममक्षपम् ॥ १२२० ॥ एव दिने दिने दत्ते भिक्षा कदशन स मे । तेन जीवन्मृतस्येव भूयान्कालो ममागमत् ॥ १२२१ ॥ अन्येद्युः कनकपुरादव स्कन्दः कृतागसाम् । तेषामुपरि चौराणामामागेत्य तेऽखिलाः ॥ १२२२ ॥ पल्लीं तामथ लोपित्वा बन्दीमादाय मूरिशः ॥ व्याघुट्य कनकपुरे प्रययौ तत्र तत्कलम् ॥ १२२३ ॥ गतोऽहमपि तन्मध्ये ततो बन्दीर्विलोकयन् । विमाकरधरापीशो मां निरीक्ष्य व्यचिन्तयत् ॥ १२२४ ॥ अहो ! किमिदमाश्चर्य यदयं नन्दिपूरुषः । वदन्‍गमनु कस्योऽपि नन्दिवर्द्धनसन्निमः ॥१२२५॥ किन्त्वत्र संभवस्तस्य कथं स्याद्यथा विधेः । विचित्राणि चरित्राणि तत्र यात् किं न संभवेत् ? ॥ १२२६ ॥ एवं विचिन्त्य मां सम्यगुपलक्ष्य च भूपतिः । हर्षादाश्लिष्टवानुत्थाय स्मरन्मैत्रीं पुरातनीम् ॥१२२७॥ कृतसत्कारं निवेश्यार्धासने स माम् । वयस्य ! कोऽयं वृत्तान्तः ? इत्यपृच्छदमुच्छधीः

१ ०च्यु० ग० च० ।

मां मुहुः ॥ १२५७ ॥ मां वक्तुमक्षमं वीक्ष्य विस्मितैश्चरटैस्ततः । आनीतमासनं नोपवेष्टुं शक्तं मया पुनः
॥१२५८॥ दीनांस्तान्वीक्ष्य कारुण्यान्मामुत्तस्तम्भ देवता । ते चालिताङ्गं मां दृष्ट्वा हृष्टाः पीठे न्यवेशयन् ॥१२५९॥
पुनः प्रस्तुतवृत्तान्ते पृष्टे तैर्भक्तिशालिभिः । हिंसावैश्वानरोल्लासाद् दध्याविति मनस्यहम् ॥ १२६० ॥
व्रजामो यत्र यत्राहो ! तत्र तत्र वयं जनैः । परतप्तिपरैः पापैरासितुं न लभामहे ॥ १२६१ ॥ अलीकव-
त्सलानेतानन्तयिष्याम्यहं ततः । ध्यात्वेति शस्त्रया केऽप्याशु निहताश्चरटा मया ॥ १२६२ ॥ ततः संभूय तैः
सर्वैर्गृहीत्वा मत्करात्क्षुरीम् । बबन्धे दस्युवदहं तदा चास्तं ययौ रविः ॥ १२६३ ॥ संभूयालोचयामासुरथैवं ते
परस्परम् । यत्पूर्वरिपुरेवायमस्माकं नन्दिवर्द्धनः ॥ १२६४ ॥ येन प्रवरसेनोऽसन्नायको निहतः पुरा ।
प्रधानपुरुषाः केऽपि संप्रत्यपि विनाशिताः ॥१२६५॥ अस्माभिः स्वामिभावेन प्रतिपन्नस्तथाप्ययम् । लोके प्रख्या-
पितश्चैतद् ज्ञातं देशान्तरेष्वपि ॥१२६६॥ ततोऽस्य मारणेऽस्माकमकीर्तिर्महती भवेत् । न चायं पार्यते धर्तुं ग्रन्थौ
वह्निरिव क्वचित् ॥ १२६७ ॥ दूरदेशान्तरे तस्मान्नीत्वाऽयं त्यज्यते द्रुतम् । त्याग एव यतः श्रेयान् वधा-
र्हापराधिनाम् ॥ १२६८ ॥ पर्यालोच्येति तैर्गन्त्र्यां मां नियन्त्र्य तथा मम । रटतो वदनं वद्ध्वाऽयोजयन्
जविनौ वृषौ ॥ १२६९ ॥ ततस्तैः खेटिता गन्त्री निशि द्वादशयोजनीम् । साऽऽगात् प्रयाणकैः कैश्चित् तच्छा-
र्दूलपुरं तथा ॥ १२७० ॥ तत्र च मलविलयाभिधाने मां बहिर्वने । त्यक्त्वा सर्पमिवागच्छन् स्वस्थानं ते
सगन्त्रिकाः ॥ १२७१ ॥ तत्राकस्मात्ततः सुभ्रु ! सुरभिः पवनो ववौ । नित्यवैरैरपि त्यक्तवैरं श्रीमदभूद्

हिंसावैश्वानरावेशाद्योत्थाय सुलोचने ! । मया निपातितः खिन्नविम्बस्तोऽपि विमाकरः ॥ १२४४ ॥
परिधानद्वितीयोऽहं नगरात् निरगां ततः । स्वकर्माऽऽकृष्टो भ्रमन् महाटव्यां पपात च ॥ १२४५ ॥ सोढानि
नानादुःखानि क्लेशेन महता ततः । प्राप्तः पुरे कुशावर्ते विश्रान्तश्च बहिर्वने ॥ १२४६ ॥ तत्रस्थं मां परीवार
स्ततः कानककेसरः । विलोक्य कथयामास गत्वा तस्मै नृपाय च ॥ १२४७ ॥ कारणेनात्र मामभ्यं यदेकाकी
नन्दिवर्धनः । ध्यायन्तावित्यथाऽऽयातौ तौ मामत्यपरिच्छदौ ॥ १२४८ ॥ उचिते विहितेऽन्योन्य ततः
कनककेसरः । पप्रच्छ रहसि स्थित्वा मामेकाकित्वकारणम् ॥ १२४९ ॥ मयाथ चिन्तितं नूनं वृत्तं नास्यापि
मामकम् । प्रतिभासिष्यते तस्मात् कथितेनाधुना कृतम् ॥ १२५० ॥ विचिन्त्येति मया प्रोक्तमनया कथया
ऽलम् । ततः प्रोचे स भूयोऽपि न कथ्यं किं ममाप्यदः ? ॥ १२५१ ॥ आमेत्यथ मया प्रोक्ते स पुनः प्राह
पस्ससे ! । अवश्यं कथ्यमेवेदं नान्यथा मन्मनोधृतिः ॥ १२५२ ॥ मयाप्यादितः कृत्यस्य तमिहन्यहम् ।
व्याख्येति तत्कटीदेशात् क्षुरिकामकृष ततः ॥ १२५३ ॥ प्रहारो पावदुद्गीर्णस्तद्‌घाताय मया ततः । तावत्कनक-
चूडाद्याः प्रापुः संभ्रान्तमानसाः ॥ १२५४ ॥ स्वामिनस्तत्सुताघातार्जितया वेधतया त्वहम् । उत्क्षिप्य पश्यतां तेषां
नीतस्तद्देशसीम्नि च ॥ १२५५ ॥ उत्क्षिप्तक्षुरिकं तत्र चरटा मां व्यलोकयन् । अम्बरीषाभिधानास्ते वीरसेना
दयस्ततः ॥ १२५६ ॥ प्रणम्याथ समूय पतित्वा पादयोश्च ते । स्वामिन् ! क ? एष वृत्तान्तः पप्रच्छुरिति

१ मयात्।

विचिन्त्येत्यपरिज्ञातपरमार्थः ससंशयः । सशोकश्च स्थितः कालमेतावन्तमहं प्रभो ! ॥ १२८७ ॥ भगवत्यधुना
दृष्टे शुचश्छेदो॑ऽभवन्मम । सन्देहस्य तु नाद्यापि तं छिनत्त्वधुना प्रभुः ॥ १२८८ ॥ भगवानप्युवाचैवं त्वमेनं
वीक्ष्य(°क्ष)से नृप ! । पुमांसं संसदासन्नं नियन्त्रितभुजाननम् ॥ १२८९ ॥ वीक्षे सुष्ठ्विति भूपेन गदिते गुरुरभ्य-
धात् । चकार भस्मसादेष नगरं तज्जयस्थलम् ॥१२९०॥ भगवन् ! कोऽयमित्युक्ते भूभुजा सूरिरब्रवीत् । स एवायं
तवोर्वीश ! जामाता नन्दिवर्द्धनः ॥ १२९१ ॥ नृपः प्राह कथं स्वामिन्नीदृशं विदधेऽमुना । कथं चैवंविधावस्थ
इदानीमेष वर्त्तते ? ॥ १२९२ ॥ स्फुटवचनविरोधाद्यं वृत्तं मामकं ततः । चरटत्यागपर्यन्तमाचख्यौ भूभुजे गुरुः
॥ १२९३ ॥ तदाकर्ण्य महीपालः परिषच्च विसिष्मिये । दध्यौ च भूभृदेनं किं छोटयामि तपस्विनम् ? ॥१२९४॥
यद्वा नहि नहीत्येतद् विधातुं युज्यते मम । यतः कथितमेवास्य चरितं सूरिणाधुना ॥ १२९५ ॥ धर्मश्रवणविघ्नं
तदस्माकमपि मुत्कलः । अकाण्डविड्वरोत्पादात् कुतोऽप्येष करिष्यति ॥ १२९६ ॥ तस्मादेष यथान्यासमेवास्ता-
मधुना क्षणम् । न चैष करुणास्थानं यस्य स्याद् वृत्तमीदृशम् ॥ १२९७ ॥ पृच्छामि सांप्रतं तावद् मुनीशं
संशयान्तरम् । पर्यालोच्येति पप्रच्छ मुनिनाथं महीपतिः ॥ १२९८ ॥ प्रभो ! पुरायमस्माभिः शुश्रुवे नन्दिवर्द्धनः ।
पात्रं गुणानां सर्वेषामाराम इव भूरुहाम् ॥ १२९९ ॥ अतोऽनेन महापापं कथं विहितमीदृशम् ? । सूरिणाभिदधे
राजन् ! नास्य दोषस्तपस्विनः ॥ १३०० ॥ पदं गुणानां सर्वेषां स्वरूपेणैष वर्त्तते । राजोचे तर्हि कस्यायं दोषोऽथ

१ °दो भवेन् क० घ० ।

धनम् ॥ १२७२ ॥ सर्वेऽप्यतीर्णा अश्वतो मुदिताश्च विहङ्गमाः । तारं च गुञ्जितं भृङ्गैस्तापः शान्तश्च मे मनाक्
॥ १२७३ ॥ अथागत्य सुरास्तत्र भूमिशुद्धिं रजःशमम् । पुष्पवृष्टिं 'विनिर्माय सर्वाम्भोज च चक्रिरे ॥ १२७४ ॥
अथाऽऽलोकितमार्गस्तैः केवलालोकभास्करः । विवेकनामा तत्राऽऽगाद्गुरुर्गुणगणान्वितः ॥ १२७५ ॥ भेजे
तत्कनकाम्भोजं राजहंस इवाथ सः । समापि च नमस्कृत्य यथास्थानमुपाविशत् ॥ १२७६ ॥ चरितेऽग्रोऽसहिष्णू
तौ तदा निर्गत्य मधनोः । हिंसावैश्वानरौ दूरे मत्वाऽस्थातां पराङ्मुखौ ॥ १२७७ ॥ अथारिदमनो राजा सूरिं त
न्तुमाययौ । सुतामदनमञ्जूषायुद्यान्तःसचिवादियुक् ॥ १२७८ ॥ मुक्त्वा च राजचिह्नानि सूरिं नत्वाभिनुत्य
च । प्रणम्य शेषसाधूंश्च निषण्णः शुद्धभूतले ॥ १२७९ ॥ प्रणम्याथ यथास्थानं निषण्णेषु जनेष्वपि । भगवान् विदधे
धर्मदेशनां मोहनाशिनीम् ॥ १२८० ॥ देशनान्ते च पप्रच्छ सूरिं राजा ससंशयः । विभो ! मदनमञ्जूषा येन
मे वर्धते सुता ॥ १२८१ ॥ नन्दिवर्धनसंज्ञाय धमभूपतिसूनवे । दातुमेतां पुरा प्रेषि मयाऽमात्यो जयस्थले
॥ १२८२ ॥ भूयसापि गते काले स मन्त्री वलते न तु । ततो विचारु तच्छुद्धिं प्रेषिताः पुरुषा मया ॥ १२८३ ॥
तैरागत्य ममाख्यायि यथा देव ! जयस्थलम् । भस्मीभूतं स देशोऽपि शून्यः सुविस्तरः कृतः ? ॥ १२८४ ॥
तच्छ्रुत्वाहमपो दध्यौ हा ! कष्ट किमभूदिदम् । तस्यावाञ्छारवृष्टिः किं ? तत्राकाण्डेऽभवद् भृशम् ॥ १२८५ ॥
किञ्चाग्न्यन्तविरुद्धेन तपेन मुनिनापि वा । क्षेमा(मा)नलेन वा चौरादिभिर्वाऽदाहि तत्पुरम् ॥ १२८६ ॥

१ च मि० ता० । २ विच० ता० । ३ ०विभा० क० स० । ४ ०किमीम् क० स० ग० घ० ।

कुलम् । आनन्दितं वर्द्धितं च तोषितं नगरं तथा ॥ १३१६ ॥ वर्द्धमानेन तु निजैर्गुणैरावर्जितो जनः । निर्जिताः
शत्रवः सर्वे यशसा च भृतं जगत् ॥ १३१७ ॥ यदन्यदपि च श्रेष्ठं तत्सर्वं विदधेऽमुना । हिंसावैश्वानरावस्य
तत्किं नास्तामिमौ तदा ? ॥१३१८॥ सूरिराह महाराज ! तदाप्यास्तामिमौ ध्रुवम् । केवलं श्रेयसां हेतुरन्य एवा-
भवत्तदा ॥ १३१९ ॥ कः सः ? एवं नृपेणोक्ते भगवानवदत् पुनः । परः सहचरोऽमुष्य राजन् ! पुण्योदयाभिधः
॥ १३२० ॥ तेनास्य तादृशी सर्वा चक्रे श्रेयःपरम्परा । प्रभावोऽनेन मूढेन केवलं नास्य लक्षितः ॥ १३२१ ॥
पुण्योदयवशाज्जातामपि कल्याणसन्ततिम् । हिंसावैश्वानरभवां मन्यते स्मायमल्पधीः ॥ १३२२ ॥ ततोऽयम-
विशेषज्ञ इति मत्वा विरागवान् । इमं त्वन्मन्त्रिवृत्तान्तकाले पुण्योदयोऽत्यजत् ॥ १३२३ ॥ ततस्तद्विकलस्यास्य
हिंसावैश्वानराविमौ । विदधाते महाराजैतदनर्थकदम्बकम् ॥ १३२४ ॥ नृदेवोऽथ जगादैवमस्य कालः किया-
न्पुनः । हिंसाविवेकिताशैलनुसङ्गतस्याभवद्विमौ ! ॥ १३२५ ॥ सूरिरूचे तिरोभूतावेतस्यानादिसङ्गतौ । किन्तु
पद्मगृहेऽस्येमौ स्थितस्याऽऽविर्बभूवतुः ॥ १३२६ ॥ अनादिरूपः किमयं भगवन् ! नन्दिवर्द्धनः । इति पृष्टो
नरेन्द्रेण बाढमित्यवदद् गुरुः ॥ १३२७ ॥ पद्मराजाङ्गजत्वेन प्रसिद्धस्तदसौ कथम् ? । इति भूमीभुजा पृष्टः
पुनर्गुरुरभाषत ॥ १३२८ ॥ मिथ्याभिमानोऽमुष्यैष यदहं पद्मराजभूः । अतो नात्र महीभर्तः ! कर्त्तव्याऽऽस्था
मनागपि ॥ १३२९ ॥ तत्त्वतस्तत्कुतस्त्योऽयमिति राज्ञेरिते गुरुः । जगादासंव्यवहारपुरवासी कुटुम्बिकः

१ ०भावस्तेन घ० ।

गुरुरभ्यधात् ॥ १२०१ ॥ यदेतद् दृश्यते दूरे कृष्णवर्णं पराक्रमम् । मानुषद्वयमेतस्य दोषः सर्वोऽपि पाप्मनः
॥ १२०२ ॥ ततो विलोक्य तत्सम्यक् प्राह भूमिप्रभुः प्रभो ! । लक्ष्यतेऽत्र पुमानेको द्वितीया वनिता पुनः
॥ १२०३ ॥ गुरुः प्राह महाराज ! सम्यग् विज्ञातवानसि । पुनर्नृपतिरप्राक्षीद् भगवन् ! के इमे ननु ? ॥ १२०४ ॥
धरित्राह महामोहपौत्रो द्वेषगजेन्द्रजुक् । अविवेकितासूर्वैश्वानरोऽयं प्रोच्यते नरः ॥ १२०५ ॥ पितृभ्यामस्य च
क्रोध इति पूर्वं कृताभिधा । यच्चाद्वैश्वानर इति जनेऽसौ प्रथये गुणैः ॥ १२०६ ॥ द्वेषगजेन्द्रसम्बन्धिदुष्टाभिसन्धि
पुत्रिका । निष्करुणतासूर्हिंसा नारी स्वेयं निगद्यते ॥ १२०७ ॥ कोऽस्यामस्यां सह सम्बन्धः ? इति राज्ञोदिते
गुरुः । आकर्णयैते सद्भार्ये भवतोऽस्यान्तरङ्गके ॥ १२०८ ॥ अधीनयानयोरेष धर्माधर्मं हिताहितम् ।
कृत्याकृत्यं भक्ष्याभक्ष्यं पेयापेयं च वेत्ति न ॥ १२०९ ॥ ततः कदर्थिताश्छात्रा बाल्येऽनेन निरागसः । खलीकृतः
कलाचार्यस्ताडितो विदुरस्तथा ॥ १२१० ॥ पातिताः सत्वसंघातास्तरुणेन सता पुनः । जनितो जनतोद्वेगो
विहिताश्च महापदः ॥ १२११ ॥ कनकचूडकनकशेखरौ स्वजनावपि । तौ मारयितुमारब्धौ न्यक्कृतौ च क्षितिपाधिप
॥ १२१२ ॥ तवापद् यञ्चन्मन्त्रिप्रपादि विदधेऽमुना । समग्रमपि भूमीश ! तदभिवेदितमेव ते ॥ १२१३ ॥
दोषः सेष समस्तोऽपि वैश्वानरहिंसयोः । अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दाभयस्त्वसौ ॥ १२१४ ॥ पृथ्वीपतिरथोवाच
भगवन् ! जनवार्तया । स्फुटवचनवृत्तान्तात् पुरास्माभिरिदं श्रुतम् ॥ १२१५ ॥ यच्चान्दिवर्धनेनोच्चैरुत्पत्तेन निज

१ ०पुत्रः । २ राज्ञोदितो गुरुः क० स० ग० ।

कुलम् । आनन्दितं वर्द्धितं च तोषितं नगरं तथा ॥ १३१६ ॥ वर्द्धमानेन तु निजैर्गुणैरावर्जितो जनः । निर्जिताः
शत्रवः सर्वे यशसा च भृतं जगत् ॥ १३१७ ॥ यदन्यदपि च श्रेष्ठं तत्सर्वं विदधेऽमुना । हिंसावैश्वानरावस्य
तर्त्कि नास्तामिमौ तदा ? ॥१३१८॥ सूरिराह महाराज ! तदाप्यास्तामिमौ ध्रुवम् । केवलं श्रेयसां हेतुरन्य एवा-
भवत्तदा ॥ १३१९ ॥ कः सः ? एवं नृपेणोक्ते भगवानवदत् पुनः । परः सहचरोऽमुष्य राजन् ! पुण्योदयाभिधः
॥ १३२० ॥ तेनास्य तादृशी सर्वा चक्रे श्रेयःपरम्परा । प्रभावो[1]ऽनेन मूढेन केवलं नास्य लक्षितः ॥ १३२१ ॥
पुण्योदयवशाज्जातामपि कल्याणसन्ततिम् । हिंसावैश्वानरभवां मन्यते स्मायमल्पधीः ॥ १३२२ ॥ ततोऽयम-
विशेषज्ञ इति मत्वा विरागवान् । इमं त्वन्मन्त्रिवृत्तान्तकाले पुण्योदयोऽत्यजत् ॥ १३२३ ॥ ततस्तद्विकलस्यास्य
हिंसावैश्वानराविमौ । विदधाते महाराजेतदनर्थकदम्बकम् ॥ १३२४ ॥ नृदेवोऽथ जगादैवमस्य कालः किया-
न्पुनः । हिंसाविवेकितासूनुसङ्गतस्याभवद्विभो ! ॥ १३२५ ॥ सूरिरूचे तिरोभूतावेतस्यानादिसङ्गतौ । किन्तु
पद्मगृहेऽस्येमौ स्थितस्याऽऽविर्बभूवतुः ॥ १३२६ ॥ अनादिरूपः किमयं भगवन् ! नन्दिवर्द्धनः । इति पृष्टो
नरेन्द्रेण बाढमित्यवदद् गुरुः ॥ १३२७ ॥ पद्मराजाङ्गजत्वेन प्रसिद्धस्तदसौ कथम् ? । इति भूमीभुजा पृष्टः
पुनर्गुरुरभाषत ॥ १३२८ ॥ मिथ्याभिमानोऽमुष्यैष यदहं पद्मराजभूः । अतो नात्र महीभर्तः ! कर्त्तव्याऽऽस्था
मनागपि ॥ १३२९ ॥ तत्त्वतस्तत्कुतस्त्योऽयमिति राज्ञेरिते गुरुः । जगादासंव्यवहारपुरवासी कुटुम्बिकः

१ ०भावस्तेन घ० ।

॥१२३०॥ संसारिजीवनामाय तच्छ्रुत्वा भूयसा पुनः। पृष्टो गुरुः समाचख्यौ चरितं मे सविस्तरम् ॥१२३१॥
प्रवृत्तिविषया वृत्तान्तोऽयाचिन्तयन्नृपः। प्रोक्तो भवप्रपञ्चोऽस्यानेन व्याजेन सूरिभिः ॥ १२३२ ॥ ध्यात्वेति स
भगवदेवं यथैव भगवन्! मया। विचारितं तथैवेदमन्यथा वा निगद्यताम् ॥ १२३३ ॥ तथैवेति मुनीन्द्रेण प्रत्युक्तः
क्षितिपोऽवदत्। वृत्तान्तोऽयं किमस्यैव किंवान्यप्राणिनामपि ॥१२३४॥ भगवानाह सर्वेषां संसारोदरवर्तिनाम्।
प्राणिनामेष वृत्तान्तस्तुल्यः प्रायेण वर्तते ॥१२३५॥ यतः कर्मपरीणामादेशतो भवितव्यता। पर्यटयति निःशेषान्
जन्तूनन्यान्ययोनिषु ॥१२३६॥ ततः क्रोधादिशत्रूणां मध्यतः क्वापि केऽपि तान्। नन्दिवर्धनवद् दुःखं बहुधा प्राप-
यन्त्यलम् ॥१२३७॥ नृपः प्राह प्रबोधोऽस्य प्रपञ्चेनेयतापि किम्। कथ्यमाने स्वसंवेद्ये स्पष्टान्तोऽभवद् विभो!
॥ १२३८ ॥ सूरिरूचे महाराज! बोधाभावो न केवलम्। प्रत्युतास्य महोद्वेगो भव्यस्यापि प्रवर्तते ॥ १२३९ ॥
राजोचे किमभव्योऽयं? गुरुः प्राह नहीदृशः। किन्तु क्रोधस्य दोषोऽयं यद् मात्सर्यस्य न मद्वचः ॥१२४०॥ यतोऽ-
नन्तोऽनुबन्धोऽस्येति कृत्वा मुनिपुङ्गवैः। एषोऽनन्तानुबन्धीति दुर्धनाम्ना निगद्यते ॥ १२४१ ॥ विद्यमाने ततोऽ
मुष्मिन्ननुना नाप्यबोधिता। भटितव्यं भवाटव्यां बहुशोऽप्यपि दुःखिना ॥१२४२॥ राजोचे तर्हि वैर्येव यावमि
स्त्यन्यथा गुरुः। राजोचे किं सत्तास्यैवान्येषामप्यभावसक्तो ॥ १२४३ ॥ मुनीन्द्रोऽप्यावदद्यावद् भवन्तीह पृथक्
पृथक्! शीर्षि शीर्षि कुटुम्बानि सर्वेषामपि देहिनाम् ॥ १२४४ ॥ मार्दवार्जवसन्तोषक्षान्तिज्ञानदयादयः। भवन्ति

१ यथाख्याते प्र० स०। २ ०वर्धेति ता०। ३ राजोचे क० स० प०।

वन्धवो यत्र तत्कुटुम्बकमादिमम् ॥१३४५॥ इदं चाभ्यन्तरं जन्तोः प्रकटाप्रकटात्मकम्[1] । अनादि चाक्षयं मोक्षहेतुः
स्वाभाविकं हितम् ॥१३४६॥ क्रोधमानमायालोभमोहहिंसाभयादयः। भवन्ति बान्धवा यत्र तद् द्वितीयं कुटुम्बकम्
॥ १३४७ ॥ कियतामपि भव्यानामिदं चानादि सक्षयम् । अनाद्यपर्यवसितमभव्यभविनां पुनः । ॥ १३४८ ॥
तथादोऽप्यान्तरं जन्तोः प्रकटाप्रकटात्मकम्। तत्त्वतोऽस्वाभाविकं चाहितं संसारकृत् तथा ॥ १३४९ ॥ वपुस्तज्जनकौ
योषिन्नरावन्येऽपि तादृशाः। भवन्ति स्वजना यत्र तत् तृतीयं कुटुम्बकम् ॥१३५०॥ एतच्चानियतं बाह्यं सादि सान्तं
हिताहितम्। संसारमोक्षहेतुश्च यथा[3]भव्यतया[4] भवेत् ॥१३५१॥ तदेवं सति भूमीश ! यद् द्वितीयं कुटुम्बकम्। तस्यान्तः
सर्वजीवानामेष वैश्वानरः सखा ॥ १३५२ ॥ तथेयमपि हिंसाख्या भार्या विद्यत एव हि। तदेवं च स्थिते कार्यं यद्
बुधैर्नृप ! तच्छ्रुणु ॥ १३५३ ॥ कुटुम्बमादिमं पोष्यं हन्तव्यं च द्वितीयकम्। तृतीयं च परित्याज्यं द्वितीय-
परिपोषकम् ॥ १३५४ ॥ इदं च पार्यते कर्तुं तदा नृप ! शरीरिभिः। दीक्षा यदाप्यते जैनी सर्वसौख्यनिबन्धनम्
॥ १३५५ ॥ तन्निशम्य विशामीशः श्रद्धाबन्धुरमानसः। एवं विज्ञपयामास भगवन्तं कृताञ्जलिः ॥ १३५६ ॥
भगवन्निह संसारे पुण्यैः प्राप्तोऽसि मादृशैः। ततः प्रसीद मे देहि दीक्षामेनां दयानिधे ! ॥ १३५७ ॥ साधु
साधु महाराज ! सूरिणाऽपीति जल्पिते। जगाद विमलमतिं पार्श्वस्थं सोऽथ मन्त्रिणम् ॥ १३५८ ॥ अस्मा-
भिरधुना ज्ञाततत्त्वैः सूरिपदान्तिके। दीक्षा ग्राह्या तदेतस्य कालस्योचितमाचर ॥ १३५९ ॥ सचिवोऽभिदधे देव !

१ आविर्भावतिरोभावधर्मकम्। २ हितकरणशीलम्। ३ तथा० क० ख० घ०। ४ ०याऽभवत् क० ग० घ०।

मयैकेन न केवलम् । कालस्यास्योचित कार्यं किन्तु पर्षज्जनैरपि ॥ १३६० ॥ गम्भीरः कोऽप्ययं मामोऽस्येति राज्ञा विचिन्त्य तम् । प्रोचेऽत्र स्व धमः कार्ये कार्यमेवैतत्तः किमु ? ॥१३६१॥ मन्त्र्यूचे देव ! यद्देवपादैरस्ति विकीर्षितम् । श्रुतान्तामात्यसामन्तादीनामप्युचितं हि तत् ॥ १३६२ ॥ यतः समानमास्थाय सूरिभिः सर्वदेहिनाम् । मोष्यवश्यपरित्याज्य इत्युन्मन्त्रितय क्रमात् ॥ १३६३ ॥ राजोचे गुरुमेवेद यथेव विदधत्यमी । मन्त्र्याह स्वाहित देव ! न विधास्यन्त्यमी कथम् ? ॥ १३६४ ॥ श्रुत्वा च तदालाप कम्पिता गुरुकर्मकाः । व्यज्ञप्यत महीनाथो हृष्टैस्तु लघुकर्मभिः ॥ १३६५ ॥ यदाज्ञापयते देवस्तदेव क्रियते ध्रुवम् । कः सकर्णो हि सामग्र्यां भ्रश्यतीत्थं स्वार्थतः ॥ १३६६ ॥ तच्छ्रुत्वा मुदितो राजा तैः सार्द्धं पार्श्ववर्तिनि । प्रमोदवर्द्धनाभिख्ये प्रययौ जिनमन्दिरे ॥ १३६७ ॥ तस्मिंश्च तैर्जिनार्चानामर्चास्नात्रपुरःसरम् । विदधे विधिनानल्पपुलकोद्भेदमेदुरैः ॥ १३६८ ॥ दानं चनमोक्षादि कस्यान्यदपि योचितम् । सुत श्रीधरमाहूय स्वराज्येऽस्थापयन्नृपः ॥ १३६९ ॥ तैः सर्वैरपि गत्वाथ प्रार्थितो गणमुद्गरः । तेभ्योऽदात् विधिना दीक्षां विदधे देशनां तत ॥ १३७० ॥ यथुर्देवादयः स्थानं व्यहरत् चान्यतो गुरुः । मत्रे ! तदाप्यपीयूष रूपे न पुनर्मम ॥ १३७१ ॥ च चमोचनकाले च सर्वेषामपि देहिनाम् । मुक्तोऽहमपि बन्धेभ्यो नियुक्तैर्नृपपूरुषैः ॥ १३७२ ॥ हिंसावैश्वानरौ देहे प्रविष्टौ मे ततो मया ।

---

१ तावदस्याहूतो हि वर्तते स० । २ विचिन्त्येति भूपोऽब्रोचत्तेषामुचित तु किम् ? ख० । ३ किं कर्तव्यमिमैः । ४ सामान्यमा० ता० । ५ ०पति दे० स० ।

ध्यातमेतेन लोकान्तर्भिक्षुणाऽहं विगोपितः ॥ १३७३ ॥ तत्किमत्र स्थितेनेति दुर्मनाश्चिन्तयन्नहम् । गन्तुं प्रवृत्तो
विजयपुरस्याभिमुखं ततः ॥ १३७४ ॥ इतश्च तत्रैव पुरे शिखर्याख्यमहीपतेः । सूनुर्मत्तुल्य एवास्ति भद्रे !
नाम्ना धराधरः ॥ १३७५ ॥ हिंसावैश्वानरासक्तः पित्रा निर्वासितः स च । अभ्यागच्छन् पुरस्यास्य मया
मार्गमपृच्छ्यत ॥१३७६॥ अन्यचित्ततया तेन न ममाश्रावि तद्वचः । ततो ध्यातं मया नैष गणयत्यपि मां मदात्
॥१३७७॥ चिन्तयित्वेति तच्छ्रोणेश्चकृषे क्षुरिका मया । हिंसावैश्वानरोल्लासात् खड्गं तेनापि कोशतः ॥ १३७८ ॥
द्वाभ्यामपि मिथो दत्तौ प्रहारौ युगपत्ततः । विदीर्णौ चावयोर्देहौ तत्क्षणात्कमलेक्षणे ! ॥ १३७९ ॥ जीर्णा
सैकभववेद्या तदा च गुटिकाऽऽवयोः । ततश्च प्रददे साऽन्या भवितव्यतया तया ॥ १३८० ॥ इतश्चा-
स्तीह पापिष्ठनिवासा नामतः पुरी । उपर्युपरि तस्यां च विद्यते सप्त पाटकाः ॥ १३८१ ॥ तेषु पापिष्ठ-
नामानो वसन्ति कुलपुत्रकाः । आवामपि गतौ षष्ठे तमाख्ये पाटके ततः ॥ १३८२ ॥ तत्राऽऽवां च स्थितौ
तादृक्कुलपुत्रकरूपिणौ । दुःखाम्भोनिधिनिर्मग्नौ प्रहरन्तौ परस्परम् ॥ १३८३ ॥ द्वाविंशतिसमुद्रान्ते गुटिकादान-
योगतः । पञ्चाक्षनिवासपुरे निन्ये नौ भवितव्यता ॥ १३८४ ॥ गर्भजोरगरूपेण तत्राऽऽवां जनितौ तया । पूर्वा-
वेधवशोद्भूतक्रोधावन्धादयुत्स्वहि ॥ १३८५ ॥ तस्यां पापिष्ठवासायां पुर्यां धूमप्रभाभिधे । पञ्चमे पाटके नीता-
वथाऽऽवां पूर्ववत्तया ॥ १३८६ ॥ अन्योन्यं निघ्नतोस्तत्राप्यावयोर्दुःखमग्नयोः । सप्तदशस्रैवन्तीशोपमानि

---

१ तत्कटीतटात् । २ ०शव० ता० । ३ ०सागरोपमानि ।

व्यतिचक्रमुः ॥ १३८७ ॥ ततश्चानीय पञ्चाक्षनिवासे सिंहरूपिणौ । तया विनिर्मितावावामयुध्यावहि वैरतः ॥
॥ १३८८ ॥ तत्रैव पुरि भूयोऽपि तुर्ये पङ्कप्रभाभिधे । तयाऽऽवां पाटके नीत्वा कृतौ पापिष्ठरूपिणौ ॥ १३८९ ॥
पूर्ववैरवशात्तत्राऽऽवयोर्निघ्नतोर्मिथः । व्यतीयुर्दश वारीशा दुर्वाराद्भुतदुःखयोः ॥ १३९० ॥ तत्रैवाऽऽवां पुरे
श्येनौ चक्रेऽथ भवितव्यता । आहरावहि तत्रापि पूर्ववद् रोषभीषणौ ॥ १३९१ ॥ तत्रैव पुरि नौ साऽथ तृतीये
वालुकाभिधे । पाटके पूर्ववन्निन्ये गुटिकायाः प्रयोगतः ॥ १३९२ ॥ तत्राप्यावां मिथो घ्नन्तौ सागरान् सप्त
तस्थिव । परमाधार्मिकक्षेत्रकृतदुःखौघविह्वलौ ॥ १३९३ ॥ ततो भूयोऽपि पञ्चाक्षनिवासे नकुलौ कृतौ । तयाऽऽ
वां वैरदुर्वारावयुध्यावहि पूर्ववत् ॥ १३९४ ॥ भूयोऽपि पुर्यां तत्रैव शर्कराख्ये द्वितीयके । पाटके गुटिकामन्त्रा
द्वितीयाऽऽवां निनाय सा ॥ १३९५ ॥ मिथस्तत्रापि हिंसन्तावावितिष्ठावार्णवत्रयम् । परमाधार्मिकक्षेत्रकृतानेकव्यथा
तुरौ ॥ १३९६ ॥ परापरेण तेनोच्चैर्वैरं वर्धयता मया । पुरे पुर्यां च तत्रैव सुबहूके गमागमाः ॥ १३९७ ॥
ततश्च कौतुकेनैव गुटिकायोगतस्तया । त्यक्त्वाऽसंव्यवहारं तद् भ्रमितः सर्वतोऽप्यहम् ॥ १३९८ ॥ एवं
भवति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । चिन्तितं यदहो ! रौद्रः क्रोधो हिंसापि दारुणा ॥ १३९९ ॥ यतोऽय
मसुखः प्राप्तो भवे दुःखमनेकधा । नूनमत्र कथमप्यात्म व्यथीकृत्य तथा तथा ॥१४००॥ एष च वीक्षमाणोऽपि
फलमान्तरवैरिणाम् । नाथ प्रवर्तते लोकः स्वहिते हा ! विमूढधीः ॥ १४०१ ॥ संसारिजीवः प्रोवाच सन्नु !

१ •सागरोपमाः ।

श्वेतपुरेऽन्यदा । आनीयाऽऽभीररूपोऽहं भवितव्यतया कृतः ॥ १४०२ ॥ तदा वैश्वानरेऽन्तर्द्धिं गते शान्तोऽभवं
मनाक् । विदधे च विशेषेण न शीलं न च संयमः ॥१४०३॥ केवलं मध्यमगुणो दानादिश्रद्धयाऽभवम् । अहं
गिरिणदीग्रावघोलनान्यायतः स्वयम् ॥ १४०४ ॥ मां वीक्ष्य तादृशं साऽथ प्रसन्ना भवितव्यता । पुण्योदयं
सहचरं पुरोधायाऽभ्यधादिति ॥ १४०५ ॥ त्वयाऽऽर्यपुत्र ! गन्तव्यं सिद्धार्थनगरेऽधुना । स्थेयं सुखेन चायं ते
भावी पुण्योदयोऽनुगः ॥ १४०६ ॥ मयाऽपि स तदादेशस्तथेति प्रत्यपद्यत । जीर्णायां च पुरातन्यां सा मेऽन्यां
गुटिकां ददौ ॥ १४०७ ॥ इत्थं विपाकविरसं चरितं निशम्य बालस्य पद्मतनयस्य च सम्यगेतत् । स्पर्शं क्रुधं
वधमतिं च विमुञ्चतोच्चैर्भव्याः ! भवाब्धितरणे यदि वोऽस्ति वाञ्छा ॥ १४०८ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्य-श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे
क्रोधहिंसास्पर्शनेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम तृतीयः प्रस्तावः ।



चतुर्थः प्रस्ताव ।

इतोऽस्ति मनुजमतौ सिद्धार्थं नामतः पुरम् । धर्मार्जुमाधमातार्थसिद्धार्थोपनागरम् ॥ १ ॥ सौधाङ्गणेषु संक्रान्त निन्दुस्वच्छेषु बालिकाः । यत्राविस्मन्ति शीतांशु पुष्पकन्दुकशङ्कया ॥ २ ॥ बभूव भूपतिस्तत्र नामतो नरवाहनः । यः पुण्यजननाथस्यासमत्यक्षो नैरवाहनः ॥ ३ ॥ यस्य निस्त्रिंशकृष्णाहिर्धाराविद्धा इयोत्कटः । यशःपयांसि भूयांसि वैरिणां परितः पपौ ॥ ४ ॥ तस्याग्रमहिषी जज्ञे नाम्ना विमलमालती । स्वकान्तस्वान्तरोलम्बकुलविभ्रममालती ॥ ५ ॥ भवितव्यतया तस्याः क्षिप्तः कुक्षावहं ततः । सापि मां समयेऽसूत सुत पुण्योदयान्वितम् ॥ ६ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्यानि विधाय पितरौ मुदा । रिपुदारण इत्याख्यां चक्राते समये मम ॥ ७ ॥ इतोऽविवेकिता सापि मम धात्री सुलोचने ! । गर्भं चचार संप्राप्य सम स्नेयसः क्वचित् ॥ ८ ॥ उमामितमहोरस्क मदनाष्टकधारकम् । मत्सन्माप्येव साऽसूत शैलराजाभिधं सुतम् ॥ ९ ॥ ततः पित्रोर्महानन्दं ददानः सुखलालितः । सहैव शैलराजेन क्रमात् वृद्धिमहं गतः ॥ १० ॥ अथ पञ्चसतीतेषु वर्षेषु दध्ये मया । शैलराजशिरःस्पर्शी मृगाणीव स धारयन् ॥ ११ ॥ मनाविस्नेहमोहेन वं रुक्ष मम मानसे । या प्रीतिरासीदाकपाठं वचसा शक्यते न सा ॥ १२ ॥ मत्कार्थं सोऽत्र विज्ञाय दुराचागस्य

१ नाम वत्पुरम् ता० क० स० घ० । २ मिलाक्ष । ३ कुबेरः ।

सत्वरम् । मां स्नेहादिव सर्वाङ्गमालिलिङ्ग शठाशयः ॥ १३ ॥ अहो! भावज्ञता कापि स्नेहश्चामुष्य कोऽप्यहो ! ।
ध्यायतेति मयाप्येष वयस्यः प्रत्यपद्यत ॥ १४ ॥ क्रीडतोऽथ समं तेन मैत्री मे ववृधेऽधिकम् । तत्प्रभावाद्
बभूवुश्च वितर्का इति चेतसि ॥ १५ ॥ अहो ! मे सुन्दरा जातिरहो ! मे कुलमुत्तमम् । अहो ! मे वर्यमैश्वर्यमहो !
मे रूपमद्भुतम् ॥ १६ ॥ ये चान्येऽपि तपोलाभश्रुतशक्त्यादयो गुणाः । ते मय्येव वसन्त्युच्चैर्विमुच्य भुवनत्रयम्
॥१७॥ वन्द्यो मे न च कोऽप्यस्ति गुणातिशयशालिनः । विश्वस्यापि हि विश्वस्य वन्दनीयोऽहमेव यत् ॥१८॥
पद्वा यस्येदृशेनाभून्मित्रेण मम संगमः । को हि वर्णयितुं शक्तस्तस्य मे गुणगौरवम् ॥ १९ ॥ चिन्तयन्ने-
वमुद्ग्रीवो नक्षत्राणि निभालयन् । प्रभिन्न इव गन्धेभः सर्वतोऽपि भ्रमाम्यहम् ॥ २० ॥ न चाहं जनकं
नापि जननीं न च देवताम् । न गुरुं चानमं शैल इवानम्रशरीरकः ॥ २१ ॥ ततो मां तादृशं दृष्ट्वा जनको
मे व्यचिन्तयत् । अहो ! मदीयपुत्रोऽयं गाढं मानधनेश्वरः ॥ २२ ॥ ततो यद्यस्य कोऽप्याज्ञां कदाप्युल्लङ्घयि-
ष्यति । तदा किमपि कर्त्ताऽयं मानान्नूनं विरूपकम् ॥ २३ ॥ कुमारप्रकृतिं तस्माद् ज्ञापयित्वाखिलानपि । साम-
न्तादीनमुष्याहं करोम्याज्ञावशंवदान् ॥ २४ ॥ चिन्तयित्वेति तातेन तथैव विहिते मम । लघोरपि नृपाः सर्वे
किङ्करत्वमुपाययुः ॥ २५ ॥ कुलीना अपि विक्रान्ता अपि तातनिदेशतः । मां वीतगुणमप्येते सेवन्ते चाटु-
कारिणः ॥ २६ ॥ भद्रे ! पुण्योदयस्तत्र माहात्म्ये मम कारणम् । शैलराजादिदं सर्वमिति चित्ते त्वभून्मम ॥२७॥

१ मदवारियुक्तः । २ गन्धहस्ती ।

चतुर्थः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतौ सिद्धार्थं नामतः पुरम् । धर्मानुमानमात्रार्थसिद्धार्थक्षेपनागरम् ॥ १ ॥ सौधाग्रगेषु सक्रान्त निन्दु स्वच्छेषु मालिकाः । यत्रादित्सन्ति धीधाम्नु पुष्पकन्दुकशङ्कया ॥ २ ॥ बभूव भूपतिस्तत्र नामतो नरवाहनः । यः पुण्यजननायत्तास्तत्यक्षो नैरवाहनः ॥ ३ ॥ यस्य निर्विशकृष्णादिधाराविद्धा द्विपोत्कटः । यत्रापयांसि भूयांसि वैरिणां परितः पपौ ॥ ४ ॥ तस्याग्रमहिषी जज्ञे नाम्ना विमलमालती । स्वकान्तस्वान्तरोलम्बकुञ्जविमलमालती ॥ ५ ॥ भवितव्यतया तस्याः क्षिप्तः कुक्षावहं ततः । सापि मां समयेऽसूत सुत पुण्योदयान्वितम् ॥ ६ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्यानि विधाय पितरौ मुदा । रिपुदारण इत्याख्यां चक्राते समये मम ॥ ७ ॥ इतोऽविवेकिता सापि मम धात्री सुलोचने । । गर्भे ममार संप्राप्य धन स्वप्रेयसः क्वचित् ॥ ८ ॥ उभाभितमहोरस्क मदनाटकमारकम् । मत्र मातृव्येव साज्सूत शैलराजाभिधं सुतम् ॥ ९ ॥ ततः पित्रोर्महानन्दं ददानः सुखलालितः । सहैव शैलराजेन क्रमाद् वृद्धिमहं गतः ॥ १० ॥ अथ पञ्चसप्ततीतेषु वर्षेषु दष्टो मया । शैलराजशिरास्थथौ शृङ्गापीव स धारयन् ॥ ११ ॥ मनाक्स्नेहमोहेन सं दृष्ट्वा मम मानसे । या प्रीतिरासीदास्यार्त वचसा कथ्यते न सा ॥ १२ ॥ मत्सापं सोऽप्य विधाय दुरात्मनस्य

१ नाम तत्पुरम् ता० क० स० प० । २ निस्तासु । ३ कुबेरा ।

॥ ४२ ॥ एवं च वर्त्तमानस्य वयस्यद्वययोगतः । कलाग्रहणकालो मे संप्राप प्रवरेक्षणे ! ॥ ४३ ॥ महामत्य-भिधस्याथ कलाचार्यस्य भक्तितः। अर्पयामास मां तातो महोत्सवपुरःसरम् ॥ ४४ ॥ मामूचे च गुरुर्वत्स ! तवायं ज्ञानदायकः । अतः पादौ प्रणम्यास्य शिष्यभावं समाचर ॥ ४५ ॥ मयोक्तं तात ! मुग्धोऽसि यो मामेवं प्रभाषसे । वराकः किं विजानाति नूनमेष ममाग्रतः ? ॥ ४६ ॥ गुरुरन्यस्य लोकस्य स्यादेष न तु मादृशाम् । अतो नाहं पताम्यस्य पादयोः शास्त्रकाम्यया ॥ ४७ ॥ आददामि कलाः किन्तु भवतामनुरोधतः । मदीय-विनयो नूनमस्य स्यान्मातृलोहितम् ॥ ४८ ॥ ततस्तातेन स प्रोचे कलाचार्यो रहःस्थितः । आर्य ! मामकपुत्रोऽयं गाढं मानधनेश्वरः ॥ ४९ ॥ तन्नैव भवताऽमुष्य दृष्ट्वाप्यविनयादिकम् । चित्तोद्वेगो विधातव्यो ग्राह्योऽयं चाखिलाः कलाः ॥ ५० ॥ ततो विनयनम्रस्य श्रुत्वा तातस्य जल्पितम् । यदादिशति राजेन्द्र इत्याह स महामतिः ॥ ५१ ॥ चिन्तितं च तदा तेन कलाचार्येण चेतसि । किलैष यावच्छास्त्रस्य भावार्थं नाव-बुध्यते ॥ ५२ ॥ यावच्च केलिबहुलां बालतामनुवर्त्तते । आध्मातोऽलीकगर्वेण तावदेवं प्रभाषते ॥ ५३ ॥ यदा तु ज्ञातशास्त्रार्थः प्रवीणश्च भविष्यति । तदायं मदमुत्सृज्य विनीतो भविता स्वयम् ॥ ५४ ॥ एवं निश्चित्य शुद्धात्मा स मां ग्राहयितुं कलाः । कलाचार्यः प्रववृते बृहदादरपूर्वकम् ॥ ५५ ॥ अन्येऽपि बहवस्तस्माद्विनीता राजसूनवः । कलामाददते वारि वारिदा इव वारिधेः ॥५६॥ ततश्चाहमधीयानो हीलयामि मुहुर्मुहुः । जात्यादि-

१ पुरस्सरम् क० ख० घ० । २ ०नीते नू० क० ख० ग० घ० ।

ततोऽस्यन्तप्रहृष्टेन स्नेहनिर्भरचेतसा । शैलराजो मयान्येद्युर्नगरे रहसि स्थितः ॥ २८ ॥ वयस्य ! समभूल्लोके देवानामपि दुर्लभम् । यदिदं मम माहात्म्यं प्रतापस्ते स निश्चितम् ॥ २९ ॥ स प्रोचे मद्गुणिस्त्वेन गुणहीनोऽप्ययं जनः । कुमार ! हृदि ते भाति सौजन्यं तत्र कारणम् ॥ ३० ॥ ततश्च यदिमं वक्षे तव संभावना मयि । तयाऽऽ सादितपार्श्वस्त्वां किञ्चिद् विज्ञपयाम्यहम् ॥ ३१ ॥ अस्ति स्ववीर्यज स्तब्धचित्ताख्यं मे विलेपनम् । तन्निजे हृदये देयं कुमारेण प्रतिक्षणम् ॥ ३२ ॥ कुमारोऽस्य प्रभावं तु ज्ञास्यत्यनुभवात् स्वयम् । स इत्युक्त्वार्पयत् मे लिप्तं तेन मयाप्युरः ॥ ३३ ॥ तत्प्रभावादहं मासवरोमतद्गुणान्तरः । प्रस्तावः कुब्जिक इव जातो नमनवर्जितः ॥ ३४ ॥ ततो मेऽप्यनमल्लोको विक्षेपेण ममाप्यभूत् । शैलराजे तदाख्याविलेपे च प्रत्ययो महान् ॥ ३५ ॥ इतोऽहं मगम क्लिश्यमानसास्ये पुरेऽन्यदा । तत्र दुष्टाशय नाम नरेन्द्रं दोषमन्दिरम् ॥ ३६ ॥ देवीं जघन्यतां तस्य मृषावादं च तत्सुतम् । शाठ्यादिमिश्र स्नेहादिप्रतिपक्ष व्यलीकयम् ॥ ३७ ॥ कालं कियन्तमप्यस्यां तेष्वाहं तत्र मानिनः । जाते च निर्भरं मैत्री मृषावादेन तेन मे ॥ ३८ ॥ सहैवागत्य तेनाथ स्वस्थानं पुनरप्यहम् । संवादात्म्यविज्ञानन्तो विलसामि निजेच्छया ॥ ३९ ॥ मृषावादबलेनाथ सर्वप्रत्ययमप्यहम् । कृत्वापि निह्नुवेऽकृत्यं स्वीकृत्यात्यन्तदुष्टताम् ॥ ४० ॥ आत्मनापि विधायोच्चैर्दोषं कमपि लीलया । रोपयामि परे चाहं प्रहसन्निव चेतसि ॥ ४१ ॥ ततश्च समयेऽनर्घा आपन्तेऽस्मत्तवात्मा: । पुण्योदयात्तु भावेन विलयं यान्ति तेऽखिलाः

१ ममाऽन० स० ।

सहसा प्रकटः समजायत। अहमप्यमुचं तूर्णं तं विलोक्य तदासनम् ॥ ७२ ॥ कलाचार्योऽथ मामूचे तवेदानीं किमुत्तरम् ?। किमासीनो नवात्र त्वं विष्टरे दुष्ट ! रे वद ? ॥ ७३ ॥ प्रोचे कर्णौ पिधायाहमहो ! मत्सरवल्गितम्। यदकृत्य स्वयं कृत्वा मय्येवाऽऽरोपयन्त्यमी ॥ ७४ ॥ दध्यौ महामतिः सेयं दृष्टेऽप्यनुपपन्नता। तदहो ! धार्ष्ट्यमेतस्य मन्ये नास्त्यस्य वैद्यकम्[1] ॥ ७५ ॥ अथैकान्ते कलाचार्यं कृत्वोक्तं राजदारकैः। यददृष्टव्यवक्त्रोऽयमत्रानेन स्थितेन किम् ? ॥ ७६ ॥ दध्यावथ कलाचार्यः सत्यमेते वदन्त्यदः। सत्संसर्गस्य नैवायमुचितो रिपुदारणः ॥ ७७ ॥ लुब्धक्रुद्धशठस्तब्धचौरजारादिशिक्षणे। उपायो विद्यते लोके न मिथ्यावादिनां पुनः ॥ ७८ ॥ तस्मादवश्यं त्याज्योऽयं ध्यात्वेत्याह स मां रहः। कुमार ! नेदृशां स्थानं शालायामिह जातुचित् ॥ ७९ ॥ शैलराजमृषावादौ ततः पापाविमौ त्यज। यदि वात्र कुमारेण नागन्तव्यमतः परम् ॥ ८० ॥ मया प्रोचे निजस्य त्वं स्थानं देहि पितुर्निजम्। विनैव त्वत्पदं त्वां च भलिष्यामो[2] वयं पुनः ॥ ८१ ॥ एवं च कर्कशैर्वाक्यैस्तिरस्कृत्य कलागुरुम्। स्तब्धचित्तविलिप्ताङ्गो निर्गतोऽहं तदाश्रयात् ॥ ८२ ॥ महामतिरथावादीत्तानेवं राजदारकान्। अरे ! तावदयं पापः प्रययौ रिपुदारणः ॥ ८३ ॥ केवलं भूपतेः पुत्रस्नेहमोहो महानिह। [3]दोषदोषिविभागं च स्नेहमूढा विदन्ति न ॥ ८४ ॥ ततः प्रक्ष्यति वृत्तान्तं यद्येनमवनीपतिः। ततः प्रत्याययिष्यामि सम्यग्युक्त्याऽहमेव तम् ॥ ८५ ॥ मौनमेवात्र युष्माभिः कर्त्तव्यं सर्वथा पुनः। यदादिशत्युपाध्याय इति

---

१ चिकित्सा। २ °विष्या० ख०। ३ दोष्यदो० ता० क०।

मिराध्याय शैलराजनिवेशवत् ॥ ५७ ॥ अथ दध्यावुपाध्यायः पापोऽयं रिपुदारणः । पायसं संनिपातीव न शास्त्राभ्यासमर्हति ॥ ५८ ॥ श्वपुच्छमिव नैवायं विनर्ति कुटिलाशयः । शक्यो ग्राहयितुं नूनं मयोपायशतैरपि ॥ ५९ ॥ गुणाधानार्थमेतस्य मयेयत्कालमादरः । चक्रे नृपोपरोधेन त्याग एवाधुनोचितः ॥ ६० ॥ इति चेतसि निश्चित्य ततः प्रभृति मामसौ । धूलिरूपतयापश्यद्विमुक्ताध्यापनादरः ॥ ६१ ॥ तथापि न बहिर्वक्त्रविकारमपि कदाचित् । स दर्शयति गम्भीरमानसत्वादलक्षया ॥ ६२ ॥ अथान्यदा बहिर्याति कलाचार्ये सदासने । उपाविशमहं छात्रैर्दृष्ट्वा च जगदे शनैः ॥ ६३ ॥ कुमार ! वन्द्यमेवेदमुपाध्यायासनं ततः । अस्य नाक्रमणं युक्तं पादुकोपनिबन्धनम् ॥ ६४ ॥ मयाहमवद रे ! रे ! के यूयं शिक्षणे मम । एवं शिक्षयतास्मीयं गत्वा सम्पकुल सदाः ! ॥ ६५ ॥ तेऽथ तूष्णीं स्थिताः पीठादुत्तस्थौ स्वेच्छया त्वहम् । आगते च कलाचार्ये मद्वृत्तं तेऽप्यचीकथन् ॥ ६६ ॥ क्रुद्धेन तेन पृष्टोऽथ साक्षेपमहमभ्यधाम् । अहो ! ते मतिनैपुण्यमहो ! ते शास्त्रकौशलम् ॥ ६७ ॥ यच्च मत्सरिणामेषां सर्वदोऽनृतवादिनाम् । वचोभिर्विप्रलब्धो मामेवमाभाषसे किल ॥ ६८ ॥ दध्यौ विलक्षीभूतोऽथ कलाचार्यो महामतिः । न हि तावदमी राजसूनवो ब्रुवतेऽनृतम् ॥ ६९ ॥ निजापराधमेव हि गोपयत्येष केवलम् । एवं विलोकयिष्यामि प्रच्छन्नीभूय तत्स्वयम् ॥ ७० ॥ विचिन्त्येत्थं यदा तेन तथैव विहिते सति । तत्र वेत्रासने दृष्टो निविष्टोऽहं निकृष्टधीः ॥ ७१ ॥ उपाध्यायोऽथ

१ ऽपि नू० ता० । २ °माऽऽनु० सं० शा० । ३ °पाप० ता० ।

सहसा प्रकटः समजायत । अहमप्यमुचं तूर्णं तं विलोक्य तदासनम् ॥ ७२ ॥ कलाचार्योऽथ मामूचे तवेदानीं किमुत्तरम् ?। किमासीनो नवात्र त्व विष्टरे दुष्ट ! रे वद ? ॥ ७३ ॥ प्रोचे कर्णौ पिधायाहमहो ! मत्सरवल्गितम् । यदकृत्यं स्वयं कृत्वा मय्येवाऽऽरोपयन्त्यमी ॥७४॥ दध्यौ महामतिः सेयं हृष्टेऽप्यनुपपन्नता । तदहो ! धार्ष्ट्यमेतस्य मन्ये नास्त्यस्य वैद्यकम्[1] ॥ ७५ ॥ अथैकान्ते कलाचार्यं कृत्वोक्तं राजदारकैः । यददृष्टव्यवक्त्रोऽयमत्रानेन स्थितेन किम् ? ॥ ७६ ॥ दध्यावथ कलाचार्यः सत्यमेते वदन्त्यदः। सत्संसर्गस्य नैवायमुचितो रिपुदारणः ॥ ७७ ॥ लुब्धक्रुद्धशठस्तब्धचौरजारादिशिक्षणे । उपायो विद्यते लोके न मिथ्यावादिनां पुनः ॥ ७८ ॥ तस्मादवश्यं त्याज्योऽयं ध्यात्वेत्याह स मां रहः । कुमार ! नेदृशां स्थानं शालायामिह जातुचित् ॥ ७९ ॥ शैलराजमृषावादौ ततः पापाविमौ त्यज । यदि वात्र कुमारेण नागन्तव्यमतः परम् ॥ ८० ॥ मया प्रोचे निजस्य त्वं स्थानं देहि पितुर्निजम् । विनैव त्वत्पदं त्वां च भर्लिष्यामो[2] वयं पुनः ॥ ८१ ॥ एवं च कर्कशैर्वाक्यैस्तिरस्कृत्य कलागुरुम् । स्तब्धचित्तविलिप्ताङ्गो निर्गतोऽहं तदाश्रयात् ॥८२॥ महामतिरथावादीत्तानेवं राजदारकान् । अरे ! तावदयं पापः प्रययौ रिपुदारणः ॥ ८३ ॥ केवलं भूपतेः पुत्रस्नेहमोहो महानिह । [3]दोषदोषिविभागं च स्नेहमूढा विदन्ति न ॥ ८४ ॥ ततः प्रक्ष्यति वृत्तान्तं यद्येनमवनीपतिः । ततः प्रत्याययिष्यामि सम्यग्युक्त्याऽहमेव तम् ॥ ८५ ॥ मौनमेवात्र युष्माभिः कर्त्तव्यं सर्वथा पुनः । यदादिशत्युपाध्याय इति

१ चिकित्सा । २ °विष्या० ख० । ३ दोष्यदो० ता० क० ।

तेऽप्यवदस्ततः ॥८६॥ त्वम्मार्द विनिर्गत्य गतस्तातस्य सन्निधौ । पाठस्वरूप तेनापि पृष्टः संमान्य सादरम् ॥८७॥
कैतवाचावलेपेन मृषावादबलेन च ततोऽहमवद तात ! समाकर्णय मद्वचः ॥ ८८ ॥ कलाः सन्तीह याः काश्चिद्
वैदुष्याद ताः पुरैव हि । अय स्वदीययत्नो मे विशेषाधायकः परम् ॥८९॥ कलाभिर्भुवि पश्यामि स्वतुल्य नापरं
नरम् । तच्छ्रुत्वा मुदितस्तातः प्रोचे चास्स्तथोत्तमः ॥ ९० ॥ विद्यायां ध्यानयोगे च स्वभ्यस्तेऽपि हितैषिणा ।
सन्तोषो नैव कर्तव्यो जातु जात ! तथापि हि ॥ ९१ ॥ गृहीतानां स्थिरत्वेन शेषाणां ग्रहणेन च । कलानां मे
ततो वत्स ! त्वं पुषाण मनोरथान् ॥ ९२ ॥ मयस्तेषमिति प्रोक्ते मया मुदितमानसः । भद्रे ! तातस्ततः कोष्ठा
ध्यक्षमादिष्टवानिति ॥ ९३ ॥ महामतिगृहं भद्र ! स्वपथैः परिपूरय । कुमारोऽयं कला गृह्णन् येन तत्रैव
तिष्ठति ॥ ९४ ॥ तथवा पितृवे सोऽपि मधुवर्षं तु महामतिः । माभूद् देवस्य संताप इति तातस्य नाम्यत
॥ ९५ ॥ ततो मां पुनरप्याह कुमारायप्रभृत्यपि । पूर्वाधीत स्थिरयता नूतनं चाभिगृह्णता ॥ ९६ ॥ कलाकलाप
सकल त्वयोपाध्यायमन्दिरे । स्थेय तत्रैव नो वत्स ! द्रष्टव्योऽहमपि त्वया ॥ ९७ ॥ युग्मम् ॥ एवं मय
त्विति मुदा गतिस्ताऽथ नृपान्तिकात् । विनिर्गतोऽहमप्राप्त दुःशासनपारमत्तम् ॥ ९८ ॥ सखे ! कस्योपदेशेन
तव कौशलमीदृशम् [1] । येन त्वयीपाणदम्मात् वञ्चे हर्षः पितुर्मया ॥ ९९ ॥ प्रश्चादितः कलाचार्यकलिष्यति
करोऽपि हि । लेभेऽयतिदुर्लभा चेयं तथा मुस्कलधारिता ॥ १०० ॥ सोऽप्युवाच कुमाराऽस्ति पुरे राजसचितके ।

१ 'केवलं चित्तपेयजम्' तातमतो पाठान्तरं किञ्चिदमस्ति । २ मृषावादम् ।

रागकेशरिभूपालो देवी तस्य च मूढता ॥ १०१ ॥ तयोर्माया सुता सा च प्रपन्ना मे वृहत्स्वसा । ततस्तदुपदेशेन मम कौशलमीदृशम् ॥ १०२ ॥ व्रजामि यत्र यत्राहं तत्र तत्र मया सह । अन्तर्लीनास्ति सा नित्यं मदीयविरहासहा ॥ १०३ ॥ वयस्य ! दर्शनीयेयं ममापीति मयोदिते । प्रस्तावे दर्शयिष्यामीत्यवोचत्पुनरप्यसौ ॥ १०४ ॥ ततः प्रभृत्यहं वेश्याद्यूतकारादिवेश्मसु । विचरामि यथाकामं सदा दुर्ललितैर्युतः ॥ १०५ ॥ अलीकं च मृषावादाल्लोके स्वस्य कलाग्रहम् । तन्वंस्तातमपश्यंश्च द्वादशाब्दीमलङ्घयम् ॥ १०६ ॥ मुग्धोक्त्या[1] च कुमारोऽयं कृती[2] सर्वकलास्विति । देशान्तरे प्रवादोऽभूद् यौवनं चाहमासदम् ॥ १०७ ॥ इतोऽस्ति शेखरपुरे नरकेशरिभूपतेः । सुता वसुन्धरादेवीकुक्षिभूर्नरसुन्दरी ॥ १०८ ॥ उद्यौवना च सा दध्यौ यः कलाभिर्भविष्यति । मत्तोऽधिकस्तमेवाहं परिणेष्यामि नापरम् ॥ १०९ ॥ तदाकूतं च ज्ञात्वाथ पित्रोराकुलताऽभवत् । कलाभिर्न समोऽपीह यतस्तस्याः कुतोऽधिकः ? ॥ ११० ॥ समाकर्ण्य कलाविच्चकीर्त्तिं दध्यौ च तत्पिता । भविष्यत्यधिको[3]ऽमुष्याः स एव रिपुदारणः ॥ १११ ॥ युज्यते चैष संबन्धो नरवाहनभूभुजा । तादृशा हि सुवंश्येन संबन्धः केन लभ्यते ? ॥ ११२ ॥ ततस्तत्रैव गत्वाहं परीक्ष्य रिपुदारणम् । सुतां विवाहयाम्येनां यथा स्यान्मे मनःसुखम् ॥ ११३ ॥ ध्यात्वेति तामुपादाय सुतामत्यन्तवल्लभाम् । सिद्धार्थपुरमायातः सबलो नरकेशरी ॥११४॥ अथ ज्ञापितवृत्तान्तो हृष्टस्तातः सविस्तरम् । प्रवेश्यैनं पुरे तस्यार्प्पयाञ्चक्रे निकेतनम् ॥११५॥ ज्ञापितं चेति लोकानां कुमारस्य भवि-

१ जनप्रवादेन । २ विद्वान् । ३ प्रभवत्य० ग० ।

ष्यति । सर्वं चपरसुन्दर्या कलाकौशलनिर्णयः ॥ ११६ ॥ ततः शुभे दिने तस्मीकारिते मण्डपेऽमिलत् । राजक
सपरिवारस्तागमान्तरमाविशत् ॥ ११७ ॥ आहूतोऽथ कलाचार्यः सार्धं तैर्नृपदारकैः । आजगामाहमप्याशु
मित्रत्रयसमन्वितः ॥ ११८ ॥ पुण्योदयोऽस्ति मद्दृष्टेरिति तैस्तु कथस्तदा । अथाह न्यपद तातान्तिके स च
कलागुरुः ॥ ११९ ॥ निवेदित च तातेन कलाचार्याय पृच्छतः । नरकेशरिराजस्य तत्रागमनकारणम् ॥ १२० ॥
तच्छ्रुत्वा मुदितोऽस्यन्तमहं स तु महामतिः । इसंमिते स्थितस्तूष्णीं नरकेशर्यथाऽऽगमत् ॥ १२१ ॥ तातेन
दापिते सिंहासने तस्मिन्निपेदुषि । चपस्वामिः परिवृता रूपापगमिवाप्सराः ॥ १२२ ॥ विहिताद्भुतनेपथ्या हरन्ती
कामिनां मनः । लीलामन्थरया गत्या नरसुन्दर्यथाऽऽययौ ॥ १२३ ॥ युग्मम् ॥ तां विलोक्य च दृष्टेन शैलराज
विलेपनम् । ममात्महृदये चक्रे चिन्तितं चेति चेतसि ॥ १२४ ॥ अन्यः को मां विहायैनां मृगाक्षीं वोढुमर्हति ।
नहि आसु विना काम रतिरन्यस्य युज्यते ॥ १२५ ॥ अत्रान्तरे सविनय तातादीनां कृतानतिः । नरकेशरिराजेन
मगदे नरसुन्दरी ॥ १२६ ॥ उपविश्य क्षणं पुत्त्रा त्वमेन नृपनन्दनम् । पृच्छामीष्टां कलां यस्ते । पूरयास्य
मनोरथम् ॥ १२७ ॥ उपविश्याथ सा प्राह न गुरूणां पुरो मम । वक्तु युक्त ततो राजसूनुरेव प्रजल्पतु ॥१२८॥
कलासु यस्यतस्तस्य तातस्थान किमप्यहम् । प्रक्ष्यामि तत्र निर्वाहः कर्तव्यो नृपसूनुना ॥ १२९ ॥ एतस्तातोऽथ
मामूचे युक्तं राजसुताऽवदत् । तदिदानीं कलोद्गारं तस्याऽस्याः पूरयेप्सितम् ॥ १३० ॥ विवेकि शुलनेमैस्य गृहाण
च वपश्चनम् । कलाज्ञानप्रकर्षस्य यस्यैव निकषः खलु ॥ १३१ ॥ तदा तु मे कलानामान्यपि विस्मृतिमाययुः ।

ततः प्रनष्टवाक्यस्य क्षोभोऽभूद्वचनातिगः ॥ १३२ ॥ तातो विषण्णस्तद्वीक्ष्योपाध्यायमुखमैक्षत । किमेतदित्य-
पृच्छच्च सोऽपि कर्णे न्यवेदयत् ॥ १३३ ॥ देव ! किञ्चिन्न वेत्त्येष कलामध्ये[1] ततोऽक्षुभत् । तातः प्राह कुतोऽज्ञानं ?
कुमारो हि कलाकृती[2] ॥ १३४ ॥ मद्दुर्वृत्तमथ स्मृत्वा क्रुद्धः प्रोचे कलागुरुः । शैलराजमृषावादकलयोरेव कृत्ययम्[3]
॥ १३५ ॥ ततो दुर्विनयासत्यभाषणे एव वेत्त्यसौ । न गन्धमात्रमप्यन्यकलानां बुध्यते पुनः ॥ १३६ ॥
तातः प्राह कथं ? सोऽथावददेव ! किमुच्यते । कुमारचरितं सर्वं नाख्यातुमपि पार्यते ॥ १३७ ॥ तातः
प्रोचे यथावृत्तं कथ्यतां सोऽप्यथो मम । वृत्तं वेत्रासनारोहाद्यधिक्षेपान्तमाख्यत ॥ १३८ ॥ तातः प्रोवाच
यद्येवं जानतापि त्वयेदृशम् । स्वरूपं किमसावार्य ! सभामध्ये प्रवेशितः ॥ १३९ ॥ कलाचार्योऽवददेव !
मया नायं प्रवेशितः । मद्गृहान्निर्गतस्यास्याभूवन् द्वादश वत्सराः ॥ १४० ॥ त्वदाह्वानादहं गेहा-
दिहागामन्यतस्त्वयम् । स्थानात् कुतश्चिदेवं च श्रुत्वा तातोऽभ्यधादिति ॥ १४१ ॥ आर्य ! यद्येवमस्यैवंविध-
स्यापि कुतोऽभवत् । कल्याणाली पुरा किं वाऽधुना लोके विगुप्यति(ते) ॥ १४२ ॥ महामतिरथोवाच देवा-
स्त्यस्यान्तरः[4] सखा । पुण्योदयः पुरा तेन कल्याणाली कृताऽखिला ॥ १४३ ॥ ततोऽवोचदयं तत् क्वाऽधुना ? स
प्राह तिष्ठति । क्षीणः किन्त्वस्य दुर्वृत्तैर्न क्षमो हर्तुमापदम् ॥ १४४ ॥ तच्छ्रुत्वाह सभामध्ये दुःसुतेनामुना
वयम् । ह्रेपिताश्चिन्तयन्नेवं तातः कृष्णमुखोऽभवत् ॥ १४५ ॥ सोऽलक्षि लोकैरालोचो विद्राणं स्वजनैस्ततः ।

१ ०मथ त० ख० । २ कलानिपुणः । ३ विद्वान् अयम् । ४ ०स्तेऽस्या० ग० ।

निभृतं हसितं चित्रैर्विषण्णा नरसुन्दरी ॥ १४६ ॥ विस्मितस्तत्पितुर्लोकोऽहं तु चेतस्यचिन्तयम् । नूनं तात
कलाचार्यौ चलान्मां बन्धयिष्यतः ॥ १४७ ॥ ततो मयातिरेकेण विह्वलीभूतमानसः । निरुद्धोच्छ्वासनिःश्वा
सोऽहं मुमूर्षुरिवाभवम् ॥ १४८ ॥ ततो हा ! तात ! हा ! तात ! किमेतदिति भाषिणी । वेगेनैत्यालगद् देहेऽ-
म्बा मे विमलमालती ॥ १४९ ॥ पात पात जनाः ! नाथ कुमारः पटुविग्रहः । इति तातोदिता लोकाः स्थानं
स्वस्वमथाययुः ॥ १५० ॥ कुमारस्याहो ! पाण्डित्यमहो ! पाण्डित्यमित्यलम् । स्थाने स्थाने च सम्भूय ते
हसन्ति स्म मां बहिः ॥ १५१ ॥ नरकेशर्युपाध्यायावप्यावासं निजं निजम् । अपायनतवक्त्रेण तातेन प्रहितौ
गतौ ॥ १५२ ॥ नरकेशरिभूपालश्चिन्तयामासिवानथ । हट्ट्रष्टरूपमधुना कुर्मः प्रातः प्रयाणकम् ॥ १५३ ॥
ममापि निर्जने मन्दभियः सुस्थमभूद् वपुः । ततो वनाहत इवालक्षयत् तद्दिन पुनः ॥ १५४ ॥ प्रदोषेऽपि
कमवास्थानमदत्त्वा निशि केवलः । सुष्वाप चिन्तया व्यस्तनिद्रश्चालक्षयमिक्षाम् ॥ १५५ ॥ इतश्च लज्जितः
पुण्योदयो दध्यौ न सुन्दरम् । मयाऽकारि कुमारो यत् लोकमध्ये विगोपितः ॥ १५६ ॥ ततो यद्यप्य
योग्योऽयमेतस्या रिपुदारणः । तथापि दापयाम्येनामस्मै कमललोचनाम् ॥ १५७ ॥ व्यात्वेति स रजन्यन्ते
निद्रायस्य पितर्दशौ । स्वप्नान्तर्दर्शनं चैतमाकारानुरूपमाह ॥ १५८ ॥ राजन् ! जागर्षि ? निद्रासि ? चेति
तातश्चाच च । जागर्मीति नृपेणोक्ते जगादेति पुनः स तम् ॥ १५९ ॥ अवश्यं दापयिष्यामि नरकेश

१ ०मूर्च्छमाह ग० ।

रिनन्दिनीम् । अचिराय कुमाराय खेदं भूनाथ ! मा कृथाः ॥ १६० ॥ महाप्रसाद इत्युक्ते राज्ञाथ स तिरोदधे । तदानीं चापठत् प्रातःशंसी मङ्गलपाठकः ॥ १६१ ॥ हीनप्रतापो यः पूर्वं गतोऽस्तं जगतां पुरः । स एवोदयमासाद्य लभते श्रियमर्यमा ॥ १६२ ॥ तेन वैतालिकोक्तेन तेन स्वप्नेन चात्मनः । निश्चिताभीष्टसंसिद्धिस्तातः प्रातःक्रियां व्यधात् ॥ १६३ ॥ इतश्चाचिन्त्यमाहात्म्यपुण्योदयसमीरितः । नरकेशरिभूमीशश्चिन्तयामास चेतसि ॥ १६४ ॥ इहागमनहेतुर्मे तावद् राज्यान्तरेष्वपि । विज्ञातो माननीयश्च नृपोऽयं नरवाहनः ॥ १६५ ॥ ततो लज्जाकरं पक्षद्वयेऽपि नरसुन्दरीम् । अदत्त्वा गमनं तस्मात् कुमाराय ददाम्यमूम् ॥ १६६ ॥ ध्यात्वेति नरसुन्दर्यै स स्वाभिप्रायमाख्यत । पुण्योदयेरिता सापि तदादेशममन्यत ॥ १६७ ॥ नरकेशर्यथागत्य नरवाहनमभ्यधात् । महाराज ! कुमाराय दत्तैवेयं मया सुता ॥ १६८ ॥ यतो विकत्थमानानां बहुत्र खलु जायते । खलावकाशस्तदियं निर्विचारं प्रगृह्यताम् ॥ १६९ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ हृष्टस्तातः शुभेऽहनि । आवयोः कारयाञ्चक्रे पाणिग्रहमहामहम् ॥ १७० ॥ विमुच्य तनयां यातः स्वस्थाने नरकेशरी । ममापि हि तया सार्द्धं क्रीडतो यान्ति वासराः ॥ १७१ ॥ आवयोश्च महाप्रेम द्विशरीरैकचेतसोः । पुण्योदयेन घटितमन्योन्यविरहासहम् ॥ १७२ ॥ तद् दृष्ट्वाथ मृषावादशैलराजौ रुषं गतौ । वियोक्ष्यते कथमसावेतयेति प्रदध्यतुः ॥ १७३ ॥ शैलेशोऽथ मृषावादमवादीत् चित्तभेदनम् । कुरु त्वं नरसुन्दर्या भलिष्यामि ततः परम् ॥ १७४ ॥ मृषावादस्ततः

१ ०कारं ता० ।

प्राह नोत्साहोऽहं मयाऽऽज्ञा । मया विहितमेवास्याः पश्य चित्तस्य भेदनम् ॥ १७५ ॥ तदेव मद्वियोगार्थमेतौ विहितनिश्चयौ । शैलराजमृषावादौ पर्यालोच्य व्यवस्थितौ ॥ १७६ ॥ अहं तु तां समासाद्य प्रेयसीं नरसुन्दरीम् । चिन्तयाम्यहमेवैको धन्यो यस्येदृशी प्रिया ॥ १७७॥ ततः पश्यामि नो देवान् बन्धून् न गुरूनहम् । न भृत्यवर्गं नो लोकं न विश्वं सचराचरम् ॥ १७८ ॥ तद् दुष्टस्य मे धीस्थायामुत्पन्योदयः क्वचित् । सोपहासं मिथः प्राहुर्वनाथैव विरागिणः ॥ १७९ ॥ पश्यताहो ! विधेः कीदृगस्थानविनियोजनम् । स्त्रीरत्नमीदृशं येन मूर्खेणानेन योजितम् ॥ १८० ॥ दर्पाधोऽभूत्सुराप्येष प्राप्येमां तु विशेषतः । एकः कपिः परं दष्टोऽलिनेति तदभूदयः ॥ १८१ ॥ इयं च नोचितास्य सङ्काशी नरसुन्दरी । मराली वायसस्येव खरस्येव च हस्तिनीम् ॥ १८२ ॥ इतश्चान्येद्युरेकान्ते सा प्रिया नरसुन्दरी । स्नेहभावपरीक्षार्थं मामूचे सरलाशया ॥ १८३ ॥ तथार्यपुत्र ! कीदृश समाभ्यो तदाभवत् । शरीरापाटवं येन न वक्तुमपि पारितम् ॥ १८४ ॥ लब्धलक्षेन तेनाथ मृषावादेन संभितः । लेखितं तु त्वया कीदृगिति तामहमभ्यधाम् ॥ १८५ ॥ अत्यथोपत साप्येवं न किञ्चिल्लक्षितं तदा । आर्यपुत्र ! मया सम्यक् किन्त्विदं लक्षितं पुनः ॥१८६॥ सत्यमेवार्यपुत्रस्य जातं वपुरपाटवम् ? । किं वा कलानामज्ञानस्येदं हन्त विजृम्भितम् ? ॥ १८७ ॥ मयावोचत नैकापि शङ्का कार्या त्वया प्रिये ! । यतः सर्वा अपि कलास्तिष्ठन्ति हृदये मम ॥१८८॥ शरीरापाटवमपि न किञ्चिदभवत्तदा । किन्तु मोहात्पितृभ्यां स पक्षे कलकलो

१ वृषिकेन । २ तथाऽऽक्षब(०भि)त्व० ता०, त [थाऽव]भि त्व क० य० , कपि तमिन ! त्व० ग० ।

मुधा ॥१८९॥ ततोऽहं मौनमालम्ब्य स्थैर्यादस्थां प्रिये ! तदा । तच्छ्रुत्वा ज्ञातमद्भावा सा दध्यौ बुद्धिमत्यदः ॥१९०॥
अहो ! अस्याभिमानित्वमहो ! वितथवादिता । अहो ! अत्यन्तधृष्टत्वमिति ध्यात्वाभिधत्त सा ॥ १९१ ॥ यद्येव-
मार्यपुत्रेण कीर्त्यमानाः कला मम । श्रोतुं कौतुकमत्यन्तं ताः कीर्त्तय ततः प्रिय ! ॥१९२॥ तदा चावसरं ज्ञात्वा
शैलराजो [1]व्यजृम्भत । मदीयहृदयं स्तब्धचित्तेन विलिलेप च ॥१९३॥ अथाध्यायमहं चित्ते नूनं पण्डितमानिनी ।
मां पापोपहसत्येषा ततः किमनया मम ॥१९४॥ ध्यात्वेत्यूचे मया पापे ! तूर्णं निर्गच्छ मद्गृहात् । मूर्खेण मादृशा
स्थातुं विदुष्यास्ते न युज्यते ॥ १९५ ॥ साप्याटोपं समालोक्य तमकाण्डभवं मम । पद्मिनीव हिमप्लुष्टा जज्ञे
म्लानमुखाम्बुजा ॥१९६॥ ततोऽपि वेपमानाङ्गी [2]नीरङ्गीपिहितानना । जगामाम्बागृहे बाला सा निर्गत्य मदोकसः
॥ १९७ ॥ ममाप्यथ मनाक् शुष्के स्तब्धचित्तविलेपने । पश्चात्तापोऽभवद् बाढं तदीयस्नेहमोहतः ॥ १९८ ॥
संभूतारतिरत्यन्तमुल्लसन्मन्मथव्यथः । न्यषीदमथ पल्यङ्के निस्सहस्रस्तविग्रहः ॥ १९९ ॥ चिन्तयन्निःश्वसन्वेल्लन्
यावत्तत्रास्म्यहं क्षणम् । विवर्णास्यागमत् तावदम्बा विमलमालती ॥ २०० ॥ आदाय स्वयमेवाथ विष्टरं
निषसाद सा । कृत्वा[3]वहित्थं शय्यास्थ एव तस्थावहं पुनः ॥ २०१ ॥ अथ साभिदधे वत्स ! न साधु विदधे
त्वया । तिरस्कृता वराकीयं यत्तथा नरसुन्दरी ॥ २०२ ॥ इतो गताया यत्तस्याः संपन्नं वत्स ! तच्छृणु ।
कथयेति मया प्रोक्ते पुनरम्बा ब्रवीदिति ॥ २०३ ॥ वत्स ! तावदितो याता कपोललुलितालका । रुदती दीनवक्त्रा

१ विजृम्भितः ख० । २ शिरोवस्त्रम् । ३ आकारगोपनम् ।

सा पपात पदयोर्मम ॥ २०४ ॥ भद्रे ! किमेतदिति सा मया पृष्टाभ्यधादय । अम्ब ! दाहज्वरोऽत्यन्तं शरीरं
बाधते मम ॥ २०५ ॥ शयनावासमध्येऽथ खट्वा प्रक्षेपिता मया । आसयित्वा च तां तत्र निषण्णाहं तदन्तिके
॥ २०६ ॥ मुहुर्वीज्यमानेन क्षुभ्यमाणेन पाणिना । बहूपचर्यमाणापि न लेभे तत्र सा रतिम् ॥ २०७ ॥
दाहज्वरोऽयं किंहेतुस्तवेति गदिता मया । दीर्घदीर्घं निरश्वासीत्तूष्णी सा न तु किञ्चन ॥ २०८ ॥ ध्रुवमस्या
मनःपीडा येनाऽऽख्याति ममापि न । ख्यास्येति साग्रहं पृष्टा मया साऽऽख्यत् यथातथम् ॥ २०९ ॥ मयोचे
साथ यद्येवं तर्हि धीरा भवानघे ! । मा विषीद करिष्यामि प्रसभं त्वत्सुतं त्वयि ॥ २१० ॥ किन्त्विदं त्वं न
किं वेत्सि ? यदयं तनयो मम । मानी कस्याप्यविक्षेपं क्षमते न मृगेन्द्रवत् ॥ २११ ॥ ततोऽधुना स्वरूपेऽस्य
ज्ञाते न प्रतिकूलनम् । कार्यं किन्तु परात्मेवाऽऽराध्योऽयं सर्वदा त्वया ॥ २१२ ॥ ततश्च वत्स ! तच्छ्रुत्वा मद्वचः
सा तपस्विनी । प्राप पीयूषसिक्तेव प्राप्तराज्येव वा मुदम् ॥ २१३ ॥ समुत्थाय पतित्वा च क्रमयोर्मम साऽवदत् ।
मन्मया मेऽद्य समागताया विदधेऽनुग्रहो महान् ॥ २१४ ॥ तद्गत्वा शीघ्रमेवाम्बानुकूलं विधातु मे । आर्यपुत्र
मेऽपकारं करिष्ये नेदृशं पुनः ॥ २१५ ॥ ततः कपलीकर्व दासी विमुच्याह तदन्तिके । वत्सतस्याभ्यर्थमापाता
परमार्थोऽयमत्र तत् ॥ २१६ ॥ भवतो रोषनाशापि म्रियते सा वराकिका । तोषनाम्ना पुनः प्राप्तजीवातुरिव
जीवति ॥२१७॥ अतो य युष्मया विविधपराद्धं तया तव । अज्ञानात् प्रणयाद्वापि तत् वत्सः क्षन्तुमर्हसि ॥२१८॥

ततोऽहं श्रुत्वा चैवं प्रियाप्रेमप्रह्वो यावद्भवाम्यहम् । तावन्मे शैलराजेन दत्तं हृदि विलेपनम् ॥ २१९ ॥ ततोऽहं श्रुत्वा चैवं प्रियाप्रेमप्रह्वो यावद्भवाम्यहम् । तयापमानकारिण्या न कार्यं पापया मम ॥ २२० ॥ अथाम्बा-दयितामन्तुं तं स्मृत्वाऽम्बामवादिषम् । तदीयमन्तुः क्षन्तव्य इत्युक्त्वा मेऽपतत् पदोः ॥ २२१ ॥ मयोचेऽन्वस्तु-ऽभिदधे वत्स ! मैवं वादीरयं मम । त्वयापि हि न मे कार्यं [3]सैपापाप्याहता यया ॥ २२२ ॥ उक्त्वेत्यम्बा मया पद्भ्यां निर्वन्धपरेऽपसर दूरतः । विज्ञाय नरसुन्दर्यै गत्वाऽऽख्यत् तद् यथातथम् ॥ २२३ ॥ दुःश्रवं तदथ श्रुत्वा क्षिप्ता साथ मदाशयम् । वज्रदण्डहतेवाशु पपात भुवि मूर्च्छया ॥ २२४ ॥ वायुदानादिना लब्धचेतनां रुदतीं नरकेशरिनन्दिनी । ऊचेऽम्बा त्वत्पतिस्वान्तं वत्से ! वज्रेण निर्मितम् ॥ २२५ ॥ तथापि पुत्रि ! मा रोदीर्विषादं मुञ्च च ताम् । तावदेकं कुरूपायं त्वमवष्टभ्य साहसम् ॥ २२६ ॥ गत्वा स्वयं त्वमेवैकवारं तमनुकूलय । एवं यदि सर्वथा । अथैवं विहितेऽप्यस्य मनश्चेन्न वलिष्यते । पश्चात्तापस्ततश्चित्ते नैव पुनस्तस्य कथञ्चिद् वलते मनः ॥ २२७ ॥ वत्से ! भविष्यति ॥ २२८ ॥ तद्वचः प्रतिपद्याथ मत्पार्श्वं नरसुन्दरी । आययौ पृष्ठतस्त्वेत्य द्वार्यम्बा निभृतं स्थिता ॥ २२९ ॥ नरसुन्दर्यथो भद्रे ! पतित्वा पदयोर्मम । जगादाश्रान्तमश्रूणि श्रवन्ती गद्गदस्वरम् ॥ २३० ॥ नाथ ! कान्त ! प्रिय ! स्वामिन् ! जीवितेश्वर ! वल्लभ ! । प्रसीद मन्दभाग्याया मम प्रणतवत्सल ! ॥ २३१ ॥ न पुनस्ते मनोदुःखं करिष्यामि कदाचन । त्वां विना शरणं नाथ ! न ममास्ति जगत्यपि ॥ २३२ ॥ तां वीक्ष्य

१ ०नम्रः । २ ०त्वा ताम० ग० । ३ सा पापा० ग० । ४ प्रेरिता ।

तादृशी मेऽमून्मनः कमलकोमलम् । खेटराज वहुकस्य मयाऽमर्सि तथापि सा ॥ २३३ ॥ आः पापे ! गच्छ
गच्छाशु नामाडम्बरमापया । न प्रतारयितुं शक्यस्त्वयायं रिपुदारणः ॥ २३४ ॥ कुशलापि कलासूचैरन्येषामेव
वञ्चनम् । कर्तुं शक्नोषि नो जातु मूर्खाणामपि मादृशाम् ॥ २३५ ॥ यदाहं हसनस्थानं संजातस्तावकानामपि ।
तदा किं ते प्रलापेन ? कीदृशी नायता च मे ? ॥ २३६ ॥ इत्युक्त्वा मयि तूष्णीके स्थिते बाला क्षणं तदा । विधेय
विधुरा साऽभूत् प्रदध्यौ च खेचरी ॥ २३७ ॥ प्रियापमानितायां मे किं प्राणैरिति निश्चयात् । मुमूर्षुः सा ममाथा
साभिर्जगाम धनैस्ततः ॥ २३८ ॥ किमयं विदधातीति चिन्तयन्नहमप्यय । निभृतं खेटराजेन सार्धं तामनुजग्मि
वान् ॥२३९॥ दुर्लङ्घानि मदीयानि तानि तानि विलोकयन् । निर्विण्ण इव मार्तण्डस्तदा देशान्तरं ययौ ॥२४०॥
अथान्धकारबद्धेषु जनशून्येषु वर्त्मसु । अगामेकत्र सा शून्यमन्दिरे नरसुन्दरी ॥ २४१ ॥ अहं तु पश्यं
स्तामेव जाते किञ्चिद् विप्लवे । तस्थौ निलीय तद्द्वारदेशे पेरमोपिपत् ॥ २४२ ॥ साथ तत्र दिशो वीक्ष्य
समारुह्योत्कटास्थलम् । मध्यमे बलके(लये)ऽवध्नात् पाशं ग्रीवां ततोऽक्षिपत् ॥ २४३ ॥ ततश्चोवाच भो !
लोकपालाः ! शृणुत मद्वचः । यथा प्रत्यक्षमेवेदं भवतां दिव्यचक्षुषाम् ॥ २४४ ॥ कलासु प्रणयेनैवार्यपुत्रोऽ-
भिदधे मया । परामयधिया नैवाभिप्रायमस्य तथाप्यभूत् ॥ २४५ ॥ अचिन्तयं तदा चाहमनया खलु मुग्धया ।
उक्तः प्रणयेनैव परामवधिया न तु ॥ २४६ ॥ स्वसार्थं विदुषोऽस्यैषा यदेयमधुना किल । तस्मान्निवारयाम्येनां

१ चीरचत् । २ ज्यर्परतया ता० ।

ध्यात्वेति तत्तथाकर्तुमहं यावत्प्रचक्रमे । तावद्भूयोऽपि सावादीदिति लोक-
छित्त्वा पाशमितो मृतेः ॥ २४७ ॥ ध्यात्वेति तत्तथाकर्तुमहं यावत्प्रचक्रमे । मा चैवंविधवृत्तान्तो भूयात् जन्मान्त-
पतीन्प्रति ॥ २४८ ॥ [1]तत्प्रतीच्छत भो ! लोकपालाः ! प्राणान् ममाधुना । मा चैवंविधवृत्तान्तो भूयात् जन्मान्त-
रेऽपि मे ॥ २४९ ॥ शैलेशः प्राह मामेषा न त्वत्संबन्धमिच्छति । जन्मान्तरेऽप्यथ मया ध्यात सत्यमिदं ध्रुवम्
॥ २५० ॥ यतः प्रस्तुतवृत्तान्ताभावमेषा समीहते । वृत्तान्तः प्रस्तुतश्चात्र मम तत् म्रियतामसौ ॥ २५१ ॥
ध्यात्वेति शैलराजीयविलेपनवशान्मया । उपेक्षिता विमुच्ये स्वं विपेदे नरसुन्दरी ॥ २५२ ॥ इतश्च भवनादम्बा
निर्यान्तीं नरसुन्दरीम् । दृष्ट्वा तदनुगं मां च चिन्तयामास चेतसि ॥ २५३ ॥ मन्येऽपमानिता रुष्टा यात्येषा मे
कचिद् वधूः । प्रसादयितुमेनां च पृष्ठलग्नो ममाङ्गजः ॥ २५४ ॥ ध्यात्वेति दूरं गतयोरावयोरनुवर्त्मना । आगच्छ-
न्त्यागता शून्यगृहे तत्र जनन्यपि ॥ २५५ ॥ तां च तत्र तथोद्वीक्ष्य दध्यावम्बा हतास्मि हा ! । नूनं मत्पुत्रकस्यापि
समभूदीदृशी गतिः ॥ २५६ ॥ एवंस्थितायामेतस्यामुदास्ते सोऽन्यथा कथम् ? । आभ्यां विरहितायाश्च जीवितेन
ममापि किम् ? ॥ २५७ ॥ ततश्च शैलराजीया(य)लेपदोषादुपेक्षिता । अम्बाप्यात्मानमुल्लम्ब्य मृता पश्यत एव
मे ॥ २५८ ॥ अथ साध्वससंतापादीषत्तस्मिन् विलेपने । शुष्के बभूव मे बाढं पश्चात्तापोऽतिदुःखदः ॥ २५९ ॥
ततः स्वाभाविकस्नेहविह्वलीभूतमानसः । शोकाक्रान्तः क्षणं चक्रे प्रलापमहमुच्चकैः ॥२६०॥ कथं मनुष्यः स्त्रीनाशे
रोदितीति विचिन्तयन् । शैलराजस्य माहात्म्यात् ततोऽहं मौनमाश्रितः ॥ २६१ ॥ इतः किमिति नायाति स्वामिनीति

१ तावत् प्रतीच्छत्त लोक० ग० । २ ०च्याऽसून् वि० ख० ।

चिन्तया । तां वधान्वेषयन्त्यागाद्दासी क्वचिकापि सा ॥ २६२ ॥ दृष्ट्वाम्भानरसुन्दर्यौ लम्बमाने तथाय सा । चक्रे पूत्कारममित्रम् सताव नगरं ततः ॥ २६३ ॥ किमेतदिति तेनोक्ता दास्याख्यन्मूलतोऽखिलम् । चन्द्रालोके स्फुटे ते च लोकेनालोकिते स्वयम् ॥ २६४ ॥ स्वकर्मत्रासतो मग्नगतिर्मोपितुमक्षमः । तत्राहमपि लोकेन लीनः स्वेन दृशेक्षितः ॥ २६५ ॥ संघातप्रत्ययेनोचैस्तेनाहं धिक्कृतस्ततः । तातोऽम्भानरसुन्दर्योर्मृतकार्य मकारयत् ॥ २६६ ॥ ततस्तातस्य वीक्ष्य मदीय कर्म दारुणम् । तातः शोकभराक्रान्तस्तदानीमित्यचिन्तयत् ॥ २६७ ॥ अहो ! सर्वापदां मूलमहो ! मत्कुलपांसनः । अहो ! सर्वप्रपन्चोऽप दुरात्मा रिपुदारणः ॥ २६८ ॥ न कार्यं मे ततोऽनेन पुत्ररूपेण वैरिणा । निजाङ्गजोऽपि किं लोकैर्न परित्यज्यते मलः ? ॥ २६९ ॥ ध्यात्वेति तेनाथ तातः सदनाच्च बहिष्कृतः । भ्रष्टभीकः पुरे तत्र शेषाऽच विचराम्यहम् ॥ २७० ॥ ततो मां तादृक्ष दृष्ट्वा बालकैरपि धर्षितम् । पदे पदे निनिन्दैव जनः सर्वो विरागवान् ॥ २७१ ॥ सोऽयं पापो दुराचारः स्वकीयकुल कण्टकः । अयमो विषपुञ्जम दुरात्मा रिपुदारणः ॥ २७२ ॥ मानावलेपतो येन कलाचार्योऽपकर्णितः । मूर्ख-भूतामपित्वेऽपि पाण्डित्यं च प्रकाशितम् ॥ २७३ ॥ माता च प्रियभार्या च मारिता येन मानतः । अद्रष्टव्य मुखस्तस्मादय पापमलीमसः ॥ २७४ ॥ उक्तं चेदं पुराऽस्माभिर्नोचितास्य दुरात्मनः । सा कलाकौशलादीनामाकरो नरसुन्दरी ॥ २७५ ॥ वियुक्तस्तया पापो यद्यं तद्धि सुन्दरम् । किन्तु सा पद्मपत्राक्षी यन्मृता तन्न चन्धुरम् ॥२७६॥ एवं लोककृतां निन्दां शृण्वन्नपि सहर्षकः । मां पुनस्तदाप्येव चिन्तयामास मूढधीः ॥२७७॥ संत्यक्तस्यापि

तातेन गर्हितस्यापि दुर्जनैः । शैलराजमृषावादौ बान्धवावेव मे परौ ॥ २७८ ॥ अनयोर्हि प्रसादेन भुक्तं पूर्वं मया फलम् । भोक्ष्ये च कालमासाद्य पुनर्नास्त्यत्र संशयः ॥ २७९ ॥ चिन्तयन्निति तैर्लोकैर्निन्द्यमानश्च सर्वदा । दुःखाम्भोनिधिनिर्मग्नः स्थितोऽहं वत्सरान् बहून् ॥ २८० ॥ अत्यन्तदुर्बलीभूतः सकोपो मयि निस्फुरः । स तु पुण्योदयो भद्रे ! स्थितोऽकिञ्चित्करस्तदा ॥ २८१ ॥ अपरेद्यवि तातोऽथ राजवृन्दसमन्वितः । वाह्याल्यां वाहवाहाय जगाम नगराद्बहिः ॥ २८२ ॥ वाहयित्वा चिरं वाहांस्तत्र चासौ श्रमाकुलः । उद्याने ललिताभिख्ये जगामासन्नवर्त्तिनि ॥२८३॥ स विश्रम्य क्षणं तत्र तस्यैव श्रियमद्भुताम् । यावद्विलोकयन्नास्ते लीलया हृष्टमानसः ॥२८४॥ तदन्तस्तावदेकत्र रक्ताशोकतरोरधः । विचक्षणाभिधं सूरिं ददर्श यतिसंयुतम् ॥ २८५ ॥ मुनीन्द्रं तं च संवीक्ष्य नयनोत्सवकारणम् । संजाताभ्यधिकानन्दस्तातश्चेतस्यचिन्तयत् ॥ २८६ ॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिरहो ! यौवनमद्भुतम् । एतस्य मुनिराजस्य समग्रगुणधारिणः ॥ २८७ ॥ ततः किमस्य वैराग्यकारणं समभूद् यतः । आदादीक्षामयं गत्वा प्रश्नयाम्यमुमेव वा ॥ २८८ ॥ चिन्तयित्वेति गत्वा च स सूरिं तमवन्दत । प्राप्ताशीः सपरिवारस्तत्पुरो निषसाद च ॥ २८९ ॥ लोकोऽन्योऽपि समागत्य नमस्कृत्य च तं गुरुम् । यथास्थानमुपाविक्षदक्षीणामन्दसंमदः ॥ २९० ॥ समेत्य तत्राहमपि कौतुकात्समुपाविशम् । न तु प्राणंसिपं तस्मै शैलराजवशंवदः ॥ २९१ ॥ अथासौ विदधे सूरिर्गिरा गर्जिगरिष्ठया । श्रोतृश्रोत्रसुधावृष्टिदेशीयां धर्म्मदेशनाम्

॥ २९२ ॥ निशम्य देशनां तां च संसारार्णवमेलिनीम्। अङ्गिनो लघुकर्माणः प्रत्यबुध्यन्त भूरिशः ॥ २९३ ॥
अथावसरमासाद्य राजा विरचिताञ्जलिः। पूर्वचिन्तितमप्राक्षीत् तपोनिधिपुङ्गवम् ॥ २९४ ॥ जगाद सोऽपि
भगवान्सर्वां यद्यपि नोचितम्। स्वपरस्तुतिनिन्दाद्यमाख्यातुं चरितं निजम् ॥ २९५ ॥ तथापि तव निर्बन्धा
च्चरित्रामसुन्दरम्। कथयामि महीनाथ! सावधानमनाः शृणु ॥ २९६ ॥ इहास्ति भूतल नाम नानाश्चर्यान्त
संकुलम्। भुवनत्रयविख्यातमनादिनिधनं पुरम् ॥ २९७ ॥ तत्रास्ति भूपतिर्विश्वविदितो मलसंचयः। तस्य
चास्ति महादेवी तत्पक्तिर्नाम विश्रुता ॥ २९८ ॥ तयोरेकः प्रशस्योऽभूत्सुतो नाम्ना शुभोदयः। अशुभोदय
नामा च द्वितीयस्तद्विलक्षणः ॥ २९९ ॥ शुभोदयस्यानुरूपा प्रियाऽभून्निजचारुता। स्वयोग्यताभिधानास्य
पुनरत्यन्तदारुणा ॥ ३०० ॥ शुभोदयस्याथ निजचारुताकुक्षिसंभवः। अभूद् विचक्षणः सूनुरनूनगुणभाजनम्
॥ ३०१ ॥ स्वयोग्यताकुक्षिजन्मा द्वितीयस्यापि नन्दनः। दोषवस्तुप्रदोषोऽभूद् जडो नाम दुराशयः ॥ ३०२ ॥
क्रमेण वर्धमानौ च विचक्षणजडाविमौ। उभावपि भ्रातरौ तौ यौवनं प्रापतुर्नवम् ॥ ३०३ ॥ इतो निर्मलचित्ताख्ये
नगरे विश्वविश्रुते। राजा मलक्षयो नाम बभूव जनतार्चितः ॥ ३०४ ॥ तस्य सुन्दरतादेवीकुक्षिजा समजायत।
बुद्धिर्नाम गुणैराढ्या कन्यका कुलकेतना ॥ ३०५ ॥ तयोभर्ता च संवीक्ष्य तत्पिता तां स्वयंवराम्। विचक्षणाय
संप्रैषीदनुरूपाय संमदात् ॥ ३०६ ॥ महेन महता तां च परिणिन्ये विचक्षणः। बभूव च तयोः

१ •मायाम्। २ सोऽथ म० स०। ३ •चानास्य ग०। ४ •नम् ता० स०।

प्रेम कालेन विरहासहम् ॥ ३०७ ॥ तस्याश्च बुद्धेरन्येद्युर्वार्तान्वेषणहेतवे । विमर्शाख्यं निजं पुत्रं प्रैपीद्
राजा मलक्षयः ॥ ३०८ ॥ समाजगाम सोऽप्याशु बुद्धेः स्वस्वसुरन्तिके । अवतस्थे च तत्रैव जामिस्नेह-
नियन्त्रितः ॥ ३०९ ॥ अपरेद्युश्च सुषुवे सा विचक्षणवल्लभा । पुत्रं प्रकर्षनामानं रत्नमाकरभूरिव ॥ ३१० ॥
जातः प्रवर्द्धमानोऽथ प्रकर्षो बुद्धिनन्दनः । विचक्षणगुणैस्तुल्यो विमर्शस्यातिवल्लभः ॥ ३११ ॥ अथाऽन्यदा
मनोहारि नाम्ना वदनकोटरम् । विचक्षणजडौ तौ स्वं वनं जग्मतुरीक्षितुम् ॥ ३१२ ॥ तत्र खादनपानेन ललन्तौ
तौ यथेच्छया । संतुष्टमानसौ यावत्किञ्चिदग्रे समीयतुः ॥ ३१३ ॥ तावत्कुन्दोपमानानां दशनाह्वमहीरुहाम् ।
वीथिकायुगलं दीर्घमभिराममपश्यताम् ॥ ३१४ ॥ तदन्तरपि यावत्तौ कौतुकात्समुपेयतुः । अलब्धान्तं निरीक्षाते
तावदेकं महाबिलम् ॥३१५॥ अथ सीमन्तिनी काचिद् रक्तकोमलविग्रहा । तस्मादपि विनिर्याता समं दासिकयैकया
॥ ३१६ ॥ जातानुरागस्तां दृष्ट्वा दध्याविति जडो हृदि । अहो ! रूपमहो ! कान्तिरस्याः सौभाग्यसेवधेः
॥ ३१७ ॥ तत्किमेषाप्सराः कापि पातालललनाथवा । उत विद्याधरी नैव मानुषी भवतीदृशी ॥ ३१८ ॥ किन्त्वेषा
पुरुषाभावान्मदर्थं वेधसा कृता । लक्ष्यते मयि रक्ता च तदेनां स्वीकरोम्यहम् ॥ ३१९ ॥ विचक्षणोऽपि तां वीक्ष्य
मृगाक्षीमित्यचिन्तयत् । नारीयं परकीया मे न द्रष्टुमपि युज्यते ॥ ३२० ॥ यतः सन्मार्गरक्तानां व्रतमेत-
न्महात्मनाम् । परस्त्रियं पुरो दृष्ट्वा यान्त्यधोमुखदृष्टयः ॥ ३२१ ॥ ध्यात्वेति पाणिनाऽऽकृष्यानिच्छन्त-

१ ऽथ ता ग० ।

मपि त मदम् । गन्तुं प्रवृत्तेऽन्यत्र यावदेष विचक्षणः ॥ २२२ ॥ नाथाज्ञायत्तं प्रायस्यमिति पुष्करवतीवराम् ।
तावत्तामनुधावन्ती तस्या दधावे पृष्ठतस्तयोः ॥ २२३ ॥ तत्संमुखं चलित्वाथ तां जगाद जवो जवात् । मा भैषीः
सुभ्रु ! मा भैषीः कथ्यतां ते कुतो भयम् ? ॥ २२४ ॥ साप्यूचे मे यदुत्सृज्य स्वामिनी चलितौ युवाम् । तेन
संघातमूर्च्छेयमत्राणा म्रियतेऽधुना ॥ २२५ ॥ ततो युवाभ्यामेतस्याः पार्श्वमागम्यतां क्षणम् । येन स्वस्थीभवत्येषा
युष्मत्सान्निध्यतो मनाक् ॥ २२६ ॥ ततोऽहं कथयिष्यामि स्वामिनो ! युवयोः पुरः । एतत्स्वरूपमव्यग्रा समग्रमपि
मूलतः ॥ २२७ ॥ जवस्ततोऽवदद् बन्धुं को दोषस्तत्र गम्यते । स्वस्थीभवतु सैषा च समाकर्णयातु विवक्षितम्
॥ २२८ ॥ ततो विचक्षणो दध्यौ न तत्र गमनं शुभम् । वञ्चयिष्यत्यसावस्मानेषा चटुला यतः ॥ २२९ ॥
तथापि तावद्गच्छामि किमेषा तत्र भाषते । न चाहमनया शक्यो विप्रतारयितुं ध्रुवम् ॥ २३० ॥ विमृश्येति
तदुक्तं च प्रतिपद्य विचक्षणः । सार्धं जवेन दास्या च तत्समीपमुपागमत् ॥ २३१ ॥ स्वस्थीभूय सापि स्त्री
दृष्ट्वा जवविचक्षणौ । समाप्य दासचेटी तु सौ प्रणम्य कृताञ्जलिः ॥ २३२ ॥ नाथौ ! महाप्रसादोऽद्य युवाभ्यां विदधे
मयि । जीवितव्यं प्रदत्तं यन्मत्स्वामिन्या ममापि च ॥ २३३ ॥ तत्र स्वामिन्यसौ भद्रे ! किमाख्येति जवोदिता ।
सा जगाद पुनर्देव ! देवीव रसनोच्यते ॥ २३४ ॥ भद्रे ! त्वामपि किंनाम्नीं जानामीति जवेरिता । सा दासी
पुनरप्यूचे नाटयन्ती गुरुत्रपाम् ॥ २३५ ॥ लोलतेति प्रसिद्धापि चिरं परिचितात्यहम् । मन्दभाग्या कथङ्कार नाथ !
विस्मारिता त्वया ॥ २३६ ॥ चिरं परिचिता मे त्वं कथमित्थं जवोदिते । सा भूयोऽप्यम्यधादेवं विज्ञप्यमिदमेव

कर्म्मपरिणाममहीपतेः । असंव्यवहारं तत्र स्थितौ पूर्वं युवां चिरम् ॥ ३३८ ॥
वाम् ॥ ३३७ ॥ अस्ति तावत्पुरं
ततः कर्म्मपरीणामाज्ञयैकाक्षनिवासके । पुरे ततोऽपि विकलाक्षनिवासे गतौ युवाम् ॥ ३३९ ॥ विद्यन्ते पाटकास्तत्र
त्रयस्तत्रापि पाटके । प्रथमे द्विहृषीकाख्या वसन्ति कुलपुत्रकाः ॥ ३४० ॥ तदन्तर्वर्त्तमानाभ्यां युवाभ्यां स महा-
नृपः । यथानिर्देशकारित्वादत्यन्तं तुष्टमानसः ॥ ३४१ ॥ भटभुक्त्या ददावेतद् वनं वदनकोटरम् । स्वाभाविक-
मिदं चात्र सदास्त्येव महाबिलम् ॥ ३४२ ॥ युग्मम् ॥ ततश्च स विधिर्दध्यौ गृहिणीरहिताविमौ । वराकौ न सुखेन
स्तस्ततस्तां विदधेऽनयोः ॥ ३४३ ॥ ध्यात्वेति कृपया धात्रा बाला युष्मत्कृते कृता । तेन मत्स्वामिनी भार्या
तदीया चानुचर्यहम् ॥३४४॥ जडेन चिन्तितमये ! मया सत्यं विकल्पितम् । यदसदर्थमेवेयं रसना वेधसा कृता
॥३४५॥ दध्यौ विचक्षणोऽप्येवं को नामायं विधिः पुनः । हुं ज्ञातं स ध्रुवं कर्म्मपरिणामो भविष्यति ॥३४६॥ जडः
प्राह ततो भद्रे ! लोलतोचे तदाद्यपि । मत्स्वामिनी मया युक्ता युवाभ्यां सह सर्वदा ॥३४७॥ खादन्ती च पिबन्ती च
खाद्यपेयानि भूरिशः । ललन्ती विकलाक्षस्य पाटकत्रितयेऽपि हि ॥ ३४८ ॥ पञ्चाक्षनिवासपुरे मनुजगतिपुर्यपि ।
स्थाने तादृशि चान्यत्र भूयांसं कालमत्यगात् ॥ ३४९ ॥ विशेषकम् ॥ अतश्च क्षणमप्येषा न युष्मद्विरहं क्षमा । सोढुं
तदेवं युवयोरहं परिचिता चिरम् ॥ ३५० ॥ तच्छ्रुत्वाह जडस्तुष्टो यद्येवं तर्हि सुन्दरि ! । पुरान्तरेत्य प्रासादं रम्यमेकं
पुनात्वसौ ॥३५१॥ तत्राग्रेतननीत्यैव सुखेन स्थीयते यथा । तच्छ्रुत्वा लोलताप्याह देवो माऽऽज्ञापयत्विदम्॥३५२॥

---

१ ०याऽत्रैव बिले यु० ता० क० ख० घ० । २ मे स्वा० ख० ।

पद्मा निगता नैव पनादस्मात्सुराप्यसौ । युवाभ्यां लालितश्चैवाधुनाप्यत्रैव लाल्यताम् ॥ ३५३ ॥ जडोऽप्यूचे स्वमेवात्र प्रमाण सर्वथापि हि । कस्य स्वस्वामिनीष्ट च स्वपाइ विदधे यथा ॥ ३५४ ॥ लोलतोचे प्रसादोऽय किमत्रापरमुच्यते ? । रसनालालनाभूयाभ्यवतोरक्षय सुखम् ॥ ३५५ ॥ ततः प्रभृति यत्नेन स्थितो मदनकोटरे । मक्ष्यभ्रनपकामधुग्वद्व्याभिपादिभिः ॥ ३५६ ॥ मत्स्यण्डीशर्कराद्राक्षाखर्जूरेक्षुफलादिभिः । गुडमाक्षिकताम्बूला नन्तकपपुरस्सरैः ॥ ३५७ ॥ मदिरापानकाद्यैश्च वस्तुभिस्तां दिवानिशम् । रसनां लालयामास लोलताकथनैर्जडः ॥ ३५८ ॥ विशेषकम् ॥ स तथा रसनासक्तो निन्द्यमानोऽप्यल जनैः । क्लेशराशिनिमग्नोऽपि मोहान्मेने मह सुखम् ॥ ३५९ ॥ इतो विचक्षणो दध्यौ श्रुत्वा तल्लोलतावचः । अस्ति तावदिय भार्या ममापि रसना ध्रुवम् ॥ ३६० ॥ आस्वादे रज्यते येन तने मदनकोटरे । वास्येव तभया कार्यमेटीप्रोक्ते स्वनादरः ॥ ३६१ ॥ स्यात्त्वेस्यनिन्दितप्रारे रसनां सोऽथ पालयन् । लोलताविमुखः कर्तुमारेभे कालयापनाम् ॥ ३६२ ॥ ततस्त्रिवर्ग संपन्नः स्तूयमानोऽखिलैर्जनैः । अक्लेशक्लेशमुक्तश्च निष्पाप सुखमाप सः ॥ ३६३ ॥ अथान्येद्युर्जडो दृष्टः प्रस्ताव प्राप्य मूढतः । पितृभ्यां कथयामास रसनालाभमात्मनः ॥ ३६४ ॥ ताभ्यामप्यधिकोऽद्भूतहर्षाभ्यां जगदे जडः । वत्सानुरूपा ते भार्या साम्प्रतं समपद्यत ॥ ३६५ ॥ सुन्दरं च त्वयारब्धमेतस्याः परिपालनम् । इय हि सुख हेतुस्ते भार्या पाल्यैव सर्वदा ॥ ३६६ ॥ पितृभ्यामेवमुक्तोऽथ विशेषात्स जडः कृपीः । प्रवृत्तो रसनापोषे तदेक ध्यानमानसः ॥ ३६७ ॥ विचक्षणोऽप्यथैकत्रासीनेभ्यो रसनाकथाम् । पितृमर्त्यविमर्शबुद्धिभ्योऽन्येद्युराख्यत

यतः सर्वमपि ज्ञेयं वेत्सि त्वं स्वयमेव हि ॥३६९॥
॥ ३६८ ॥ ततः शुभोदयोऽवादीद् वत्स ! किं तव कथ्यते ? । तवाहमुपदेशने ॥ ३७० ॥ वत्स ! तावत्सम-
तथापि ते प्रकृत्यैव यन्ममोपरि गौरवम् । तेन प्रणोदितो वत्स ! तवाहमुपदेशने ॥ ३७० ॥ वत्स ! तावत्सम-
स्तापि नारी वीचीव चञ्चला । निम्नगेव निम्नगतिर्विषवल्लीव मृत्युदा ॥ ३७१ ॥ कुटिला शशिलेखेव सन्ध्येव
क्षणरागिणी । ऐन्द्रजालिकविद्येव दृष्टिव्यामोहकारिणी ॥ ३७२ ॥ किं वा वत्स ! बहूक्तेनाहीनामिव करण्डिका ।
सर्वेषामपि दोषाणामाधारः प्रमदा स्मृता ॥ ३७३ ॥ युग्मम् ॥ तस्मात्तस्याः सदा वत्स ! विश्रम्भो नैव सर्वथा ।
पुंसा हितैषिणा कार्यस्तेनेदमभिधीयते ॥ ३७४ ॥ येयं ते रसना भार्या संपन्ना लोलतायुता । न सुन्दरैषा मे भाति
को वा योगस्तवानया ॥ ३७५ ॥ यतो न ज्ञायतेऽद्यापि कुतस्त्येयं ततस्त्वया । संग्रहं कुर्वताऽमुष्या मूलशुद्धिर्विधा-
प्यताम् ॥ ३७६ ॥ अज्ञातकुलशीलानामप्रमत्तोऽप्यलं पुमान् । स्त्रीणामर्पितसद्भावः प्रयाति निधनं
यतः ॥ ३७७ ॥ जननीविमर्शबुद्धिप्रकर्षा अपि तद्वचः । पुनरुक्तं विदधिरे प्रशंसन्तः पृथक् पृथक् ॥ ३७८ ॥
विचक्षणोऽप्यथो दध्यावमीभिः साधु भाषितम् । अज्ञातकुलशीला स्त्री न संग्राह्यैव कोविदैः ॥ ३७९ ॥ ततोऽस्त्येव
रसनायाः सामान्याद् विदितं मया । लोलतोक्त्या स्वबुद्ध्या च कुलं शीलं च यद्यपि ॥ ३८० ॥ विशेषतस्तथाप्यस्या-
स्तातादेशेन युज्यते । मूलशुद्धिः कारयितुं करिष्येऽथ यथोचितम् ॥ ३८१ ॥ चिन्तयित्वेति स प्राह तातेनाऽऽज्ञापि
सुन्दरम् । किन्तु को रसनामूलशुद्धौ प्रस्थापनोचितः ? ॥ ३८२ ॥ शुभोदयोऽवदद् वत्स ! कार्यभारेऽत्र धुर्यताम् ।
धत्ते विमर्श एवायं सर्वार्थपरमार्थवित् ॥ ३८३ ॥ वत्स ! त्वमेव धन्यश्च यस्यायं ते सखाऽभवत् । एष एव नियो-

पदेपा निग्गता नेप यनादस्मात्पुराप्यसौ । पुत्राभ्यां लालितास्त्रेवाधुनाप्यत्रैव लास्यताम् ॥ ३५३ ॥ जरोऽप्यूचे
स्वमेपात्र प्रमार्पं सर्वपापि हि । कम्प स्वस्वामिनीद च स्वयाह विदधे यथा ॥ ३५४ ॥ लोलघोषे प्रसादोऽय
किमत्रापरमुच्यते ? । रसनाळाळनाभूयात्त्वतोरक्षप सुसम् ॥ ३५५ ॥ ततः प्रभृति यत्नेन स्थितां पवनकोटरे ।
मत्कम्पजनपकाभयुग्पदम्यामिपादिभिः ॥ ३५६ ॥ मत्स्यम्हीमर्कराद्राक्षासर्जूरेक्षुफलादिभिः । गुडमाक्षिकताम्बूला
नन्तकमपपुरस्सरैः ॥ ३५७ ॥ मदिरापानकाद्येम वस्तुभिस्तां दिवानिशम् । रसनां लालयामास लोलताकथनैर्मदः
॥ ३५८ ॥ विशेषकम् ॥ स तपा रसनासक्तो निन्पमानोऽप्यसु जनैः । क्लेशराशिनिमग्नोऽपि मोहान्मेने मह
त्सुखम् ॥ ३५९ ॥ इतो विचक्षणो दृप्यौ श्रुत्वा तल्लोलतामथः । अस्ति तावदिय भार्या ममापि रसना ध्रुवम्
॥ ३६० ॥ मामाके दश्पते येन पने पवनकोटरे । पाल्येय तन्मया कार्यमेदीप्रोक्ते त्वनादरः ॥ ३६१ ॥
र्पपभः स्तूपमानोऽसिसेर्जनैः । मशेषक्लेशमूलकम निर्व्याजं सुखमाप सः ॥ ३६२ ॥ ततस्त्रिवर्ग
प्राप्य मूळतः । पितृम्यां कथपामास रसनालाभमात्मनः ॥ ३६३ ॥ अथान्येद्युर्मदो दृष्टः प्रस्ताव
मस्सानुरूपा से मार्या साप्यसौ समपपत ॥ ३६४ ॥ तास्यामप्यविक्षेमूतदर्पाभ्यां जगदे जडः ।
हेतुस्ते मार्या पाल्यैव सर्वदा ॥ ३६५ ॥ सुन्दरं च स्वयारब्धमेतस्याः परिपालनम् । इयं हि सुख
म्पानमानसः ॥ ३६६ ॥ पितृभ्यामेवमुक्तोऽप विशेषात्स जडः कुधीः । प्रवृत्तो रसनापोषे तदेक-
॥ ३६७ ॥ विचक्षणोऽप्यपेकत्रासीनेभ्यो रसनाकथाम् । पितृप्रकर्पविमर्शबुद्धिभ्योऽन्येद्युराकपत

यतः सर्वमपि ज्ञेयं वेत्सि त्वं स्वयमेव हि ॥३६९॥
॥ ३६८ ॥ ततः शुभोदयोऽवादीद् वत्स ! किं तव कथ्यते ? । तथापि ते प्रकृत्यैव यन्ममोपरि गौरवम् । तेन प्रणोदितो वत्स ! तवाहमुपदेशने ॥ ३७० ॥ वत्स ! तावत्समस्तापि नारी वीचीव चञ्चला । निम्नगेव निम्नगतिर्विषवल्लीव मृत्युदा ॥ ३७१ ॥ कुटिला शशिलेखेव सन्ध्येव क्षणरागिणी । ऐन्द्रजालिकविद्येव दृष्टिव्यामोहकारिणी ॥ ३७२ ॥ किं वा वत्स ! बहूक्तेनाहीनामिव करण्डिका । सर्वेषामपि दोषाणामाधारः प्रमदा स्मृता ॥ ३७३ ॥ युग्मम् ॥ तस्मात्तस्याः सदा वत्स ! विश्रम्भो नैव सर्वथा । पुंसा हितैषिणा कार्यस्तेनेदमभिधीयते ॥ ३७४ ॥ येयं ते रसना भार्या संपन्ना लोलतायुता । न सुन्दरैषा मे भाति को वा योगस्तवानया ॥ ३७५॥ यतो न ज्ञायतेऽद्यापि कुतस्त्येयं ततस्त्वया । संग्रहं कुर्वताऽमुष्या मूलशुद्धिर्विधाप्यताम् ॥ ३७६ ॥ अज्ञातकुलशीलानामप्रमत्तोऽप्यलं पुमान् । स्त्रीणामर्पितसद्भावः प्रयाति निधनं यतः ॥ ३७७ ॥ जननीविमर्शबुद्धिप्रकर्षा अपि तद्वचः । पुनरुक्तं विदधिरे प्रशंसन्तः पृथक् पृथक् ॥ ३७८ ॥ ततोऽस्त्येव विचक्षणोऽप्यथो दध्यावमीभिः साधु भाषितम् । अज्ञातकुलशीला स्त्री न संग्राह्यैव कोविदैः ॥ ३७९ ॥ विशेषतस्तथाप्यस्या रसनायाः सामान्याद् विदितं मया । लोलतोक्त्या स्वबुद्ध्या च कुलं शीलं च यद्यपि ॥ ३८० ॥ स्तातादेशेन युज्यते । मूलशुद्धिः कारयितुं करिष्येऽथ यथोचितम् ॥ ३८१ ॥ चिन्तयित्वेति स प्राह तातेनाऽज्ञापि सुन्दरम् । किन्तु को रसनामूलशुद्धौ प्रस्थापनोचितः ? ॥ ३८२ ॥ शुभोदयोऽवदद् वत्स ! कार्यभारेऽत्र धुर्यताम् । धत्ते विमर्श एवायं सर्वार्थपरमार्थवित् ॥ ३८३ ॥ वत्स ! त्वमेव धन्यश्च यस्यायं ते सखाऽभवत् । एष एव नियो-

कम्पस्तस्यपात्र प्रयोजने ॥ २८४ ॥ विचक्षणोऽथ चैमन्त्रे तदर्थे मुख्यमेधस । सोऽप्यूचेऽनुग्रहोऽयं मे ततः प्रोचे विचक्षणः ॥ २८५ ॥ पयेव क्रियतां तातादेशः शीघ्रमथाह सः । सञ्जोऽस्म्येष परं पृथ्वी पृथ्वी राज्यान्तराकुला ॥ २८६ ॥ ततो यदि भवेत् कालक्षेपो मेऽत्र कथञ्चन । युष्माभिरनिशं चिमें कर्तव्या नैव तच्चदा ॥२८७॥ विचक्षणेन तस्याथ दधे सपत्सरेऽथवो । महाप्रसाद इत्युक्त्वा नत्वा च प्रचचाल सः ॥ २८८ ॥ तदा शुभोदय नत्वाभिवन्द्य निजपादयाम् । प्रणम्य मातापितरौ प्रकर्षः प्राह भक्तिभाक् ॥२८९॥ स्नातुं यद्यप्यलं तात । न युष्मद्विरहेऽप्यहम् । तथापि सहचारित्वान्मामो मेऽत्यन्तवल्लभः ॥ २९० ॥ ततोऽनेन वियुक्तोऽत्र न स्थातुं क्षणमप्यलम् । अतो मामनु मानीव मामं येनानुयाम्यहम् ॥ २९१ ॥ विचक्षणोऽपि तच्छ्रुत्वा श्रुवाणः साधु साध्विति । क्रोडे निवेश्य त स्नेहादाजिघ्रेय चुचुम्ब च ॥ २९२ ॥ विनयस्तनयस्यास्य तात । दृष्टोऽयमद्भुतः । इत्य विचक्षणेनोक्तः प्राह हृष्टः शुभोदयः ॥ २९३ ॥ किमत्र कौतुकं जात । यत ईदृशमेव हि । त्वयो बुद्धेम जातस्य युज्यतेऽमुष्य चेष्टितम् ॥ २९४ ॥ किञ्च भ यस्त्वमेवासि वत्स । यस्यामवत्पथ । इयं प्रभयिनी बुद्धिः प्रकर्षमापमात्मजः ॥ २९५ ॥ अत एव वयं भीता रसनालाभवस्तव । मा भूदियं विपाताय बुद्देस्तपनयस्य च ॥ २९६ ॥ किं चात्रान्येन जल्पेन प्रकर्षो यातु वत्सौ । मामेन सार्द्धं वत् यातु स्रात चारुतरं सदः ॥ २९७ ॥ प्रमाण मम तातादेस्तुवा चाय विचक्षणः । सौ विमर्शप्रकर्षौ च तेभ्यो नत्वा प्रचेलतुः ॥ २९८ ॥ पञ्चाशीदासर्सकाशकाशा सि(शि)खान-

१ •निर्वृतिर्मे ता० । २ विमुक्तो ता० ।

हंसका । चन्द्राननावदाताङ्गी तदा च शारदा बभौ ॥ ३९९ ॥ पक्वशालिमुखा व्योम्नि ततो दध्रे शुकावलिः ।
यत्रातीतेऽपि मेघर्तौ क्षणं शक्रधनुःश्रियम् ॥४००॥ यत्रागस्त्योदये जाते प्रापुरापः प्रसन्नताम् । मुनीनामुदयः कस्य
न स्याद् वा शुद्धिकारणम् ॥ ४०१ ॥ अत्यन्तविमलं व्योम तारकैस्तारकान्तिभिः । यत्र रेजे सरः स्मेरैः कैरवैरिव
सर्वतः ॥ ४०२ ॥ यत्र सुत्रामदीपालीमुख्योत्सवपरम्परा । जनानां नयनप्रीत्यै प्रियेव समजायत ॥ ४०३ ॥
ततश्च शारदीदृश्यां पश्यन्तौ विविधानि तौ । सरःपुरवनादीनि बाह्यदेशान् विचेरतुः ॥ ४०४ ॥ स्वप्रयोजन-
सिद्ध्यर्थं तावुपायशतान्यपि । प्रयुञ्जानौ न तु क्वापि रसनाशुद्धिमापतुः ॥ ४०५ ॥ अथानयोस्तथा बाह्यदेशे-
ष्वेव विहारिणोः । समाजगाम हेमन्तो युगान्तो विप्रयोगिणाम् ॥ ४०६ ॥ भृशं निशीथिनी यत्र क्षुधा सार्द्धम-
वर्द्धत । पिपासया पुनः साकमपाचीयत वासरः ॥ ४०७ ॥ यत्र कुङ्कुमलिप्ताङ्गा गर्भागारकृतास्पदाः । न
युवानः प्रियाश्लेषं श्लथीचक्रुर्मनागपि ॥ ४०८ ॥ यत्र प्रसूनबाणेषु दग्धेष्वपि हिमाग्निना । चित्रमिक्षुधनुर्य-
ष्ट्यैकयापि विजयी स्मरः ॥ ४०९ ॥ यत्र कुन्दावली रेजे श्वेतपुष्पाऽशितिच्छदा । प्रशस्तिपट्टिकेवोच्चैः पञ्चे-
षोर्जयशंसिनी ॥ ४१० ॥ यवानां भुवनानिष्टापीष्टा यत्र हिमान्यभूत् । क्षुद्राणामथवा प्रीतिः स्याल्लोकप्रति-
पन्थिनि ॥ ४११ ॥ ततश्चेदृशि हेमन्ते रसनामूलशुद्धये । तौ बाह्यनीघ्रतस्त्यक्त्वान्तरदेशेष्वविक्षताम् ॥ ४१२ ॥

१ विस्तीर्णा । २ अगस्तिनामकतारकोदये । ३ वियोगिनाम् । ४ ०कैवो० ता० । ५ कामदेवस्य । ६ बाह्यदेशान् ।

भ्रमन्तौ च तत्रापि स्थानेषु विविधेषु तौ । पुरं राजसचित्ताख्यमपरेद्युरपश्यताम् ॥ ४१३ ॥ अल्पाल्पजन संचारमपि सभीकमुपकैः । विलोक्य नगरं तच्च प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥ ४१४ ॥ स्तोकलोकान्वितमपि भितमत्युतया भिया । कथमेतत्पुरं माम ! दृश्यते पुरतः स्थितम् ॥ ४१५ ॥ विमर्शोऽप्याह येनेदं समुद्रसुस्थितालयम् । वीक्ष्यते नगरं तावत् तेनैतभिरुपद्रवम् ॥४१६॥ कार्यैर्निर्यातराजत्वादल्पलोकमिदं पुनः । सभीकं तु प्रमानाद्यपुरुषाधिष्ठितैर्धुवम् ॥ ४१७ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येव तत्प्रविश्यैतदीक्ष्यते । विमर्शोऽपि हि तन्मध्ये तेन सार्धं ततोऽविशत् ॥ ४१८ ॥ प्राप्तावथ नृपावासेऽद्राक्षीरायत्पपुरुषम् । मिथ्याभिमाननामानममात्यं तावपश्यताम् ॥ ४१९ ॥ विमर्शोऽथावदद्भद्र ! स एष पुरुषः खलु । सभीकत्व पुरस्यास्य यत्प्रभावसमुद्भवम् ॥ ४२० ॥ वदनमुपसृत्याऽथो सत्यथावस्ततम सौ । तथा कृत्वा तमप्राक्षीं किमित्यल्पजनं पुरम् ! ॥ ४२१ ॥ ऊचे मिथ्याभिमानोऽथ सर्वत्र विदिताप्यसौ । वार्ता युवाभ्यां न ज्ञाता विमर्शोऽथ जगाद तम् ॥ ४२२ ॥ भद्र ! कोपो न कार्योऽत्र स्वपाऽऽवां पथिकौ यतः । नैव जानीमहे मिथ्याभिमानोऽभिदधे ततः ॥ ४२३ ॥ यद्येवं भूपतौ वर्हि पुरस्यैतस्य नायकः । विद्यते विश्वविख्यातः क्षितीशो रागकेसरी ॥ ४२४ ॥ सुगृहीतनामधेयो महामोहस्य तस्तिता । विषयाभिलाषायाश्च तयोर्मन्त्रिमहत्तमाः ॥ ४२५ ॥ तेषां च दण्डयात्रायै गतानां सर्वसेनया । कालो ऽनन्तोऽभवत् तेन स्तोकलोकमिदं पुरम् ॥ ४२६ ॥ विमर्शोऽथोचदेतेषां सह केनेह विग्रहः ? । मिथ्याभिमानः

---

१ स्थाने स्थाने पुरेषु तौ ता० ।

विमर्शः प्राह किं तेन सह विग्रहकारणम् ? । मिथ्याभिमानः प्रोचेऽत्र
प्रोवाच संतोषेण दुरात्मना ॥ ४२७ ॥ विमर्शः प्राह किं तेन सह विग्रहकारणम् ? । मिथ्याभिमानः प्रोचेऽत्र
पुरा देवनिदेशतः ॥ ४२८ ॥ विषयाभिलाषो निजगृहमानुषपञ्चकम् । जगज्जयाय संप्रैषीत् स्पर्शनरसनादिकम् ॥
॥ ४२९ ॥ जगत्त्रितयमेतेन प्रायशश्च वशीकृतम् । तत्[1] त्व[2]तिक्रम्य संतोषो निन्ये कानपि निर्वृतौ ॥ ४३० ॥
॥ विशेषकम् ॥ तच्छ्रुत्वाथ क्रुधा सर्वबलेनास्योपरि स्वयम् । रागकेशर्य्यगच्छत्तदिदं विग्रहकारणम् ॥ ४३१ ॥
अथैवं चिन्तयामास विमर्शो निजचेतसि । मूलोत्थानं रसनायास्तावदज्ञायि नामतः ॥ ४३२ ॥ विषयाभिलाषं
दृष्ट्वा ज्ञास्यामि गुणतः पुनः । यतो भवन्त्यपत्यानि प्रायः पित्रनुसारतः ॥ ४३३ ॥ विमृश्येति पुनर्मिथ्या-
भिमानं प्रत्युवाच सः । यद्येवं भवतामत्र किन्निमित्तमवस्थितिः ? ॥ ४३४ ॥ सोऽवोचदहमप्यासं सह संचलि-
तस्तदा । किन्त्वग्रानीकतो भद्र ! देवेनाहं निवर्त्तितः ॥ ४३५ ॥ उक्तश्चैवं यदार्येदं न मोच्यं नगरं त्वया । यतः
पश्चात् त्वमेवास्य निश्चितं रक्षणक्षमः ॥ ४३६ ॥ स्यादेतच्च विनाप्यस्मान्सश्रीकं निरुपद्रवम् । स्थिते त्वयि वयं
चापि भवामस्तत्त्वतः स्थिताः ॥ ४३७ ॥ देवस्य प्रतिपद्याथ समादेशमिह स्थितः । अहं तदिदमस्माकमत्रावस्थान-
कारणम् ॥ ४३८ ॥ अयि ! प्रत्यागता क्षेमवार्त्ता देवसकाशतः । कापीत्युक्तो विमर्शेन जगाद पुनरप्यसौ
॥ ४३९ ॥ समायाता जितप्रायं देवसैन्येन वर्त्तते । किन्त्वसावपि संतोषः शक्यो जेतुं न सर्वथा ॥ ४४० ॥ प्राप्य
छलमवस्कन्दान् दत्त्वा दत्त्वान्तरान्तरा । निर्वाहयति सोऽद्यापि वैष्टः[3] कश्चिज्जनं यतः ॥४४१॥ अत एव हि देवेऽपि

---

१ मानुषपञ्चकम् । २ चाति० ग० । ३ द्विष्टः ग० ।

रागकेसरिणि स्वयम् । उग्ने काठविडम्बोऽप्यमेगाघान् मद्र ! वर्धते ॥ ४४२ ॥ सांप्रत क भवद्देवो विमर्शेनेति वक्ष्यते । स जातपरशङ्कः सन् न यथापृष्ठमाख्यत ॥ ४४३ ॥ किन्त्वेतदाह नो विद्मः स्फुटमेतत् पैरं पुरम् । तामसचित्तमुद्दिश्य देवस्तावदितोऽभ्रमत् ॥४४४॥ विमर्शः प्राह भद्रेण तावत्कौतुकमावयो । पूरित पृष्टपान्ता स्थानात् यावोऽधुना पुनः ॥ ४४५ ॥ सिद्धिरस्त्विति तेनोक्ते ततस्तौ सिहितानती । चलितावथ स्वामेय मातुला सममापत ॥ ४४६ ॥ अन्तर्विपयाभिलापगृहमाङ्गुपपञ्चकम् । अनेन तावदास्याता रसना वत्स ! नामतः ॥ ४४७ ॥ तत्रास वीस्य सा मुक्ता निर्वृतु गुणतोऽधुना । तद् यावो वत्स ! तत्रैव पुरे तामसचित्तके ॥ ४४८ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ तत्र तौ । गतौ दृश्यतुस्तत्र धूमाभं साधुनिन्दितम् ॥ ४४९ ॥ तदप्य स्वयनं भीमदीक्ष्य प्रंदिशतोऽवदत् । माम ! किं विपते कश्चिमगरेऽत्रापि नायकः ? ॥ ४५० ॥ विमर्शः प्राह मन्येऽत्र नास्ति भो ! मूलनायकः । केवल नायकाकारः कश्चिदत्रास्ति पूरुषः ॥ ४५१ ॥ एष च यावदास्याति भागिनेयाय मातुलः । तत्रैव नगरे तावद्विविधुर्बहिरागतः ॥४५२॥ विलापाक्रन्ददैन्याद्यैः कैतिभिः पुरुषैर्वृतः । पुर स्तादस्से ताभ्यां चोक्ते नामाऽस्यनायकः ॥ ४५३ ॥ युग्मम् ॥ विधायोचितमालाप सोऽथ ताभ्यामपृच्छ्यत । मद्र ! कोऽत्र पुरे राजा ? सोऽपि साक्षेपमब्रवीत् ॥ ४५४ ॥ महामोहसमुद्भूतो रागकेसरिसोदरः । मराविश्रैल दम्भोलिर्नगरस्यास्य नायकः ॥ ४५५ ॥ देवो द्वेषगजेन्द्राख्यः ख्यातोऽपि भुवनत्रये । कथ हि भवतोर्भद्रौ !

१ पुरान्तरम् ग० । २ प्रकर्षः । ३ यो मू ता० ग० । ४ कतिचित्पु० क० स० ग० च० ।

सोऽयं पृष्टव्यतां ययौ ॥ ४५६ ॥ युग्मम् ॥ आस्तां च यदि वा देवो देवस्यात्यन्तवल्लभा । ख्याता गुरुजने भक्ता स्वप्रभावहताहिता ॥ ४५७ ॥ किं न देव्यपि विज्ञाता युवाभ्यामविवेकिता । अनभिज्ञाविव युवां यदेवं किल पृच्छथः ॥ ४५८ ॥ विमर्शोऽत्रोचदत्रार्थे क्रुत् कार्या भद्र ! न त्वया । प्रसिद्धं हि जगत्येतत् सर्वः सर्वं न वेत्ति यत् ॥ ४५९ ॥ किन्त्वावां पथिकौ दूरदेशान्तरसमागतौ । विद्वः स्वरूपं नात्रत्यं तेनेदमपि पृच्छ्यते ॥ ४६० ॥ नगरे स किमत्रास्ति भूपतिर्भद्र ! संप्रति । किं वा विनिर्गतः क्वाप्यावां दिदृक्षू हि तं नृपम् ॥ ४६१ ॥ शोकेनोक्तं जगत्यत्र वृत्तान्तोऽयमपि स्फुटम् । प्रसिद्ध एव सर्वेषां विदुषां दत्तचेतसाम् ॥ ४६२ ॥ यथा देवो महामोहस्तत्पुत्रो रागकेशरी । तथा द्वेषगजेन्द्रश्च समस्तबलसंयुताः ॥ ४६३ ॥ संतोषहतकस्योच्चैर्वधाय कृतनिश्चयाः । विनिर्गता निजस्थानाद्भूयान् कालश्च लङ्घितः ॥ ४६४ ॥ युग्मम् ॥ किं साऽविवेकिता देवी समस्त्यत्राधुना न वा ? । इति पृष्टो विमर्शेन शोकः पुनरभाषत ॥ ४६५ ॥ नास्त्यत्र नगरे तावदधुना साऽविवेकिता । समीपे नापि देवस्य तत्राकर्णय कारणम् ॥ ४६६ ॥ यदात्र नगरे देवो रागकेशरिसंयुतः । समाययौ महामोहः संतोषोच्छेदनिश्चयी ॥ ४६७ ॥ तदा द्वेषगजेन्द्रेऽपि देवे ताभ्यां सहैव हि । प्रस्थिते प्रस्थिता प्रेम्णा सार्द्धं देवेन देव्यपि ॥ ४६८ ॥ अवादीदथ तां देवो देवि ! नेद वपुस्तव । गर्भभारालसं स्कन्धावारसंचरणक्षमम् ॥ ४६९ ॥ तस्मादत्रैव तिष्ठ त्वमित्युक्ता साप्यभाषत । सर्वथा त्वां विना नाथ !

१ कोपः । २ यतः ता० ।

नाथ मे नगरे रतिः ॥ ४७० ॥ देवोऽप्यधुनाप भूयस्तामस्त्येव देवि ! यद्यपि । तथापि नैव युक्त ते स्कन्धावारे प्रवर्त्तनम् ॥ ४७१ ॥ रौद्रचित्ते पुरे किन्तु गत्वा त्वत्संनिधिना । रक्षिता तिष्ठ निश्चिन्ता पदातिः स हि मेऽनघ ॥ ४७२ ॥ अथाविवेकिता प्रोचे किमिदानीं मयोच्यताम् ? । यदादिशति देवस्तत्प्रमाणं सर्वथाऽपि मे ॥ ४७३ ॥ देवोऽथ प्रययौ यत्र । महामोहादिभिः सह । दशवक्त्रेन देवी तु रौद्रचित्तपुरं ययौ ॥ ४७४ ॥ ततोऽपि महिरङ्गेषु पुरेषु किल वर्तते । किञ्चित्कारणमाश्रित्य साऽधुना युक्तकारिणी ॥ ४७५ ॥ जातस्तस्यास्तदा पुत्रस्तथान्योऽप्यधुना किल । निजभर्तुः समायोगादेतदाकर्णितं मया ॥ ४७६ ॥ तदेषमस्ति सा नाथ न वा देवस्य सन्निधौ । तदाऽगृहीतसङ्केता प्रोचे प्रज्ञाविशालया ॥४७७॥ सखि ! वैश्वानरोत्पत्तिमाख्यातोक्तमनेन यत् । नन्दिवर्द्धनवक्तव्ये हिंसाग्निप्रवर्तने ॥ ४७८ ॥ यदयं तामसचित्तात् रौद्रचित्तेऽविवेकिता । आययौ यादृग् भर्त्तास्याः सा च तत्र पुरस्थम् ॥४७९॥ निःशेषोऽपि स वृत्तान्त उपरत्र भविष्यते । प्रोक्त तदधुनानेन सा प्राह सारित स्फुटम् ॥४८०॥ महाभिशाला संसारिजीव प्रोचेऽथ सुन्दर ! । तदा किञ्चित् त्वयाऽज्ञायि विचक्षणगुरूदितम् ॥४८१॥ स माहाऽज्ञानतोऽभून्मे सर्वोऽप्यनर्थसन्ततिः । तदा साने कथा काश्चिदासापाख्याति भिक्षुकः ॥ ४८२ ॥ जानेऽगृहीत-सङ्केते ! तावत् मात्र तु क च न । प्राहाऽगृहीतसङ्केता मायोऽन्यः कश्चिदत्र किम् ? ॥४८३॥ स प्राह नास्ति मदूचे मायार्थविकलं वचः । न कथानकमात्रेण कार्यस्तोपस्ततस्त्वया ॥४८४॥ पृष्टेः प्रज्ञाविशालां च मावार्थं यत्र वेत्सि

१ ०नष्ट० क० ख० ग० ।

संसारिजीवेनाख्या-
न । सा प्राहैवं करिष्यामि प्रस्तुतं कथयाधुना ॥४८५॥ ततोऽनुसंदधानेन विचक्षणगुरोर्वचः । संसारिजीवेनाख्या-
तुमारेभे प्रस्तुता कथा ॥ ४८६ ॥ किमत्रागमने भद्र ! कारणं भवतोऽधुना । इति पृष्टो विमर्शेन शोकोऽथ
पुनरभ्यधात् ॥४८७॥ देवेन पुररक्षायै पश्चान्मुक्तोऽत्र विद्यते । मतिमोहाभिधो मन्त्री वयस्यः परमो मम ॥४८८॥
तद्दर्शनार्थमायातस्ततोऽहं भद्र ! सांप्रतम् । आवासितां महाटव्यां मुक्त्वा देवपताकिनीम् ॥ ४८९ ॥ विमर्शेन
विसृष्टोऽथ शोकस्तत्र पुरेऽविशत् । विमर्शस्तु ततो बुद्धिप्रभवं[1] प्रत्यभाषत ॥४९०॥ वत्स ! या कटकाधारा प्रोक्ता-
नेन महाटवी । गत्वा तस्यां प्रपश्यावो रागकेशरिमन्त्रिणम् ॥४९१॥ तथेति प्रतिपेदाने बुद्धिजे[2] बुद्धिबान्धवः[3] । सार्द्धं
तेन जगामाशु तत्राटव्यां समीरवत् ॥ ४९२ ॥ दत्तास्थानं[4] तदन्तश्च तौ महासिन्धुसैकते । महामण्डपमध्यस्थवेदि-
कायां प्रतिष्ठिते ॥ ४९३ ॥ सिंहासने समासीनं चतुरङ्गबलान्वितम् । सुताभ्यां संयुतं ताभ्यां महामोहमपश्यताम्
॥ ४९४ ॥ युग्मम् ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र ! महामोहस्य दृश्यते । आस्थानं सर्वमावाभ्यां संस्थिताभ्यामिहैव हि
॥ ४९५ ॥ तन्नावयोः प्रवेशोऽत्र युक्तो मा भूदपूर्वयोः । आवयोर्दर्शनादेषा शङ्का कापि सभासदाम् ॥ ४९६ ॥
बुद्धिसूनुरथावोचदेवं भवतु केवलम् । अटवी तटिनी चेयं पुलिनं मण्डपस्तथा ॥ ४९७ ॥ वेदिका सिंहपीठं
च राजाऽयं तज्जना अपि । अदृष्टपूर्वं मे माम ! वर्त्तते सर्वमप्यदः ॥ ४९८ ॥ युग्मम् ॥ ततः समस्तमप्येत-
तदभिधानैर्गुणैरपि । प्रकाश्यमानं मामेन श्रोतुमिच्छामि विस्तरात् ॥ ४९९ ॥ विमर्शोऽभिदधे वत्स ! युक्त-

१ प्रकर्षम् । २ प्रकर्षे । ३ विमर्शः । ४ दत्त्वाऽऽस्थान ग० ।

नात्र मे नगरे रतिः ॥ ४७० ॥ देवोऽप्युवाच भूयस्त्वामस्त्येव देवि ! यद्यपि । तथापि नैव युक्तं ते स्कन्धावारे प्रवर्तनम् ॥ ४७१ ॥ रौद्रचित्ते पुरे किन्तु मत्पा दुष्टाभिसन्धिना । रक्षिता तिष्ठ निश्चिन्ता पदातिः स हि मेऽन्वयः ॥ ४७२ ॥ अथाविवेकिता प्रोचे किमिदानीं ममोच्यताम् ? । यदादिशति देवस्तत्प्रमाणं सर्वथाऽपि मे ॥ ४७३ ॥ देवोऽथ प्रययौ मत्र ! महामोहादिभिः सह । देवादेशेन देवी तु रौद्रचित्तपुरं ययौ ॥ ४७४ ॥ ततोऽपि बहिरङ्गेषु पुरेषु किल वर्तते । किञ्चित्कारणमाश्रित्य साऽधुना युक्तकारिणी ॥ ४७५ ॥ मातस्तस्यास्तदा पुत्रस्तथान्योऽप्यधुना किल । निःशब्दः समायोमादेवताकर्णितं मया ॥ ४७६ ॥ तदेषमस्ति सा नात्र न वा देवस्य सन्निधौ । तदाऽस्पष्टीतसङ्केता प्रोचे महाविशालया ॥४७७॥ सखि ! वैश्वानरोत्पत्तिमास्याहोकमनेन यत् । नन्दिवर्धनकाव्ये हिंसापापविप्रलब्धे ॥ ४७८ ॥ यदर्थं तामसचित्ताद् रौद्रचित्तेऽविवेकिता । आययौ यादृग् मयाऽस्या सा च तत्र प्रत्ययम् ॥४७९॥ निःशेषोऽपि स वृत्तान्त उपस्त्र प्रवेक्ष्यते । प्रोक्त तदधुनानेन सा प्राह सारित शुभम् ॥४८०॥ विशेषकम् ॥ महाविशाला संसारिजीव प्रोचेऽथ सुन्दर ! । तदा किञ्चित् स्मयाऽभ्यायि विचक्षणगुरूदितम् ॥४८१॥ मायाऽज्ञानतोऽभून्मे सर्वाप्यनर्थसंततिः । तदा माने कथां काञ्चिपाववायाक्यावि सिद्धुकः ॥ ४८२ ॥ मानेऽप्युदीत छद्मे ! तावद् मार्वे तु क च न । मायाऽऽयुरीतसङ्केता मायोऽन्यः कश्चिदत्र किम् ? ॥४८३॥ स प्राह नास्ति मद्रूपे माचार्यचिह्नं यथा । न कथानकमात्रेण कार्यस्योपस्तवस्तथा ॥४८४॥ पृष्टेः महाविशालो च मायार्य यत्र वेत्सि

१ ०चस्य० क० स० प० ।

कुम्बस्य भूभुजः। बहिरङ्गस्य लोकस्य पुनः क्लेशाय केवलम् ॥ ५१५ ॥ विपर्यासाख्यमेतच्च
रतम्। यत्रासीनोऽयमुर्वीशो दुर्दर्शो भवति द्विषाम् ॥ ५१६ ॥ सत्यत्र देहिनां हि स्युः कुतः
न्दरबुद्धयः ?। पूर्वोदितं च नद्यादिवीर्यमत्राखिलं स्थितम् ॥ ५१७ ॥ गात्रयष्टिमविद्याख्यां दधानो वसुधा-
वः। अयं पुनर्महामोहः प्रसिद्धस्त्रिजगत्यपि ॥ ५१८ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मरूपे वपुरादिके। पौद्गलिके
परीत्यं लोकानां दर्शयत्ययम् ॥ ५१९ ॥ विक्रमाक्रान्तविश्वस्यैतस्याज्ञां जगतीपतेः। किङ्करा इव कुर्वन्ति सुरा-
रनरेश्वराः ॥५२०॥ तदयं तव कल्याण! कथितः पृथिवीपतिः। अधुना परिवारोऽस्य वर्ण्यमानो निशम्यताम्
५२१ ॥ किन्त्वाख्यात्यपि मय्येवं न त्वं पृच्छसि किञ्चन। हुङ्कारमपि नो दत्से कुतोऽप्याकूतदोषतः
२२ ॥ वीक्षसे मन्मुखं वत्स! केवलं निश्चलेक्षणः। तदहं नैव जानामि बुध्यमानोऽस्यदो न वा ॥ ५२३ ॥
ानोऽस्म्यदः सर्वं माम! त्वदनुभावतः। इति प्रोक्तः प्रकर्षेण प्रोवाच पुनरप्ययम् ॥ ५२४ ॥ कोपः
कार्योऽत्र नो वत्स! हास्यमेतत्कृतं मया। न हास्यमपि दोषाय स्नेहेन विहितं खलु ॥ ५२५ ॥
किञ्चात्र श्रुतमात्रेऽपि तात! प्रस्तुतवस्तुनि। न तोष्यं परमार्थोऽपि विचार्योऽस्य त्वयादरात् ॥ ५२६ ॥
परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्त्तनात्। जन्तुः स्यात् क्लेशभागेव भौताचार्यविनेयवत् ॥ ५२७ ॥ तथा-
ह्यभूत्पुरे क्वापि भौताचार्यः सदाशिवः। आजन्मबधिरोऽत्यन्तं जराजर्जरविग्रहः ॥ ५२८ ॥ सोऽन्यदा-

मेतत् परं त्वया । दृष्ट प्राज्यमिदं सम्यग् विचिन्त्य कथयाम्यतः ॥ ५०० ॥ एवमस्त्विति नामेवेनोक्ते ध्यान विधानतः । तत्क्षेपमटव्यादि मामः प्रेक्षत सर्वतः ॥ ५०१ ॥ तदीस्य भावितमनाः सोऽथ धुन्वन् शिरोऽवदत् । प्रकर्षोऽभिदधे माम ! किमिद ? सोऽप्यचीकथत् ॥५०२॥ सर्वं ज्ञातमिदं तेन हर्षोऽभूदधुना मम । प्रकर्षः प्राह मे माम ! तच्छीघ्र निवेद्यताम् ॥५०३॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र ! यद्येवं श्रूयतां ततः । चित्तवृत्त्यभिधा तावदटवीयं निगद्यते ॥५०४॥ अत्रान्तरे जनाः सर्वेऽसुन्दरा सुन्दरा अपि । कृत्वा ग्रामपुरादीनि निवसन्ति सदा किल ॥५०५॥ तदेनामटवीं वत्स ! परिज्ञातशरीरिणाम् । कारणं परमं प्रोक्ता दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ५०६ ॥ निम्नगातटा कषायाम्बुर्विपर्योर्मिः सुरारसा । विकथास्रोतसां धाम सिन्धुस्त्वेषा प्रमत्तता ॥ ५०७ ॥ राक्षसतामसचित्तपुरद्वय मध्यद्रुता । भटव्यन्तर्वहन्त्येषा प्रयाति भवचारिणी ॥ ५०८ ॥ ततोऽत्र पतितो जन्तुः प्रयात्येव भवार्णवे । तस्माद् बिभ्यति ये केऽपि तस्यास्ते यान्ति दूरतः ॥ ५०९ ॥ इदं तु तद्विलसितं पुलिनं हास्यसैकतम् । स्नेहकाश विलासाक्षिसारसं मधलोकपुष्कं ॥५१०॥ अथ तु चित्तविक्षेपो नाम्ना मण्डप उच्यते । एषामान्तरलोकानां परप्रीति निबन्धनम् ॥ ५११ ॥ पापाग्निस्तु ये मूढा विमन्त्यप्राप्नुवन्ति ते । दुर्भ विभ्रमसंतापचितो भावमवश्नुवान् ॥ ५१२ ॥ एषा च वेदिका वत्स ! तृष्णारूपाऽऽस्थापते बुधैः । महामोहमहीभर्तुरेतस्यास्पन्दवक्षमा ॥ ५१३ ॥ अत्र एतेष भूपालः सकुटुम्बजनान्वितः । अत्रासीनोऽस्ति क्षेपास्तु वरिमुंस्कलमण्डपे ॥ ५१४ ॥ एषापि

१ ०मोत० क० ख० ।

प्रीतयेऽस्यैव सकुटुम्बस्य भूभुजः । बहिरङ्गस्य लोकस्य पुनः क्लेशाय केवलम् ॥ ५१५ ॥ विपर्यासाख्यमेतच्च
सिंहासनमुदीरितम् । यत्रासीनोऽयमुर्वीशो दुर्दर्शो भवति द्विषाम् ॥ ५१६ ॥ सत्यत्र देहिनां हि स्युः कुतः
सुन्दरबुद्धयः ? । पूर्वोदितं च नद्यादिवीर्यमत्राखिलं स्थितम् ॥ ५१७ ॥ गात्रयष्टिमविद्याख्यां दधानो वसुधा-
धवः । अयं पुनर्महामोहः प्रसिद्धस्त्रिजगत्यपि ॥ ५१८ ॥ अनित्याशुचिदुःखानात्मरूपे वपुरादिके । पौद्गलिके
वैपरीत्यं लोकानां दर्शयत्ययम् ॥ ५१९ ॥ विक्रमाक्रान्तविश्वस्यैतस्याज्ञां जगतीपतेः । किङ्करा इव कुर्वन्ति सुरा-
सुरनरेश्वराः ॥५२०॥ तदयं तव कल्याण ! कथितः पृथिवीपतिः । अधुना परिवारोऽस्य वर्ण्यमानो निशम्यताम्
॥ ५२१ ॥ किन्त्वाख्यात्यपि मय्येवं न त्वं पृच्छसि किञ्चन । हुङ्कारमपि नो दत्से कुतोऽप्याकूतदोषतः
॥ ५२२ ॥ वीक्षसे मन्मुखं वत्स ! केवलं निश्चलेक्षणः । तदहं नैव जानामि बुध्यमानोऽस्यदो न वा ॥ ५२३ ॥
बुध्यमानोऽस्म्यदः सर्वं माम ! त्वदनुभावतः । इति प्रोक्तः प्रकर्षेण प्रोवाच पुनरप्ययम् ॥ ५२४ ॥ कोपः
कार्योऽत्र नो वत्स ! हास्यमेतत्कृतं मया । न हास्यमपि दोषाय स्नेहेन विहितं खलु ॥ ५२५ ॥
किञ्चात्र श्रुतमात्रेऽपि तात ! प्रस्तुतवस्तुनि । न तोष्यं परमार्थोऽपि विचार्योऽस्य त्वयादरात् ॥ ५२६ ॥
परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्त्तनात् । जन्तुः स्यात् क्लेशभागेत्र भौताचार्यविनेयवत् ॥ ५२७ ॥ तथा-
ऽभूत्पुरे क्वापि भौताचार्यः सदाशिवः । आजन्मबधिरोऽत्यन्तं जराजर्जरविग्रहः ॥ ५२८ ॥ सोऽन्यदा-

मिश्य हास्याद् वैद्येनैकेन संश्रया। भट्टारक! किलैवं हि नीतिशास्त्रेषु पठ्यते ॥ ५२९ ॥ विप गोष्ठी दरिद्रस्य जन्तोः पापरतिर्विषम्। विपं परे रता भार्या विप व्याधिरुपेक्षितः ॥ ५३० ॥ पाधिर्नस्य करोत्यस्य सपूर्वं किञ्चिदौषधम्। भट्टारको न तत्स्वेप मुक्तो व्याधिरुपेक्षितुम् ॥ ५३१ ॥ कदाग्रहेण तेनैव संजातेनाथ मूढधीः। स शान्तिशिवनामानं विनेय निजमभ्यधात् ॥ ५३२ ॥ वत्स! वैद्यगृहे गच्छ गत्वा चार्पिर्यमेषजम्। तात्वा चेहि त्वा मा भूत् व्याधिवृद्धिर्विलम्बतः ॥ ५३३ ॥ प्रतिपद्य तदादेश यथौ शान्तिशिवो त्वरात्। अगदङ्कारसदने तत्रालोकिनवान् तम् ॥ ५३४ ॥ तदा च दुष्टी वैद्यो रन्त्याऽऽपात पहि-निजम्। दृष्टं वीक्ष्य क्रधा रज्जुं वैद्यो काल्मयी ललौ ॥ ५३५ ॥ तयाऽसिगाढया गाढमारटन्त निबध्य च। स्तम्भे स ताडयामास निर्दय लगुडेन सः ॥ ५३६ ॥ किमेवं ताडयस्येनमिति शान्तिशिवेन सः। पृष्टः प्रोवाच नो पापः शृणोति कथमप्यसौ ॥ ५३७ ॥ अत्रान्तरे च कर्णाणा महाहाराव नवात्। आगत्य भार्या वैद्यस्य मारणायाऽलगत् करे ॥५३८॥ वैद्योऽप्युवाच तां क्रोधात् मार्यः पापो मया ह्यसौ। मम चः कुर्वतोऽप्येष न शृणोति कथञ्चन ॥ ५३९ ॥ अपसरापसर त्वमन्यथा तेऽप्यसौ गतिः। इति प्रोक्तेऽप्यस्यवन्ती वैद्यस्तामप्यताडयत् ॥५४०॥ तदा शान्तिशिवो दध्यौ तावदेत मयौषधम्। भट्टारकस्य तु ज्ञात किं दृष्टेनाधुना ततः ॥५४१॥ सोऽथ मार्ह्यरापासे गत्वा रज्जुमपातत। साऽर्पिता तेः सममयी ततः शान्तिशिवोऽवदत् ॥ ५४२ ॥ पर्याप्तमनया

१ पाकेन। २ पटरता ग०। ३ ०पार्सं पा० ग०।

किन्तु वालमध्यातिगाढया। रज्ज्वा कार्यं ततो माहेश्वरैः सापि समर्पिता ॥ ५४३ ॥ किं कार्यमनया रज्ज्वेत्यनु-
युक्तोऽथ तैरयम्। अब्रवीदौषधं कार्यं सदाशिवगुरोर्ननु ॥ ५४४ ॥ अथ तां रज्जुमादाय सत्वरं स मठे ययौ।
सदाशिवं च वीक्ष्याभूद् [1]भृकुटीभीषणाननः ॥ ५४५ ॥ सोऽथ मध्यमठं स्तम्भे तं नियम्य निजं गुरुम्। बृहता
लगुडेनोच्चैरारटन्तमताडयत् ॥ ५४६ ॥ इतो माहेश्वरा दध्युः सदाशिवगुरोर्वयम्। क्रियायां क्रियमाणायां भवामः
सविधे स्वयम् ॥ ५४७ ॥ ध्यात्वेति यावदीयुस्ते तावत्तत्रामुना क्रुधा। अद्राक्षुर्मूट[2](त)कमिव कुट्यमानं सदाशिवम्
॥५४८॥ किमेवं ताडयस्येनमिति शान्तिशिवोऽथ तैः। पृष्टः प्रोवाच नो पापः शृणोति कथमप्ययम् ॥५४९॥ तदा
रार्टीं गुरुः प्रोच्चैर्म्रियमाणो[3]ऽमुञ्चत् ततः। हाहारवमुखा वारणार्थं शिष्यस्य तेऽलगन् ॥ ५५० ॥ अथ शान्तिशिवः
प्राह मार्यः पापो मया ह्यसौ। मम यः कुर्वतोऽप्येवं न शृणोति कथञ्चन ॥ ५५१ ॥ यात यात द्रुतं यूयमन्यथा
वोऽप्यसौ गतिः। इति प्रोक्तेऽप्यत्यजतः शिष्यस्तानप्यताडयत् ॥ ५५२ ॥ ततो रे ! लात लातेति ब्रुवाणैर्लगुडः
करात्। जगृहे तस्य संभूय बलात्तैः शिवदैवतैः ॥ ५५३ ॥ नूनं ग्रहगृहीतोऽयमिति ध्यात्वा स तैस्ततः। प्रपात्य
लगुडाघातैश्चौरबन्धमबध्यत ॥ ५५४ ॥ सदाशिवस्तु तैः कृत्तबन्धनः कृतसत्क्रियः। कथञ्चित् चेतनां प्राप जिजीव
च विधेर्वशात् ॥ ५५५ ॥ किमिदं कर्तुमारब्धमासीत् भगवतस्त्वया। इति पृष्टोऽथ तैर्माहेश्वरैः शान्तिशिवोऽ-
वदत् ॥ ५५६ ॥ ननु वैद्योपदेशेन बधिरत्वस्य भेषजम्। तन्मां मुञ्चत मा व्याधिमुपेक्षध्वमिमं गुरोः ॥ ५५७ ॥

१ भ्रकु० क० ख० ग०। २ ०ढक० ख० (०मूतकमिव=बद्धबन्दिवत्)। ३ ऽवदत् ग०।

अहो ! दुराग्रहोऽस्येति विमृशन्तोऽथ ते पुनः । तमूचुस्त्वां विशङ्कामो यथेष विदधासि न ॥ ५५८ ॥ साटोप सोऽपि तानाह किमहं भवतामरे ! । वचसा न करिष्यामि स्वगुरोरपि भेषजम् ? ॥ ५५९ ॥ अह तस्यैव वैद्यस्य शाला तिष्ठामि वेस्मरम् । ततस्ते वैद्यमाहूय त वृत्तान्तं न्यवेदयन् ॥ ५६० ॥ प्रोचे शान्तिशिवं सोऽपि हसमन्त मुख भिषग् । भट्टारक ! मदीयोऽसौ बधिरस्तनयो नहि ॥ ५६१ ॥ किन्तु वैद्यकशास्त्राणि क्लेशेन महता मया । अध्यापितोऽय स स्वेप नित्य मयि रटत्यपि ॥ ५६२ ॥ क्रीडाशीलतयास्यन्त तेषामर्थं शृणोति न । ततोऽय सादितो रोषान्मया तभेदमौषधम् ॥ ५६३ ॥ युग्मम् ॥ किन्त्वायमधुना कस्यस्त्वस्वभावभूव गुरुः । औषधेनाधुनैवास्यः कार्यं नास्येदमौषधम् ॥ ५६४ ॥ सोऽप्युवाच भवत्सेवी करस्यैरेव प्रयोजनम् । गुरुभिर्मे ततः क्षेपा मुक्त्वा शान्ति शिवं ययुः ॥ ५६५ ॥ परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्तनात् । तदेव क्लेशभागी स्याद् विज्ञेयो यस्य ! सोऽप्यतः ॥ ५६६ ॥ प्रकर्षः प्राह यथेव निशाबेय ततो मया । महाटवी समाचार्या नद्यादीनि न वेधि तु ॥ ५६७ ॥ शाखान्तरवनानर्थतोपहेतुतया यतः । समान्येतानि तथाज्ञा भिषन्तेऽर्थेन नो पुनः ॥ ५६८ ॥ अर्थभेदोऽस्ति येन्नामस्वमाख्यास्व सोऽभवीत् । स मया प्रोक्त एवैषां प्रत्येकं गुणवर्णने ॥ ५६९ ॥ पृच्छन् भूपोऽपि भावार्थ विमर्शनाय जामिभूः । विपक्षमचारिणा तु बोधितो नरवाहनः ॥ ५७० ॥ संसारिजीवस्त्वाख्याति स्पष्टबोधनि च घनम् । अगृहीतसङ्केतायै वेज्ञलकथामिति ॥ ५७१ ॥ अनादिर्नाम भूपालः पुरेऽस्ति भुवनोदरे । देव्यस्य

१ नीरोगः ।

संस्थितिः पुत्रस्तयोर्वेल्लहलाभिधः ॥ ५७२ ॥ स चाहारप्रियोऽत्यन्तभोज्याजीर्णात्ततोऽस्य च । अभूदन्तर्ज्वरो
भोक्तुमिच्छा बाढं तथापि हि ॥ ५७३ ॥ अन्यदोद्यानिकेच्छास्य जाता सोऽथ न्यधापयत् । भूरिभक्ष्याणि
लौल्येन स्तोकं भुक्त्वा गतो वनम् ॥ ५७४ ॥ पुरः परिजनेनास्याहारा विस्तारितास्ततः । तल्लेशभक्षणाच्चास्य
वृद्धिं प्राप ज्वरोऽधिकम् ॥ ५७५ ॥ समयज्ञाख्यवैद्येन तज्ज्ञात्वा लङ्घनादिका । तस्य प्रतिक्रियाऽऽख्याता स
गृद्धस्तां न्यधान्न तु ॥ ५७६ ॥ गलके प्रत्युतागच्छन्नप्याहारः कियानपि । भूयोऽपि बुभुजे तेनाजीर्णाद् वान्तिर-
भूत्ततः ॥ ५७७ ॥ वारयत्यपि वैद्येऽथ क्षुधितोऽस्म्यनिलाच्च मे । वान्तिरित्याऽऽद तन्मिश्रं सन्निपातस्ततोऽभवत्
॥ ५७८ ॥ तस्मिन्नेव ततो वान्तिकर्दमे स लुठन् स्थितः । भूयांसं कालमित्युक्तो दृष्टान्तोऽयं तवानघे !
॥ ५७९ ॥ प्राहागृहीतसङ्केता भावार्थकथन विना । संसारिजीव ! न चायं दृष्टान्तो बुध्यते मया ॥ ५८० ॥
ततः संसारिजीवेन प्रेरिता प्रस्तुते विधौ । प्रज्ञाविशाला प्रोवाच श्रूयतां सखि ! सादरम् ॥ ५८१ ॥
योऽयं वेल्लहलः सैष ज्ञेयो जीवः सकर्मकः । अनादिसंस्थितिसुतः स यतो भुवनोदरे ॥ ५८२ ॥
तस्यैव चित्तवृत्तिर्या सा विज्ञेया महाटवी । आहारप्रियता चास्य ज्ञेया विषयलोलता ॥ ५८३ ॥ पापाज्ञा-
नात्मकं कर्माजीर्णमन्तर्ज्वरः पुनः । रागादितापो मद्यादिपञ्चके या पुनर्मतिः ॥ ५८४ ॥ सा भोक्तुमिच्छा
विज्ञेया नदी सेयं प्रमत्तता । ज्ञेया तूद्यानिकाकाङ्क्षा चित्तं द्रव्यार्जनादिषु ॥ ५८५ ॥ द्रव्यात् नार्यादिभोग-
स्तु सर्वाभांशाशनं मतम् । उद्यानगमनं मद्यद्यूतादिषु च वर्त्तनम् ॥ ५८६ ॥ कर्म्माणि परिवारश्च भोज्य-

अहो ! दुराग्रहोऽस्येति विमृशन्तोऽप्य ते पुनः । तमूचुस्त्वां विमुञ्चामो यद्येवं विदधासि न ॥ ५५८ ॥ साटोपं
सोऽपि तानाह किमहं भवतामरे ! । वचसा न करिष्यामि स्वगुरोरपि भेषजम् ? ॥ ५५९ ॥ अहं तस्यैव वैद्यस्य
वाचा तिष्ठामि चेत्परम् । ततस्ते वैद्यमाहूय तं वृत्तान्तं न्यवेदयन् ॥ ५६० ॥ प्रोचे शान्तिशिव सोऽपि हसन्नन्त
र्वस्त भिषग् । भट्टारक ! मदीयोऽसौ वधिरस्तनयो नहि ॥ ५६१ ॥ किन्तु वैद्यकशास्त्राणि क्लेशेन महता मया ।
अध्यापितोऽप्य स रक्षेप नित्य मयि रटत्यपि ॥ ५६२ ॥ क्रीडाशीलतयात्यन्तं तेषामर्थं शृणोति न । ततोऽद्य ताडितो
रोषान्मया तद्भेदमौषधम् ॥ ५६३ ॥ युग्मम् ॥ किमायममुना केरयस्त्वसमाचाराद्भूद् गुरुः । औषधेनामुनैवातः
कार्यं नास्त्येदमौषधम् ॥ ५६४ ॥ सोऽप्युवाच भयत्वेवं कस्त्वेरस प्रयोजनम् । गुरुभिर्मे ततः शेषा मुक्त्वा शान्ति
शिवं ययुः ॥ ५६५ ॥ परमार्थमजानानः श्रुतमात्रप्रवर्तनात् । तदेवं क्लेशभागी स्याद् विशेषो वत्स ! सोऽप्यतः
॥ ५६६ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं विज्ञातेय ततो मया । महाटवी समायाया नयादीनि न वेद्मि तु ॥ ५६७ ॥
वार्तान्तरजनानर्थतोपहेतुतया यतः । समान्येतानि तमाख्या भिपन्तेऽर्थेन नो पुनः ॥ ५६८ ॥ भर्यमेवोऽस्ति
चेन्मामस्तमाख्यात्यथ सोऽब्रवीत् । स मया प्रोक्त एवेषां प्रत्येकं गुणवर्णने ॥ ५६९ ॥ पृच्छन् भूयोऽपि मायार्थे
विमर्शेनाथ चाभिभूः । विचक्षणवरिमा तु बोधितो नरवाहनः ॥ ५७० ॥ संसारिजीवस्त्वाख्याति स्पष्टबोधनि
बन्धनम् । अगृहीतसङ्केतायै वेद्धवरूपामिति ॥ ५७१ ॥ अनादिर्नाम भूपालः पुरेऽस्ति सुमनोवरे । देव्यस्य

१ नीरोगः ।

मतिस्तेषु या साऽविद्या प्रकीर्त्तिता ॥ ६०२ ॥ एतेषामेव वस्तूनां सर्वेषां यः प्रवर्त्तकः । एतैरेव च यो जन्यो महामोहः स गीयते ॥ ६०३ ॥ ततो भिन्नानि नद्यादिवस्तून्येतानि सुन्दरि ! । प्राहागृहीतसङ्केता भावार्थोऽवगतो मया ॥ ६०४ ॥ संसारिजीव एवातः परमाख्यात्वसौ सखि ! । ततः प्रस्तुतमाख्यातुमारेभे सोऽप्यपश्रमः ॥६०५॥ अथ प्रोक्तं विमर्शेन भद्र ! ज्ञातो यदि त्वया । महानद्यादिभावार्थस्ततोऽन्यत् किं निवेद्यताम् १ ॥६०६॥ प्रकर्षः प्राह मे माम ! नामतो गुणतोऽधुना । महामोहनरेन्द्रस्य परिवारं निवेदय ॥ ६०७ ॥ विमर्शोऽथ जगादैवं यद्येवं वत्स ! तच्छृणु । येयं नृपासनार्द्धस्था स्थूलाङ्गी दृश्यतेऽङ्गना ॥ ६०८ ॥ सा महामूढता नाम्ना भूपतेरस्य वल्लभा । गुणैस्तु स्वपतेरेव समाना सूरिभिः स्मृता ॥ ६०९ ॥ यस्त्वयं नृपपार्श्वस्थः श्यामवर्णोऽतिभीषणः । राजकं सर्वमप्येतद्वीक्ष्यते वक्रचक्षुषा ॥ ६१० ॥ स मिथ्यादर्शनो नाम महामात्योऽस्य भूभुजः । बलसंपादकोऽमीषां राज्ञां राज्यस्य चिन्तकः ॥ ६११ ॥ देवबुद्धिमदेवेऽपि गुर्वाशामगुरावपि । अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिं च करोत्येष शरीरिणाम् ॥६१२॥ एवं च तेऽमुनात्यन्तं विपर्यासितबुद्धयः । यल्लभन्ते भवे दुःखं तन्नाख्यातुमपीश्यते ॥ ६१३ ॥ या त्वेषार्द्धासनेऽस्यैव निविष्टास्ति नितम्बिनी । सास्यैव मन्त्रिणो भार्या कुदृष्टिर्नाम विश्रुता ॥६१४॥ परमार्थमजानाना नानाभिप्रायसंस्थिताः । विवदन्ते बलादस्याः सर्वे पाखण्डिनो मिथः ॥ ६१५ ॥ भूपतेर्दक्षिणे पार्श्वे निविष्टस्तुङ्गविष्टरे । यस्त्वेष वीक्ष्यते वत्स ! स राजा रागकेशरी ॥ ६१६ ॥ अस्मिन्नात्मसुते

---

१ ०धते ग० ।

विस्तारणं पुनः । प्रमादाचरणं ज्ञेय तपद्विलसित तटम् ॥ ५८७ ॥ क्षेपाभावत् ज्वरशद्धिस्तु कर्म्मशुद्धिः प्रमा
दतः । समयज्ञामिषो वैद्यो ज्ञेयो धर्मगुरुः पुनः ॥ ५८८ ॥ लङ्घनादिक्रिया प्रायश्चित्तादिकथनं मतम् ।
अनादरोऽरुचिः सेय चित्तविक्षेपमण्डपः ॥ ५८९ ॥ भोजन गलकेऽगच्छदपि युक्त तु विद्धि तत् । अराऽ-
किञ्चित्करस्वेऽपि विरस्यत्रीकृतिर्न यत् ॥ ५९० ॥ चौरराजादिभिर्द्रव्यापहारो वान्तिरिष्यते । सैषा सखि !
विक्षेपस्तृष्णाख्या वेदिकोच्यते ॥ ५९१ ॥ यत्र वातवद्भ्रान्तिस्तद्यस्मात् गते धने । पुनरप्यर्जनाकाङ्क्षा
तद्विपर्यासविष्टरम् ॥ ५९२ ॥ धारयस्यपि पदैवे वान्तिसम्भ्रमभोजनम् । भुक्तोच्छिष्टेषु भोगेषु तन्तुरो
धारयस्यपि ॥ ५९३ ॥ प्रवृत्तिः सा गात्रयष्टिरविद्याख्या निगद्यते । सन्निपातोऽतिघोरस्तु महामोहोऽत्र
कथ्यते ॥ ५९४ ॥ महामोहवशो येष जीवः पूयादिपूरिते । निर्मोक निपतत्येष नरके वान्तिपिच्छले
॥ ५९५ ॥ तदेवं रामपुत्रीयो दृष्टान्तोऽनेन सुन्दरि ! । महानर्थादिवस्तूनां दर्शितो भेदसिद्धये ॥ ५९६ ॥
यथाथापि न संजाता प्रतीतिस्ते परिस्फुटा । भूयोऽपीद समासेन प्रस्पष्ट कथयाम्यहम् ॥ ५९७ ॥
विषयोत्सुकता जन्तोर्या सा ज्ञेया प्रमत्तता । तपद्विलसित विद्धि पञ्चोगेषु प्रवर्तनम् ॥ ५९८ ॥ प्रभूतो लौल्य
दोषेण शून्यस्व यत्तु चेतसः । ज्ञेयः स चित्तविक्षेपो मीनसास्य वरानने ! ॥५९९॥ तत्त्वेरभावो भुक्तेषु यो भोगेषु
वस्त्वपि । योत्तरोत्तरवाञ्छा च सा तृष्णा गदिता बुधैः ॥ ६०० ॥ पापात् भोगेष्वजातेषु जातनष्टेषु वा पुनः ।
बाधोपायेषु यो यत्नो विपर्यास स उच्यते ॥ ६०१ ॥ अनित्याशुचिदुःखेषु गाढं भिन्नेषु जीवतः । विपरीता

॥६३१॥ या त्वस्य भार्या तद्वार्त्ता शोकेनैव निवेदिता । अत एव न पार्श्वस्था दृश्यते साऽविवेकिता ॥६३२॥
प्रकर्षः प्राह यो माम ! पृष्ठतोऽस्यैव भूपतेः । निविष्टो विष्टरे तुङ्गे वयस्यत्रयसंयुतः ॥ ६३३ ॥ पृष्ठापीडिततूणीरः
सचापः पञ्चसायकः । रक्तवर्णोऽतिलोलाक्षो विलासोल्लासलालसः ॥६३४॥ अङ्कारोपितसद्रूपप्रेयसीको झषध्वजः ।
दृश्य भृशमोजस्वी कतमः स महीपतिः ? ॥ ६३५ ॥ विशेषकम् ॥ विमर्शोऽभिदधे वत्स ! न ज्ञातोऽयमपि त्वया ।
विख्यातपौरुषो मकरध्वजः ॥६३६॥ जगत्त्रयैकवीरस्य शिरसा यस्य शासनम् । बिभ्रते माल्यवन्नित्यं
वाः ॥ ६३७ ॥ एतस्य शासनं तात ! को वा लङ्घयितुं प्रभुः ? । आत्मभूतं महावीर्यं यस्येदं
पत्रयम् ॥ ६३८ ॥ पुंवेदो नाम तत्राद्यः प्रभावात् यस्य पूरुषाः । पारदार्ये प्रवर्तन्ते विलङ्घ्य स्वकुलक्रमम्
॥ ६३९ ॥ स्त्रीवेदाख्यो द्वितीयस्तु तेजसा यस्य योषितः । निस्त्रपास्त्यक्तमर्यादा रज्यन्ते परपूरुषे ॥ ६४० ॥
तृतीयः षण्ढवेदाख्यः शक्त्या यस्य नपुंसकाः । स्त्रीपुंसेषु विगुंप्यन्ते[1] कुर्वन्तः कर्म गर्हितम् ॥ ६४१ ॥ पुरुष-
त्रितयस्यास्य साहाय्यादेष भूपतिः । दासेरमिव निःशेष मन्यते भुवनत्रयम् ॥ ६४२ ॥ या त्वस्याङ्कासनासीना
चारुरूपा नितम्बिनी । एषास्यैव रतिर्नाम प्रिया प्रेमैकमन्दिरम् ॥ ६४३ ॥ अनया निर्जिता वत्स ! निस्त्रपाः
सुरतार्थिनः । पुरुषा अपि नारीणां यान्ति किङ्करतां मुदा ॥ ६४४ ॥ तदयं यस्त्वया पृष्टो लेशोद्देशादसौ मया ।
परिवारयुतो भद्र ! वर्णितो मकरध्वजः ॥ ६४५ ॥ यस्त्वस्यैव समीपस्थः श्वेतकान्तिर्विलोक्यते । स हासो नाम

१ ०गुप्यन्ति कु० ता० ।

राज्यभरं न्यस्य मरक्षमे । महामोहो भरमेव निश्चिन्तो वर्ततेऽधुना ॥६१७॥ रागकेसर्यपि प्राप्ताधिपत्योऽपि न
कुप्रचित् । सपितुः सम्प्रयस्यामां विनीतैकधुरं परः ॥ ६१८ ॥ यावच्च प्रतपत्येष नरेन्द्रो रागकेसरी । क क
क्लेशं जना नासाखापदासाद्यन्ति न ॥ ६१९ ॥ किङ्कारस्यैव महीभर्तुर्ये एते तटवर्तिनः । सुस्निग्धात्मबन्धाणो
दीव्यन्ते पुण्यात्रयः ॥ ६२० ॥ भद्र ! तेऽस्यैव भूभर्तुः सुहृदोऽत्यन्तवल्लभाः । दृष्टिरागस्नेहरागकामरागा
इति स्मृताः ॥ ६२१ ॥ प्रथमस्तत्र तीर्थ्यानामात्मीयात्मीयदर्शने । करोति चेतसोऽत्यन्तमाबन्धमनिवर्तकम्
॥ ६२२ ॥ द्वितीयस्तु करोति स्वस्वजनापत्यसंहतौ । मूर्च्छातिरेकतो भावमात्र च सर्वसन्मिनाम् ॥ ६२३ ॥ तृतीयः
पुनरत्यन्तं सर्वदा सर्वदेहिनाम् । शब्दादिविषयग्रामे लौल्यमुत्पादयत्यलेम् ॥ ६२४ ॥ चयस्यत्रितयस्यास्य
सामर्थ्यादेव भूपतिः । वशीकरोति निःशेषं भुवनं रागकेसरी ॥ ६२५ ॥ सन्मार्गमत्तमातङ्गकुम्भनिर्भेदनक्षमः ।
स्ववीर्याक्रान्तभुवनः सत्योऽयं रागकेसरी ॥ ६२६ ॥ या त्वेषाऽर्धासनेऽमुष्याऽऽसीना सास्यैव वल्लभा । मूढता
नाम विख्याता गुणैः स्वपतिसन्निभा ॥ ६२७ ॥ वामेयोऽयं पुनः पार्श्वे निविष्टो मूलभूपतेः । भद्र ! द्वेषगजेन्द्रोऽयं
नरेन्द्रो विश्वविश्रुतः ॥ ६२८ ॥ सानुग्रहो महामोहः सुतेऽमुष्मिन् विशेषतः । दृष्टीव दृष्टमात्रेऽत्र कम्पन्ते
पापदेहिनः ॥ ६२९ ॥ महाटव्यां वसत्यस्मिन् दुःखं नानाविधं च ते । आप्नुवन्तीहलोकेऽपि परलोके तु
का कथा ? ॥ ६३० ॥ भद्र ! द्वेषगजेन्द्रोऽयं यथार्थो नाम संश्रयः । यद्गन्धेनापि मन्यन्ते विवेकाः कलभा

१ चम० । २ ०पम् सा० ।

इव ॥६३१॥ या त्वस्य भार्या तद्वार्त्ता शोकेनैव निवेदिता । अत एव न पार्श्वस्था दृश्यते साऽविवेकिता ॥६३२॥
प्रकर्षः प्राह यो माम ! पृष्ठतोऽस्यैव भूपतेः । निविष्टो विष्टरे तुङ्गे वयस्यत्रयसंयुतः ॥ ६३३ ॥ पृष्ठापीडिततूणीरः
सचापः पञ्चसायकः । रक्तवर्णोऽतिलोलाक्षो विलासोल्लासलालसः ॥६३४॥ अङ्कारोपितसद्रूपप्रेयसीको झषध्वजः ।
दृश्यते भृशमोजस्वी कतमः स महीपतिः ? ॥ ६३५ ॥ विशेषकम् ॥ विमर्शोऽभिदधे वत्स ! न ज्ञातोऽयमपि त्वया ।
नन्वेष विश्वविख्यातपौरुषो मकरध्वजः ॥६३६॥ जगत्त्रयैकवीरस्य शिरसा यस्य शासनम् । बिभ्रते माल्यवन्नित्यं
देवदानवमानवाः ॥ ६३७ ॥ एतस्य शासनं तात ! को वा लङ्घयितुं प्रभुः ? । आत्मभूतं महावीर्यं यस्येदं
पुरुषत्रयम् ॥ ६३८ ॥ पुंवेदो नाम तत्राद्यः प्रभावात् यस्य पूरुषाः । पारदार्ये प्रवर्तन्ते विलङ्घ्य स्वकुलक्रमम्
॥ ६३९ ॥ स्त्रीवेदाख्यो द्वितीयस्तु तेजसा यस्य योषितः । निस्त्रपास्त्यक्तमर्यादा रज्यन्ते परपूरुषे ॥ ६४० ॥
तृतीयः षण्ढवेदाख्यः शक्त्या यस्य नपुंसकाः । स्त्रीपुंसेषु विगुंप्यन्ते कुर्वन्तः कर्म गर्हितम् ॥ ६४१ ॥ पुरुष-
त्रितयस्यास्य साहाय्यादेष भूपतिः । दासेरमिव निःशेषं मन्यते भुवनत्रयम् ॥ ६४२ ॥ या त्वस्याङ्कासनासीना
चारुरूपा नितम्बिनी । एषास्यैव रतिर्नाम प्रिया प्रेमैकमन्दिरम् ॥ ६४३ ॥ अनया निर्जिता वत्स ! निस्त्रपाः
सुरतार्थिनः । पुरुषा अपि नारीणां यान्ति किङ्करतां मुदा ॥ ६४४ ॥ तदयं यस्त्वया पृष्टो लेशोद्देशादसौ मया ।
परिवारयुतो भद्र ! वर्णितो मकरध्वजः ॥ ६४५ ॥ यस्त्वस्यैव समीपस्थः श्वेतकान्तिर्विलोक्यते । स हासो नाम

१ ०गुप्यन्ति कु० ता० ।

सुभटः शत्रूणामपराधकृत् ॥६४६॥ हतो वा हेत्वभावे वा स्ववीर्ये मनुते जने । अथ वैरलघुत्वादिदोषराशिनिबन्ध-
नम् ॥६४७॥ या त्वस्याद्यासनस्थैव शुष्कहास्यास्य वल्लभा । निर्निमित्त लघुमने हासोल्लासविधायिनी ॥६४८॥
या त्वेषा कृष्णबीभत्सा नारीयमरतिर्मता । यद्दर्शने मनोदुःखं जुगुप्साप्ता करोति या ॥ ६४९ ॥ यस्त्वेष दृश्यते
भद्र ! सप्तमानुपसंवृतः । कम्पमानसमस्ताङ्गः स भयो नाम पूरुषः ॥ ६५० ॥ यत्सावेशेन दीनास्या जना
स्तरललोचनाः । पलायनादिनस्यादिकर्म किं किं न कुर्वते ? ॥ ६५१ ॥ निविष्टा विष्टरेऽमुष्य या त्वेषा योषि
दीक्ष्यते । सा हीनसत्त्वतास्यैव भार्या स्वपतिवत्सला ॥ ६५२ ॥ भयस्यासूदेशस्थो यस्त्वयं श्यामलच्छविः ।
वत्स ! शोकाभिधयोधस्तवापि ज्ञात एव सः ॥ ६५३ ॥ तदाऽऽकृपायाऽऽश्रयोर्यातौ मिलित्वा सुहृदोऽपि च ।
भय क्रन्दयतो पूर्वं पुरात् तामसचित्ततः ॥ ६५४ ॥ जीवाः प्रियवियोगादौ दुःखे जातेऽस्य शासनात् । रुद
न्त्याक्रन्दनादीनि कुर्वते मूढबुद्धयः ॥ ६५५ ॥ अस्यार्धविष्टरासीना या त्वसौ दृश्यतेऽङ्गना । सा भार्यास्य भवा
ख्यास्या मूढानां भ्रमकारिणी ॥ ६५६ ॥ जनका क्षितिर्या तु सा जुगुप्सेति कीर्त्यते । कुर्वन्त्याशाय दुर्गन्ध
पुरुषाधमतो जनाः ॥ ६५७ ॥ मान्यैतानि पुनर्वत्स ! कोडादिषु महीभुजाम् । क्रीडन्ति भिन्नरूपाणि रक्ष
कृष्णानि षोडश ॥ ६५८ ॥ तानि सामान्यतस्तावत्समस्तान्यपि सुन्दर ! । कषायाख्यानि विख्यातैः
कीर्तितानीह विष्टपे ॥६५९॥ विशेषतस्तु षोडानि यानि स्थूलतमानि च । तान्यनन्तानुबन्धीनि चत्वारि

१ मतोऽन्ये स० । २ ह्यात्रैतत्त्व स० । ३ कृष्णा ।

ब्रुवते बुधाः ॥ ६६० ॥ यावदेतानि वल्गन्ति मिथ्यादर्शनगौरवात् । संसारिणां कुतस्तावत् तत्त्वमार्गस्य दर्शनम् ?
॥ ६६१ ॥ एतेभ्यो लघुरूपाणि यानि चत्वारि सुन्दर ! । अप्रत्याख्याननामानि तानि गीतानि पण्डितैः
॥ ६६२ ॥ स्फुरन्ति यावदेतानि विरतिं देशतोऽपि हि । प्रपद्यन्ते न वीक्ष्यापि तावत् तत्त्वपथं जनाः ॥ ६६३ ॥
यान्येतानि तु चत्वारि लघीयांसि ततोऽपि हि । प्रत्याख्यानावारकाणि बुधास्तानि प्रचक्षते ॥ ६६४ ॥ यावदे-
तानि वर्त्तन्ते तावज्जीवैः प्रपद्यते । प्राप्यापि देशविरतिं सर्वतो विरतिः कुतः ? ॥ ६६५ ॥ लघीयांसि तु चत्वारि
यान्येतानि ततोऽपि च । तानि संज्वलनाख्यानि समाख्यातानि कोविदैः ॥ ६६६ ॥ एतान्यपि विजृम्भन्ते
यावत्तावत् कुतोऽङ्गिभिः । प्राप्यते वीतरागत्वं सर्वतो विरतैरपि ॥ ६६७ ॥ एषां च मध्ये यान्यष्टौ रागके-
सरिणोऽग्रतः । अस्यैव तान्यपत्यानि मूढताकुक्षिजान्यहो ! ॥ ६६८ ॥ अष्टौ द्वेषगजेन्द्रस्य पुरः क्रीडन्ति
यानि तु । एष एव पिता तेषां जननी चाविवेकिता ॥ ६६९ ॥ ततश्चैवं महामोहपौत्राणां महिमाद्भुतम् । को
भाषितुमलम्भूष्णुः पराक्रमगरीयसाम् ? ॥६७०॥ तदिदं ते समासेन मया तात ! निवेदितम् । महामोहनरेन्द्रस्य
स्वाङ्गभूतं कुटुम्बकम् ॥ ६७१ ॥ ये त्वमी वेदिकाभ्यर्णे वर्त्तन्ते पृथिवीभुजः । ते महामोहराजस्य स्वाङ्गभूताः
पदातयः ॥ ६७२ ॥ तत्र च प्रेक्ष्यते योऽयं रागकेशरिणोऽग्रतः । पञ्चापि विषयानाप्य मन्वानो मुष्टिगं जगत्
॥ ६७३ ॥ राज्ञोऽस्यैव स एवैष महामात्यो महाबलः । विषयाभिलाषोऽत्राचामायातौ यद्दिदृक्षया ॥ ६७४ ॥

१ ०षा म० क० ख० ग० घ० ।

(युग्मम्) ॥ तावद् विवेकदीभूतमिदम्योमनि जन्मिनाम् । गर्जति प्रसरत्येष यावन्मोहेन्द्रमारुतः ॥ ६७५ ॥ यस्यैव
राज्यपत्यानि स्पर्शनादीनि पञ्च च । यानि मिथ्याभिमानेन कथितानि पुराऽऽवयोः ॥६७६॥ स्पर्शनप्रमुखैस्तैस्तैर्
जिता विषयलम्पटाः । किमकृत्यं न कुर्वन्ति जना भद्र यथा यथा ॥ ६७७ ॥ तेषां चासमशक्तीनां बलादेष
महत्तमः । किङ्करं मन्यते स्वस्य निःशेषमपि विष्टपम् ॥६७८॥ रसनालम्पटो यस्य ! तदसावेव निर्जितम् । रसना
मूलशुद्ध्याप्त्या तथः सिद्ध समीहितम् ॥६७९॥ प्रकर्षः प्राह दृष्टोऽत्र मामैतदपि कथ्यताम् । केयमर्धासनासीना
मन्त्रिणोऽस्य मृगेक्षणा ॥६८०॥ बुद्धिश्च पुरमादिष्ट मोपलब्धाभिधानव ! । प्रेयसी मन्त्रिणोऽस्यैव स्वभर्तुः सदृशी
गुणैः ॥ ६८१ ॥ ये स्थिते पुरतः केचित् पार्श्वतः पृष्ठतोऽपरे । दृश्यन्ते भूभुजो भद्र ! मन्त्रिणोऽस्य नतानना:
॥६८२॥ दुष्टाभिसन्धिप्रमुखास्तेऽमीषामेव पत्तयः । महामोहादिभूपानां स्वाङ्गभूता युधेमेताः ॥६८३॥ (युग्मम्) ॥
अनेन मन्त्रिणाऽऽदिष्टा राज्यकार्येषु सर्वदा । एते भद्र ! प्रवर्तन्ते प्रकृष्टपौरुषोत्कटाः ॥ ६८४ ॥ नरा नार्यश्च ये केचि
दन्येऽप्येवंविधा जनाः । आन्तरा बाह्यलोकानां वर्तन्ते क्लेशकारिणः ॥६८५॥ अमीषां मध्यगास्तात ! ज्ञेयास्ते
निखिला अपि । संख्यातीताः कथं ते हि कथ्यन्ते नामनिर्णया ? ॥ ६८६ ॥ (युग्मम्) ॥ प्रकर्षः प्राह ये त्वेते
वेदिकाश्रयवर्तिनः । निविष्टा भूभुजः सप्त माम ! मुक्तामण्डपे ॥६८७॥ युक्ताः स्वपरिवारेण नानारूपविराजिनः ।
एते किंनामका ज्ञेयाः ? किंगुणा वा महीभुजः ? ॥ ६८८ ॥ विमर्शोऽप्यभ्यधादेते सप्ताप्येते नरेश्वराः । महा

१ मध्यमध्यासु । २ विमर्शः ।

मोहनृपस्यैव बहिर्भूताः पदातयः ॥ ६८९ ॥ तत्रैष वीक्ष्यते भद्र ! युक्तो यः पञ्चभिर्नरैः । ज्ञानसंवरणो नाम
प्रसिद्धः स महीपतिः ॥ ६९० ॥ स्वपञ्चनरवीर्येण धौरेयः क्रूरकर्मणाम् । हत्वा ज्ञानदृगालोकं जगदन्धं करोत्य-
यम् ॥ ६९१ ॥ यस्त्वेष नवभिर्युक्तो मानुषैः प्रविलोक्यते । दर्शनावरणो नाम विख्यातः स नरेश्वरः ॥ ६९२ ॥
परिवारेऽस्य याः पञ्च नार्यस्तासां बलादसौ । विदधाति जगत्सर्वं घूर्णमानं गतक्रियम् ॥६९३॥ ये त्वमी पुरुषा-
स्तात ! चत्वारः सारसाहसाः । एतत्सामर्थ्यतो विश्वं विश्वमन्धीकरोत्यसौ ॥६९४॥ दृश्यते यः पुनरयं नरद्वयसम-
न्वितः । वेदनीयाभिधानः स प्रसिद्धः पृथिवीपतिः ॥ ६९५ ॥ सातनामा नरोऽस्याऽऽद्यो जगदानन्ददायकः ।
द्वितीयोऽसातनामा तु विश्वसंतापकारकः ॥ ६९६ ॥ दीर्घह्रस्वैः समायुक्तश्चतुर्भिर्डिम्भरूपकैः । वीक्ष्यते नृपति-
र्योऽयं स आयुर्नाम विश्रुतः ॥ ६९७ ॥ चतुर्डिम्भौजसा गुप्तिष्[2]विवायं चतसृष्वपि । गतिषु प्रसभं धत्ते नियतं
कालमङ्गिनः ॥ ६९८ ॥ द्विचत्वारिंशता युक्तो मानुषैर्यस्तु दृश्यते । नामनामा नृपः सोऽयं विश्वत्रयविडम्बकः
॥६९९॥ तथाहि गतिजात्यादिभेदैर्नानातनुस्थिताः । नानाङ्गोपाङ्गसंबद्धाः संघातकरणो द्यताः ॥ ७०० ॥ भिन्न-
संहननाः सत्त्वा नानासंस्थानधारिणः । वर्णगन्धरसस्पर्शभेदेन विविधास्तथा ॥७०१॥ गौरवेतरहीनाश्च स्वोपघात-
परायणाः । पराघातपराः केचिदिष्टजन्मानुपूर्विणः ॥ ७०२ ॥ सदुच्छ्वासातपोद्योतौ[3] विहायोगतिगामिनः ।
त्रसस्थावरभेदाश्च सूक्ष्मबादररूपिणः ॥ ७०३ ॥ पर्याप्तकेतराः केचिदन्ये प्रत्येकचारिणः । साधारणाः स्थिराः

१ प्रसिद्धः स महीपति. घ० । २ कारागारेषु । ३ ०तवि० ख० ।

केचिचान्येऽस्थिररूपिणः ॥ ७०४ ॥ शुभाशुभस्य विज्ञाणाः सुभगा दुर्भगास्तथा । सुस्वरा दुःस्वरा लोके ये चाऽऽदेयेतरा जनाः ॥ ७०५ ॥ यशःकीर्त्ययशःकीर्तियुता निर्मितिशालिनः । ये च तीर्थकरा लोके भवन्ति भवभेदिनः ॥ ७०६ ॥ नियमादुपर्यायेण सर्वमेव नराधिपः । तदिदं जृम्भते वत्स ! नामनामा महाबल ॥ ७०७ ॥ यस्त्वनीचपुरुषरूपोपेतो निरीक्ष्यते । गोत्राभिधानो विख्यातः स एष वसुधाधवः ॥ ७०८ ॥ पुरुषस्थितस्यास्य बलादेव महाबलः । सुन्दरासुन्दरं गोत्रं विदधाति तनूभृताम् ॥ ७०९ ॥ चक्षुर्गोचरतां याति नर पञ्चकसंयुतः । यः पुनर्मेदिनीपालः सोऽन्तराय इतीरितः ॥७१०॥ स्वाम्ना नृपञ्चकस्यास्य करोत्येष महाभुजः । दानभोगोपभोगाप्तिवीर्यविघ्नं वपुष्मताम् ॥ ७११ ॥ तदेते नामभिस्तुभ्यं गुणैश्च कथिता नृपाः । समासाद् व्यासाख्याने तु याति मेऽत्रैव जीवितम् ॥७१२॥ प्रकर्षोऽथ मुदा प्राह बोधितो माम ! साम्प्रतम् । केवलं विस्मयोऽद्यापि ममाय वर्तते हृदि ॥ ७१३ ॥ यदामून्मप्यपान्ताःस्वामिरीक्षे नायकानहम् । परिवारं न पश्यामि तदामीषां निजं निजम् ॥ ७१४ ॥ यदा विलोकयाम्येषां परिवारं विशेषतः । तदा विस्फारिताक्षोऽपि नैवेक्षे नायकान् पुनः ॥७१५॥ भवता तु परीवारा नायकाश्च पृथक् पृथक् । नामतो गुणतश्चैव कीर्तिता माम ! तत्कथम् ? ॥७१६ ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र ! कार्यो नैवात्र विस्मय । एकतोभयवेत्तात्र सर्वज्ञोऽपि न विद्यते ॥ ७१७ ॥ नायका यत्र सामान्य विशेषास्तु परिच्छदाः । सामान्यस्य विशेषाणां चानन्यत्वं[1] परस्परम् ॥ ७१८ ॥ तेन

१ चान्यत्वं च परस्परम् ख० ।

विस्फारिताक्षोऽपि स्मेरपद्माक्ष ! नेक्षते । नायकान् परिवारांश्च तुल्यकालं भवानमून् ॥ ७१९ ॥ देशकालादि-
भेदेन भेदोऽप्येषां प्रतीयते। तेन वत्स ! मयाऽऽख्यातास्तुभ्यमेते पृथक् पृथक् ॥७२०॥ तदेवं सर्ववस्तूनां भेदाभेदे
व्यवस्थिते । अत्रान्यत्र च कर्त्तव्यो विस्मयस्तात ! न त्वया ॥ ७२१ ॥ प्रकर्षः प्राह मे माम ! नष्टोऽसौ विस्मयो-
ऽधुना । केवलं किञ्चिदद्यापि मामं पृच्छामि संशयम् ॥ ७२२ ॥ तावदेते त्वयाऽऽख्याता यथाष्टौ मुख्यभूभुजः ।
तथा संभावयाम्येतदहं माम ! स्वचेतसि ॥ ७२३ ॥ वेद्यायुर्नामगोत्राख्याश्चत्वारोऽपि ह्यमी नृपाः । शुभं कुर्वन्ति
केषाञ्चित् केषाञ्चिदशुभं पुनः ॥ ७२४ ॥ ज्ञानदर्शनावरणमहामोहान्तरायकाः । कुर्वन्त्येते तु चत्वारोऽशुभमेव हि
देहिनाम् ॥७२५॥ एवं स्थिते च किं माम ! विद्यन्ते केऽपि देहिनः । येऽमीभिरशुभैर्भूपैश्चतुर्भिर्न विडम्बिताः ॥७२६॥
तत्प्रश्नमुदितस्वान्तः प्रत्यभापत मातुलः । वत्स ! सन्त्येव ते किन्तु विरला जात्यरत्नवत् ॥७२७॥ तेषां हि शुद्ध-
सिद्धान्ताभ्यासलालसचेतसाम् । अप्रमादभृतां तत्तद्भावनाभावितात्मनाम् ॥ ७२८ ॥ निःस्पृहाणां च कल्याणं
किमकल्याणमीश्वराः । कर्त्तुमेते धराधीशाश्चत्वारोऽपि महात्मनाम् ॥७२९॥ युग्मम् ॥ वेद्यायुर्नामगोत्राश्च येऽप्येते
जगतीभुजः । शुभक्रियाणां तेऽप्येषां शुभमेव हि कुर्वते ॥७३०॥ प्रकर्षः प्राह ते माम ! कुत्र तिष्ठन्ति देहिनः । यैरी-
दृशोऽपि निर्जिग्ये शत्रुवर्गो महात्मभिः ॥७३१॥ बुद्धिबन्धुरथोवाच समाकर्णय सुन्दर ! । एतदाप्तजनाभ्यासे श्रुत-
मासीत्पुरा मया ॥७३२॥ अस्त्यदृष्टादिपर्यन्तं विविधाद्भुतसंगतम् । विचित्रलोकसंकीर्णं भवचक्राभिधं पुरम् ॥७३३॥
ततोऽहमिति मन्येऽमुं शत्रुवर्गं जिगीषवः । भवचक्रे पुरे तत्र विद्यन्ते ते महाशयाः ॥ ७३४ ॥ किं बाह्यमन्तरङ्गं

वा नगरं तदितीरितः । मर्कटेनाथ स प्राह द्विरूपमपि तत्पुरम् ॥ ७३५ ॥ यथाहि तत्राऽऽश्रायन्ते बहिरङ्गाः पुरे जनाः । अन्तरङ्गा अपि सदा सर्वेऽप्येते तथैव हि ॥७३६॥ रिपुर्येषां स संतोषस्तत्रैवास्ति पुरे ततः । द्विरूपजनसंभवात् द्विरूप तदपि स्मृतम् ॥७३७॥ भवेत्पुर्माम ! तत्रैते कथमत्र व्यवस्थिताः । इति पृष्टः मर्कटेन विमर्शो पुनरभ्यधात् ॥ ७३८ ॥ आविर्भावतिरोभावबाहुरूप्यादिशक्तिभिः । अन्तरङ्गा जनाः सर्वे योगिनस्तात ! सत्यमी ॥ ७३९ ॥ तदमाचिन्त्यमाहात्म्या विश्वविस्मयकारिणः । न भवेत्पुरमी वत्स ! कुत्र कुत्रान्तरा जनाः ! ॥ ७४० ॥ मर्कटोऽभिदधे माम ! द्विपामेषामगोचराः । विद्यन्ते ते महात्मानः स संतोषश्च तत्र चेत् ॥ ७४१ ॥ प्रद्रष्टुं तत्पुरं तर्हि कौतुकैकनिकेतनम् । तस्मादनुग्रहं कृत्वा तन्मे मामेन दर्शयताम् ॥ ७४२ ॥ (युग्मम्) ॥ मातुलोऽप्यवदत् वत्स ! सिद्धं नस्तावदीप्सितम् । रसनामूलशुद्ध्याप्त्या यावः स्वस्थानमेव तत् ॥७४३॥ स्वस्रीयः पुनरप्याह माम ! कीर्तयता त्वया । भवचक्र ममाकारि तद्दर्शनकुतूहलम् ॥ ७४४ ॥ तस्माद्दर्शिते तस्मिन् न मामो गन्तुमर्हति । ततश्च कालतो वर्षे तावेनावधिरावयोः ॥ ७४५ ॥ स्थानाच्च नौ निर्गतयोः शरद्धेमन्तलक्षणम् । अभारतत्त्रयीमात्रे शिशिरोऽस्ति यतोऽधुना ॥७४६॥ अवश्यायविषोन्मिश्रा यस्मिन्नेते प्रवासिनाम् । हृदयानि स्मरशरा इव भिन्दन्ति वायवः ॥ ७४७ ॥ कम्पमानविरूपाङ्गाः स्फुटत्क्रकचिपादिकाः । वादयन्त्यधना यत्र दन्तवीणां हिमार्दिताः ॥ ७४८ ॥ शिशिरस्याप्यवश्यायजलजाड्येन यत्र च । स्फुटन्ति कृन्तदन्तोष्ठपदेपादसना

१ कृ० ता० । २ तर्हि तद् द्रष्टुं कौ० ता० । ३ माम ! मदर्शयताम् कृ० ता० प० ।

इव ॥ ७४९ ॥ शीतार्त्तानां प्रियो यत्र दहनोऽपि हि जायते । अनिष्टोऽपि भवेदिष्टः समये ह्युपकारकः ॥ ७५० ॥
निष्पत्राः प्रोषितच्छायास्त्यक्तसन्निधयो जनैः । आसादयन्ति निःस्वानां यत्र वृक्षाः सदक्षताम् ॥ ७५१ ॥ सांप्रतं
च गतप्रायो वर्त्तते शिशिरोऽप्यसौ । ततः षण्मासमात्रेऽपि किमु त्रस्यति मातुलः ? ॥ ७५२ ॥ गम्यतां भवचक्रेऽतो
ममानुग्रहकाम्यया । मामेन परतो यत्ते रोचते तत्करिष्यते ॥ ७५३ ॥ अथानिवर्त्तकं भावं ज्ञात्वा बुद्ध्यङ्गजन्मनः ।
गमनं मानयामास विमर्शो भवचक्रके ॥ ७५४ ॥ ततो मिथ्याभिनिवेशादिस्यन्दनमनोरमम् । ममत्वादिमहादन्ति-
वृन्दबृंहितबन्धुरम् ॥ ७५५ ॥ अज्ञानादिमहाश्वीयहेषारवमनोहरम् । दैन्यचापललौल्यादिपादातपरिपूरितम् ॥ ७५६ ॥
महामोहमहीभर्तुश्चतुरङ्गं[1] महाबलम् । पश्यन्तो भवचक्रे तौ चेलतुर्निश्चिताध्वना ॥ ७५७ ॥ विशेषकम् ॥ मार्गे
च गच्छता मार्गनिर्गमायाऽपरिश्रमात् । बुद्ध्यात्मजन्मना बुद्धिबन्धुरित्यभ्यधीयत[2] ॥ ७५८ ॥ माम ! यः श्रूयते
कर्मपरिणामो महीपतिः । महामोहस्तदादेशं किमसौ कुरुते न वा ? ॥ ७५९ ॥ विमर्शः प्राह स ज्येष्ठो बन्धुर्लघुरयं
पुनः । तत्र भेदोऽनयोर्भूपाश्रैते तस्यापि पत्तयः ॥ ७६० ॥ ज्येष्ठः प्रकृत्या कार्याणि भव्याभव्यानि देहिनाम् ।
करोत्यसुन्दराण्येव लघुरेष नृपः पुनः ॥ ७६१ ॥ किञ्चैष विक्रमी भूपः स तु नाट्यप्रियो नृपः । एते नृपा
निषेवन्ते महामोहमतः सदा ॥ ७६२ ॥ तस्यापि पुरतो गत्वा नाट्यं कुर्वन्ति तेऽन्वहम् । सभार्यो नाटकं पश्यन्नृपः
सोऽस्ति सदा यतः[3] ॥ ७६३ ॥ किञ्चैषामपरेषामप्यन्तरङ्गमहीभुजाम् । स स्वाम्ययं तु तस्यैकदेशो

१ ०क्रम० क० ख० ग० । २ ०मिधीयते क० घ० ग० । ३ यकः क० ख० घ० ।

था नगरं तदितीरितः । प्रकर्षेणाथ स प्राह द्विरूपमपि तत्पुरम् ॥ ७३५ ॥ यथाहि तत्राऽऽश्रायन्ते बहिरङ्गाः पुरे जनाः । अन्तरङ्गा अपि सदा सर्वेऽप्येते तथैव हि ॥७३६॥ रिपुश्चैषां च संतोषस्तत्रैवास्ति पुरे ततः । द्विरूपजनसेव्यत्वात् द्विरूप तदपि स्मृतम् ॥७३७॥ भवेयुर्माम ! तत्रैते कथमत्र व्यवस्थिताः । इति पृष्टः प्रकर्षेण विमर्शः पुनरभ्यधात् ॥ ७३८ ॥ आविर्भावतिरोभावप्रादुरुप्यादिशक्तिभि । अन्तरङ्गा जनाः सर्वे योगिनस्तात ! तत्समी ॥ ७३९ ॥ ततश्चाचिन्त्यमाहात्म्या विश्वविस्मयकारिणः । न भवेयुरमी वत्स ! कुत्र कुत्रान्तरा जनाः ? ॥ ७४० ॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम ! द्विधामेषामगोचराः । विद्यन्ते ते महात्मानः स संतोषश्च तत्र चेत् ॥ ७४१ ॥ द्रष्टव्यं तत्पुरं तर्हि कौतुकैकनिकेतनम् । तस्मादनुग्रहं कृत्वा तन्मे मामेन दर्श्यताम् ॥ ७४२ ॥ (युग्मम्) ॥ मातुलोऽप्यवदत् वत्स ! सिद्धं नस्तावदीप्सितम् । रसनामूलशुद्ध्याप्त्या पाथः स्वस्थानमेव तत् ॥७४३॥ स्वस्त्रीयः पुनरप्याह माम ! कीर्तिता त्वया । अथवार्के ममाकारि तद्दर्शनकुतूहलम् ॥ ७४४ ॥ तस्मात्तद्दर्शिते तस्मिन् न मामो मन्तुमर्हसि । तत्त्वम् कालश्चो वर्षं गतेनावधिरावयोः ॥ ७४५ ॥ स्थानाच्च नौ निर्गतयोः शरद्धेमन्तलक्षणम् । समातत्तपीमात्रे शिशिरोऽस्ति यतोऽधुना ॥७४६॥ अथश्यामलिपोन्मिश्रा यस्मिन्नेते प्रवासिनाम् । हृदयानि स्मरशरा इव भिन्दन्ति वायवः ॥ ७४७ ॥ कम्पमानविरूपाङ्गाः स्फुटप्रकटिपादिकाः । वादयन्त्यधना यत्र दन्तवीणां हिमार्दिताः ॥ ७४८ ॥ शिशिरस्याप्यवश्यायजलपातेन यत्र च । स्फुटन्ति कन्दसन्दोहापदेशादधना

१ ॰के क॰ ता॰ । २ तर्हि तत्र दृष्टं खौ॰ ख॰ । ३ माम ! प्रदर्श्यताम् क॰ ख॰ ग॰ ।

इव ॥ ७४९ ॥ शीतार्त्तानां प्रियो यत्र दहनोऽपि हि जायते । अनिष्टोऽपि भवेदिष्टः समये ह्युपकारकः ॥ ७५० ॥ निष्पत्राः प्रोषितच्छायास्त्यक्तसन्निधयो जनैः । आसादयन्ति निःस्वानां यत्र वृक्षाः सदृक्षताम् ॥ ७५१ ॥ सांप्रतं च गतप्रायो वर्त्तते शिशिरोऽप्यसौ । ततः षण्मासमात्रेऽपि किमु त्रस्यति मातुलः ? ॥ ७५२ ॥ गम्यतां भवचक्रेऽतो ममानुग्रहकाम्यया । मामेन परतो यत्ते रोचते तत्करिष्यते ॥ ७५३ ॥ अथानिवर्त्तकं भावं ज्ञात्वा बुद्ध्यङ्गजन्मनः । गमनं मानयामास विमर्शो भवचक्रके ॥ ७५४ ॥ ततो मिथ्याभिनिवेशादिस्यन्दनमनोरमम् । ममत्वादिमहादन्तिवृन्दबृंहितबन्धुरम् ॥ ७५५ ॥ अज्ञानादिमहाश्वीयहेषारवमनोहरम् । दैन्यचापललौल्यादिपादातपरिपूरितम् ॥ ७५६ ॥ महामोहमहीभर्तुश्चतुरङ्गं[1] महाबलम् । पश्यन्तो भवचक्रे तौ चेलतुर्निश्चिताध्वना ॥ ७५७ ॥ विशेषकम् ॥ मार्गे च गच्छता मार्गनिर्गमायाऽपरिश्रमात् । बुद्ध्यात्मजन्मना बुद्धिबन्धुरित्यभ्यधीयत[2] ॥ ७५८ ॥ माम ! यः श्रूयते कर्मपरिणामो महीपतिः । महामोहस्तदादेशं किमसौ कुरुते न वा ? ॥ ७५९ ॥ विमर्शः प्राह स ज्येष्ठो बन्धुर्लघुरयं पुनः । तत्र भेदोऽनयोर्भूपाश्चैते तस्यापि पत्तयः ॥ ७६० ॥ ज्येष्ठः प्रकृत्या कार्याणि भव्याभव्यानि देहिनाम् । करोत्यसुन्दराण्येव लघुरेष नृपः पुनः ॥ ७६१ ॥ किञ्चैष विक्रमी भूपः स तु नाट्यप्रियो नृपः । एते नृपा निषेवन्ते महामोहमतः सदा ॥ ७६२ ॥ तस्यापि पुरतो गत्वा नाट्यं कुर्वन्ति तेऽन्वहम् । सभार्यो नाटकं पश्यन्नृपः सोऽस्ति सदा यतः[3] ॥ ७६३ ॥ किञ्चैषामपरेषामप्यन्तरङ्गमहीभुजाम् । स स्वाम्ययं तु तस्यैकदेशो

१ ०ङ्गम० क० ख० ग० । २ ०मिधीयते क० घ० ग० । ३ यकः क० ख० घ० ।

निर्देषकृपया ॥ ७६४ ॥ समग्रनगराधीशः स चैकां निर्वृतिं विना । अथ पुनस्त्वरादेशाद्भूपाणामिपरतां
प्रभुः ॥ ७६५ ॥ अथ निजार्जितं सर्वं ज्येष्ठायार्पयते धनम् । स नियोजयते वस्तु सुन्दरेतरवस्तुषु
॥ ७६६ ॥ ततश्चमेव तस्याज्ञां विषयेऽतो मुदास्य सः । राजसत्रामसचिवे मटसत्या ददौ पुरं ॥ ७६७ ॥
अतः पुरद्वये तत्र सैन्यमस्य समुत्किके । तयाटव्यां च निःशेषमास्ते विग्रहतत्परम् ॥ ७६८ ॥ ततस्तस्त्रमिदं
कर्म्मपरिणामो महीपतिः । उपविष्टो महामोहस्तत्पुरस्ताभ मिदाऽनयोः ॥ ७६९ ॥ मामेयः प्राह मामैतदनयोः
किं क्रमागतम् । राज्य ! किं चान्यसंबधि अगृहे भलयथया ॥ ७७० ॥ मातुलोऽभिदधे राज्यमनयोर्न क्रमा
गतम् । परकीयमिदं किन्तु हठादाभ्यामगृह्यत ॥ ७७१ ॥ यतः संसारिजीवो हि विषयस्पटवीप्रभुः । आभ्यां
तु च बहिष्कृत्य स्वीकृता स्वबलेन सा ॥७७२॥ प्रकर्षः प्राह कालोऽभूद् गृहीतायाः कियान्पुनः ? । विमर्शः प्राह
नैषादि दानेऽयमपि वत्सतः ॥ ७७३ ॥ स्वस्त्रीयः प्राह मे माम ! क्षीणोऽयमपि संशयः । अथवा त्वयि पार्श्वस्थे
कुतः संशयसंभवः ? ॥ ७७४ ॥ ततेवं विविधालापकल्पनापगतभ्रमौ । सकालौ तौ दिनैः कैश्चिद्रसचक्रमुपेयतुः
॥ ७७५ ॥ तस्मिन्नप्यतिविस्तीर्णे विषतेऽनान्तरं पुरम् । नामतो मानवावासमनेकाश्चर्यसंकुलम् ॥ ७७६ ॥ ततन्त
ललिताख्ये तावदान्तरपुरे गतौ । तथा च मनतोन्मादी वसन्तर्तुरुपाययौ ॥ ७७७ ॥ प्रियाभ्यानेन्धनैर्यत्र दधि
चानिलफूत्कृतः । कामिनां स्वान्तकुण्डेषु मदनज्वलनोऽज्वलत् ॥७७८॥ चम्पकाशोकपङ्क्तिपूतापा यत्र वासिनः ।

१ ०ष्यामेन्य० क० ख० ।

तूणीरा इव पुष्पेषोर्बभुः कुसुमसंभृताः ॥ ७७९ ॥ यत्र चूतनवाङ्कूरस्वादस्वादुस्वनाः पिकाः । वसन्तऋतुराजस्य
रेजिरे मागधा इव ॥ ७८० ॥ भ्रान्तिश्रान्ता मुहुर्यत्र छायारम्यासु वल्लिषु । मधुव्रता मधु पपुः पयः पान्थाः
प्रपास्विव ॥ ७८१ ॥ परागैः परितो यत्र संच्छन्नोद्यानभूर्बभौ । खल्लूरिकेव कन्दर्पभूपतेर्वालुकाकुला ॥ ७८२ ॥
स्थितः परिसरे तस्य नगरस्याथ मातुलः । वसन्तोत्सवमालोक्य मुदा जामेयमभ्यधात् ॥ ७८३ ॥ समये भव-
चक्रस्य दिदृक्षा तात ! तेऽभवत् । वसन्तेऽत्रास्य सौन्दर्यं विशेषेण यतो भवेत् ॥ ७८४ ॥ तथाहि पश्य पद्मास्य !
विश्वग्जाताधिकश्रियः । कस्यैते काननाभोगाश्चित्तं न रमयन्त्यलम् ॥ ७८५ ॥ पौराश्चैतेषु चित्राभिः क्रीडाभिः
प्रेयसीसखाः । क्रीडन्त एते नो कस्यातुच्छं यच्छन्ति संमदम् ॥ ७८६ ॥ प्रकर्षोऽथ मुदा प्राह साधु मामेन
भाषितम् । वसन्ते हि भवत्येव सौन्दर्यं जगतोऽधिकम् ॥ ७८७ ॥ एवं च यावदाख्याति बुद्धिभूर्बुद्धिबन्धवे ।
तावत्तन्नगराधीशश्चतुरङ्गचमूवृतः ॥ ७८८ ॥ सिन्धुरस्कन्धमारूढो मधूत्सवदिदृक्षया । लोलाक्षो नाम भूपालः
पुरादुद्यानमाययौ ॥ ७८९ ॥ युग्मम् ॥ तस्मिंस्तत्र च संप्राप्ते विशेषोद्भूतया मुदा । जनाः किं किं न कुर्वन्ति
महामोहादिनाटिताः ! ॥ ७९० ॥ तादृशांस्तानथालोक्य नानाव्यापारनिर्भरान् । तद्व्यापारेक्षणप्रह्वं प्रकर्षं
प्राह मातुलः ॥ ७९१ ॥ त एते देहिनो बाह्यास्तात ! यद्विषयो मया । प्रतापो वर्णितः पूर्वं महामोहादि-
भूभुजाम् ॥ ७९२ ॥ प्रकर्षः प्राह केनाऽऽर्य ! वृत्तान्तेनेह कस्य वा । नृपस्यैते प्रतापेन विचेष्टन्ते जना इति

१ कामदेवस्य । २ शस्त्राभ्यासस्थानमिव । ३ भवचक्रस्य । ४ लोकस्या० ग० ।

॥७९३॥ विमर्शोऽपि विनिश्चित्य निर्मलेनान्तरात्मना । परमार्थमथ प्रोचे समाकर्णय सुन्दर ! ॥७९४॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां महामोहस्य पर्षदि । निविष्टो विष्टरे दृष्टो यस्त्वया मकरध्वजः ॥ ७९५ ॥ तस्य प्रियवयस्योऽयं वसन्तः शिशिरे गते । गतो बभूव तन्मूले सुखं तेन सह स्थित ॥ ७९६ ॥ देव्याः कालपरिणतेर्वसन्तोऽनुचरोऽयम् । ततः स्वप्रियमित्रं तमित्यूचे मकरध्वजम् ॥ ७९७ ॥ स्वस्वामिन्या निदेशेन प्रियमित्र ! मयाधुना । नगरे मानवावासे भवचक्रान्तरस्थिते ॥७९८॥ प्रयातव्यमतो हेतोर्भवतो दर्शनेच्छया । इहागममहं माविवियोगातङ्ककातरः ॥७९९॥ युग्मम् ॥ ततः प्रमुदितस्वान्तो जगाद मकरध्वजः । सखे ! वसन्त ! नन्वेतद्विस्मृतं भवतः किमु ? ॥८००॥ यीवर्षे सदाऽऽवाभ्यां यत्र क्रीडितं पुरे । येनैव स्थिपसे मामिचिरम्यर्थितावयः ॥ ८०१ ॥ (युग्मम्) ॥ यतो यदा यदा यत्र पुरे यानाय तेऽभवत् । देव्यादेशो महामोहमहीपालस्तदा तदा ॥ ८०२ ॥ मयमप्येष तत्रैव पुरे राज्य चिकीर्षमान् । तदिदं चिरकाशङ्का तवास्थानेऽभवत्कथम् ? ॥ ८०३ ॥ युग्मम् ॥ वसन्तः माह साध्वस्मि वयस्याभासितोऽमुना । नूनं विस्मृत एवासीद् वृत्तान्तोऽयं ममान्यथा ॥८०४॥ तदिदं सुन्दरं स्थात सांप्रतं तु मयाऽपरम् । मयन्निस्तूर्णमागम्यमित्युक्त्वा प्रचचाल सः ॥ ८०५ ॥ विजयोऽस्त्वति मित्रेणोदितः सोऽप्राययौ पुरे । यमन्तोऽप्यर्थपत्वेन यनादौ स्फूर्जितं निजम् ॥८०६॥ मकरध्वजोऽपि विषयाभिलाषात् व्यजिज्ञपत् । रागकेसरिणस्तस्माच्च महामोहभूपतिम् ॥८०७॥ विधायानुग्रहं देव ! वारयतां सा चिरन्तनी । स्थितिर्मे मानवावासराज्यदानेन साम्प्रतम् ॥ ८०८ ॥ वसन्तयानावसरे देवपादैर्यतो मम । कृपयोऽस्ति तत्राचपमसादः मतिवत्सरम् ॥ ८०९ ॥

ततो जातु न लोप्यैव भृत्यानां विहिता स्थितिः। प्रभुभिः प्रतिपन्नैकप्रतिपालनतत्परैः ॥ ८१० ॥ राजापि
प्रतिपन्नं तत्संस्मृत्याऽचलजल्पितः। निजास्थानस्थितान्सर्वानुर्वीशानब्रवीदिति ॥ ८११ ॥ भो ! भो ! निशम्यतां
भूपाः ! राज्यं देयं मयाधुना। मकरध्वजायामुष्मै मानवावासपत्तने ॥ ८१२ ॥ अस्य राज्याभिषेकाय युष्माभि-
रखिलैरपि। आगन्तव्यं ततस्तत्र विधेया चास्य पत्तिता ॥८१३॥ राज्यकार्याणि कार्याणि यथार्हं च स्वचिन्तया।
महत्तमत्वमेतस्य राज्ये कार्यं मयापि हि। ८१४॥ तथेत्यङ्गीकृते तत्र शासने शिरसाथ तैः। प्रसन्नः पृथिवीनाथः
प्रोवाच मकरध्वजम् ॥ ८१५ ॥ भद्र ! त्वयापि नो राज्यस्थितेनैश्वर्यदर्पतः। हार्यं यथार्हमाभाव्यं तत्रामीषां मही-
भुजाम् ॥ ८१६ ॥ दृश्याः सर्वेऽप्यमी पूर्वगौरवेणाथ सोऽवदत्। यदादिशति देवोऽथ सर्वेऽप्यत्राययुः पुरे ॥८१७॥
अभ्यषिच्यत तैश्चात्र राज्येऽसौ मकरध्वजः। यथार्हं प्रतिपन्नश्च तन्नियोगः परैरपि ॥ ८१८ ॥ मकरध्वजराजोऽथ
प्रतापाक्रान्तशात्रवः। बाह्यमेनं महीपालं लोलाक्षं सपरिच्छदम् ॥ ८१९ ॥ जित्वैवं स्वौजसोद्याने नगरान्निरवासयत्।
वराको लक्षयत्येष न तु स्वं तेन निर्जितम् ॥ ८२० ॥ युग्मम् ॥ वृत्तान्तेन ततोऽनेन विचेष्टन्ते जना अमी।
महामोहादियुक्तस्य प्रतापादस्य भूभुजः ॥ ८२१ ॥ जामेयः प्राह कुत्रास्ति सांप्रतं मकरध्वजः। मातुलः प्राह
पार्श्वस्थ एवाय नाटयत्यमून् ॥ ८२२ ॥ स कस्मान्नेक्ष्यते तर्हि प्रकर्षेणेति भाषितः। विमर्शोऽवोचदाख्यातमेव
पूर्वं मया तव ॥ ८२३ ॥ यथान्तरजनाः कर्तुमन्तर्द्धानं विदन्ति ते। परदेहप्रवेशं च सदा कुर्वन्ति योगिवत्
॥ ८२४ ॥ ततोऽमीषां जनानां ते शरीरेषु कृताश्रयाः। इदं प्रेक्षणकं भद्र ! प्रेक्ष्य(क्ष)न्ते जितकाशिनः ॥८२५॥

प्रकर्षः प्राह मामस्तान्कथं पश्यस्यथाह सः । पश्यामि विमलालोकयोगाञ्जनबलादहम् ॥ ८२६ ॥ मामेयोऽथ अगादेव ममाप्यार्य ! विधीयताम् । प्रसादस्तत्प्रदानेन वीक्षेऽहमपि येन तान् ॥ ८२७ ॥ तेनाञ्जितस्याऽञ्जनेनाथ विमर्शस्तद्विलोचने । विलोकयाधुना लोकान्यपानीत्युवाच तम् ॥ ८२८ ॥ तान्यालोक्य प्रकर्षोऽपि सहर्षः प्राह दृश्यते । राज्यं कुर्वन्मयाप्येष सांप्रतं मकरध्वजः ॥८२९॥ तथाऽेष जनानेतान् भित्त्वा भित्त्वा शिलीमुखैः । हसत्युच्चैरयं माम ! सह रत्या प्रमोदभाक् ॥ ८३० ॥ महामोहादयोऽप्येते व्यापारं स्वं पृथक् पृथक् । प्रयुञ्जाना जनेष्वेषु मोदन्ते सुतरामिह ॥ ८३१ ॥ तदहं कृतकृत्योऽस्मि समदामर्यदर्शकः । परस्य स्व माम ! संशयः पृच्छाम्यथापि किन्त्वदः ॥ ८३२ ॥ ते महामोहसामन्ता दृश्यन्तेऽस्यान्तिकस्थिताः । ननु द्वेषगजेन्द्राद्यास्तथे किमिह नागताः ? ॥ ८३३ ॥ विमर्शः प्राह तेऽप्यत्रागताः किन्तु पुरापि ते । आख्यातमन्तरङ्गास्ते पञ्चनाः कामरूपिणः ॥ ८३४ ॥ ततो द्वेषगजेन्द्राद्यास्तिरोभूयात्र ते स्थिताः । सेवावसरमीक्षन्ते मकरध्वजभूभुजः ॥ ८३५ ॥ महामोहादयस्त्वेते प्राप्तसेवनक्षणाः । आविर्भूता नृपास्थाने स्वं नियोगं प्रकुर्वते ॥८३६॥ मामेयः प्राह यद्येव सितपक्षो गतोऽधुना । शून्यीभूय किं माम ! स महामोहमण्डपः ? ॥ ८३७ ॥ व्याजहार विमर्शोऽथ नैवमेवं गुणात्मज ! । सर्वेऽप्यामन्यवरा लोकाः किन्त्वमी कामरूपिणः ॥ ८३८ ॥ ततः समागताः सर्वेऽप्यमी राज्येऽत्र यद्यपि । तथापि त महामोहस्थानमास्ते तथैव हि ८३९ ॥ किञ्च नित्यं जगत्यापि त महामोहभूभुजः । राज्यमस्य स्थिरैवेदं

१ सणि० क० ख० ग० घ० ।

कतिचिद्दिनभावि च ॥ ८४० ॥ महामोहो यतः पूर्वस्थितिपालनकौतुकी । अत्रैवं मधु (?) दत्तेऽस्य स्वपत्तेरपि वैभवम्
॥ ८४१ ॥ ततोऽचलं तदास्थानं तत्रस्था एव खल्वमी । दृश्यन्तेऽत्र प्रकर्षोऽथ प्राह मे संशयोऽनशत् ॥ ८४२ ॥
अत्रान्तरे च लोलाक्षः स राजोत्तीर्य कुञ्जरात् । वनान्तश्चण्डिकागारे जगाम जनसंयुतः ॥ ८४३ ॥ तां मद्यादि-
भिरभ्यर्च्य तस्याः परिसरे पुरः । निषसाद च [2]मैरेयपानाय सपरिच्छदः ॥ ८४४ ॥ तत्राथ मद्यभाण्डेषु समा-
नीतेषु ते जनाः । सुवर्णचषकैर्मद्यं सर्वेऽपि मुदिताः पपुः ॥ ८४५ ॥ स्वेच्छं तस्मिन्निपीते च मदापहृतचे-
तसः । गाननर्त्तनदानादि लोकाः किं किं न कुर्वते ? ॥ ८४६ ॥ इतश्च तस्य लोलाक्षनृपतेर्लघुसोदरः ।
रिपुकम्पननामास्ति युवराजो महाभुजः ॥ ८४७ ॥ तेनाथ मदमूढेन कार्याकार्यमजानता । स्वप्रिया रतिललि-
ता नृत्य नृत्येत्यभाष्यत ॥ ८४८ ॥ गुरूणां लज्जमानापि भर्तुरादेशमक्षमा । अतिलङ्घयितुं साथ प्रवृत्ता
नर्तितुं पुरः ॥ ८४९ ॥ नृत्यन्तीं तां च लोलाक्षः पश्यन्नाक्षिप्तमानसः । मकरध्वजराजेन निहतो निशितैः
शरैः ॥ ८५० ॥ इतश्चापानके लोकाः पीतभूरि[3]परिश्रु(स्रु)तः । नष्टचेष्टा महीपृष्ठे लुलुठुर्ग्रहिला इव ॥ ८५१ ॥
प्रवृत्तच्छर्दिसंजाताशुचिकर्दमपिच्छले । तत्रोपेत्य मुखान्येषां लिलिहुः काककुक्कुराः ॥ ८५२ ॥ मदातिशयतः
सुप्ते कनीयस्यथ तत्प्रियाम् । लोलाक्षोऽचलदाश्लेष्टुं महामोहादिनोदितः ॥ ८५३ ॥ प्रसारितभुजादण्डमा-
पतन्तं विलोक्य तम् । तद्भावं लक्षयामास युवराजप्रियापि सा ॥ ८५४ ॥ संजातसाध्वसा साथ विलीनमदिरा-

१ ०वाम० क० ख० ग० घ० । २ मदिरापानार्थम् । ३ ०मदिराः ।

मदा । नेतुं मद्गृत्वा लोलाक्षस्तां समाह हठादपि ॥ ८५५ ॥ स विमोच्य प्रयान्ती सा तेनाऽऽत्ता पुनरेव सा । विमोच्य चण्डिकापृष्ठे तस्थौ गत्वा तदोकसि ॥ ८५६ ॥ तदा चाविरभूद् द्वेपगजेन्द्रो राजशासनात् । सहाऽपश्येत्तं च वीक्ष्य प्रकर्षः प्राह मातुलम् ॥ ८५७ ॥ स एष वीरस्पर्शे द्वेपगजेन्द्रो माम ! सोऽवदत् । जातोऽस्यावसरः पश्य ! स्फूर्तिमस्य ततोऽधुना ॥ ८५८ ॥ ततो द्वेपगजेन्द्रेण लोलाक्षोऽभावि सोऽप्यथ । दध्यौ यन्मारयाम्येनां पापा मिच्छति या न माम् ॥ ८५९ ॥ व्यात्वेति सङ्गमाकृष्य गत्वा चाऽऽयतनान्तरं । चण्डिकां दारयामास मदान्धत्वक्रमेण सः ॥८६०॥ नष्ट्वा बहिः समागत्य युवराजप्रिया तु सा । रथ रथार्यपुत्रेति पूत्कार भयातुरा ॥८६१॥ पूत्कारं च समाकर्ण्य प्रबुद्धो रिपुकम्पनः । प्रिये ! तव कुतो भीतिरिति पप्रच्छ संभ्रमात् ॥८६२॥ कथिते च यथा वृत्ते तया लोलाक्षचेष्टिते । सोऽपि द्वेपगजेन्द्रेण तत्क्षण समधिष्ठितः ॥ ८६३ ॥ सतिरस्कारमाहूते ज्येष्ठे तेन रणाय च । तेजस्विनः सुभटाः सर्वतः प्रदधाविरे ॥ ८६४ ॥ आकर्ण्य क्षुभिताशेषलोककोलाहल ततः । चतुरङ्गं तयोः सैन्यं संनद्ध द्रुतमाययौ ॥ ८६५ ॥ तत्क्षणाज्ज्वलदाक्रान्ता रोषारुणविलोचनाः । मिथो युयुधिरे योधाः सैन्ययोरुभयोरपि ॥८६६॥ संजातेऽनेकलोकानां प्रलयेऽथ सहोदरौ । युयुधाते मदा ची तावुभावपि मिथः स्वयम् ॥८६७॥ क्षुधिरं करवालेन युयुध्याय रिपुकम्पनः । गाढामर्षोन्महौजस्वी लोलाक्ष निजघान तम् ॥ ८६८ ॥ जाते च विप्लवे घोरे तौ स्वामिसुतमातुलौ । नगरान्तरनिराबाधस्थाने गत्वा च तस्थतुः ॥ ८६९ ॥ विमर्शः प्राह

१ वरत्स० ह० स० ।

माहात्म्यं दृष्टं द्वेषगजेन्द्रजम् ?। प्रकर्षोऽभिदधे सुष्ठु दृष्टं यत्तावतामभूत् ॥ ८७० ॥ विलासानामीदृशोऽन्तस्ततः
प्रोवाच मातुलः । इदृगेव भवेद्भद्र ! पर्यन्तो मद्यपायिनाम् ॥ ८७१ ॥ युग्मम् ॥ मद्यं यस्मान्मतिध्वंसि मद्यं
कलिनिबन्धनम् । मद्यं सर्वापदां मूलं मद्यं दुर्गतिकारणम् ॥ ८७२ ॥ किञ्च पापधियो मद्ये पारदार्ये च ये रताः ।
तेषामेवंविधानर्था भवन्त्याश्चर्यमत्र किम् ? ॥ ८७३ ॥ एवमेतदिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ मातुलः । तेन सार्द्धं पुरे तत्र
निनायाऽहानि कत्यपि ॥ ८७४ ॥ अन्यदा नगरे तत्र भूपालभवनान्तिके । पुमांसमेकमालोक्य प्रकर्षः प्राह मातु-
लम् ॥८७५॥ स एष दृश्यते मिथ्याभिमानो माम ! यः किल । राजसचित्तनगरे पुरावाभ्यां विलोकितः ॥८७६॥
मातुलोऽभिदधे भद्र ! सोऽयं तत्र स्थितोऽपि हि । कामरूपितया राजादेशादत्राप्युपाययौ ॥ ८७७ ॥ क्व सांप्रतमयं
माम ! यातीति स्वसृजन्मना । पृष्टः पुनरभाषिष्ट विमर्शः शृणु सुन्दर ! ॥ ८७८ ॥ कानने यस्त्वया तत्र ददृशे
रिपुकम्पनः । हते तस्मिन्स लोलाक्षेऽधुना राज्येऽभ्यषिच्यत ॥ ८७९ ॥ तस्य चैतत्पुरः सौधमतो हेतोः कुतोऽपि
हि । अस्मिन्मिथ्याभिमानोऽयं विविक्षुरिव लक्ष्यते ॥ ८८० ॥ ममापि दर्श्यतामेतन्नृपधामेति भावितः । प्रकर्षेण
विमर्शोऽथ ययौ तत्र सहामुना ॥ ८८१ ॥ इतश्च तस्मिन्समये रिपुकम्पनभूपतेः । देवी मतिकलिताख्या द्वितीया
सुषुवे सुतम् ॥ ८८२ ॥ जाते च दारके तस्मिन्नुपयाचितकोटिभिः । प्रातः पद्ममिवात्यन्तं विरेजे राजमन्दिरम्
॥८८३॥ हर्षविशत्वरायानकम्पमानपयोधरा । गत्वा राज्ञेऽथ चेट्येका पुत्रजन्म न्यवेदयत् ॥८८४॥ प्रविश्यात्रान्तरे
मिथ्याभिमानो नृपसद्मनि । रिपुकम्पनभूभर्तुः शरीरं प्रागशिश्रियत् ॥८८५॥ अमन्दानन्दसंभूतपुलकोद्भेददन्तुरः ।

ततः स चिन्तयामास भूपतिर्निजचेतसि ॥ ८८६ ॥ अहो ! कृतार्थो जातोऽस्म्यहो ! मम कुलोन्नतिः । अहो ! मे भाग्यसंपत्तिरहो कल्याणसंहतिः ॥८८७॥ अहो ! राज्यमहो ! सौख्यमहो ! सिद्धं समीहितम् । यत्पुत्रस्य मेऽधुना मृत्युञ्जोऽयं कुलनन्दनः ॥८८८। युग्मम् ॥ एवं स चिन्तयंश्चित्ते विपर्यासितमानसः । न भाति देहे न गेहे न पुरे न जगत्यपि ॥८८९॥ निवेदिकायै दत्त्वाथ स तस्यै पारितोषिकम् । नगरे कारयामास सुतजन्ममहोत्सवम् ॥८९०॥ तस्मिन्महोत्सवे वाद्यमाने वर्द्धनके तदा । स्वयमूर्द्धभुजोऽनृत्यद्भूपतिः सपरिच्छदः ॥ ८९१ ॥ दृष्ट्वा वर्द्धनकं तत्र नृत्यन्तं तं च भूपतिम् । जामेयो मातुलं प्रोचे कौतुकोत्तानलोचनः ॥ ८९२ ॥ नरा नार्यश्च मामैते भूमिकामार मालिनः । किमेवं खेदयन्ति स्वं रटनोच्छलनादिभिः ॥ ८९३ ॥ अयं च पार्थिवः किं वा बालानामपि हास्यकृत् । सोल्लासमुच्छलन्नेवं करोत्यात्मविडम्बनम् ? ॥ ८९४ ॥ विमर्शः प्राह यो मिथ्याभिमानो नृपमन्दिरे । पश्यतस्ते प्रविष्टोऽत्र तस्येतचात ! जृम्भितम् ॥ ८९५ ॥ पिशाचेनेव तेनाऽमी समधिष्ठितविग्रहाः । यतो विडम्बयन्त्येव मास्मान भ्रान्तचेतसः ॥८९६॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽस्य नृपतेरयम् । मिथ्याभिमानो वैरी यः सलोक नाट्य त्यधम् ॥८९७॥ ततश्चैरखमनेनोच्चैः पराभूतस्य वैरिणा । रिपुकम्पनता कीदृगेतस्य जगतीपतेः ? ॥८९८॥ विमर्शो ऽप्यम्यधात्तेय न भावरिपुकम्पनः । बहिर्वैरिषु शूरत्वादेयं किन्तु तथोच्यते ॥८९९॥ बहिर्वैरिषु शूरोऽपि भवत्यत्र न कश्चन । विना ज्ञानमसम्मूढमन्तरवैरिणः ॥ ९०० ॥ अयं तु भूपतिर्ज्ञानलेशेनापि विवर्जितः । इत्थं

१ नैव किन्तु क० ख० ग० घ० ।

मिथ्याभिमानेनातुच्छं वत्स ! विडम्ब्यते ॥ ९०१ ॥ एवं च यावदाख्याति विमर्शो बुद्धिजन्मने । तावद्राज-
कुलद्वारे नरौ द्वौ समुपेयतुः ॥९०२॥ तौ वीक्ष्य प्राह जामेयः काविमौ माम ! पूरुषौ [1] । स प्राह मतिमोहेन युक्तः
शोकोऽयमागतः ॥ ९०३ ॥ अत्रान्तरे च करुणपूत्कारारावदुःश्रवः । समुच्छलाम सहसा तुमुलः सूतिकागृहे
॥ ९०४ ॥ तं निशम्य क्षितीशोऽथ निषिद्धनिखिलोत्सवः । यावत्तिष्ठति संभ्रान्तः किमेतदिति चिन्तयन् ॥९०५॥
हाहारवं प्रकुर्वाणाः सम्भ्रमोद्भ्रान्तलोचनाः । चेट्यः सत्वरमागत्य तावत्तस्मै न्यवेदयत् ॥९०६॥ युग्मम्॥ त्रायस्व
देव । त्रायस्व कुमारो भग्नलोचनः । जज्ञे कण्ठगतप्राणस्ततो धावत धावत ॥ ९०७ ॥ ततो वज्राहत इवाभव-
द्राजा तथाप्यसौ । सत्त्वमालम्ब्य सपरिच्छदोऽगात्सूतिकागृहे ॥ ९०८ ॥ स्वाङ्गतेजोदुरालोकं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
तत्र कण्ठगतप्राणं दारकं तं ददर्श च ॥ ९०९ ॥ ततो वैद्यान्समाहूय नृपः पप्रच्छ किन्त्विति । तेऽप्याख्यन्देव !
जज्ञे स कुमारस्य महागदः ॥ ९१० ॥ येन नो मन्दभाग्यानां पश्यतामेव सत्वरम् । कुमारो ह्रियते लग्नः प्रदीप
इव वायुना ॥ ९११ ॥ नृपः प्रोचेऽथ भो लोकाः! यो जीवयति मत्सुतम्। तस्मै राज्यं प्रयच्छामि पदातिश्च भवा-
म्यहम् ॥ ९१२ ॥ तच्छ्रुत्वा भेषजाद्येषु जनैः सर्वादरेण तैः । प्रयुक्तेष्वपि पञ्चत्वं प्राप भूपसुतः क्षणात् ॥९१३॥
अत्रान्तरे समागत्य सपरिच्छदयोस्तयोः । राजराज्योर्मतिमोहशोकाभ्यां शिश्रिये वपुः ॥ ९१४ ॥ ततो हा जात!
हा जात ! हताः स इति भाषिणौ । तौ मूर्च्छामापतुर्दुःखात्प्राणैर्भूपस्त्वमुच्यत ॥ ९१५ ॥ ततो हाहारवारा-

१ द्वार नरौ ग० । २ एतत्पद्यं क० ख० ग० घ० प्रतिषु नास्ति ।

ततः स चिन्तयामास भूपतिर्निजचेतसि ॥ ८८६ ॥ अहो ! कृतार्थो जातोऽहमहो ! मम कुलोन्नतिः । अहो ! मे भाग्यसंपत्तिरहो कल्याणसंहतिः ॥८८७॥ अहो ! राज्यमहो ! सौख्यमहो ! सिद्धं समीहितम् । यदपुत्रस्य मेऽद्या भूत्पुत्रोऽयं कुलनन्दनः ॥८८८। युग्मम् ॥ एवं स चिन्तयंश्चित्ते विपर्यासितमानसः । न माति देहे न गेहे न पुरे न जगत्यपि ॥८८९॥ निवेदिकायै तस्याथ स तस्यै पारितोषिकम् । नगरे कारयामास सुतजन्ममहोत्सवम् ॥८९०॥ तस्मिन्महोत्सवे चाथमाने वर्द्धनके मुदा । स्वयमूर्द्ध्वभुजोऽनृत्यन्नृपतिः सपरिच्छदः ॥ ८९१ ॥ दृष्ट्वा वर्द्धनकं तत्र नृत्यन्तं तं च भूपतिम् । धामेयो मातुलं प्रोचे कौतुकोत्तानलोचनः ॥ ८९२ ॥ नरा नार्यश्च मामैते भूषिकाकार मालिनः । किमेवं सेवयन्ति स्वं रटनोच्छलनादिभिः ॥ ८९३ ॥ अयं च पार्थिवः किं वा बालानामपि हास्यकृत् । सोत्साहमुच्चकैरेवं करोत्यात्मविडम्बनम् ! ॥ ८९४ ॥ विमर्शः प्राह यो मिथ्याभिमानो नृपमन्दिरे । प्रविष्टोऽत्र तस्यैतचात ! जृम्भितम् ॥ ८९५ ॥ पिशाचेनेव तेनाऽमी समधिष्ठितविग्रहाः । यतो विडम्बयन्त्येवमात्मानं भ्रान्तचेतसः ॥८९६॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽस्य नृपतेरयम् । मिथ्याभिमानो वैरी यः सलोक नाटयत्यहम् ॥८९७॥ ततमेतमनेनोच्चैः परामूतस्य वैरिणा । रिपुकम्पनता कीदृगेतस्य जगतीपतेः ! ॥८९८॥ विमर्शोऽप्यभ्यधात्पेप न भावरिपुकम्पनः । बहिर्वैरिषु शूरत्वादेवं किन्तु तथोच्यते ॥८९९॥ बहिर्वैरिषु शूरोऽपि जगत्यत्र न कश्चन । विना ज्ञानमसम्भूष्णुर्मेतमान्तरवैरिणः ॥ ९०० ॥ अयं तु भूपतिर्ज्ञानलेशेनापि विवर्जितः । एवं

१ चैव किञ्च क० स० ग० प० ।

मिथ्याभिमानेनातुच्छं वत्स ! विडम्ब्यते ॥ ९०१ ॥ एवं च यावदाख्याति विमर्शो बुद्धिजन्मने । तावद्राज-
कुलद्वारे नरौ द्वौ समुपेयतुः ॥९०२॥ तौ वीक्ष्य प्राह जामेयः काविमौ माम ! पूरुषौ ?। स प्राह मतिमोहेन युक्तः
शोकोऽयमागतः ॥ ९०३ ॥ अत्रान्तरे च करुणपूत्काराराावदुःश्रवः । समुल्ललास सहसा तुमुलः सूतिकागृहे
॥ ९०४ ॥ तं निशम्य क्षितीशोऽथ निषिद्धनिखिलोत्सवः । यावत्तिष्ठति संभ्रान्तः किमेतदिति चिन्तयन् ॥९०५॥
हाहारवं प्रकुर्वाणाः सम्भ्रमोद्भ्रान्तलोचनाः । चेट्यः सत्वरमागत्य तावत्तस्मै न्यवेदयत् ॥९०६॥ युग्मम्॥ त्रायस्व
देव ! त्रायस्व कुमारो मग्नलोचनः । जज्ञे कण्ठगतप्राणस्ततो धावत धावत ॥ ९०७ ॥ ततो वज्राहत इवाभव-
द्राजा तथाप्यसौ । सत्त्वमालम्ब्य सपरिच्छदोऽगात्सूतिकागृहे ॥ ९०८ ॥ स्वाङ्गतेजोदुरालोकं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
तत्र कण्ठगतप्राणं दारकं तं ददर्श च ॥ ९०९ ॥ ततो वैद्यान्समाहूय नृपः पप्रच्छ किन्त्विति । तेऽप्याख्यन्देव !
जज्ञे स कुमारस्य महागदः ॥ ९१० ॥ येन नो मन्दभाग्यानां पश्यतामेव सत्वरम् । कुमारो ह्रियते लग्नः प्रदीप
इव वायुना ॥ ९११ ॥ नृपः प्रोचेऽथ भो लोकाः! यो जीवयति मत्सुतम्। तस्मै राज्यं प्रयच्छामि पदातिश्च भवा-
म्यहम् ॥ ९१२ ॥ तच्छ्रुत्वा भेषजाद्येषु जनैः सर्वादरेण तैः । प्रयुक्तेष्वपि पञ्चत्वं प्राप भूपसुतः क्षणात् ॥९१३॥
अत्रान्तरे समागत्य सपरिच्छदयोस्तयोः । राजराज्योर्मतिमोहशोकाभ्यां शिश्रिये वपुः ॥ ९१४ ॥ ततो हा जात!
हा जात ! हताः स इति भाषिणौ । तौ मूर्च्छामापतुर्दुःखात्प्राणैर्भूपस्त्वमुच्यत ॥ ९१५ ॥ ततो हाहारवारा-

---

१ द्वार नरौ ग० । २ एतत्पद्यं क० ख० ग० घ० प्रतिषु नास्ति ।

टिशीर्पोरस्वारभैरवः । महाक्रन्दरवो जज्ञे नृपां स्त्रीणां च सर्वतः ॥११६॥ आक्रन्दन्त्यो छुलस्केशाः स्वाधावैर्भग्न कङ्कणाः । सुठद्भ महीपीठे रिपुकम्पनयोषितः ॥११७॥ दृष्ट्वेदम् प्रुकिसः प्राह किमेतैः पूर्वनर्तनम् । हित्वा लोकैः यथान्साम ! प्रारेभे नर्तनान्तरम् ॥ ११८ ॥ विमर्शः प्राह यौ शोकमतिमोहौ त्वयाऽनघ ! । दृष्टौ विदन्तौ सौधेऽत्र सपोरेतद्विजृम्भितम् ॥११९॥ आस्थात च मया तुभ्य यदेते पापदेहिनः । स्वतन्त्रा नैव कुर्वन्ति कर्म्म किञ्चन जातु चित् ॥१२०॥ किन्त्वान्तरजना एते कारयन्ति यथा यथा । सुन्दरासुन्दरं कर्म्म कुर्वन्त्येते तथा तथा ॥१२१॥ ततो मिथ्याभिमानेन तयैते नाटिताः पुरा । इत्थमास्था पुनः सम्प्रस्थाना चास्तपस्विनः ॥ १२२ ॥ प्रकर्षः प्राह किं माम ! विरुद्धमिदमीक्षसम् । अत्रैव मन्दिरे राज्ञः किञ्चान्यत्रापि विद्यते ? ॥ १२३ ॥ विमर्शः प्राह निःशेष ममपक्रमिदं पुरम् । भद्रकमीदृशैः प्रायो विरुद्धैः संविधानकैः ॥ १२४ ॥ ततश्च सांप्रतं वत्स ! विपमारुह्य डिण्डिमम् । स्ववनस्कन्धमारूढं कस्माक्रन्दमीपणम् ॥ १२५ ॥ न निर्गच्छत्ययो यावन्मृतकं नृपमन्दिरात् । तावदन्यत्र गच्छावो न युक्तं द्रष्टुमीदृशम् ॥ १२६ ॥ युग्मम् ॥ भवत्येवमिति प्रोक्ते प्रकर्षेणाथ मातुलः । सार्द्धं तेनाऽऽपणमेभ्यो ययौ निर्गत्य सौधतः ॥ १२७ ॥ अत्रान्तरे विधिरवेव पराधु(०सु)रिपुकम्पनम् । स्नानार्थं पथि माम्मोधौ निस्तेजाः प्रययौ रविः ॥ १२८ ॥ अथा चकारसंहारिदीप्रदीपमनोरमे । प्रदोषे प्रसुते कश्चिमिविष्टो लीलयाऽऽपणे ॥ १२९ ॥ पुरस्सररत्नराशीनामुद्योतैर्योतिताऽऽपणः । सेव्यमानो वणिक्पुत्रैरिभ्यस्तास्पामदृश्यत ॥ १३० ॥ युग्मम् ॥ त वीक्ष्य स्वसभूः प्राह किमसौ माम ! धानिकः । दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्वरत्नानि हृष्टः स्तब्धश्च

१ ०न्धः मचाचरे स० ।

जायते ? ॥ ९३१ ॥ किं वा निर्मलनेत्रोऽपि मन्दमुन्मूर्विलोकयते । किं वा बाधिर्यहीनोऽपि न शृणोत्यर्थिनां वचः
॥९३२॥ विमर्शोऽभिदधे मिथ्याभिमानस्य वयस्यकः । धनगर्वोऽस्ति तेनाधिष्ठितोऽयमिति चेष्टते ॥९३३॥ प्रकर्षो
व्याहरन् माम ! दृष्टो यः पञ्चमः[1] पुरा । रागकेशरिडिम्भेषु सविधेऽस्य स दृश्यते ॥ ९३४ ॥ विमर्शोऽभिदधे सत्य-
मेतदेष स एव हि । तदा चाभ्यर्णमिभ्यस्य पुरुषः कश्चिदाययौ ॥ ९३५ ॥ याचिताऽऽसादितैकान्तस्ततस्तस्येश्वर-
स्य सः । अनर्घ्यरत्नघटितं मुकुटं समदर्शयत् ॥९३६॥ तद् दृष्ट्वा पुरुषं तं चोपलक्ष्यैष व्यचिन्तयत् । अयं हेमपुरा-
धीशविभीषणमहीपतेः ॥९३७॥ पदातिर्दुष्टशीलश्चानेनेदं तद् ध्रुवं हृतम् । तदा चास्य प्रविष्टोऽङ्गे रागकेशरिनन्दनः
॥ ९३८ ॥ युग्मम् ॥ तत्प्रभावाच्च भूयोऽपि महेभ्यः स व्यचिन्तयत् । हृतं भवतु नामैतन्मया ग्राह्यं तथापि हि
॥ ९३९ ॥ ध्यात्वेत्यस्योचितं मूल्यं दत्त्वेभ्यो मौलिमग्रहीत् । नष्टेऽस्मिन्नागमत् तत्र विभीषणबलं ततः ॥ ९४० ॥
कुतश्चिद्विक्रयोदन्तं प्राप्याथ बलपूरुषैः । स सलोप्त्रो वणिग्दध्रे लूषितौ च गृहाऽऽपणौ ॥९४१ ॥ ते च सर्वे वणि-
क्पुत्राः स्वजनाश्चापरेऽपि हि । नेशुर्दिशोदिशं भीताः को वा स्यादापदि स्थिरः ? ॥९४२॥ वाणिजः स पुनर्बद्ध्वा
खरारूढः सलोप्त्रकः । स्वपुराभिमुखं निन्ये दीनस्तैर्नृपपूरुषैः ॥ ९४३ ॥ नीयमानं तथा तं च विलोक्य प्राह
बुद्धिभूः । किमिदं सहसा माम ! बभूवाद्भुतमीदृशम् ? ॥९४४॥ यदेतस्य क्षणादेव वाणिजस्य न तद्धनम् । न ते
लोका न सा लीला न स गर्वो न तन्महः ॥ ९४५ ॥ विमर्शोऽवददीदृश्यो भवन्त्येवापदोऽङ्गिनाम् । धनगर्वेण

१ अनन्तानुबन्धिलोभः ।

लोभेन चास्यन्त विश्वितात्मनाम् ॥ ९४६ ॥ किञ्चास्य वणिजस्तात ! तावद् दुर्नयदोषतः । इदमित्थं हृत वित्तमेवैर्नृपतिपूरुषैः ॥ ९४७ ॥ इदान्येषां पुनः सौम्य ! चिरं न्यायवतामपि । पात्येन राजदायादस्तेनाग्न्यापातकादिभिः ॥ ९४८ ॥ अत एवोप्यसंतप्तमितञ्जगतश्चमले । यथं लोभं च न दुर्धे कुर्वन्ति स्वच्छबुद्धयः ॥ ९४९ ॥ वपन्ति किन्तु धर्माग्रक्षेत्रेष्वेते निरन्तरम् । चित्तबीजं नयोपात्तं निःश्रेयसफलामिनः ॥ ९५० ॥ वित्तस्यास्य ततो वत्स ! दानमेवोत्तमा गतिः । भोगस्तु मध्यमा प्रोक्ता नाशः सर्वाधमा पुनः ॥ ९५१ ॥ अत्रान्तरे नरः कश्चिद् युवा मर्कटपीवरः । दुर्वत्तो मलिनस्तारुण्यो दृष्टो विपणिवर्त्मनि ॥ ९५२ ॥ आपणे रूपकैः कैश्चित्सोऽथ क्रमात् मोदकान् । गन्धान् पुष्पाणि ताम्बूलं वस्त्रयुगं तथा ॥ ९५३ ॥ वासभार्यां ततो वाप्यां स्नात्वा भुक्त्वा स मोदकान् । वाससी वपुषि चैल्यंधात्त पुष्पाणि मूर्धनि ॥ ९५४ ॥ ततस्ताम्बूलमादाय परिधाय च वाससी । प्रतस्थे लीलया क्वापि पश्यतोऽस्य पुनः पुनः ॥ ९५५ ॥ तं विलोक्याथ जामेयः प्रोचे मातुल ! दुर्भेय कः ? । इत्थं विकारबहुलः सांप्रतं प्रस्थितः क्व सः ? ॥ ९५६ ॥ विमर्शोऽभ्यागत् तस्य ! श्रेयस्ताम्बोऽज्ञैव पत्तने । सप्तद्वपस्येभ्यस्य सुतोऽयं रमणामिषः ॥ ९५७ ॥ इहास्ति पुरेऽत्रैव वेश्या मदनमञ्जरी । तस्याश्च कुम्भकलिका दुहिता नवयौवना ॥ ९५८ ॥ तस्यामासक्तचित्तेनामुना धनकमन्दिरम् । रिक्तं चक्रे घनाधीशधामोपममपि द्रुतम् ॥ ९५९ ॥ ततो वित्तविहीनत्वात् वेश्मयाम्बुभिर्वस्तया । परकर्मकरो दीनः समभूदयमीदृशः ॥ ९६० ॥ उपार्ज्य कथमप्येष कतिचिद्रूपकान्पुनः । अथमत्राधुना वत्स ! विपणि-

श्रेणिमाययौ ॥ ९६१ ॥ ततः परं यदेतेन चक्रे दृष्टं त्वयापि तत् । रन्तुं तां कुन्दकलिकां संप्रति प्रस्थितः
पुनः ॥ ९६२ ॥ अत्रान्तरे सतूणीरमाकृष्टविशिखं नरम् । कश्चित्सानुचरं वीक्ष्य संभ्रान्तः प्राह बुद्धिजः
॥ ९६३ ॥ हा माम ! माम ! पश्येमं शरेण रमणं नरः । कश्चिदेष निहन्त्युच्चैस्तदेनं ननु वारय ॥ ९६४ ॥
विमर्शोऽभिदधे सौम्य ! स एष मकरध्वजः । सार्द्धं भयेन शर्वर्यां निर्यातो वीरचर्यया ॥ ९६५ ॥ अनेनैव
वराकोऽयं नीयते तद्गृहं ततः । किं वारणेन ? यच्चैषोऽनुभवेत् तद् विलोकय ॥ ९६६ ॥ एवमस्त्विति तेनोक्ते
तौ गतौ गणिकागृहे । निविष्टा कुन्दकलिका गृहद्वारे च वीक्षिता ॥ ९६७ ॥ तां विलोक्य विमर्शोऽथ विदधे
मुखमोटनम् । निष्ठीवनं शिरःकम्पं नासिकाच्छादनं तथा ॥ ९६८ ॥ ततो हा ! हेति जल्पन्तमुद्विग्नं च विलोक्य
तम् । प्रकर्षः प्राह किं माम ! त्वं जुगुप्ससि ? सोऽवदत् ॥ ९६९ ॥ वस्त्रालङ्कारसंछन्नां पश्यस्यशुचिकोष्ठिकाम् ।
किमिमां निकटे न त्वं येनैवं वत्स ! पृच्छसि ? ॥ ९७० ॥ निश्छिद्रापि भवेत् काचिदशुचेरपि कोष्ठिका । इयं तु
नवभिश्छिद्रैः क्षरत्यविरतं मलम् ॥ ९७१ ॥ तदहं क्षणमप्येकं नात्रावस्थातुमुत्सहे । तुभ्यं शपे शिरोऽमुष्या गन्धेन
मम दुष्यति ॥९७२॥ प्रकर्षो व्याहरन्माम ! सत्यमेतन्ममापि यत् । नासिकाव्यापिगन्धेनामुनाभूदरतिस्तथा ॥९७३॥
ततोऽपसृत्य तौ दूरदेशेऽस्थातामथागमत् । रमणस्तत्र तं चानु सभयो मकरध्वजः ॥ ९७४ ॥ प्रत्युज्जीवितवत्
प्राप्तनिधिवत् लब्धराज्यवत् । दृष्ट्वाथ कुन्दकलिकामवाप रमणो मुदम् ॥९७५॥ ततो मदनमञ्जर्या तत्सकिञ्चनता-

१ वदामि ।

पिता। तंमिता कुन्दकलिका समपश्यत् कृतस्मिता ॥ १७६ ॥ तदा च लब्धावसरः शरेण मकरध्वजः। आकर्णं धनुराकृष्य ताडयामास तं हृदि ॥ १७७ ॥ ततस्तां रमणः कण्ठे गृहीत्वाभ्यन्तरेऽविशत्। तेनार्पितं च सर्वस्व मादात् मदनमञ्जरी ॥ १७८ ॥ तमूचे च क्व साधु स्थपाऽसि यदिहागतः। यत्तदा कुन्दकलिका मत्ता स्वापि सद्यत्सुका ॥ १७९ ॥ किन्तु [1]भीममहीपालसुतश्चण्डाभिधोऽधुना। वर्ततेऽत्राभिगामिसुस्तत् स्व लीनो भव क्षणम् ॥ १८० ॥ तदैव चायते द्वारि चण्डोऽभूत् तुमुलो महान्। तं चाकर्ण्य भयोऽत्यन्तं भेजे रमणविग्रहम् ॥ १८१ ॥ सोऽथ चण्डः प्रविष्टोऽन्तः कम्पमानशरीरकम्। ददर्श रमण रोषात् क्षुरिकामाचकर्ष च ॥ १८२ ॥ त वीक्ष्य रमण स्तस्य न्यपतत् पदयोर्भिया। सुभग रक्ष रक्षेति मुखेऽक्षेप्सीत् कराङ्गुलीः ॥१८३॥ चण्डस्याप्यथ संजज्ञे तस्योपरि मनाक् कृपा। क्रोधावेशवशात् किन्तु तस्य धम्मिल्लमच्छिनत् ॥ १८४ ॥ गण्डोष्ठनासिकाकर्णं छित्त्वाकृष्यैकमपि च। मथास्य पार्ष्णिपातैश्च दन्तांस्त्व चाधिपत्रहिः ॥ १८५ ॥ कुट्टिनीकुन्दकलिके प्रोचैरहसतां च ते। पेषछैर्वचनै मन्ध रञ्जयामासतुश्च तम् ॥ १८६ ॥ रमणोऽपि विनिर्गच्छन् कुत्सितश्चापथिमिः। अनुभूय महद् दुःखं प्राप कष्टेन पत्तनम् ॥ १८७ ॥ प्रकर्षोऽपायवद्दहो! मकरध्वजविक्रमः। अहो! भयविलसितमहो! वेश्याप्रतारणम् ॥ १८८ ॥ साधूनां कष्मास्थानमितरणां तु हास्यकृत्। अहो! बभूव चरितं रमणस्यास्य कीदृशम् ॥ १८९ ॥ विमर्शोऽभिदधे भद्र! गणिकासक्तचेतसाम्। भवन्त्येवंविधान्येव चरितानि शरीरिणाम् ॥ १९० ॥ लोकेऽ

१ भूमिम० क० स० म०। २ वर्षेष ता०।

तानता शाठ्यं दौःशील्यं चलचित्तता । गणिकानां हि पापानां दोषाः स्वाभाविका अमी ॥ ९९१ ॥ तस्मादेतासु
वेश्यासु ये मूढाः सुखकाङ्क्षिणः । रज्यन्ते ते भवन्त्येव विविधानर्थभाजनम् ॥ ९९२ ॥ सत्यमेतदिति प्रोक्ते प्रकर्ष-
णाथ तौ क्वचित् । रात्रिशेषं निराबाधे निन्यतुर्देवतागृहे ॥ ९९३ ॥ अथोदिते सहस्रांशौ विमर्शः प्राह बुद्धिजम् ।
कौतुकं ते महद्भद्र ! भवचक्रं च विस्तृतम् ॥ ९९४ ॥ स्तोकः कालावधेः शेषो द्रश्यं च बहु तिष्ठति । ततो न
शक्यते कर्तुमेकैकस्थानदर्शनम् ॥ ९९५ ॥ तदिदं वचनं तात ! मामकीनं समाचर । द्रागेव पूर्यते येन दिदृक्षा-
कौतुकं तव ॥ ९९६ ॥ य एष वीक्ष्यते तुङ्गः पुरः स्फटिकनिर्मलः । महाप्रभावो विस्तीर्णो विवेको नाम पर्वतः
॥ ९९७ ॥ आरूढैर्दृश्यते भद्र ! समस्तमिह पर्वते । इदं विविधवृत्तान्तं भवचक्रं महापुरम् ॥ ९९८ ॥ तदत्रारुह्यतां
तात ! निपुणं च विलोक्यताम् । यच्च न ज्ञायते सम्यक् पृच्छ्यतामेष तज्जनः ॥ ९९९ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते
भागिनेयेन तावथ । गिरौ प्रमुदितौ तत्र समारुरुहतुः क्षणात् ॥ १००० ॥ स्वस्रीयोऽथाब्रवीन्माम ! रुचिरोऽयं महा-
गिरिः । दृश्यते सर्वतः सर्वं भवचक्रं मयाधुना ॥ १००१ ॥ किन्तु देवकुले दूरे नग्नश्चिन्तातुरः कृशः । वेष्टितः पुरुषैः
क्रूरैः सेटिकाशुभ्रहस्तकः ॥ १००२ ॥ नंष्टुकामो दिगालोकी दीनो मुत्कलकुन्तलः । मान्त्रिकात्तपिशाचाभः कः
पुमानेष वीक्ष्यते ? ॥ १००३ ॥ युग्मम् ॥ मातुलोऽभिदधे भद्र ! कुवेरधनिनोऽङ्गजः । धनेश्वराख्यः स्वगुणैस्त्वेष
ख्यातः कपोतकः ॥ १००४ ॥ आबाल्यादमुना द्यूतव्यसनासक्तचेतसा । समग्रापि पितुर्लक्ष्मीः क्षयं निन्ये शनैः शनैः
॥ १००५ ॥ ततो द्यूतकृते स्तेयं कुर्वन् विनटितो मुहुः । केवलं मान्यपुत्रत्वाद्राज्ञाऽसौ न विनाशितः ॥ १००६ ॥

रात्राथय तु दुर्बुद्धिः परिधानेऽपि हारिते । पूर्वैरेभिरय दीव्यन् विदधे मौलिना ग्लहम् ॥ १००७ ॥ ततोऽयं कितवैः पापैरेभिरादित्सुभिः शिरः । वराकः स्वेच्छया यस्तु ! संप्रस्येषं विडम्ब्यते ॥ १००८ ॥ एवं च यावता स्थाति विमर्शो मुदित मने । मस्तकं कितवैस्तस्य तावत् त्रोटितमेव तैः ॥ १००९ ॥ अथ जातकपोत्कर्षः प्रकर्षः समभाषत । हा माम ! पश्य संसक्ते वराकस्यास्य कीदृशम् ॥ १०१० ॥ जगाद मातुलस्तात ! घृतनिस्पृशयेत धाम् । मयस्येवाक्षिनामीदृक् किमत्र ननु कौतुकम् ॥१०११॥ तावदेव यतः सत्यं साधुता गौरवं धनम् । जीवित चापि यावन्नो जनो द्यूतेन दीव्यति ॥ १०१२ ॥ अत्रान्तरे दयारूढप्रकीर्णनिश्चितायुधम् । क्षुधित तृषित भ्रान्तमरण्ये वीक्ष्य कञ्चन ॥१०१३॥ प्रकर्षः प्राह को माम ! पापोऽय जन्तुघातकः । सम्मुक पुरतः कृत्वा प्रधावस्यथ सोऽवदत् ॥१०१४॥ युग्मम् ॥ अत्रैव मानवावासे विषयेऽप्यान्तरे पुरम् । ललित नाम तस्याय ललनो नाम पार्थिवः ॥१०१५॥ अयं च दुर्नयः क्रूरो मांसस्वादनलालसः । पापर्द्धिव्यसनासक्तः प्रकृत्यैवाभवत्सदा ॥१०१६॥ ततश्च राज्यकार्याणि सकलान्यखिलान्यपि । निघ्नन् जन्तूनरण्येऽसौ वने तस्थौ दिवानिशम् ॥ १०१७ ॥ नामाग्यो राज्ययोग्योऽयमिति ध्यात्वाथ मन्त्रिभिः । राज्यादेव बहिश्चक्रे तत्र संस्थाप्य[1] तत्सुतम् ॥ १०१८ ॥ अयं तु भ्रष्टराज्योऽपि कुर्वाणो मृगयां वने । मांसाशन च निःशूकस्तत्रैवास्ते निरन्तरम् ॥१०१९॥ इतस्तदा स ललनो धावमानोऽनुजम्बुकम् । पपातैकत्र गर्तायां न्यस्तशूलः सविक्रमः ॥ १०२० ॥ पृथिवीविक्षेपवेदोऽप क्षुपमानो रसेन च । अत्रापः स रटभुवस्तत्रैव

१ यथम् ।

निधनं ययौ ॥ १०२१ ॥ बुद्धिभूरब्रवीदार्य ! संप्रत्येव दुरात्मना । ललनेनामुना प्राप्तं पापर्द्धिव्यसनात् फलम् ॥ १०२२ ॥ विमर्शः प्राह न फलं पुष्पं जानीहि किन्त्वदः । फलं तु नरके घोराः संप्राप्स्यत्येष वेदनाः ॥१०२३॥ अत्ति मांसं हि जन्तूनां हतानां यः परैरपि । सोऽप्यत्राप्तबहुक्लेशो नरके प्रेत्य गच्छति ॥ १०२४ ॥ स्फुरन्तं जन्तुसंघातं यस्तु पापः स्वपाणिना । हत्वा तन्मांसमश्नाति किं पुनस्तस्य वक्ष्यते ? ॥१०२५॥ अत्रान्तरे पात्यमानः क्रूरैरेकत्र पूरुषैः । तप्तं ताम्रं नरः कश्चित्प्रकर्षेण निरैक्ष्यत ॥१०२६॥ हा ! माम ! किं पुमानेभिर्निर्घृणैरेष पीड्यते ? । इति तेनाथ गदितः प्रोचे बुद्धिसहोदरः ॥१०२७॥ अयं तावत्पुमान् वत्स ! मानवावासमध्यगे । वास्तव्यश्चणकपुरे सार्थेशः सुमुखाभिधः ॥ १०२८ ॥ अयं च बाल्यादारभ्य वाक्पारुष्यव्यसन्यभूत् । ततो दुर्मुख इत्याख्या लोकेऽस्य प्रथिता गुणैः ॥ १०२९ ॥ इतश्च नगरस्यास्य स्वामी तीव्राभिधो नृपः । संनह्य प्रययौ क्वापि वैरिणां विजिगीषया ॥ १०३० ॥ गते तस्मिंश्च भक्तस्त्रीदेशराजकथाप्रियः । प्रारेभे दुर्मुखो राजकथां राजसदस्यसौ ॥ १०३१ ॥ शक्तैस्तैः शत्रुभिर्नूनमेष राजा विजेष्यते । ततः समेत्य ते ह्येतल्लुण्टिष्यन्त्यखिलं पुरम् ॥ १०३२ ॥ ततो लोकाः ! पलायध्वं तच्छ्रुत्वा ते तथा व्यधुः । नृपोऽथागाद् द्विषो जित्वाऽपश्यच्च पुरमुद्वसम् ॥१०३३॥ किमेतदिति पृष्टोऽथ भूभुजा कोऽप्यचीकथत् । तं[1] दुर्मुखव्यतिकरं तस्मै भूपोऽकुपत् ततः ॥१०३४॥ आवासिते च नगरे प्रख्याप्याऽऽगो जनेषु तत् । नरेन्द्रो दुर्मुखस्यास्य दण्डमेनमकारयत् ॥१०३५॥ जगाद बुद्धिजन्माऽथ पश्य माम ! तपस्व्यसौ ।

---

१ दुर्मुखस्य व्य० ख० ।

दा । दुर्गापनमात्रेण कर्तुं संग्राम मीश्वरम् ॥ १०३६ ॥ मातुलोऽभिधत्ते भद्र । विकथासक्तचेतसाम् । अनियन्त्रित
तुण्डानां किमदेयम् दुरात्मनाम् ? ॥ १०३७ ॥ इयं हि मुत्कला पापी जनसंतापकारिणी । अत्रामुत्र च जन्तूनां
विधत्ते क्लेशसन्ततिम् ॥ १०३८ ॥ तथापद् दुर्मुखस्यास्य दुर्गापाध्यसनास्फलम् । इदमीदृग् मभूवात्र परलोके च
दुर्गतिः ॥१०३९॥ अत्रान्तरे समालोक्य कमप्येक सित नरम् । प्रकर्षो मातुल प्रोचे क एष ननु नीयते ? ॥१०४०॥
तेनोक्त वत्स । दर्पोऽयं रागकेसरिसैनिकः । मानधाराधरास्तम्यधारावसथमभिगृहे ॥ १०४१ ॥ अस्मिंश्च
धनदस्यागमनेऽसौ प्रवेक्ष्यति । ततः प्रविष्टमात्रोऽपि पश्य किं किं करिष्यति ? ॥१०४२॥ नीयमाने प्रकर्षेऽथ
धनदपेन मामकः । मिलितः संप्रविष्टश्च दर्पस्तुल्यदेवयोः ॥ १०४३ ॥ ततः स वासवस्तोपाधिरेकेण निखोच्छ्रित ।
अकारयद् मर्दनकं समेतः स्वजनैर्निजैः ॥ १०४४ ॥ प्रकर्षोऽपावदन्माम । किमिदं दर्पविस्मितम् ? । विमर्शो व्या
हरत् वत्स । साधु साधु विनिश्चितम् ॥ १०४५ ॥ तदा च वासवागारद्वारि नीयमानोऽसितं नरम् । प्रकर्षो मातुल
प्राह क एष पुरुषो ननु ? ॥१०४६॥ विमर्शः प्राह वत्सैष शोकमित्र सुतात्मजः । विषादाख्योऽध्वगेऽमुष्मिन् प्रविष्टेऽत्र
प्रवेक्ष्यति ॥ १०४७ ॥ सोऽयं पान्थः प्रविश्यासु किञ्चित्कर्णे न्यवेदयत् । वासवस्य ततोऽविशत् विषादस्तच्छ-
रीरके ॥ १०४८ ॥ ततः स पतितो भूमौ दुर्ममेस्य तदाभितैः । वाय्वादिना कृतः स्वस्थो विलापमकरोदिति

१ एतस्मिन् म० स०, तस्मिन्नय० ग० । २ वपत् क० ता०, वदत् क० ग० । ३ च प० क० स० ग० प०
४ प्रविश्य० ता० ।

कावस्था तव जातेयमीदृशी मे कुकर्मणा १ ॥१०५०॥
॥१०४९॥ हा! वत्स! सुकुमाराङ्ग! हा! विनीतैकधूर्वह!। कावस्था तव जातेयमीदृशी मे कुकर्मणा १ ॥१०५०॥
॥१०४९॥ हा! वत्स! सुकुमाराङ्ग! हा! विनीतैकधूर्वह! । हताशः किं करोम्यहम् ? ॥ १०५१ ॥ तस्मिंश्च
वारितोऽपि तदा दैवप्रेरितस्त्वं विनिर्गतः । एवं व्यवस्थिते वत्स! हताशः किं करोम्यहम् ? ॥ १०५१ ॥ तस्मिंश्च
वारितोऽपि तदा दैवप्रेरितस्त्वं विनिर्गतः । सर्वे विलापं चक्रिरेतराम् ॥ १०५२ ॥ ततश्च क्षणमात्रेण
विलपत्येवं विषादाश्लिष्टविग्रहाः । अन्येऽपि स्वजनाः सर्वे विलापं चक्रिरेतराम् ॥ १०५२ ॥ ततश्च क्षणमात्रेण
विलीनाखिलसंमदम् । विलपत्स्वजनं दीनं जज्ञे वासववेश्म तत् ॥१०५३॥ तादृशं तच्च संवीक्ष्य प्रकर्षः प्राह मातु-
लम् । किमिदं माम! संजज्ञे गृहेऽत्र प्रेक्षणान्तरम् ॥१०५४॥ विमर्शः प्राह ते वत्स! पूर्वमेव मयो(यो)च्यत। यदा-
न्तरजनायत्ता बहिरङ्गा इमे जनाः ॥१०५५॥ ततश्चैतद्गृहं पूर्वं तथा हर्षेण नाटितम् । अधुना नाटयत्येवं विषादोऽयं
दुराशयः॥१०५६॥ प्रकर्षः प्राह किं माम! कर्णाभ्यर्णे निवेदितम्। अनेन वासवस्यास्य पुरुषेणाश सोऽनदत् ॥१०५७॥
अस्त्यस्य वणिजो वत्स! वर्द्धनो नाम वल्लभः। एक एव सुतो रूपविनयादिगुणास्पदम् ॥ १०५८ ॥ पित्राथ
वार्यमाणोऽपि द्रविणार्जनकाम्यया । स विधाय महासार्थं गतो देशान्तरे पुरा ॥ १०५९॥ तत्रोपार्ज्य धनं प्राज्य-
मागच्छन् स्वपुरेऽथ सः । कादम्बर्यां महाटव्यां जगृहे वत्स! तस्करैः ॥ १०६० ॥ लूपित्वा सार्थसर्वस्वं बन्दी-
श्चादाय भूरिशः । वर्द्धनं तं च चौरास्ते पल्लीमथ निजां ययुः ॥ १०६१ ॥ सार्थेश इति कृत्वा तं वर्द्धनं धनवा-
ञ्छया । क्रूरास्तत्राथ तेऽनेकयातनाभिरपीडयन् ॥ १०६२ ॥ यश्चायं पथिको वत्स! सोऽयं लम्बनकाभिधः ।
पादप्रक्षालकस्तस्य गृहजो दासदारकः ॥ १०६३ ॥ अयं च स्वामिनं दृष्ट्वा तथा तस्करपीडितम् । नंष्ट्वा कथञ्चि-

१ जज्ञे सर्वं वा० ग० ।

वृत्तान्तमिममाख्यातुमाययौ ॥१०६४॥ समाख्याते च वृत्तान्ते यदसौ वासवो वणिक्। चकार सुन्दराकार ! तदे
वच तथापि तत् ॥१०६५॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम ! प्रलापाक्रन्दनादिभिः । किमेतैरसुखत्राण वासवस्य कृत कृतैः ?
॥१०६६॥ विमर्शः प्राह नैवेदं भवेद्यात ! कदापि हि । प्रसूतेतानि कुर्वन्ति तद्दुःखमधिकाधिकम् ॥१०६७॥ तथा-
प्यनिष्टयोगेष्टवियोगादिनिपातनैः । विषादार्ता जना एते कुर्वन्त्येतानि[1] वालिशाः ॥१०६८॥ कुर्वतेऽनिष्टविरहाभीष्ट
योगादिकारणैः । स्मितवर्द्धनकादीनि हर्षोत्पुलकाः पुनः ॥१०६९॥ तदेवं वत्स ! पीड्यन्ते सर्वदा सर्वदेहिनः ।
आभ्यां हर्षविषादाभ्यां भवचक्रनिवासिनः ॥ १०७० ॥ किमत्र कथयिष्यन्ते नगरे पारवर्जिते । कियन्ति तवि
धानानि शून्यग्राहिकया मया ? ॥ १०७१ ॥ तव त्वेतत्स्वरूपस्य विज्ञाने कौतुकं महत् । अतः समासतस्तुभ्यमे
तदाख्यामि सुन्दर ! ॥ १०७२ ॥ विवेकपर्वते तावत् समारूढोऽत्र रूपतः । पश्यसीव पुरं सर्वं गुणतः कथ्यते
पुनः ॥ १०७३ ॥ भूरिभिः परितं तावदवान्तरपुरैः पुरम् । यद्यपीदं तथाप्यत्र मुख्यं पुरचतुष्टयम् ॥ १०७४ ॥
तत्राद्यं मानवावासं द्वितीयं विबुधालयम् । तृतीयं पशुसंस्थानं चतुर्थं पापिपञ्जरम् ॥ १०७५ ॥ तत्राद्ये मानवा
वासे ये वसन्ति शरीरिणः । ते बाध्यन्तेतरामेभिर्महामोहादिभिः सदा ॥ १०७६ ॥ अतश्चैतत्पुरं क्वापि पापिष्ठजन
पूरितम् । क्वचिच्च धर्मयुक्तापि विपरीतविचेष्टितम् ॥ १०७७ ॥ क्वचिदानन्दसंपूर्णं क्वचिच्छोकसमाकुलम् । क्वचि
त्प्रियसंतुष्टं क्वचिदारिद्र्यपीडितम् ॥ १०७८ ॥ क्वचित्कलहसंकीर्णं क्वचित् प्रेमपरालसम् । एवं विचित्रवृत्तान्तं वर्तते

१ कुर्वते तानि ग० ।

द्वितीयं तत्पुनर्भाति नगरं विबुधालयम् । दीप्राभिराभविस्तीर्णप्राज्यपाटक-
वत्स ! सर्वदा ॥१०७९॥ विशेषकम् ॥
संकुलम् ॥ १०८० ॥ विचित्रस्वर्णरत्नौघघटितानेकमन्दिरम् । भासुरालङ्कृताचिन्त्यमाहात्म्यजनसंभृतम् ॥ १०८१ ॥
नानावनसरोरम्यं विषयग्रामबन्धुरम् । जायते न मुदे कस्य सौन्दर्यैकनिकेतनम् ॥ १०८२ ॥ विशेषकम् ॥ तद्धि
भुनक्ति साताख्यो वेद्याख्यनृपतेः पुमान् । तोषात् तस्मै यतः कर्मपरिणामेन तद्ददे ॥ १०८३ ॥ स्वस्त्रीयोऽथा-
ब्रवीदार्य ! महामोहादिभूभुजाम् । किमत्र प्रसरो नास्ति ? येनैतदतिसुन्दरम् ॥१०८४॥ विमर्शोऽभिदधे मैवं [2]मंस्था-
स्त्वं हि कदाचन । प्रभवन्ति विशेषेण यतोऽत्रान्तरभूभुजः ॥ १०८५ ॥ ईर्ष्याशोकमदक्रोधलोभकामभयादिभिः ।
नित्यमाकुलितं वत्स ! पुरं हि विबुधालयम् ॥ १०८६ ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽत्र ननु किं सुखम् ? । [3]किं वेदं
हृष्टचित्तेन भवता माम ! वर्णितम् ? ॥ १०८७ ॥ विमर्शो व्याहरद् वत्स ! न सुखं परमार्थतः । नाप्यत्र सुन्दरं
किञ्चिन्नगरे विबुधालये ॥ १०८८ ॥ केवलं मुग्धबुद्धीनां सत्त्वानां विषयैषिणाम् । अत्रास्था महती तात ! मयेदं
तेन वर्णितम् ॥ १०८९ ॥ अन्यथा सपरीवारमहामोहमहीभुजः । क्व राज्यं ? क्व च लोकानां सुखवार्त्तेति दुर्घटम्
॥१०९०॥ नगरे पशुसंस्थाने तृतीयेऽपि हि ये जनाः । वसन्ति तेऽपि बाध्यन्ते महामोहादिभिर्भृशम् ॥१०९१॥
अत एव जना नित्यं तत्र ते शरणोज्झिताः । क्षुत्तृषावधबन्धोष्णशीतवृष्ट्यादिपीडिताः ॥१०९२॥ कृत्याकृत्यादि-
विज्ञानविकलाः कलुषात्मकाः । वराकाः कथमप्यायुर्गमयन्ति निजं निजम् ॥ १०९३ ॥ युग्मम् ॥ चतुर्थं नगरं

---

१ ०र्वत्स ! न० क० ख० ग० घ० । २ मन्यथास्त्व क० क० ख० ग० घ० । ३ किञ्चेदम् क० ख० ग० घ० ।

पापिपञ्जरं यत्तु कीर्तितम् । भुनक्ति वचसातास्यः पुमान्वेयास्यभूपते ॥१०९४॥ यतस्तस्मै प्रतमेन महामोहेन
दद्दे । अवस्तत्रत्यलोकानां दुःखान्तो नैव लभ्यते ॥ १०९५ ॥ ते प्रसातसमादिष्टैः परमाधार्मिकासुरैः । नित्य
शरस्तप्तैर्हन्यन्ते प्रान्प्रा इव ॥ १०९६ ॥ शूलाग्रभिन्ना मस्यन्ते काकादेस्तस्करा इव । पाच्यन्ते तप्ततान्त्राणि
राजदुर्भाषका इव ॥ १०९७ ॥ तन्तुला इव पच्यन्ते मृज्यन्ते चन(०ण)का इव । दारूणीव विदार्यन्ते निष्पी
ड्यन्ते तिला इव ॥ १०९८ ॥ विशेषकम् ॥ यत्र नास्त्येव तद्दुःखं यदेषां तत्र देहिनाम् । परमाधार्मिकाः क्रूरा
न कुर्वन्ति दिवानिशम् ॥ १०९९ ॥ किंचात्र पाटकाः सप्त तत्राद्ये पाटकत्रये । परमाधार्मिकैरित्य मन्यते दुःख
पद्धतिः ॥११००॥ मिथश्च ते मना दुःखं कुर्वन्स्यापञ्चपाटकम् । भिद्यन्ते केनलैर्बिम्बस्य सप्तमे वज्रकण्टकैः ॥११०१॥
क्षुधापिपासाशीतोष्णभीस्परस्यादि यस्तुनः । दुःखं तेषां पुरे तत्र कस्तद्वक्तुमपीश्वरः ? ॥११०२॥ तदिदं ते समा
ख्यातं भवचक्रमहापुरे । सर्वापरपुरस्यापि मुक्त्य पुरचतुष्टयम् ॥ ११०३ ॥ तस्मादेतानि चत्वारि विज्ञातानि यदि
त्वया । पुराणि विदितं तात ! भवचक्रं ततोऽखिलम् ॥११०४॥ अत्रान्तरे प्रकर्षेण प्रमन्स्यो भवचक्रके । तापस्य इव
दुर्दर्शाः सप्ताऽदृश्यन्त योषितः ॥११०५॥ ताः समालोक्य का एताः ? किंस्वरूपाश्च योषितः ? । इति तेनानुयुक्तो
ऽथ प्रस्यभाषत मातुलः ॥११०६॥ भूपतौ तावदेतासु प्रथमेय जरोच्यते । नित्यं कालपरिणतिसमादेशविधायिनी
॥ ११०७ ॥ इयं हि यौवनाख्यादिपरिवारेण संयुता । वलीपलितखालित्यकम्पादि कुरुतेऽङ्गिनाम् ॥ ११०८ ॥
यौवनरूपामलदर्पलावण्यदशनोपमान् । शीघ्रमाश्यविलासादि निरस्यत्यखिलं तथा ॥११०९॥ दन्तपतनपाश्रिता

नष्टदृष्ट्यादिपाटवाः । अपि पुत्रप्रियादीनां भवन्त्युद्वेगहेतवः ॥ ११९० ॥ द्वितीया तु रुजा नाम योषिदेषा
निगद्यते । आदेशकारिका नित्यं तस्यासातस्य सुन्दर !॥११११॥ ज्वरातीसारकुष्ठादिपरिच्छदसमन्विता । करोत्ये-
पापि दैन्यार्त्तिगतिभङ्गादि देहिनाम् ॥१११२॥ सौन्दर्यं धैर्यमारोग्यं गौरवं विक्रमं त्रपाम् । धृतिस्मृत्यभियोगादि
संहरत्यखिलं पुनः ॥ १११३ ॥ पीडिताश्चानया सत्त्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः । इतस्ततो लुठन्तश्च कूजन्ति विकृत-
स्वरम् ॥ १११४ ॥ तृतीया तु मृतिर्नाम वनितेयं निगद्यते । यः पुरायुर्नृपः प्रोचे तत्क्षयाज्जातसंभवा ॥१११५॥
इयमेकापि वैकृत्यं स्वपनं दीर्घनिद्रया । काष्ठीभावं च दौर्गन्ध्यं क्षणेन तनुतेऽङ्गिनाम् ॥१११६॥ चैतन्योच्छ्वास-
निःश्वासभारतीजीवितादि तु । हन्ति निःशेषमप्येषा हिमानीवाम्बुजव्रजम् ॥ १११७॥ शूरकातरनिःस्वेभ्यादयोऽ-
प्यस्या निदेशतः । भीताः स्वदेहगेहादि त्यक्त्वा यान्ति भवान्तरे ॥ १११८ ॥ तुर्या पुनरियं वत्स ! प्रोक्ता स्त्री
खलताभिधा । मूलभूपालसेनानीपापोदयसमीरिता ॥ १११९ ॥ शाठ्यदौःशील्यवैभाष्यमत्सरादिजनान्विता ।
विधत्ते जन्मिनामेषा मनः पापपरायणम् ॥ ११२० ॥ पुण्यदाक्षिण्यसौजन्योपकारार्जवसंस्तवान् । विश्रम्भप्रीति-
कीर्त्यादि निर्वासयति चाखिलम् ॥ ११२१ ॥ देहिनश्चानयाक्रान्ता परवञ्चनतत्पराः । यल्लोके विदधत्यत्र तन्ना-
ख्यातुमपीश्यते ॥ ११२२ ॥ नार्येषा प्रोच्यते तात ! पञ्चमी तु कुरूपता । नामाभिधानभूमीशसमासे-
वनतत्परा ॥ ११२३ ॥ हीनाङ्गत्वातिदीर्घत्वकुब्जताकाणतादिना । परिवारेण युक्तासौ कुरूपं कुरुते जनम्
॥ ११२४ ॥ सुरूपत्वसुवर्णत्वचक्षुष्यत्वादिकं पुनः । सर्वं निर्वासयत्येषा दुर्नीतिरिव वैभवम् ॥ ११२५ ॥

अनया चाभिताः सत्त्वाश्चमुद्वेगकारिणः । भवन्ति क्रीडनस्थानं जनानां रूपगर्विणाम् ॥ ११२६ ॥ षष्ठी पुनरसौ सौम्य ! सपाला नारी दरिद्रता । पापोदयान्तरायाख्यभूपयोरनुजीविनी ॥११२७॥ बुभुक्षाबहुपत्यस्वदैन्यदुर्भग चारिणा । परिष्वङ्गेन मुक्तेयं विधत्ते निर्धनं जनम् ॥ ११२८ ॥ गौरवैश्वर्यसाम्राज्यलाभतोषादिकं तथा । अस्याः प्रभावतोऽवश्यं दूरं नश्यति देहिनाम् ॥११२९॥ अन्विष्यमाणया ग्रस्ताः कुर्वन्तः कर्म कुत्सितम् । अजातचिन्तिता कामाः शेरते न निशास्वपि ॥ ११३० ॥ इयं तु सप्तमी योषा भद्र ! दुर्भगतोच्यते । नामाभिधपराधीनक्षमा वशविधायिनी ॥ ११३१ ॥ अपाभिभवदैन्यादिपरिवारपरिष्कृता । भवत्यभक्तिद्वेष्यमिव हि कुरुते जनम् ॥ ११३२ ॥ गर्वगौरवसौभाग्यप्रमोदादेयतादिकम् । निरस्यति च निःशेषं वात्येव घनमण्डलम् ॥ ११३३ ॥ स्वजनानामपि द्वेष्या निन्दन्तः स्वं मुहुर्मुहुः । नयन्ति क्लेशतः कालमाक्रान्तास्तनया जनाः ॥ ११३४ ॥ तदेव लेशतः प्रोक्ता सप्ताप्येतास्तव स्त्रियः । पुरेऽत्र सर्वदाप्येवं लोकपीडनतत्पराः ॥ ११३५ ॥ अथाह स्वस्रम् माम ! किमासां विनिवारकाः । लोकपाला न विद्यन्ते नगरेऽत्र नृपादयः ? ॥ ११३६ ॥ विमर्शो व्याहरद् वत्स ! चक्रिशक्रादयोऽप्यमूः । न निवारयितुं शक्ता नृपादीनां तु का कथा ? ॥ ११३७ ॥ यतस्तेष्वपि सर्वेषु मर्त्या-मर्त्याधिपेष्वमूः । अधार्यवीर्यप्रसराः प्रसभं प्रभवन्त्यलम् ॥ ११३८ ॥ मामिश्रुतुरथ प्रोचे माम ! पुरा तवः किञ्चि । यत्नो विधेयो नैवासां निराकरणहेतवे ॥११३९॥ मातुलोऽभिदधे नैव पतितव्यं विनिश्चयात् । अवार्यभाविनीष्वासु

१ ०पुरस्कृता क० स०।

पुंयत्नः कुरुते हि किम् ? ॥११४०॥ स्वदोषपरिहाराय यत्यतामपि सद्विधौ । भाविकार्यपरीणामाविज्ञेन व्यवहारतः
॥११४१॥ प्रकर्षोऽभिदधे माम ! स्थानं किञ्चित् समस्ति तत् ?। बाधन्ते यत्र नैवैता जराद्याः क्षुद्र्योपितः ॥११४२॥
बुद्धिबन्धुरमाषिष्ट निर्वृत्याख्यास्ति पूर्वरा । अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दनिवासभूः ॥ ११४३ ॥ तत्र न प्रभवन्त्येता
न चान्ये केऽप्युपद्रवाः । तस्या यियासुना सेव्यं ज्ञानादित्रितयं पुनः ॥ ११४४ ॥ इदं तु नगरं भद्र ! भवचक्रं
चतुर्विधम् । सदैवामुक्तमेताभिस्तथान्यैरप्युपद्रवैः ॥ ११४५ ॥ प्रकर्षः प्राह नन्वेतन्नगरं माम ! सर्वथा । एवं
कथयता दुःखबहुलं कथितं त्वया ॥११४६॥ साधु साधूदितं वत्स ! बुद्धं वत्सेन मद्वचः । तत्त्वं च भवचक्रस्येत्य-
वादीन्मातुलोऽप्यथ ॥११४७॥ जामेयः प्राह यद्येवं वसन्तोऽत्र पुरे जनाः । किमेते माम ! निर्विण्णाः किं वा नेति
निवेद्यताम् ? ॥ ११४८ ॥ विमर्शः पुनरप्यूचे निर्वेदो वत्स ! देहिनाम् । वसतां नित्यमत्रापि नैवास्त्येषां मनागपि
॥ ११४९ ॥ एतेषां योगिनां यस्मान्महामोहादिभूभुजाम् । विद्यते कौशलं किञ्चिदपूर्वं जनमोहने ॥ ११५० ॥
ततोऽत्रत्यजना एते द्विषतोऽपि हि तत्त्वतः । हितबन्धूपमानेतान्मन्यन्ते मूढबुद्धयः ॥ ११५१ ॥ ततश्चैते तदा-
देशात्तत्तत्कर्म शुभेतरम् । कुर्वन्ति बालिशाः शश्वद्येनातः स्यान्न निर्गमः ॥११५२॥ योऽपि निर्गमनोपायं कृपालुः
कथयत्यतः । सुखहन्तायमित्युच्चैस्तमप्येते च मन्वते ॥ ११५३ ॥ ततो यावत्पुरेऽत्रामी महामोहादिभूभुजः ।
प्रभवन्ति कुतस्तावन्निर्वेदो वत्स ! जन्मिनाम् ॥११५४॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततोऽमीषां वपुष्मताम् । सदोन्मत्त-

१ तत्र ख० ।

चतुरस्यानां किमसाक विचिन्तया ? ॥११५५॥ किन्तु मे माम ! सर्वेषां महामोहादिभूभुजाम् । दर्शितं भयपक्षेऽत्र त्वया स्पष्टं विचेष्टितम् ॥ ११५६ ॥ महामोहस्य मन्त्री तु यो मिथ्यादर्शनः पुरा। प्रोक्तस्तस्यात्र नो किञ्चित् स्फूर्जितं दर्शितं त्वया ॥११५७॥ विमर्शः प्राह ये केचित्सन्त्यत्र नगरे जनाः । तस्य प्रायेण पर्यन्ते ते सर्वेऽपि वशे सदा ॥ ११५८ ॥ तथापि ये विशेषेण तस्याज्ञाकारिणो जनाः । तेषां स्थानानि भद्रास्य ! दर्शयामि तव स्फुटम् ॥११५९॥ अमूनि मानवावासे दृश्यन्ते यानि सुन्दर! । अवान्तरपुराणीह पक्षान्तरमण्डले ॥११६०॥ एतानि तानि लोकानां तेषां स्थानानि लक्षय । तेन मिथ्यादर्शनेन ये वशीकृतचेतसः ॥ ११६१ ॥ (युग्मम्) ॥ एतेषु चैकं नगरं नैयायिकमितीरितम् । नैयायिकाश्च गीयन्ते ते जना येऽत्र संस्थिताः ॥ ११६२ ॥ अन्यत् वैशेषिकं नाम पुर मत्राभिधीयते । वैशेषिकाश्च ते लोका येऽस्य मध्ये व्यवस्थिताः ॥ ११६३ ॥ तथाऽपरं जनैः सांख्यं पुरमत्र प्रकाशितम् । सांख्याश्च ते विनिर्दिष्टा निवसन्त्यत्र ये जनाः ॥ ११६४ ॥ इहापरं पुनर्बौद्धं पुरमाख्यायते जनैः । बौद्धाभिधाश्च ते लोकाः सदाऽत्र निवसन्ति ये ॥११६५ ॥ पुरं मैमांसकं नाम तथा परपरिकीर्तितम् । मीमांसकाश्च कथ्यन्ते ते लोका येऽत्र वासिनः ॥ ११६६ ॥ लोकायतमिति प्रोक्तं पुरमत्र तथाऽपरम् । बार्हस्पत्यास्तु लोकास्ते ये वसन्त्यत्र सर्वदा ॥ ११६७ ॥ नगरेषु सर्वेषु येऽमी लोकाः प्रकीर्तिताः । ते विशेषेण कुर्वन्ति मिथ्यादर्शनशासनम् ॥ ११६८ ॥ चामेयः प्राह लोकेऽत्र श्रूयन्ते किल यानि षट् । दर्शनानि किमेतानि तान्याख्यातानि

१ ०के ता० । २ मध्य म्य० ग० । ३ मीमां० स० ग० ।

मे त्वया ॥ ११६९ ॥ मातुलः पुनरप्याह कथ्यते तात ! ते स्फुटम् । एतानि पञ्च तान्येव मीमांसकपुरं विना
॥११७०॥ अर्वाकालिकमेतद् हि पुरं [1]मैमांसकं मतम् । तेन दर्शनसंख्यायामेतल्लोकैर्न गण्यते ॥११७१॥ तथाहि
वेदरक्षार्थं दोषोद्धृतिधिया किल । मीमांसां जैमिनिश्चक्रे दृष्ट्वा तीर्थिकविप्लवम् ॥११७२॥ स्वस्रीयः प्राह यद्येवं ततो
माम! क्व वर्त्तते? । तत्पुरं किल यल्लोकैर्गीयते षष्ठदर्शनम् ॥११७३॥ विमर्शोऽभिदधेऽत्रैव विवेकाद्रौ विलोक्यते । यदे-
तच्छिखरं तुङ्गमप्रमत्तत्वनामकम् ॥११७४॥ जैनमित्याख्यया ख्यातं पुरमत्र समस्ति तत् । सर्वापरपुराजय्यं निजैर्लो-
कोत्तरैर्गुणैः ॥११७५॥ (युग्मम्) अन्यच्च जननामानो निवसन्त्यत्र ये जनाः । बाध्यन्ते नियतं तेन न मिथ्यादर्शनेन
ते ॥११७६॥ ततश्चाबाधितास्तेन ते सुविज्ञातवर्त्मना । तां पुरीं निर्वृतिं यान्ति निहत्यान्तरवैरिणः ॥११७७॥ नैया-
यिकादयस्त्वन्ये मिथ्यादर्शनबाधिताः । तामविज्ञातसन्मार्गाः प्राप्नुवन्ति न जातुचित् ॥११७८॥ नैयायिकादयश्चैते
ज्ञेया दिग्मात्रमेव हि । मिथ्यादर्शनवश्यानां नास्ति संख्यान्यथा पुनः ॥ ११७९ ॥ प्रकर्षः प्राह मामैतद्भवचक्रं
मया पुरम् । सर्वं विलोकितं तावद्वीर्यं चान्तरभूभुजाम् ॥ ११८० ॥ केवलं यत्समुद्दिश्य कार्यमावामिहाऽऽगतौ ।
एवमाक्षिप्तमनसोस्तदेव बत विस्मृतम् ॥ ११८१ ॥ महामोहादिजयिनो वीक्षितुं तान् महात्मनः । तं च संतोष-
भूपालमावामत्राऽऽगतौ किल ॥ ११८२ ॥ आगताभ्यां पुनर्दृष्टाः सर्वथापि न ते न सः । अतोऽधुनापि मामेन
दर्शयन्तां मम ते स च ॥११८३॥ विमर्शेनोदितं तात ! यदिदं शिखरे स्थितम् । जैनं पुरं भवन्त्येव नूनमत्र तथा-

१ मीमा० क० ख० ग० घ० । २ ०तदावयोस्तु वि० ख० ।

कतुरयानां किमस्माकं विचिन्तया ! ॥११५५॥ किन्तु मे माम ! सर्वेषां महामोहादिभूभुजाम् । दर्शित भवचक्रेऽत्र त्वया स्पष्टं विचेष्टितम् ॥ ११५६ ॥ महामोहस्य मन्त्री तु यो मिथ्यादर्शनः पुरा । प्रोक्तस्तस्यात्र नो किञ्चित् स्फूर्जितं दर्शितं त्वया ॥११५७॥ विमर्शः प्राह ये केचित्सन्त्यत्र नगरे जनाः । तस्य प्रायेण वर्तन्ते ते सर्वेऽपि वशे सदा ॥ ११५८ ॥ तथापि ये विशेषेण तस्याज्ञाकारिणो जनाः । तेषां स्थानानि पथास्य ! दर्शयामि तव स्फुटम् ॥११५९॥ अमूनि मानवावासे लक्ष्यन्ते यानि सुन्दर ! । अवान्तरपुराणीह षडवान्तरमण्डले ॥११६०॥ एतानि तानि लोकानां तेषां स्थानानि लक्षय । येन मिथ्यादर्शनेन ये वशीकृतचेतसः ॥ ११६१ ॥ (युग्मम्) ॥ एतेषु चैकं नगरं नैयायिकमितीरितम् । नैयायिकाश्च गीयन्ते ते जना येऽत्र संस्थिताः ॥ ११६२ ॥ अन्यद् वैशेषिकं नाम पुरमत्राभिधीयते । वैशेषिकाश्च ते लोका येऽस्य मध्ये व्यवस्थिताः ॥ ११६३ ॥ तथाऽपरं जनैः सांख्यं पुरमत्र प्रकाशितम् । सांख्याश्च ते विनिर्दिष्टा निवसन्त्यत्र ये जनाः ॥ ११६४ ॥ तथापरं पुनर्बौद्धं पुरमाख्यायते जनैः । बौद्धाभिधाश्च ते लोकाः सदाऽत्र निवसन्ति ये ॥११६५॥ पुरं [3]मैमांसकं नाम तथान्यत्परिकीर्तितम् । मीमांसकाश्च कथ्यन्ते ते लोका येऽत्र वासिनः ॥ ११६६ ॥ लोकायतमिति प्रोक्तं पुरमत्र तथाऽपरम् । बार्हस्पत्यास्तु लोकास्ते ये वसन्त्यत्र सर्वदा ॥ ११६७ ॥ नगरेषु तवैतेषु येऽमी लोकाः प्रकीर्तिताः । ते विशेषेण कुर्वन्ति मिथ्यादर्शनशासनम् ॥ ११६८ ॥ वामेयः प्राह लोकेऽत्र श्रूयन्ते किल यानि षट् । दर्शनानि किमेतानि तान्यास्याख्यानि

---

१ ०ये ता० । २ मध्य म्य० प० । ३ मीमां० स० ग० ।

मे त्वया ॥ ११६९ ॥ मातुलः पुनरप्याह कथ्यते तात! ते स्फुटम्। एतानि पञ्च तान्येव मीमांसकपुरं विना ॥११७०॥ अर्वाक्कालिकमेतद् हि पुरं [1]मैमांसकं मतम्। तेन दर्शनसंख्यायामेतल्लोकैर्न गण्यते ॥११७१॥ तथाहि वेदरक्षार्थं दोषोद्धृतिधिया किल। मीमांसां जैमिनिश्चक्रे दृष्ट्वा तीर्थिकविप्लवम् ॥११७२॥ स्वस्रीयः प्राह यद्येवं ततो मामा! क्व वर्त्तते?। तत्पुरं किल यल्लोकैर्गीयते षष्ठदर्शनम् ॥११७३॥ विमर्शोऽभिदधेऽत्रैव विवेकाद्रौ विलोक्यते। यदेतच्छिखरं तुङ्गमप्रमत्तत्वनामकम्॥११७४॥जैनमित्याख्यया ख्यातं पुरमत्र समस्ति तत्। सर्वापरपुराजय्यं निर्जैर्लोकोत्तरैर्गुणैः ॥११७५॥ (युग्मम्) अन्यच्च जननामानो निवसन्त्यत्र ये जनाः। बाध्यन्ते नियतं तेन न मिथ्यादर्शनेन ते ॥११७६॥ ततश्चाबाधितास्तेन ते सुविज्ञातवर्त्मना। तां पुरीं निर्वृतिं यान्ति निहत्यान्तरवैरिणः ॥११७७॥ नैयायिकादयस्त्वन्ये मिथ्यादर्शनबाधिताः। तामविज्ञातसन्मार्गाः प्राप्नुवन्ति न जातुचित् ॥११७८॥ नैयायिकादयश्चैते ज्ञेया दिग्मात्रमेव हि। मिथ्यादर्शनवश्यानां नास्ति संख्यान्यथा पुनः ॥ ११७९ ॥ प्रकर्षः प्राह मामैतद्भवचक्रं मया पुरम्। सर्वं विलोकितं तावद्वीर्यं चान्तरभूभुजाम् ॥ ११८० ॥ केवलं यत्समुद्दिश्य कार्यमावामिहाऽऽगतौ। एवमाक्षिप्तमनसो[2]स्तदेव बत विस्मृतम् ॥ ११८१ ॥ महामोहादिजयिनो वीक्षितुं तान् महात्मनः। तं च संतोष-भूपालमावामत्राऽऽगतौ किल ॥ ११८२ ॥ आगताभ्यां पुनर्दृष्टाः सर्वथापि न ते न सः। अतोऽधुनापि मामेन दर्श्यन्तां मम ते स च ॥११८३॥ विमर्शेनोदितं तात! यदिदं शिखरे स्थितम्। जैनं पुरं भवन्त्येव नूनमत्र तथा-

---

१ मीमां० कं० ख० ग० घ०। २ ०तदावयोस्तु वि० ख०।

विधाः ॥ ११८४ ॥ तस्मादत्रैव मच्छायो येनेदं ते कुतूहलम् । साधुदर्शनतो वत्स ! निःशेषमपि पूर्यते ॥११८५॥ अस्त्वेवमिति तेनोक्ते तौ पुरे तत्र सङ्गतौ । अपश्यतां च तान् साधून्मूलोत्तरगुणालयान् ॥ ११८६ ॥ मातुलोऽभिदधे तात ! त एते धैर्मसारमतिः । भिन्दिरे निजवीर्येण महामोहादिवैरिणः ॥ ११८७ ॥ शीतप्रभवताप्रूप तपज्ज्वालातिनिर्मला । चित्तवृत्तिरटवी सापि विभात्येषां महात्मनाम् ॥ ११८८ ॥ एते चात्र कियत्कालं वसन्तोऽप्य मलाशयाः । स्पृश्यन्ते नैव पापेन पङ्केन कमला इव ॥ ११८९ ॥ ततस्त्वमधुना सम्यग् वीक्ष्यैतान् शतरूत्तमान् । निजं नयननिर्माणं सफलीकुरु सुन्दर ! ॥११९०॥ जगाद जामिजो माम ! साधु मेऽनुग्रहः कृतः । साधूनां दर्शनादेषां यदहं विमलीकृतः ॥ ११९१ ॥ किन्त्वद्यापि न पश्यामि तं संतोषमहीपतिम् । मामेन यो महामाहुर्मर्पितो मे पुरः पुरा ॥ ११९२ ॥ बभाषे मातुलः सौम्य ! योऽयमालोक्यते पुरः । शुभ्रचित्तसमाधानो नाम विस्तीर्णमण्डपः ॥ ११९३ ॥ भविष्यत्यत्र निपतं स संतोषनरेश्वरः । अत्रैव गम्यते तस्मात्येच्छा येन पूर्यते ॥ ११९४ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते मण्डपेनाथ तौ द्रुतम् । गत्वा तत्रोचिते देशे तस्थतुः सुस्थिताशयौ ॥ ११९५ ॥ तस्मिंश्च वेदिकोत्सङ्गसिंहासनस्थितम् । यथास्थानं चतुर्वक्त्रं नरेन्द्रं तावपश्यताम् ॥ ११९६ ॥ जातहर्षः प्रकर्षोऽथ प्रस्पमापत मातुलम् । अहो ! धन्यमिदं जैनं पुरं-यत्रेदृशः प्रभुः ॥ ११९७ ॥ ततो माम ! विवेकाद्रौ यत्रेदृश मिव पुरम् । किं सोऽन्यं मथर्मकोऽत्र वर्तते वोपसंस्मृते ? ॥ ११९८ ॥ विमर्शः प्राह नात्राय विद्यते परमार्थतः ।

१ चके च च० स० ।

उपचारेण किन्त्वत्र विद्वद्भिर्वत्स ! कथ्यते ॥ ११९९ ॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां पुरे सात्त्विकमानसे । स्थितोऽयं
पर्वतवरो वर्त्तते तत्त्वतः पुनः ॥ १२०० ॥ प्रकर्षः प्राह यद्येवं ततः सात्त्विकमानसम् । नगरं यदिदं ये च बाह्या-
स्तत्सेविनो जनाः ॥ १२०१ ॥ योऽयं विवेकशैलश्च प्रमत्तत्वं तटं च यत् । यच्चैतन्नगरं जैनमत्र बाह्याश्च ये जनाः
॥१२०२॥ अयं चित्तसमाधानाभिधानो यश्च मण्डपः । या चेयं वेदिका रम्या सिंहासनमिदं च यत् ॥ १२०३॥
यश्च राजाधिराजोऽयं यश्चास्यैष परिच्छदः । सर्वमेतदपूर्वं मे प्रत्येकं कथ्यतां ततः ॥ १२०४ ॥ (चतुर्भिः
कलापकम्) ॥ विमर्शः प्राह यदिदं पुरं सात्त्विकमानसम् । तदन्तरङ्गरत्नानां सर्वेषामाकरो मतम् ॥१२०५॥ स च
कर्मपरीणामो राजा नेदं महापुरम् । सभुक्तिकं ददात्येषां महामोहादिभूभुजाम् ॥ १२०६ ॥ किन्तु स्वयं भुनक्तीदं
तथान्यैर्वरपार्थिवैः । शुभाशयादिभिर्भद्र ! भोजयेच्च सभुक्तिकम् ॥१२०७॥ तस्मान्निर्मलचित्ताद्यैरन्यै रम्यैर्युतं पुरैः ।
इदमेव पुरं विश्वसुन्दरं विद्धि सुन्दर ! ॥ १२०८ ॥ तथा ये निवसन्त्यत्र बहिरङ्गाः पुरे जनाः । भवन्ति निश्चितं
तेषां शौर्यधैर्यादयो गुणाः ॥ १२०९ ॥ आरुह्यैनं विवेकाद्रिं प्राप्य जैनमिदं पुरम् । जायन्ते सर्वकल्याणभाजनं ते
क्रमात्ततः ॥१२१०॥ तथास्ते तावदेवात्र भवचक्रे मतिर्नृणाम् । आरोहन्त्यत्र नो यावत्ते विवेकमहागिरौ ॥१२११॥
महाप्रभावे तुङ्गेऽत्रारूढानामखिलं यतः । भवचक्रमिदं तेषां करस्थमिव भासते ॥ १२१२ ॥ ततो विविधवृत्तान्तं
दुःखसंघातपूरितम् । दृष्ट्वैतत्ते विरज्यन्ते भवन्ति सुखिनस्ततः ॥ १२१३ ॥ तथेदं शिखरं नृणां सर्वथा सौख्य-
रणम् । नागन्तुं प्रभवन्त्यत्र महामोहादयो यतः ॥ १२१४ ॥ आयाताः कथमप्यत्रात्रत्यैरेभिर्जनैरतः । प्रलो-

ऽन्ते तथा भूयोऽप्यापान्त्यत्र यथा न ते ॥१२१५॥ तथैतन्नगरं येन समीहितफलप्रदम् । चिन्तारत्नमिवानर्घ्यं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् ॥१२१६॥ यतः कल्पशिलक्ष्मापि पुरं सात्त्विकमानसम् । नारुह्यते विवेकाद्रावत्र सत्त्वैः प्रमादिभिः ॥ १२१७ ॥ यदापि कष्टाद्वारुह्येनं भृशमिवमाप्यते । पुण्यातिरेकमपि प्राप्य नाप्यते नगरं सदा ॥१२१८॥ ततश्च नगरं मेधु सर्वापरपुरेष्वितम् । विद्वद्भिः कीर्त्यते तात ! प्रमत्तर्मं प्रतेष्विव ॥१२१९॥ तथा ये विमलात्मानो निवसन्त्यत्र साधवः । नैवाभिबाध्यते कोऽपि तेषां संतुष्टचेतसाम् ॥ १२२० ॥ सचन्ति नाप्रशस्तैस्ते महामोहादिवैरिभिः । रज्यन्ते तु प्रशस्तेषु महामोहादिपूर्वकैः ॥१२२१॥ तथा किं वर्णयाम्यस्य मण्डपस्य वरानन ! । निपीति सदा यत्र राजाय सपरिच्छदः ॥ १२२२ ॥ देहिनां चार्चितप्रानो मयेषावत् कुतः सुखम् [1] । यावदेः प्राप्ते नैव सच्छायो वत्स ! मण्डपः ॥ १२२३ ॥ तथेयं वेदिका तात ! हन्ति निःस्पृहतामिधा । लौल्य भोगेषु दौस्थ्य संपदिव क्षणात् ॥ १२२४ ॥ येषां चैषा स्थिता चित्ते धन्यानां वत्स ! वेदिका । नेन्द्रैर्न देवैर्नो भिस्तेषां प्रयोजनम् ॥१२२५॥ तथास्य जीववीर्याख्यपविष्टरस्य प्रभावतः । राजाय सपरीवारः कुरुते राज्यतम् ॥ १२२६ ॥ यथेतश्च भवस्यत्र महामोहादिभिस्तदा । आक्रान्तोऽप्य धर्म गच्छेत् स्वसमृद्धा सहानया ॥ १२२७ ॥ तदेव नगरं लोकाः पर्वतः क्षिसर्र पुरम् । तथाना मण्डपो वेदी विष्टरं च समासतः ॥ १२२८ ॥ निःशेषमपि वत्साद्य ! समाख्यातं मया तव । परिवारयुतो राजा सांप्रतं तु निवेद्यते ॥ १२२९ ॥

१ सचन्ते भा० कु० ग० । २ भ्यस० पा० ।

॥ युग्मम् ॥ प्रकर्षोऽथ तदा दध्यौ यदिदं किल वर्णितम् । मामेन तस्य भावार्थः प्रस्फुरत्येष मे हृदि ॥ १२३० ॥
अकामनिर्जरापेक्षं जन्तोर्वीर्यं यदुत्कटम् । मिथ्यादृष्टेर्विना ज्ञानं तद्धि सात्त्विकमानसम् ॥ १२३१ ॥ ये तेन
संयुता लोका वास्तव्यास्तत्र ते मताः । तैरेव तत्प्रभावेण क्रमात्कल्याणमाप्यते ॥ १२३२ ॥ आत्माऽन्योऽन्यद्वपुः-
पुत्रकलत्रविभवादिकम् । तेषामेवेदृशी बुद्धिर्या विवेकः स उच्यते ॥ १२३३ ॥ विवेकाच्च प्रयत्नो यस्तेषामेवा-
ल्पकर्मणाम् । महामोहादिनाशायाप्रमत्तत्वं तदीरितम् ॥ १२३४ ॥ पुरमेतत्पुनर्जैनं विज्ञेयं जैनशासनम् । चतुर्वर्णः
पुनः संघस्तद्वास्तव्या जनाः स्मृताः ॥ १२३५ ॥ मण्डपो वेदिका पीठं पुनरेतद् यथोदितम् । यथार्थमेव विज्ञेयं
तथैव त्रयमप्यदः ॥ १२३६ ॥ ध्यात्वेति बोधावष्टम्भतुष्टः स प्राह मातुलम् । आख्याहि माम ! राजानं ममैनं
सपरिच्छदम् ॥ १२३७ ॥ ऊचेऽथ मातुलोऽप्येवं त्रैलोक्यसुखकारकः । वत्स ! चारित्रधर्माख्यो नरनाथोऽयमुच्यते
॥ १२३८ ॥ दानशीलतपःशुद्धभावनाख्यानि भूपतेः । मुखान्येतानि चत्वारि ज्ञेयान्यस्य यथाक्रमम् ॥ १२३९ ॥
तत्राद्यं सर्वसत्त्वेषु दयाज्ञानाभयान्यलम् । सत्पात्रेषु च सद्वस्तु दापयत्याननं सदा ॥ १२४० ॥ अष्टादशसहस्राणि
शीलाङ्गानि मनीषिणाम् । मुखं निर्वृतिहेतूनि द्वितीयं कथयत्यदः ॥१२४१॥ द्वादशधा निराकाङ्क्षं नानालब्धिनिब-
न्धनम् । वक्त्रमेतत्समाख्याति तृतीयं तु जने तपः ॥ १२४२ ॥ तुरीयमिदमास्यं तु भवचक्रान्तकारिणीः ।
प्ररूपयति लोकेषु शुद्धा द्वादश भावनाः ॥ १२४३ ॥ तदेवं वदनैरेभिश्चतुर्भिः पुरवासिनाम् । एषां निःशेषसौ-

---

१ कारणम् ता० । २ जिन० ख० ग० ।

मन्ते तथा भूयोऽप्यायान्त्यत्र यथा न ते ॥१२१५॥ तथैतन्नगरं जैन समीहितफलप्रदम् । चिन्तारत्नमिवानर्घ्यं
मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् ॥१२१६॥ यतः कथञ्चित्कष्टेनापि पुरं सात्त्विकमानसम् । नाकसदे विवेकाद्रावत्र सत्त्वैः प्रमा
दिभिः ॥ १२१७ ॥ इहापि कन्दादास्त्रैर्न भूत्रमिदमाप्यते । पुण्याधिकमपि प्राप्य नाप्यते नगरं यदः ॥१२१८॥
ततश्च नगरं मेध सर्वापरपुरेष्विदम् । विशिष्टैः कीर्त्यते तात । महायशं मतेष्विव ॥१२१९॥ तथा ये विमलात्मानो
निवसन्त्यत्र साधवः । नैवाधिर्बाधते कोऽपि तेषां संतुष्टचेतसाम् ॥ १२२० ॥ सम्भवन्ति नामञ्चस्तैस्ते महामोहादि
वैरिभिः । रम्यन्ते तु प्रशस्तेषु महामोहादिपूजकैः ॥१२२१॥ तथा किं वर्णयाम्यस्य मण्डपस्य वरानन ! । निपी-
दति सदा यत्र राजाय सपरिच्छदः ॥ १२२२ ॥ देहिनां चार्तितप्तानां भवेत्तावत् कुतः सुखम् ? । यावदेः
सेव्यते नैव सम्भावो यत्र ! मण्डपः ॥ १२२३ ॥ तथैव वेदिका तात ! हन्ति निःस्पृहतामिधा । लौल्य भोगेषु
सत्त्वानां दौःस्थ्य संपदिव क्षणात् ॥ १२२४ ॥ येषां चैषा स्थिता चित्ते भव्यानां वत्स ! वेदिका । नेन्द्रैर्न देवैर्नो
भूपैर्नान्यैस्तेषां प्रयोजनम् ॥१२२५॥ यथास्य जीववीर्याकपविष्टरस्य प्रभावतः । राजाय सपरीवारः कुरुते राज्य
मद्भुतम् ॥ १२२६ ॥ यथैतन्न भवत्यत्र महामोहादिभिस्तदा । माक्रान्तोऽप्य क्षयं गच्छेत् स्वसमुत्था सहानया
॥ १२२७ ॥ तदेव नगरं लोकाः पर्वतः शिखरं पुरम् । तखना मण्डपो वेदी विष्टरं च समासतः ॥ १२२८ ॥
निःशेषमपि यथार्थ ! समाख्यातं मया तव । परिवारयुतो राजा सांप्रतं तु निवेद्यते ॥ १२२९ ॥

१ सन्तम्ते मा० क० म० । २ व्यस० वा० ।

॥ युग्मम् ॥ प्रकर्षोऽथ तदा दध्यौ यदिदं किल वर्णितम् । मामेन तस्य भावार्थः प्रस्फुरत्येष मे हृदि ॥ १२३० ॥
अकामनिर्जरापेक्षं जन्तोर्वीर्यं यदुत्कटम् । मिथ्यादृष्टेर्विना ज्ञानं तद्धि सात्त्विकमानसम् ॥ १२३१ ॥ ये तेन
संयुता लोका वास्तव्यास्तत्र ते मताः । तैरेव तत्प्रभावेण क्रमात्कल्याणमाप्यते ॥ १२३२ ॥ आत्माऽन्योऽन्यद्वपुः-
पुत्रकलत्रविभवादिकम् । तेषामेवेदृशी बुद्धिर्या विवेकः स उच्यते ॥ १२३३ ॥ विवेकाच्च प्रयत्नो यस्तेषामेवा-
ल्पकर्मणाम् । महामोहादिनाशायाप्रमत्तत्वं तदीरितम् ॥ १२३४ ॥ पुरमेतत्पुनर्जैनं विज्ञेयं जैनशासनम् । चतुर्वर्णः
पुनः संघस्तद्वास्तव्या जनाः स्मृताः ॥ १२३५ ॥ मण्डपो वेदिका पीठं पुनरेतद् यथोदितम् । यथार्थमेव विज्ञेयं
तथैव त्रयमप्यदः ॥ १२३६ ॥ ध्यात्वेति बोधावष्टम्भतुष्टः स प्राह मातुलम् । आख्याहि माम ! राजानं ममैनं
सपरिच्छदम् ॥ १२३७ ॥ ऊचेऽथ मातुलोऽप्येवं त्रैलोक्यसुखकारकः । वत्स ! चारित्रधर्माख्यो नरनाथोऽयमुच्यते
॥ १२३८ ॥ दानशीलतपःशुद्धभावनाख्यानि भूपतेः । मुखान्येतानि चत्वारि ज्ञेयान्यस्य यथाक्रमम् ॥ १२३९ ॥
तत्राद्यं सर्वसत्त्वेषु दयाज्ञानाभयान्यलम् । सत्पात्रेषु च सद्वस्तु दापयत्याननं सदा ॥ १२४० ॥ अष्टादशसहस्राणि
शीलाङ्गानि मनीषिणाम् । मुखं निर्वृतिहेतूनि द्वितीयं कथयत्यदः ॥१२४१॥ द्वादशधा निराकाङ्क्षं नानालब्धिनिब-
न्धनम् । वक्त्रमेतत्समाख्याति तृतीयं तु जने तपः ॥ १२४२ ॥ तुरीयमिदमास्यं तु भवचक्रान्तकारिणीः ।
प्ररूपयति लोकेषु शुद्धा द्वादश भावनाः ॥ १२४३ ॥ तदेवं वदनैरेभिश्चतुर्भिः पुरवासिनाम् । एषां निःशेषसौ-

१ कारणम् ता० । २ जिन० ख० ग० ।

रूपाणि करोत्येष महीपतिः ॥ १२४४ ॥ तथासौ वीक्ष्यते सौम्य ! स्फटिकोपलनिर्मला । भद्रासने निविष्टास्य भूभर्तुर्या मृगेक्षणा ॥ १२४५ ॥ इयं हि विरतिर्नाम पार्थिवस्यास्य वल्लभा । गुणैस्तु स्वपतेरेव समाना विबुधैर्मता ॥ १२४६ ॥ ये स्वेते पञ्च दृश्यन्ते राजानोऽस्यर्धवार्धिन । एतेऽस्यैव नरेन्द्रस्य सुहृदोऽत्यन्तवल्लभाः ॥ १२४७ ॥ आद्यः सामायिकस्तत्र छेदोपस्थापनः परः । परिहारविशुद्धीयस्तृतीयस्तु निगद्यते ॥ १२४८ ॥ तुर्यः सूक्ष्मसंपरायो यथाख्यातस्तु पञ्चमः । नैर्मल्यहेतवो लोके पञ्चाप्येते यथोत्तरम् ॥ १२४९ ॥ चारित्रधर्मराजस्य पार्श्वे यस्त्वेष वीक्ष्यते । सोऽस्यैव यतिधर्माख्यो ज्येष्ठो राज्यधरः सुतः ॥१२५०॥ अयं च परमानन्दनिदानं नृपनन्दनः । परिर्वे मुनयो दृष्टास्त्वया तेषामतिप्रियः ॥ १२५१ ॥ दशैष्यन्तेऽन्तिकेऽमूनि मानुषाण्यत्र यानि तु । सेवकान्यङ्गभूतानि क्षान्त्यादीन्यस्य तानि हि ॥ १२५२ ॥ क्षोपशान्ति जिनप्रस्तमशाठ्यं वीतकामताम् । नानातपः संयतत्वं तेष्यवाक्त्व विशुद्धताम् ॥१२५३॥ निष्परिग्रहतां ब्रह्मचारितां पानगारिषु । एतेषां च बलेनैष प्रवर्धयति राजभूः ॥ १२५४ ॥ युग्मम् ॥ अस्यार्धविष्टरासीना या स्वेषा दृश्यतेऽङ्गना । सद्भावसारता नाम सास्यैव प्रेयसी मता ॥ १२५५ ॥ दम्पत्योरनयोर्भद्र ! चन्द्रचन्द्रिकयोरिव । यादृक् परस्परं प्रेम तादृग् न क्वापि दृश्यते ॥ १२५६ ॥ अस्यासन्नस्तु यस्तात ! युक्तो द्वादशभिर्जनैः । वीक्ष्यते गृहिधर्माख्यः सोऽस्यैवावरजो मतः ॥ १२५७ ॥ मुक्तस्थूलवधासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहैः । दिग्विरविरत भोगोपभोगे यत्नकारिणम् ॥१२५८॥ अनर्थदण्डविरत सामायिक-

१ ०स्य पा० क०, ०ष पा० ग० । २ तथाचा०'स० ग० घ० ।

कृतादरम् । देशावकाशिकासक्तं पौषधे विहितोद्यमम् ॥ १२५९ ॥ संविभागाभियुक्तं च विधत्ते गृहिणं जनम् ।
राजसूनुः सदा चायं निजैर्द्वादशभिर्जनैः ॥१२६०॥ विशेषकम् ॥ किञ्चास्य यावतीमाज्ञां शक्त्या यः कुरुते जनः ।
तस्य तावत् करोत्येष फलं नास्त्यत्र संशयः ॥१२६१॥ या त्वेषास्यान्तिकासीना विलोलाक्षी विलोक्यते । अस्यैव
सा कुमारस्य प्रिया सद्गुणरक्तता ॥१२६२॥ वत्सला मुनिलोकस्य गुरूणां विनयोद्यता। पत्यावकृत्रिमस्नेहा कस्य न
स्यादसौ मुदे ? ॥१२६३॥ चारित्रधर्मराजस्य समीपे यस्तु दृश्यते। सोऽयं महत्तमोऽस्यैव सम्यग्दर्शननामकः॥१२६४॥
देवे देवमतिं सम्यग् गुरौ च गुरुवासनाम् । धर्मे च धर्मधिषणां विधत्ते देहिनामसौ ॥ १२६५ ॥ महामोहस्य च
यथा स मिथ्यादर्शनोऽखिलम् । तन्त्रयत्यनिशं राज्यं तथाऽसावस्य भूपतेः ॥ १२६६ ॥ भूपालः पालकं चैनं
विशेषेण कुमारयोः । सदा चक्रे ततो नैतौ दृश्येते क्वाप्यमुं विना ॥१२६७॥ या त्वसौ दृश्यते शुभ्रवर्णाभ्यर्णेऽस्य
वर्णिनी । इयं हि मन्त्रिणोऽस्यैव सुदृष्टिर्नामतः प्रिया ॥ १२६८ ॥ इयं च कुरुते वत्स ! येषां हृदि सदास्पदम् ।
तेषामेतत्पुरं मुक्त्वा नान्यत्र रमते मनः ॥ १२६९ ॥ सम्यग्दर्शनपार्श्वस्थो यस्त्वसौ सौम्य ! दृश्यते । सद्बोध-
नामकः सोऽयं सचिवोऽस्यैव भूपतेः ॥१२७०॥ भूतं भावि भवत् सूक्ष्मं दूरस्थं नश्वरं स्थिरम् । सर्वमप्येष सद्बोधः
स्वबुद्ध्या वस्तु बुध्यते ॥१२७१॥ किञ्चात्र बहुनोक्तेन तन्नास्ति त्रिजगत्यपि । यदेष सचिवो नैव करस्थमिव पश्यति
॥ १२७२ ॥ पार्श्वेऽस्यैषाङ्गना या तु याति लोचनगोचरम् । महामात्यस्य सास्यैवावगतिर्नाम वल्लभा ॥ १२७३ ॥

स्वरूप जीवित प्राणाः सर्वस्वं च वपुस्तथा । इय हि सचिवस्यास्य प्रेयसी वर्तते सदा ॥ १२७४ ॥ ये त्वेते पञ्च दृश्यन्तेऽमात्यस्यास्यान्तिकस्थिताः । एतस्यैव वयस्यास्ते जीवितादपि वल्लभाः ॥ १२७५ ॥ आद्योऽत्राभिनिबोधोऽयं विख्यातः पुरवासिनाम् । इन्द्रियानिन्द्रियज्ञान जनानां जनयत्यलम् ॥ १२७६ ॥ सदागमाभिधानस्तु द्वितीयोऽयं निगद्यते । समस्तवस्तुविस्तारपरमार्थोपदेशकः ॥१२७७॥ न स्यादयमत्र चाग्म्येष शेषाणां कस्तदा ननु । भवेत् स्वरूपमप्येषां मूकानां हि समासतः ॥ १२७८ ॥ तृतीयोऽवधिसंज्ञस्तु वयस्योऽयं प्रकीर्त्यते । चक्षुष्यस्य दीर्घादिनानाज्ञानकरोऽङ्गिनाम् ॥ १२७९ ॥ मनःपर्यायनामाऽयं चतुर्थः प्रोच्यते पुनः । संज्ञिजीवमनोभावसाक्षात्कारविशारदः ॥ १२८० ॥ पञ्चमः केवलो नाम सुहृदेष बुधैर्मतः । भूतभाविभवत्सर्वभावाभावप्रकाशकृत् ॥ १२८१ ॥ तदेवं पञ्चभिर्मित्रैः समेतो भानुमानिव । तमो हन्त्येष सद्बोधो ज्ञानसंवरणाभिधम् ॥ १२८२ ॥ प्रकर्षोऽभाषत भाम ! स संतोषनरेश्वरः । न दर्शितस्त्वयाद्यापि यत्र मेऽत्यन्तकौतुकम् ॥ १२८३ ॥ विमर्शोऽप्याह यो वत्स ! निषण्णो दृश्यते पुरः । संयमस्य स संतोषो ज्ञेयोऽयं प्राह सुधियः ॥ १२८४ ॥ यस्योपरि समायाता महामोहादिभूभुजः । विक्षेपेण स संतोषो नात्र किं मूलनायकः ? ॥ १२८५ ॥ मातुलोऽप्यभ्यधात्तात ! नैवायं मूलनायकः । चारित्रधर्मराजस्य पदातिरिति बुध्यताम् ॥ १२८६ ॥ किन्तु नीतिपरो दक्षो विक्रमी संधिविग्रही । तेनैव तन्त्रपालत्वे स्थापितो भूतभूभुजा ॥ १२८७ ॥ संपूर्णबलसामग्र्या प्रमत्तोद्दामलीलया । स्पर्शनादीनि चानेन

१ ०चम् ता० ।

ह्मणि कश्चित्‌ ॥ १२८७ ॥ ततोऽभिभूय तान्येष स्वमाहात्म्येन निर्वृतौ । नयति स जनं कश्चिद्‌ बलेनेषा
तानि दृष्टानि कुत्रचित्‌ ॥ १२८८ ॥ ततोऽभिभूय तान्येष स्वमाहात्म्येन निर्वृतौ । अस्योपर्यायियुश्चित्तवृत्त्यटव्यां रणेच्छवः
महीभुजाम्‌ ॥ १२८९ ॥ ज्ञात्वैनमथ वृत्तान्तं महामोहादिभूभुजः । चारित्रधर्मभूपस्य पदातिरपि निश्चितः ॥ १२९१ ॥
॥ १२९० ॥ अयमेव यतोऽमीभिः संतोषो मूलनायकः । यतः सितोदरोऽपीह कृष्णसर्पोऽभिधीयते ॥ १२९२ ॥ संतोषेण च
तावदेव हि वेरयत्र जनो यावत्किलेक्षते । संजातं न च संजातौ स्फुटौ जयपराजयौ ॥१२९३॥ ततः सैन्यद्वयस्यास्य रुपाऽन्योन्यं
तत्रैषां सार्द्धं रणमनेकशः । संजातं न च संजातौ स्फुटौ जयपराजयौ ॥१२९४॥ तदेष दर्शितस्तुभ्यं मया संतोषतन्त्रपः ।
जिगीषतः । काले गच्छति पद्माक्ष ! न जाने किं भविष्यति ? ॥१२९४॥ या त्वस्य सविधासीना वीक्ष्यते पङ्कजेक्षणा । सा निष्पि-
आख्यातश्चास्य वृत्तान्तो यत्र तेऽत्यन्तकौतुकम्‌ ॥१२९५॥ या त्वस्य सविधासीना वीक्ष्यते पङ्कजेक्षणा । लाभालाभे सुखे
पासिता नाम दयितास्यैव संस्मृता ॥ १२९६ ॥ साम्यं शुभाशुभे स्पर्शादिकेऽसौ कुरुतेऽङ्गिनाम्‌ । चारित्रधर्मराजोऽयमाख्यातः पृथिवी-
दुःखे तुष्टिं च जनयत्यलम्‌ ॥१२९७॥ तदेवं स्वाङ्गिकानेकपरिवारसमन्वितः । तेऽप्यस्यैव पदातयः ॥१२९९॥
पतिः ॥१२९८॥ ये त्वेते वेदिकाभ्यर्णे वर्त्तन्ते मण्डपस्थिताः । शुभाशयादयस्तात ! तेऽप्यस्यैव पदातयः ॥१२९९॥
चारित्रधर्मराजस्यादेशेन रुचिराण्यमी । कार्याणि सर्वदा सर्वे कुर्वन्त्युर्वीभुजो जने ॥१३००॥ किञ्च मर्त्याः स्त्रियो
डिम्भा ये लोके सुखहेतवः । वर्त्तन्तेऽन्येऽपि विज्ञेयाः सर्वे तेऽप्यत्र संस्थिताः ॥१३०१॥ ततश्च ते महामोहादयो
विश्वद्विषो यथा । चारित्रधर्मराजाद्यास्तथैते विश्वबान्धवाः ॥ १३०२ ॥ एते ह्यपारसंसारसागरोत्तारसेतवः ।

१ स्वय० ता० ।

निर्वृतिं जनमर्त्यमुक्तौ संप्रापयन्ति ताम् ॥ १२०३ ॥ तदेष ते समासेन मया ख्यातमदः मन्त्रः । नामस्त्येन समा
स्यातुं कोटिजिह्वोऽपि न क्षमः ॥ १२०४ ॥ पापोऽधुना पवित्रितस्म ! पूर्ण चेत्कौतुक तव । अस्त्यवमिमि तेनोक्ते
मण्डपाचो निरीयतुः ॥ १२०५ ॥ गाम्भीर्यौदार्यशौर्यादिरत्नख्यातिराश्रितम् । पञ्चःप्रश्रयसौजन्यनयादिगमता
कुलम् ॥ १२०६ ॥ बुद्धिपाटववाग्मित्वदाक्ष्यायचीयपूरितम् । अनापत्समनश्चिस्त्वमुक्तपपादानसंभृतम् ॥ १२०७ ॥
पारावार इवाऽपारं चतुरङ्ग महाबलम् । चारित्रधर्मराजस्य तद्दर्शितावपश्यताम् ॥१२०८॥ विशेषकम् ॥ प्रकर्षोऽथ
समुभूतहर्षोऽभाषिष्ट मातुलम् । यथेष्टमधुना माम ! पूरित मे कुतूहलम् ॥ १२०९ ॥ यतोऽत्र किञ्चित् द्रष्टव्यं तत्
तत्समर्थं दर्शितं त्वया । एवं च कुर्वता किं किं त्वया नोपकृतं मम ! ॥१२१०॥ कृतलं रमणीयोऽत्र नगरं निकली
कृया । दिनानि कतिचित् माम ! वस्तुमिच्छामि सांमतम् ॥१२११॥ कुर्वंस्तांस्तान्विचारांश्च तिष्ठाम्यत्र यथा यथा ।
तथा तथा महाम्भुधे प्राप्तोऽहं त्वत्प्रसादतः ॥ १२१२ ॥ अहं च परमां काष्ठां नयो मामन मर्षया । दिनानि
कतिचित् तस्मा मामोऽत्र स्थातुमर्हति ॥ १२१३ ॥ मातुलोऽप्यब्रवीत् वत्स ! तवेच्छा या प्रवर्तने । तामेव स्वत्तु
साकाङ्क्षी किं भनक्ति ! यतो मनः ॥ १२१४ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा पुरे तत्रैव सोपमाक् । मासद्वय निनायाऽथ
प्रकर्षो मातुलान्वितः ॥ १२१५ । चन्द्रचन्दनगोपादिपदार्थानां कृतार्पयन् । महिमानमपास्यन्तमीष्मो ग्रीष्मर्तुरा
ययौ ॥१२१६॥ दहन्त्यो दहिनां देहं यत्र स्वभूतसंहतीः । सविन्मात्रा इवारण्या यत्र लूका ययुस्तराम् ॥१२१७॥
रोदोमृणान्तरे यत्र चित्रभानुस्तथाऽज्वलत् । ज्वलीयन्तस्त्वदन्तरथा यथा पातुमपा जनाः ॥ १२१८ ॥ यत्र वृद्धि

भजन्ति स्म वासराः सागरा इव । तनुतां च निशीथिन्यः स्रोतस्विन्य[1] इवोच्चकैः ॥ १३१९ ॥ विगलद्वर्मवारीणि शरीराणि शरीरिणाम् । दधुर्यत्र सजीवाम्बुयन्त्रपुत्रकविभ्रमम् ॥१३२०॥ ततश्चैवंविधे ग्रीष्मे विमर्शो भगिनीसुतम् । निजगादेति गच्छावः स्वस्थानं वत्स ! सांप्रतम् ॥१३२१॥ प्रकर्षः प्राह गमने दारुणोऽवसरोऽधुना । तन्नाहं माम ! शक्नोमि गन्तुं वर्त्मनि सर्वथा ॥ १३२२ ॥ ततो मासद्वयमिदं स्थीयते तापभीषणम् । पश्चात्तु शीतलीभूते पथि नूनं प्रयास्यते ॥ १३२३ ॥ तथेत्यङ्गीकृते बुद्धिबान्धवेनाऽथ तद्युतः । पुनर्मासद्वयं निन्ये जामेयस्तत्र पूर्ववत् ॥ १३२४ ॥ पर्जन्यगर्जितैः केकिकेकाभिश्च प्रबोधयन् । कामं कामिमनः सुप्तमथ मेघर्तुराययौ ॥ १३२५ ॥ गर्जाट्टहासः कृष्णाङ्गः स्फुरिताशनिकर्त्रिकः । प्राणान्प्रवासिनां यत्र जग्रसे घनराक्षसः ॥ १३२६ ॥ ववर्ष निर्भरं यत्र दधानो धनुरायतम् । धाराधरोऽम्बुधाराभिः शरैरिव धनुर्धरः ॥१३२७॥ परितोऽपूरयद् यत्र कासारान्सलिलैर्घनः । वदान्यो[2]ऽर्थैरिवात्यर्थमर्थिसार्थमनोरथान् ॥ १३२८ ॥ पङ्ककण्टकसंकीर्णाः पन्थानश्च पदे पदे । अभवन् दुर्गमा यत्र ग्रन्था इव ससंशयाः ॥ १३२९ ॥ अथेदृक्षासु वर्षासु प्रकर्षः प्राह मातुलम् । अधुना गम्यते माम ! त्वरितं तातसन्निधौ ॥ १३३० ॥ यतः संप्रति पन्थानः सर्वतो घनवृष्टिभिः । प्रशान्तपांशुसंतापा बभूवुः सुगमाः किल ॥ १३३१ ॥ प्रत्याह मातुलोऽप्येवं मैवं वादीरकद्वद[3] ! अधुना हि व्यवच्छिन्नं विशेषेण गतागतम् ॥१३३२॥ यतः पङ्कादिसंपूर्णाः पन्थानो दुर्गमा भृशम् । अभवन्नधुना तात ! वर्षत्यब्दे प्रवासिनाम् ॥ १३३३ ॥

१ श्रोतस्विन्य क० ख० ग० । २ दाता । ३ अनिन्द्यभाषिन् ।

एवावन्त ततः काल उस्थितोऽत्र यथाऽनघ । । मासद्वयमिह तिष्ठ संभवत्यपि तथैव हि ॥१३३४॥ किमत्र यात्वहुः
कालो न दोषाय गुणायहः । यतः सोऽनुक्षण यस्स । जायते तम पद्मये ॥ १३३५ ॥ तथेति स्वीकृते तन यर्या
मासद्वये पुनः । स्थित्वा समागतो गेहे हृष्टो वामेयमातुलौ ॥ १३३६ ॥ प्रियाबन्धुस्नुषोपेतमास्थानस्थं नरेश्वरम् ।
उभोऽपि पनोत्कृष्ठ तौ तत्राप प्रणेमतुः ॥ १३३७ ॥ विषक्षपमथाश्लिष्य भगिनीं प्रणिपत्य च । छन्वाशीर्लब्ध
पीठम न्यपदृसुखिसोदरः ॥ १३३८ ॥ मकर्णोऽपि समालिङ्ग्य स्नेहाधाम्राय मूर्द्धनि । मस्याप्यत निकोसाने सर्वे
स्तैर्गुरुभिः क्रमात् ॥१३३९॥ यथास्थानं निषण्णेऽथ प्रकर्षे तेः प्रमोदिभिः । विमर्शः क्षेममापृच्छय कार्यसिद्धिम
पृच्छयत ॥ १३४० ॥ विमर्शोऽथ पुरस्तेषां मूहादारम्य विस्तरात् । सुव्यक्तं तं यथावृत्त वृत्तान्तं सर्वमाख्यत
॥ १३४१ ॥ एवम् मांसपथार्थैर्लोकस्थ लोलतोक्तिभिः । रसनां स जडः पापो न वेत्तयति किञ्चन ॥ १३४२ ॥
अन्यदा मदिरापानविधुरीभूतमानसः । महाछागभ्रमेणैव पशुपालममारयत् ॥ १३४३ ॥ पिशितं तस्य संस्कृत्य
लोलतोक्त्या ददौ च सः । रसनायै तदाऽस्वादाद्मोदिताधिक च सा ॥ १३४४ ॥ ततम मर्त्यानन्यान्यान्
हत्वा हत्वा स दुर्मतिः । रसनायै महामांसं लोलतोक्त्या सदा ददौ ॥१३४५॥ एवं च भक्षयन् क्षुद्रः प्रत्यहं पिशितं
नृणाम् । विपक्षः सर्वलोकानां स राक्षस इवाभवत् ॥ १३४६ ॥ अन्येद्युर्नीरपत्रान्तो गृहे धरकृत्मिनः । प्रविवेश
दुराचारः स मानुषबुभुक्षया ॥ १३४७ ॥ जागरूकेण शूरेण तेन संदृष्टेऽथ सः । दृष्टं तत्तनयं चैव मत्स्यमादाय
निःसरन् ॥ १३४८ ॥ क्रुद्धोऽथ तत्पुत्रारावमिलिताः स्वजनः स तम् । भर्द बबन्ध निन्ये च पश्चात्तो याचनाश्रितेः

॥ १३४९॥ प्रभाते तं च वृत्तान्तं श्रुत्वापि जनवार्त्तया । नानिष्टं चक्रिरे किञ्चित् शूरस्य जडबन्धवः ॥ १३५० ॥
साध्वसौ निहतः पापः शूरेण कुलदूषणः । चिन्तयन्त इति प्रोच्चैः प्रत्युतैते मुदं ययुः ॥ १३५१ ॥ अमुं च जड-
वृत्तान्तं निरीक्ष्य स विचक्षणः । इति संचिन्तयामास निर्मलीमसमानसः ॥ १३५२ ॥ इहापि हि जडस्येदं रसना-
लालनात्फलम् । बभूव परलोके तु भविता दुर्गतिर्ध्रुवम् ॥ १३५३ ॥ ध्यायन्निति विरक्तोऽसौ रसनालालने
भृशम् । तस्थौ विचक्षणः पूर्वं यावत्तौ समुपेयतुः ॥ १३५४ ॥ मूलशुद्धौ विमर्शेनाऽऽख्यातायामथ विस्तरात् ।
रसनां त्यक्तुकामोऽसौ पितरं प्रत्यभाषत ॥ १३५५ ॥ तात ! संदर्शितस्तावत्स्वविपाकोऽनया जडे । सुतया
दोषपुञ्जस्य रागकेशरिमन्त्रिणः ॥ १३५६ ॥ तदेनामधुना भार्यां दुष्टां दुष्टकुलोद्गताम् । सर्वथा त्यक्तुमिच्छामि
ताताहं त्वदनुज्ञया ॥ १३५७ ॥ शुभोदयोऽप्युवाचैवं भार्येति प्रथिता जने । तवेयं रसना तस्मान्नाकाण्डे त्याग-
मर्हति ॥१३५८॥ अतः क्रमेण मोक्तव्या त्वयेयं वत्स ! सर्वथा । यदत्र सांप्रतं प्राप्तकालं ते तत्पुनः शृणु ॥१३५९॥
ये ते तुभ्यं महात्मानो महामोहादिसूदनाः । विवेकपर्वतारूढा विमर्शेन निवेदिताः ॥ १३६० ॥ तन्मध्यस्थस्य
ते वत्स ! तदाचारेण तिष्ठतः । दुष्टाप्यनिष्टं नो किञ्चिद्रसनाऽसौ विधास्यति ॥ १३६१ ॥ तस्मादारुह्य तत्राद्रौ
मध्ये तेषां महात्मनाम् । तिष्ठ त्वं सकुटुम्बोऽपि तामेकां प्रोज्झ्य लोलताम् ॥ १३६२ ॥ ततो विचक्षणः प्रोचे
तात ! दूरे स पर्वतः । कथं कुटुम्बसहितस्तत्राहं गन्तुमीश्वरः ? ॥ १३६३॥ प्रत्यूचेऽथ पिता चिन्ता त्वया कार्यात्र
कापि न । चिन्तामणिरिवायं हि विमर्शो यस्य ते सखा ॥ १३६४ ॥ यतोऽस्य विद्यते वत्स ! पार्श्वे योगाञ्जनं

परम् । तत्तादर्थपस्येव तमिहैव महागिरिम् ॥१२६५॥ प्रकर्षो व्याहरत् तात ! सत्यमेतन्न संशयः । अनुभूतं मया
प्यस्य योगाञ्जनविजृम्भितम् ॥ १२६६ ॥ तावदेव हि नेक्ष्यन्ते भावास्ते पवतादयः । यावदेष महावीर्ये न प्रयुक्तं
तदञ्जनम् ॥ १२६७ ॥ यदा तु विमलालोक प्रयुक्तोऽसौ तदञ्जनम् । तदा सर्वत्र भावास्ते भासन्ते भविनां ध्रुवम्
॥ १२६८ ॥ विचक्षणोऽथ सानन्दो विमर्श प्रत्यभाषत । यद्येवं दीयतां भद्र ! ममापि हि तदञ्जनम् ॥ १२६९ ॥
विमर्शोऽथार्पयत्तस्मै तदञ्जनमवेक्षत । तत्तत्ताल्पर्वसादीनि तानि साक्षाद्विचक्षणः ॥ १२७० ॥ ततः पितृप्रबुद्धि
मन्त्र्यर्थनयान्वितः । दधानो रसनां तां च स्थितां वदनकोटरे ॥ १२७१ ॥ केवलं लोलतामेकां मुक्त्वा तां दुष्ट
चेटिकाम् । समास्थ विवेकाद्रिं स तत्रैन पुरं ययौ ॥ १२७२ ॥ सद्गुणधराख्यस्य महात्मैकशिरोमणेः । पार्श्वे
तत्राप चग्राह दीक्षां मद्गुरु विचक्षणः ॥१२७३॥ युग्मम् ॥ तथैव तस्कुर्व स्व समग्रमपि पाल्यन् । सोऽस्थादप
सुख तत्र मध्ये तपां महात्मनाम् ॥ १२७४ ॥ तदाचारसदाशेषाभिभूतरसनश्च सः । अस्याप्यत मुदा तेन गुरुणा
स्वपदे क्रमात् ॥ १२७५ ॥ रसनाकथानकम् ॥ स चान्यत्रापीश्यमाणो प्रष्टव्यः परमार्थतः । विवेकशैलशृङ्गस्थे
जैन तत्रैव सत्पुरे ॥ १२७६ ॥ नरवाहनभूपाल ! स एवाहं विचक्षणः । यतो ह्येयस्त एवैते महात्मानश्च साधवः
॥ १२७७ ॥ ततस्त्वया महाराज ! वैराग्यस्य निबन्धनम् । मत्समीपे यत्प्रष्टं तदिदं कथितं तव
॥ १२७८ ॥ एष चावस्थिते दीक्षा यदोपाश्रगृहे मया । पापा साप्युज्झिता मार्या न मया येन सर्वथा ॥१२७९॥

१ सुमोदय–मित्रचारुता–शुद्धि–विमर्श–प्रकर्षपुरुषः । २ ०पतो॰ क० ग० ।

पाल्यते येन चाद्यापि तत्कुटुम्बं तथैव हि। तस्य मे कीदृशी नाम प्रव्रज्या भूप ! कथ्यताम् ? ॥ १३८० ॥ तथापि प्रतिभासेऽहं यत्ते दुष्करकारकः । स एष किं गुणग्राही सज्जनप्रकृतेर्गुणः ॥ १३८१ ॥ अस्यैव जैनलिङ्गस्य माहात्म्यमथवाद्भुतम् । किञ्चान्यत्कारण किञ्चिदिति वेद्मि न सर्वथा ॥ १३८२ ॥ एवमाख्याय विरते तत्राचार्ये विचक्षणे । ज्ञाततदुक्तभावार्थः प्रहृष्टः प्राह पार्थिवः ॥ १३८३ ॥ तवेदं यादृशं श्लाघ्यं कुटुम्बमभवत्प्रभो ! तादृशं मादृशैर्नूनं मन्दभाग्यैः सुदुर्लभम् ॥ १३८४ ॥ इदं च पोषयन्नत्र जैनलिङ्गेऽपि संस्थितः । अस्मदादिवदाप्नोति भवान्नैव गृहस्थताम् ॥ १३८५ ॥ लोलतां तां विनिर्जित्य येन चात्यन्तदुर्जयाम् । विदधे विद्यमानापि निःसारा रसनाप्यसौ ॥ १३८६ ॥ महामोहादिशत्रूंश्च तान्निर्जित्य बलीयसः । येन जैनपुरे दुर्गे स्थीयतेऽत्र सुखं सदा ॥१३८७॥ स चेत् त्वं न भवस्यत्र हन्त दुष्करकारकः । कीदृशास्ते भवन्त्यन्ये ब्रूहि दुष्करकारकाः ? ॥१३८८॥ ततश्च ये भवन्त्यत्र महात्मानो भवादृशाः । ध्येयास्ते स्तवनीयास्ते ते वन्द्याश्च विभान्ति मे ॥ १३८९ ॥ एवं स्थिते महामोहप्रभृत्यरिभयाद्यथा । युष्माभिः साधुभिश्चैभिर्जैनदुर्गमिदं श्रितम् ॥ १३९० ॥ तथा ममापि तद्दुर्गश्रयणेच्छाऽस्ति तद्भयात् । ततो मे दीयतां दीक्षा नाथ ! यद्यस्ति योग्यता ॥ १३९१ ॥ इत्युक्ते भूभुजा सूरिः प्रोचे राजन्नयं तव । उद्यमः सुन्दरोऽबोधि मदुक्तार्थस्त्वया ध्रुवम् ॥ १३९२ ॥ उचितैव तत्राऽऽदातुं दीक्षा को हि विशारदः । जैनदुर्गं श्रयेन्नेदं महामोहादिविद्रुतः ? ॥ १३९३ ॥ गुरुणोत्साहितश्चैवं दीक्षां लातुमना नृपः ।

१ तदेवं या० कृ० ख० ग० ।

राज्ये क स्थापयामीति विज्ञु चिक्षेप चक्षुषी ॥ १३९४ ॥ मयागृहीतसङ्केते । तदाहं रिपुदारणः । निविष्ट-
स्तत्समामध्ये तातेन प्रविलोकितः ॥ १३९५ ॥ तदानीं च शरीरेण कृशोऽपि हि कृशोदरि ! । पुण्योदयः स
मे मित्र मनाक् सस्फुरतां गतः ॥ १३९६ ॥ दध्यौ तातोऽथ मां वीक्ष्य स एष रिपुदारणः । मया बहिष्कृतो
गेहात् वराकः क्षोभ्यतां गतः ॥ १३९७ ॥ हा ! हा ! मयेदं नो चारु कृतं यन्निर्धनः सुतः । विपक्षोऽपि
संपर्क्यं स्वयमेतुमसांप्रतम् ॥ १३९८ ॥ तदिदं प्राप्तकालं मे राज्ये न्यस्यैनमेव च । कुमारं कृतकृत्योऽहं
दीक्षां गृह्णामि सत्वरम् ॥ १३९९ ॥ ध्यात्वेत्याहूय मां तातः सादरं पाणिना स्पृशन् । स्वोत्सङ्गे स्थापयामास
सज्जनैकशिरोमणिः ॥ १४०० ॥ धरिं च तमथापृच्छन्मत्सुवेनामुना प्रभो ! । लेभे मनुजजन्मादिसामग्री दुर्लभा
प्यसौ ॥ १४०१ ॥ तदा किममुना तात! विदधे दुष्कृतं पुरा । ज्ञानालोकेन भगवान् ज्ञानमस्त्येव पावनम्
॥ १४०२ ॥ धरिणाऽभिदधे भूप ! न दोषोऽस्य तपस्विनः । शैलराजमृषावादौ तस्य सर्वस्य कारणम् । १४०३॥
भूपोऽप्यभिदधे तातो मदन्तेऽह कदा पुनः । आभ्यां पापवयस्याभ्यां वियोगोऽस्य भविष्यति ॥ १४०४ ॥
धरिराह महाराज ! वियोगोऽद्यापि दुर्लभः । शैलराजमृषावादौ यतोऽस्यात्यन्तवल्लभौ ॥ १४०५ ॥ प्रकारेण
पुनर्येन तद्वियोगो भविष्यति । प्राज्ये काले गते त ते संप्रत्येव निवेदये ॥ १४०६ ॥ शुद्धाभिसन्धि
नामास्ति नगरे शुभमानसे । नरेन्द्रस्तस्य पत्न्यौ च वरतावर्यते उभे ॥ १४०७ ॥ तयोर्यथाक्रमं वर्धिसमृते

१ ०माम्नास्ति क० ख० ग० घ० । २ ०भिसंमवे त० क० ख० ग० घ० ।

तस्य भूभुजः। मृदुतासत्यते द्वे च विद्येते कन्यके शुभे ॥ १४०८ ॥ ततोऽसौ ते यदा कन्ये लप्स्यते रिपु-
दारणः। तदा पापवयस्याभ्यामेष नूनं वियोक्ष्यते ॥ १४०९ ॥ यतः पीयूषतुल्ये ते विषपुञ्जनिभौ त्विमौ।
तस्मात्ताभ्यां सहावस्था नानयोर्भवति क्वचित् ॥ १४१० ॥ ततः प्रयोजनस्याऽस्य कश्चिदन्यो विचिन्तकः।
यत्तु तेऽभिमतं भूप! तदेवाऽऽचर सांप्रतम् ॥ १४११ ॥ तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास तदा तातः स्वचेतसि। अहो!
कष्टमहो! कष्टं मत्सुतस्य तपस्विनः ॥ १४१२ ॥ यस्येदृशौ रिपू नित्यं पार्श्वस्थौ दुःखदायिनौ। अहो! वराको
नैवायं यथार्थो रिपुदारणः ॥ १४१३ ॥ परं किं क्रियते ह्यत्र नैवास्त्यस्य प्रतिक्रिया। करोमि केवलमहं सांप्रतं
हितमात्मने ॥ १४१४ ॥ ध्यात्वेति न्यस्य मां राज्ये कृत्वान्यदपि चोचितम्। विचक्षणगुरोः पार्श्वे तातो दीक्षा-
मुपाददे ॥ १४१५ ॥ ततश्च स विवेकाद्रिस्थितोऽपि गुरुणा समम्। राजर्षिर्बाह्यदेशेषु विजहार महामतिः
॥ १४१६ ॥ ममापि प्राप्तराज्यस्य प्राप्य प्रस्तावमुन्मुदौ। शैलराजमृषावादौ सुतरां तौ विजृम्भितौ ॥ १४१७ ॥
हस्यमानस्ततः पिङ्गैर्निन्द्यमानश्च पण्डितैः। राज्यं चक्रे कियत्कालं पुण्योदयवशादहम् ॥ १४१८ ॥ इतश्च
तपनो नाम निःशेषनृपनायकः। चक्रवर्ती तदा भद्रे! राज्यं पालयति क्षितौ ॥ १४१९ ॥ महीदि-
दृक्षया भ्राम्यन्स सर्वबलसंयुतः। सिद्धार्थनगरे तत्र समायासीदथैकदा ॥ १४२० ॥ ततस्तदाऽऽगमोदन्तं
ज्ञात्वा विज्ञातनीतिभिः। अमात्यैरहमित्यूचे संभूय हितकामिभिः ॥ १४२१ ॥ पूज्यः समग्रभूपानां प्रचण्डा-

१ ०भ्यामाभ्यामेष वियोक्ष्यते क० ख० ग० घ०।

त्पच्छासनः । पट्टसच्छमेदिनीनाथस्तपनभक्तवर्यसौ ॥ १४२२ ॥ गृहानुपागतस्यास्य तदिदानीं नरेशितुः ।
स्वागत क्रियतां देव ! गत्वाभिमुखमादरात् ॥ १४२३ ॥ सचाह मैळराजेन विधुरीकृतचेतनः । प्रत्यूषे स्तब्ध
सर्वाङ्गः सचिवांस्तान्मृगेक्षणे ! ॥१४२४॥ अरे ! विमूढाः ! को नाम तपनोऽद्य ममाऽग्रतः । पदस्य पूजन कुर्या-
महं न पुनरेष मे ॥ १४२५ ॥ तच्छ्रुत्वा ते पुनः प्रोचुर्देवो मैवं प्रभाष्यतु । देवेनाऽकार्यतास्यार्थां स्वस्यानर्थः कृतो
ध्रुवम् ॥ १४२६ ॥ अयम्नाशो हि चक्रेश निग्रहानुग्रहक्षमः । देवेन्द्र इव देवानां निग्रहाय भवेन्नृपाम् ॥१४२७॥
ततोऽस्मदुपरोधेन देवेनाऽस्य विधीयताम् । औचित्यमिति जल्पन्तस्ते पेतुः पदयोर्मम ॥ १४२८ ॥ नृपावादोप
देशेन मया क्षणदिरेऽथ ते । न ममात्र क्षणे तावत् चित्तोत्साहोऽस्ति सर्वथा ॥ १४२९ ॥ तद्यूयमधुना यात कुरुध्वं
तस्य पोषितम् । अहं तु पश्चादेष्यामि सभास्थे तत्र भूपतौ ॥ १४३० ॥ तथेति त ममादेश ते स्वीकृत्याथ
मन्त्रिणः । तपनाभिमुखं प्रापुः प्राज्यप्राभृतपाणयः ॥ १४३१ ॥ अमुं च मम वृत्तान्तं चक्रवर्ती विवेद सः ।
सहस्राक्षा हि राजानो भवन्ति चरलोचनैः ॥ १४३२ ॥ मन्त्रिणोऽप्यथ ते गत्वा नेमुस्तपनचक्रिणम् । तत्तदौ
चित्यनिर्माणाद् नृप च तमरञ्जयन् ॥ १४३३ ॥ आवासान् दापयित्वाथ सभायां च निषद्य सः । चक्री मत्कुशलो
दन्तं पप्रच्छ मम मन्त्रिणः ॥ १४३४ ॥ देव ! देवप्रसादेन कुशली रिपुवारणः । अधुना च समायास्यत्येव
तऽपि व्यजिज्ञपन् ॥ १४३५ ॥ इपुराहायकास्तेन प्रेषिता मम सन्निधौ । देवराजनृपाचारोल्लासार्थमाहमभ्यधाम्

१ माप्याः मा० गु० ।

॥ १४३६ ॥ अरे ! वदत तान् गत्वा सर्वान् सचिवपांसनान् । यत्तत्र प्रहिताः केन यूयं स्वच्छन्दचारिणः
॥ १४३७ ॥ अहं हि तत्र नेष्यामि यूयमप्यत्र सत्वरम् । आगच्छतान्यथा नास्ति जीवितं भवतामरे ! ॥१४३८॥
तच्छ्रुत्वा तैर्मदाख्याते गत्वाऽऽख्यातेऽथ मन्त्रिणः । प्रापुर्विधेयवैधुर्यं पश्यन्तस्ते मिथो मुखम् ॥ १४३९ ॥ सार्व-
भौमोऽथ विज्ञाय तद्भावं तानभाषत । धीरा भवत भो ! यूयं मा भैष्ट सचिवोत्तमाः ! ॥ १४४० ॥ युष्माकं नैव
दोषोऽयं रिपुदारणलक्षणम् । ज्ञातं मयाऽस्ति तत्तस्य भलिष्याम्यहमेव हि ॥ १४४१ ॥ युष्माभिः केवलं स्वामि-
भक्तिधार्यात्र नाधुना । न युष्मादृशपत्तीनां क्षुद्रोऽयमुचितः खलु ॥ १४४२ ॥ नाभाग्योऽस्य च योग्योऽयं राज्यस्य
प्राज्यसंपदः । न ह्याम्रपल्लवास्वादं [1]मौलिरर्हति जातुचित् ॥ १४४३ ॥ ततस्तैर्मन्त्रिभिः सर्वैर्विरक्तैर्नितरां मयि । स
राजेन्द्रसमादेशस्तथेति प्रत्यपद्यत ॥१४४४॥ आहूयाऽऽदिश्य च श्रोत्रे कर्त्तव्यं चक्रवर्त्यथ । योगेश्वराख्यं मत्पार्श्वे
प्राहिणोत्तन्त्रवादिनम् ॥ १४४५ ॥ सोऽप्याययौ मदभ्यर्णं भूरिराजनरान्वितः । सभास्थं मामपश्यच्च स्तब्धं पिङ्ग-
जनावृतम् ॥ १४४६ ॥ स्थित्वाथ पुरतो योगचूर्णमुष्ट्या स मां मुखे । जघान तत्प्रभावाच्च व्यामोहो मे [2]महान-
भूत् ॥ १४४७ ॥ योगी तपनसत्कोऽयमिति संचिन्तयन्स तु । मम पिङ्गपरीवारो विधेयविधुरोऽभवत् ॥१४४८॥
पूर्णोऽवधिरिति ध्यात्[3]वाऽनेशत्पुण्योदयोऽपि सः । शैलराजमृषावादौ तिरोभूतौ च तौ तदा ॥ १४४९ ॥ अरे !
रे ! दुष्ट ! नायासि देवपादान्तिके मदात् । इत्युक्त्वा सोऽथ योगेशो वेत्रयष्ट्या जघान माम् ॥ १४५० ॥

१ उष्ट्रः । २ मनागभूत् क० ख० घ० ग० । ३ त्वाऽनशत् ग० ।

ज्ञातमीदृग्जातवैन्यो मातृघातुर्विपर्ययः । ततो दास इवोत्थायापतं तत्पादयोरहम् ॥ १४५१ ॥ योगेश्वरसमा
देशादथ ते राजपूरुषाः । विवस्त्रं चक्रिरे क्रूराः पिशाचमिव मां बलात् ॥ १४५२ ॥ प्रक्षाल्य पूर्वमप्याद्यैः कुण्डा
न्यथ सिषाय माम् । प्रदातु प्रारभन्तेति गायन्तस्तेऽथ रासकम् ॥ १४५३ ॥ यो ह्यलीकमदं कुर्यादनृतं च वदेत्
कुधीः । स पापो नूनमत्रैव प्राप्नोत्येवं विडम्बनाः ॥ १४५४ ॥ एवं च गायतां तेषां सहासं च प्रनृत्यताम् ।
गायन्नृत्यन्नदंस्तद्वत्पादेषु पताम्यहम् ॥ १४५५ ॥ चेष्टमानं तथा दृष्ट्वा तेऽथ मां नृपपूरुषाः । सतालहासं
नृत्यन्तो भूयोऽप्येवं जगुस्तराम् ॥ १४५६ ॥ गुर्वादिष्वपि यः पूर्वं न नतो रिपुदारणः । दासांह्रिष्वपि सोऽद्यैष
नमस्यार्घ्यमीक्ष्यताम् ॥ १४५७ ॥ ममापि पदतो वक्त्रं स्फुटित्वाऽद्येदमागतम् । अलीकभाषिणा गर्वस्तम्भाद्येन
च यन्मया ॥ १४५८ ॥ विदधे सज्जनावज्ञामाक्षेपवारपभादिकम् । तस्य पापस्य मे नूनं फलमेता विडम्बनाः
॥ १४५९ ॥ युग्मम् ॥ ज्ञातमपूर्वस्तेन प्रेरितास्तेन योगिना । निघ्नन्तो मां भृशं पादैरिति भूयोऽपि ते जगुः
॥ १४६० ॥ गुर्वक्षां महतां कुर्यान्मिथ्या ब्रूते च यः कुधीः । विपाकमस्ति तस्यैव तपनोऽयं विडम्बनाः
॥ १४६१ ॥ एवं च ते प्रभाषन्तः प्राहरन्नथ पार्ष्णिभिः । मृदङ्गमिव मां चक्रुः कीनाशस्येव किङ्कराः ॥ १४६२ ॥
तथापि मामसुञ्चन्तो नाटयन्तस्तथैव च । कलाशलेटयन्तश्च निन्युस्ते चक्रिपर्षदि ॥१४६३॥ दर्शितं च विशेषात्ते
त्वयत्र प्रेक्षणीयकम् । ततो योगेश्वरमेव रिपुस्तान्ताङ्कुण्डकं तदा ॥ १४६४ ॥ रिपुदारण ! रे ! मूढ ! कीदृपसे

१ मण्डलमध्ये । २ नृत्यन्ति भूयो क० ख० प० ।

इत्यन्येष्वपि गायत्सु रासकं च ददत्स्वहम् ।
किमितस्ततः । देवाग्रे नृत्य नृत्योच्चैः सर्वेषां च पतांह्रिषु ॥ १४६५ ॥ एवं विडम्ब्यमानं मां विलोक्य सकलो जनः । आचु-
अप्यन्त्यजानां पादेषु स्वदोषनिहतोऽपतम् ॥ १४६६ ॥ एवं विडम्ब्यमानं मां विलोक्य सकलो जनः । कुलभूषणनामानं
क्रोश निराशङ्कं सतालं प्रजहास च ॥ १४६७ ॥ चक्रवर्त्यथ सिद्धार्थपुरराज्ये ममानुजम् । कुलभूषणनामानं
निवेश्य स्वं पुरं ययौ ॥ १४६८ ॥ एवं पार्ष्णिप्रहारैस्तैर्जठरे पतितासृजः । जीर्णा सैकभववेद्या गुटिका मे सुलो-
चने ! ॥ १४६९ ॥ गुटिकामथ दत्त्वाऽन्यां निन्ये मां भवितव्यता । तस्यां पापिष्ठवासायां पुर्यां सप्तमपाटके
॥ १४७० ॥ तत्राहं जातपापिष्ठकुलपुत्रकरूपकः । स्थितोऽर्णवांस्त्रयस्त्रिंशद् वज्रकण्टकमध्यगः ॥ १४७१ ॥ गुटिका-
दानयोगेन नीत्वाथ भवितव्यता । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने पुरे [2]फेरुं चकार माम् ॥ १४७२ ॥ एवं चासंव्यवहारं पुर-
मेकं विना तया । [3]भ्रामितोऽहं बहुं कालं सर्वस्थानेषु भूरिशः ॥ १४७३ ॥ सर्वत्र विहितश्चाहं हीनजातिकुलादिकः ।
जिह्वाच्छेदनमूकत्वमन्मनत्वादिभाक् तथा ॥ १४७४ ॥ एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । चिन्तितं यदहो !
मानानृतयोः कापि रौद्रता ॥१४७५॥ यदनेन तदायत्तेनाऽहारि नृभवस्तथा । भवे दुःखानि निन्द्यानि जात्यादीनि
च लेभिरे ॥ १४७६ ॥ संसारिजीवः प्रोचेऽथ भवचक्रे पुरेऽन्यदा । सा मां मर्त्यं व्यधात्तत्र चाहं मध्यगुणोऽभवम्
॥ १४७७ ॥ तादृक्षमथ मां वीक्ष्य मित्रं पुण्योदयं पुनः । प्रकाश्य समभाषिष्ट प्रहृष्टा भवितव्यता ॥ १४७८ ॥
त्वया मनुजगत्यन्तर्वर्द्धमानपुरेऽधुना । गन्तव्यमार्यपुत्रैष तव पुण्योदयः सखा ॥ १४७९ ॥ तथेति प्रतिपेदाने

१ °शान् व ता० क० ग० घ० । २ फेरम् क० ग० घ० । ३ भ्रमितो क० ख० ग० घ० ।

मयि सा भवितव्यता । क्षीणायां मे पुरातन्यां गुटिकामपरां ददौ ॥ १४८० ॥ इति भवस्य कथां रिपुदारणस्य च निशम्य विपाकसुदारुणाम् । रसमृषानृतलम्पटतां जनाः ! त्यजत गच्छत येन परं पदम् ॥ १४८१ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे
मानमृषावादरसनेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम चतुर्थः प्रस्तावः समाप्तः ।



पञ्चमः प्रस्तावः

इहैवास्ति प्रसिद्धं सद् वर्द्धमानाभिधं पुरम् । राजहंसकृतावासं पद्मासद्म च पद्मवत् ॥ १ ॥ यत्र प्रासादशृङ्गस्थैर्ज्योतिर्भिर्ज्योतिरुज्ज्वलैः । दीपोत्सव इवाजस्रं शर्वरीषु विधीयते ॥ २ ॥ धवलस्वयशोराशिधवलीकृतविष्टपः । तत्राभूद् धवलो नाम धरित्रीधवपुङ्गवः ॥ ३ ॥ दुर्वारप्रसरो यस्य प्रतापदवपावकः । विपक्षभूभुजां [2]वंशाञ्शोषनिखिलानपि ॥ ४ ॥ कमलास्या कमलाक्षी कमलेवान्यमूर्तिभाक् । तस्याग्रमहिषी जज्ञे नाम्ना कमलसुन्दरी ॥ ५ ॥ तस्याः कुक्षिसमुद्भूतः सद्भूतगुणमन्दिरम् । बभूव भूपतेस्तस्य विमलो नाम नन्दनः ॥ ६ ॥ तत्र चासीत् पुरे पौरराजमान्यो महाधनः । सोमदेवाभिधः श्रेष्ठी सर्वश्रेष्ठगुणाश्रयः ॥ ७ ॥ जज्ञे तस्य च शीलादिगुणरत्नमहा

१ तत्र ग० । २ वंशान् वनान् इत्यर्थः । ३ साम क० स० ।

खनिः । कान्ता कनकगौराङ्गी नाम्ना कनकसुन्दरी ॥ ८ ॥ भवितव्यतया क्षिप्तस्तस्याः कुक्षावहं ततः । काले मां
सुषुवे सापि सुतं पुण्योदयान्वितम् ॥ ९ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्यानि कृत्वा तौ पितरावथ । चक्रतुः समये वामदेव
इत्यभिधा मम ॥ १० ॥ पितृभ्यां पाल्यमानोऽथ जातसर्वसमीहितः । चूतद्रुम इवारामे तत्राहं ववृधे क्रमात्
॥ ११ ॥ अथाहमन्यदा किञ्चिद् व्यक्तचैतन्यसंगतः । कृष्णं नरद्वयं वक्रां नारीमेकां च दृष्टवान् ॥ १२ ॥ अथै-
कस्तत्र मां स्नेहाद् गाढमालिङ्ग्य पूरुषः । मित्र ! प्रत्यभिजानीषे किं मां नो वेत्यभाषत ॥ १३ ॥ नेत्युक्तेऽथ
मया जातविषादः सोऽवदत्पुनः । चिरदृष्टोऽप्यहं मित्र ! कथं ते विस्मृतिं गतः ॥ १४ ॥ मयोक्तं कुत्र दृष्टोऽसि
त्वं मया वरलोचन !। तेनोक्तं कथयाम्येष समाकर्णय सांप्रतम् ॥१५॥ नगरेऽसंव्यवहारे वास्तव्यस्त्वं पुराऽभवः।
तत्राऽऽसन्मादृशाः प्राज्या मां विना सुहृदस्तव ॥ १६ ॥ भ्रमणायान्यदा कर्मपरिणामनिदेशतः । भवितव्यतया
सार्द्धं निर्यातस्त्वं स्वभार्यया ॥ १७ ॥ अथैकाक्षविकलाक्षनिवासपुरयोर्भ्रमन् । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने समायातस्त्व-
मेकदा ॥ १८ ॥ संज्ञ्यन्तःस्थस्य तत्रापि तवाहमभवं सुहृत् । तिरोभूतः परं तेन न सम्यग् लक्षितस्त्वया ॥ १९ ॥
प्रभूतकालं तत्राथ स्थित्वा त्वं नगरात् ततः । भ्राम्यन् मनुजगत्यन्तः सिद्धार्थपुरमागतः ॥ २० ॥ नरवाहन-
राजस्य गृहे त्वं तत्र च स्थितः। दिनानि कतिचित् ख्यातो रिपुदारणसंज्ञया ॥२१॥ संसारिजीव इत्याख्या बभूवा-
वस्थिता तव । वासके वासके किन्तु जायते साऽपराऽपरा ॥ २२ ॥ ततस्तत्र स्थितेनाहं मृषावाद इति स्फुटम् ।
वयस्य ! प्रत्यभिज्ञातो भवता वरलोचन ! ॥ २३ ॥ सार्द्धं मयाथ तत्र त्वं चिक्रीडिथ निजेच्छया । बभूव च परा

१ गाढ० ग० ।

श्रीशर्मतल्पाक्षोभ्रले च ॥ २४ ॥ रागकेशरिनन्दिन्या मायाया उपदेशतः । ममैतत् कौशलमिति स्वरूपतोऽह
तदाऽवदम् ॥ २५ ॥ ममापि दर्शनीया सा मायेति त्वमथाऽवदः । यथापि प्रतिपन्नं तथाऽसकीन वचस्तदा ॥ २६ ॥
प्रतिपन्नस्य तस्याथ सोऽप्रमेयोऽधुना स्मरन् । तामात्मजामिमादायाऽऽगतस्त्वद्दर्शनेच्छया ॥ २७ ॥ ततश्च स तदा
तादृक् स्नेहस्तव मया सह । अपि प्रत्यभिजानासि न मां त्वमधुना पुनः ॥ २८ ॥ तदेष मन्दभाग्योऽत्र त्वयाऽत्र
मपश्चितोऽधुना । क यामि ? क च तिष्ठामि ? किं करोमि ? च सुन्दर ! ॥२९॥ मयोचे न स्मराम्येतं वृत्तान्तं भद्र !
मामकः । भविष्येऽस्तत्पाप्यस्ति यथा स चिरसंगतः ॥ ३० ॥ यतस्त्वां वीक्ष्य मे ह्यद्य चित्तानन्दोऽधुना महान् ।
जातिस्मरा ततो मन्ये दृष्टिरेषा यतीरिताम् ॥ ३१ ॥ तस्मादत्र न कर्तव्यः खेदो भद्रेण सर्वथा । वपस्य
माचक्ष्वस्वं ब्रूहि यथे प्रयोजनम् ॥ ३२ ॥ तेनोक्तमियदेवात्र मम मित्र ! प्रयोजनम् । यदेषाऽस्मदीयभगिनी
दर्शिता तेऽतिवत्सला ॥ ३३ ॥ मायेति प्रथमचित्तापि जनैर्मरितरञ्जितैः । इयं च मधुलिकेति प्रियनाम्नाऽभिधीयते
॥ ३४ ॥ तदेनया सम सौम्य ! वर्तितव्यं मया यथा । अहं तिरोभविष्यामि नास्ति मेऽवसरोऽधुना ॥ ३५ ॥
किन्त्वेषा मित्र ! यत्राऽऽस्ते तत्राहं स्थित एव हि । परस्परानुविद्धं हि स्वरूपं सर्वदाऽऽवयोः ॥ ३६ ॥ एषोऽपि
पुत्रो भद्र ! कनिष्ठो मे सहोदरः । स्तेयनामा महावीर्यस्तव सख्यं समीहते ॥ ३७ ॥ प्रस्तावमधुना ज्ञात्वा
ततेऽप्यमपि दर्शितः । तद् रूपः स्नेहभावेनासावप्यहमिव त्वया ॥ ३८ ॥ मयोचे ते स्वसा चेय सा ममापि
स्वसाऽन्वय ।। सोदरस्तव यथार्थं स ममापि हि सोदरः ॥ ३९ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा सोऽथ दृष्टस्तिरोदधे । तो

च बहुलिकास्तेयौ मच्छरीरमविक्षताम् ॥ ४० ॥ तयोश्चाहं प्रभावेण प्रभूतकलुषाशयः । वञ्चयामि जनं सर्वं मुष्णामि च यदृच्छया ॥ ४१ ॥ एवं विचेष्टमानोऽहं लघुर्जज्ञे तृणादपि । द्विजिह्व इव लोकानामविश्वास्यो बभूव च ॥ ४२ ॥ इतश्च राजपत्नी या प्रोक्ता कमलसुन्दरी । मज्जनन्याः सखी साभूत्सर्वकालमतिप्रिया ॥ ४३ ॥ ततः स कुक्षिभूस्तस्या विमलो नृपनन्दनः । संजातो मातृसंबन्धाद् वयस्यः परमो मम ॥ ४४ ॥ स्वसूप्रभावाद् दम्भेन वर्त्ते तत्रापि किन्त्वहम् । मयि निश्छद्मभावेन स पुनः सरलाशयः ॥ ४५ ॥ वर्त्तमानः स मय्येव-मभ्यस्ताखिलसत्कलः । कन्दर्पभूपतिक्रीडावनं यौवनमासदत् ॥ ४६ ॥ अथान्यदा मया सार्द्धं धवलोर्वीशनन्दनः । स क्रीडानन्दनं नामाऽदृष्टपूर्वं ययौ वनम् ॥ ४७ ॥ स्वेच्छया रममाणाभ्यामावाभ्यां तत्र शुश्रुवे । नूपुरारावसंमिश्रः कयोश्चिन्निभृतो ध्वनिः ॥ ४८ ॥ ततस्तदनुसारेण पर्यटद्भ्यामदृश्यत । एकत्र नृमिथुनस्य कस्यापि पदपद्धतिः ॥ ४९ ॥ विमलस्तां विलोक्याथ प्रत्यभापत मामिति । मिथुनं तन्न सामान्यं यस्यैषा पदसंततिः[3] ॥ ५० ॥ स्वस्तिकाङ्कुशचक्रादिलाञ्छिता रुचिराकृतिः । इयं हि तस्य युग्मस्य सूचयत्यद्भुतां श्रियम् ॥ ५१ ॥ मयोक्तमग्रतो गत्वेक्ष्यते तर्हि कुमार ! तत् । ततोऽग्रतो गतावावामपश्याव लतागृहम् ॥ ५२ ॥ निरूपिते लताच्छिद्रैस्तत्रावाभ्यामथैक्ष्यत । तन्मिथुनकमासीनं रतिमन्मथविभ्रमम् ॥ ५३ ॥ अपसृत्याथ निभृतं विमलो मामवोचत । वामदेव ! न सामान्याविमौ स्त्रीपुरुषौ ध्रुवम् ॥ ५४ ॥ यतोऽनयोर्यथा पुण्यलक्षणा

१ मूप० क० ख० ग० । २ मन्दः । ३ पाद० ग० ।

पद्मपत्रवितिः । यथा निःशेषमप्यङ्ग पुण्यलक्षणलक्षितम् ॥ ५५ ॥ चक्रवर्ती भवेन्नूनं नरोऽमूदृशलक्षणैः । वनितापीदृशी भद्र ! जाया तस्यैव जायते ॥ ५६ ॥ अथाहमवदं पुंस्त्रीलक्षणाकर्णने महत् । कौतुकं मे वदाऽऽख्याहि कुमारोऽत्रैति यानि मे ॥ ५७ ॥ इति पृष्टो मया सोऽथ चपलक्षितिपाङ्गभूः । समारब्धः समाख्यातुं वाचनानि सविस्तरम् ॥ ५८ ॥ समाकर्णयासितुर्दर्शी तस्योपरि लतौकसः । तावत्समोऽभ्यना कोऽपि नरो दो सखेचरः ॥५९॥ (युग्मम्)॥ सुष्टं कुरु रे लोक सरामीशां च देवताम् । नश्यतोऽपि न ते मोक्षोऽस्तीत्येकोऽभ्यानदवचो ॥ ६० ॥ तदाकर्ण्य लतागेहमभ्यवर्ती स पूरुषः । धीरा भवेति संस्थाप्य तां क्षिप भीरुमानसाम् ॥ ६१ ॥ अरे रे स्ववशो नैव निस्सर्तव्यमिति ब्रुवन् । तत्संमुखमुदस्यासिरुत्पपात लतागृहात् ॥ ६२ ॥ युयुधाते महायोधौ सक्रोधौ चिरं तौ ततः । स्वनिराक्षेपदिक्चक्रौ स्वेलाभरवारवैः ॥ ६३ ॥ तयोः प्रहरतोरेव द्वितीयः स पुमानथ । तस्यैव च लतावेश्म वीक्षते स्म मुहुर्मुहुः ॥ ६४ ॥ सापि बाला तमालोक्य व्याधमृगवधूरिव । पलायितु प्रवृत्ते भयसंभ्रान्तलोचना ॥ ६५ ॥ नश्यन्ती मा विलोक्याथ विमल प्रस्यमापत । त्रायस्व मां नरश्रेष्ठ ! त्रायस्व शरणागताम् ॥ ६६ ॥ विमलः प्राह मा भैषी स तु तत्रागतः पुमान् । स्तम्भितो वनदेव्यास्तु कुमारगुणतुष्टया ॥ ६७ ॥ इतः स पुरुषस्तेन युग्मपुंसा विनिर्जितः । पलायिष्ट नरोऽप्यासु दधावे तस्य पृष्ठतः ॥ ६८ ॥ वियात्तु पृष्ठतस्तस्य त्रासाय वनदेवता । अमोच स्तम्भितनरं ययौ सोऽप्यनुपुंस्मिनम् ॥ ६९ ॥ तेन द्विष्यपि यातेषु मम चक्षुरगोचरम् । प्रवृत्ता सा विलपितुं बाला प्रियवियोगतः ॥ ७० ॥ तां

कृच्छ्रेणाथ संस्थाप्य यावदावां स्थितौ क्षणम् । तावन्मिथुनकस्तस्या विजयी द्रागुपाययौ ॥ ७१ ॥ तद्दर्शनसुधावृष्टिसंजातानन्दकन्दला । सर्वं स्वोदन्तमाचख्यौ सा च तस्मै शुचिस्मिता ॥ ७२ ॥ प्रणम्य विमलं प्रोचे सोऽथ हृष्टः कृताञ्जलिः । त्वं मे बन्धुः पिता माता जीवितं च नरोत्तम ! ॥ ७३ ॥ ममेयं रक्षिता तस्माद् दुष्टाद् येन प्रिया त्वया । किङ्करः किं करोत्वेष तज्जनो धीर ! ते प्रियम् ॥ ७४ ॥ विमलोऽभिदधे भद्र ! संभ्रमेणामुना कृतम् । त्रातुं केऽत्र वयं ? त्राता त्वयैवैषा स्वतेजसा ॥ ७५ ॥ किन्तु मे कौतुकं भूरि ततो भद्रेण कथ्यताम् । वृत्तान्तः को न्वसौ किं वा गतस्याभूत्तवाधुना ॥ ७६ ॥ यद्येवं तत् कुमारेण क्षणमत्रास्यतामिति । तेनोक्तेऽथ लतागारे तत्र सर्वेऽप्युपाविशन् ॥ ७७ ॥ स प्रोचेऽथ कुमारास्ति विद्याधरनिवासभूः । भूरिभासुररूप्याढ्यो वैताढ्यो नाम भूधरः ॥ ७८ ॥ तस्मिंश्च दक्षिणश्रेण्यां पुरे गगनशेखरे । भूपतिः कनकशिखारमणोऽभून्मणिप्रभः ॥ ७९ ॥ बभूव तनयस्तस्य रत्नशेखरनामकः । रत्नशिखामणिशिखाभिधे दुहितरौ पुनः ॥ ८० ॥ मेघनादो रत्नशिखामुपयेमे नभश्चरः । रत्नचूडाभिधानोऽहं तयोश्च तनयोऽभवम् ॥ ८१ ॥ विद्याधरो मणिशिखामुपायंस्ताऽमितप्रभः । तयोः पुत्रावजायेतामचलश्चपलस्तथा ॥ ८२ ॥ रतिकान्ताभिधा रत्नशेखरस्य प्रियाभवत् । तयोः पुत्रीयमेकैव संजज्ञे चूतमञ्जरी ॥ ८३ ॥ इतो बालसुहृद् रत्नशेखरस्यास्ति शुद्धधीः । सिद्धपुत्रश्चन्दनाख्यो जैनधर्मविचक्षणः ॥ ८४ ॥ तत्संसर्गादभूद् रत्नशेखरः परमार्हतः । तस्योपदेशतश्चाहं मदीयपितरावपि ॥ ८५ ॥ अथैवमन्यदा रत्नशेखराय समाख्यत । चन्दनः सिद्धपुत्रः स निमित्तज्ञानपण्डितः ॥ ८६ ॥ यथायं भागिनेयस्ते पुण्यलक्षण-

लक्षितः । रत्नचूडोऽभिराद्धियाधरचक्री भविष्यति ॥ ८७ ॥ तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽथ प्रददौ रत्नशेखरः । लक्षितोऽप मिति ज्ञात्वा ममैनां चूतमञ्जरीम् ॥ ८८ ॥ मया तस्यामुदूढायामचलमपलम्बत तौ । क्रुद्धौ तदपहारार्थं मच्छिद्राणि स्म पश्यतः ॥ ८९ ॥ तत्स्वरूपावबोधाय मुसराख्यो मया चरः । प्रयुक्तोऽथ समेत्याथ स मे मातन्र्यवेदयत् ॥ ९० ॥ देव ! काली कर्चिद्विद्यां साधयित्वा चिरादिमाम् । साधय गृहमायातौ कुर्वाते स्मेति मन्त्रणम् ॥ ९१ ॥ योऽस्य रत्नचूडेन सार्धमेकेन केनचित् । अपरेण तु हर्तव्या तूर्णं सा चूतमञ्जरी ॥ ९२ ॥ तदेव संस्थिते देव ! यद्युक्तं तद्विधीयताम् । मयाप्यथ तदाकर्ण्य चिन्तितं निवृषेवसि ॥ ९३ ॥ सविद्यावपि तौ हन्तुं शक्तो यद्यप्यहं बलात् । तथापि तौ न हन्तव्यौ मया मातृष्वसुः सुतौ ॥ ९४ ॥ दुर्यशो धर्महानिश्च भवस्तौ स्यातां मम । तयोस्तु न किमप्यस्त्यकर्तव्यं दुष्टशीलयोः ॥ ९५ ॥ तत् तौ छलेन यद्येनां हरतश्चूतमञ्जरीम् । गृहतो मृत्युरेव स्यात् तदा मे लाघवं परम् ॥ ९६ ॥ ममान्यो न च कोऽप्यस्ति सहायो यो हि सुहृधीः । ममैनां गुप्यमानस्य त्रायते चूतमञ्जरीम् ॥ ९७ ॥ तदेवं संस्थिते शुकमपाक्रममथैव मे । ध्यात्वेत्येनां गृहीत्वाऽऽत्मोद्यानेऽत्र समागतः ॥ ९८ ॥ सपक्षः स्थितमास्मि यावदत्र लतागृहे । मामन्वेषागतौ तावदचलमपलम्ब तौ ॥ ९९ ॥ अयाचलेन साक्षेपमाहूतो मावदर्पतः । प्रियाप्रेमनिबद्धोऽपि तत्संमुखमधाविषम् ॥ १०० ॥ खे युद्धं चापयोर्लग्नं तद् युष्मा भिरपीक्षितम् । चापलेऽचलके तस्मिन्नहं तमनुधावितः ॥१०१॥ दूरे प्राप्तोऽथ स मयोत्तेजितो निष्ठुरोक्तिभिः ।

१ °प्याम् भ० । २ °मु° क° ख° ।

फणीव यष्टिसंस्पृष्टः संमुखं ववले मम ॥ १०२ ॥ योधयित्वा क्षणं सोऽथ धृत्वा च पदयोर्मया । गाढमास्फोटितः
क्रोधान्नभस्थेनैव भूतले ॥ १०३ ॥ चूर्णिताशेषदेहत्वाद् ज्ञात्वा तं समराक्षमम् । ववलेऽहमथ क्षिप्रं प्रियाशुद्धिसमु-
त्सुकः ॥१०४॥ वलमानश्च संवीक्ष्याभ्यायान्तं चपलं जवात् । अचिन्तयमहं चित्ते शङ्काकुलितमानसः ॥१०५॥
अये ! दृष्टा किमेतेन चपलेन न मे प्रिया। किं वा रतमनिच्छन्ती जघ्ने रोषाद्दुरात्मना ? ॥१०६॥ दृष्टायामथ जीव-
न्त्यां तस्यां न खलु जातुचित्। एवमेत्येष तदहं सांप्रतं किं करोमि ? हा ! ॥१०७॥ यावच्च चिन्तयाम्येवं चपल-
स्तावदाययौ । लग्नं तेनापि सार्द्धं मे बृहदायोधनं ततः ॥ १०८ ॥ तमप्यचलवज्जित्वा द्रुतमेषोऽहमागमम् ।
प्रेयसीगोचरानेककुविकल्पसमाकुलः ॥१०९॥ दृष्टायामधुना त्वस्यां दयितायां तथानया। कथिते तव माहात्म्ये
सुस्थं चेतो ममाभवत् ॥ ११० ॥ प्रथमोपकृतिक्रीतोऽधुनास्या रक्षणात्ततः । कुमाराहमनीहस्य किं प्रत्युपकरोमि
ते ? ॥ १११ ॥ इत्युक्त्वाविश्वकारैष रत्नमेकं नमश्चरः । विकाशि स्वप्रकाशेन जितमार्तण्डमण्डलम् ॥ ११२ ॥
कृतेन्द्रकार्मुकं तच्च रोचिर्भिर्मेचकैः पुरः । सितादिवर्णभेदेन निश्चेतुं नैव पार्यते ॥ ११३ ॥ स प्रोचे पुनरप्येवं यथा
रत्नमिदं पुरा । देवेनैकेन तुष्टेन प्रदत्तं मे सुमेचकम् ॥ ११४ ॥ रोगदारिद्र्यदौर्भाग्यक्षुद्रोपद्रवविद्रवम् । सर्वापत्ति-
विघातं च करोत्येतच्च देहिनाम् ॥ ११५ ॥ यद्वा नास्त्येव तल्लोके यदभीष्टं क्षणादपि । चिन्तारत्नमिवानर्घ्य-
मनर्घ्यं न करोत्यदः ॥ ११६ ॥ तदस्य ग्रहणादार्यः करोतु मदनुग्रहम् । भवन्ति हि महात्मानः परानुग्रहसा-
ग्रहाः ॥ ११७ ॥ विमलोऽथ जगादेवं मुच्यतामयमाग्रहः । अस्तु पार्श्वे तवैवेदं करिष्येऽहमनेन किम् ?

॥ ११८ ॥ किञ्चाप्त खलु दुष्प्राप स्त्वादृशां दर्शनं सताम् । तच प्राप्तवता सौम्य ! किं किं नासादितं मया ?
॥ ११९ ॥ पूतमप्यर्पयोगात् विमलं च महाशय ! । अभ्यर्थनार्यपुत्रस्य सफलीक्रियतामसौ ॥ १२० ॥
निःस्पृहा अपि चित्तेन मने प्रणयिनि ध्रुवम् । सन्तो नाभ्यर्थनाभङ्गं दाक्षिण्याज्जातु कुर्वते ॥ १२१ ॥
यावच्चे विचार्यापि विमलः किञ्चिदुत्तरम् । तावत्त्वं च रत्नं पश्चान्ते तस्य खेचरः ॥ १२२ ॥ तादृशरत्न
लाभेऽपि निरानन्दं निरादरम् । विलोक्य विमलं दध्यौ चित्ते चैवं स विस्मितः ॥ १२३ ॥ अहो ! कोऽप्येष
पुंभेदः सर्वाद्भुतगुणास्पदम् । ईदृशरत्नलाभेऽपि यस्येदृग् निःस्पृहं मनः ॥ १२४ ॥ तदेनमस्य सुहृदं प्रश्नयामि
यदेष कः ? । किङ्कुलः ? किंपिता ? कस्यः ? किंधर्मा च नरोत्तमः ? ॥ १२५ ॥ ध्यात्वेति चिन्तितमसौ मां
पप्रच्छ रहस्यथ । आचक्ष्वावहमप्येष महाभाग ! निशम्यताम् ॥ १२६ ॥ वर्द्धमानपुरस्यास्य प्रभोर्धवलभूपतेः ।
सुतोऽयं विमलो नाम क्षत्रियाणां शिरोमणिः ॥१२७॥ धर्मस्तु कोऽपि नाद्यापि प्रपन्नोऽस्ति विशेषतः । लोकोत्तरं
तथाप्यस्य किञ्चित् वृत्तं महात्मनः ॥ १२८ ॥ इत्य सोऽथ समाकर्ण्य रत्नचूडो व्यचिन्तयत् । साधनेन समा-
ख्यातं तन्मे युक्तमदोऽधुना ॥१२९॥ दर्शयामि यदेतस्मादिदिम्बमुपकारकृत् । मानिन्यत्र ममाप्येष पूर्णां प्रतिकृत
स्तदा ॥ १३० ॥ ध्यात्वेत्यूचे स विमलं कुमाराऽत्र वने पुरा । आसीदुपागतो मातामहो मम मणिप्रभः ॥१३१॥
चैत्याभिराममेतच्च स भीनामेयमन्दिरम् । विद्याधरावताराय कारयामास सुन्दरम् ॥ १३२ ॥ अत एव पुरोद्याने
चतुर्मोऽरमितामतः । ततो मेऽत्रागतं कृत्वा तत्कुमारेण चीत्यताम् ॥ १३३ ॥ एवमस्त्विति हृष्टेन विमलेन

प्रजल्पिते । सर्वेऽपि तत्र तीर्थेशसदने समुपाययुः ॥ १३४ ॥ नानाविधमणिस्वर्णशिलासंघातनिर्मितम् । मेरुशृङ्ग-
मिवोत्तुङ्गं सर्वेऽपि ददृशुश्च तत् ॥१३५॥ तदन्तस्तैः प्रविष्टैश्च ददृशे रत्ननिर्मितम् । बिम्बं युगादिदेवस्य सुधाञ्जन-
निभं दृशोः ॥ १३६ ॥ नेमुस्तदथ सर्वेऽपि रोमाञ्चाञ्चितविग्रहौ । ववन्दाते च विधिना तौ तु[2] खेचरदम्पती
॥ १३७ ॥ चराचरजगद्बन्धोर्बिम्बमाद्यजिनस्य तत् । पश्यन्संचिन्तयामास शुद्धधीर्धवलात्मजः ॥ १३८ ॥
अहो ! रूपमहो ! कान्तिरहो ! वीतविकारता । अस्य देवाधिदेवस्य सर्वातिशयशालिनः ॥ १३९ ॥ तदस्याऽऽ-
ख्याति देवस्य मूर्त्तिरेवास्तदोषताम् । नहि मध्यस्थिते व्याधौ सश्रीकं स्याद्वपुः क्वचित् ॥ १४० ॥ दृष्टपूर्वो
समायं तत् क्वापीति प्रतिभासते । न तु स्मृतिपथं याति मन्दाभ्यासस्य शास्त्रवत् ॥ १४१ ॥ एवं च विमल-
स्योच्चैस्तदा चिन्तयतः सतः । अतुच्छा समभून्मूर्च्छा जातिस्मृतिनिबन्धनम् ॥ १४२ ॥ सम्भ्रान्तेन मया रत्न-
चूडेनाप्युपवीजितः । सञ्जातजातिस्मरणः सोऽथ सम्प्राप चेतनाम् ॥ १४३ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽथ रत्नचूडेन
भूपभूः । तत्पादावश्रुपूर्णाक्षः प्रणनाम मुहुर्मुहुः ॥ १४४ ॥ ऊचे च जीवितं बन्धुर्नाथो माता पिता गुरुः । देवता
परमात्मा च त्वं मे सफलदर्शन ! ॥ १४५ ॥ येन त्वया दर्शितस्य जिनबिम्बस्य दर्शनात् । जातिस्मरणमुत्पेदे
मम कल्याणकारणम् ॥ १४६ ॥ ततो यत्र भवे प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुज्ज्वलम् । तस्मादारभ्य सर्वेऽपि मया व्यक्तं
भवाः स्मृताः ॥ १४७ ॥ तेषां च स्मरणाज्जैने धर्मे लीनं मनो मम । तदेवं यच्छता धर्मं किं मे नोपकृतं त्वया ?

१ ०स्थैः प्र० ता० । २ च खे० क० ख० ग० घ० । ३ च का० क० ख० ग० घ० । ४ ° जीवितः ग० ।

॥ १४८ ॥ निष्पापगुरुकल्पस्य तवोऽद्विनमनाविका। विनयः क्रियते योऽसौ छद्मायै स न मे ध्रुवम् ॥ १४९ ॥ एवं ब्रुवन् स भूपोऽपि पादपमति तस्पशौ। तावदोष्णोर्दधानस्तं प्रत्युवाच स खेचरः ॥ १५० ॥ पर्याप्तं सम्भ्रमेणैव कुमार! त्वयमेव हि। श्रेयसामीदृशं पात्रं भवान् केऽत्र वय ननु! ॥ १५१ ॥ निमित्तमात्र किन्त्वत्र ममापि हि समेयुषः। त्वयि प्रत्युपकारेच्छा सांप्रतं सफलाऽभवत् ॥१५२॥ तादृग् रत्नार्पणेनापि महेच्छस्य पुरा तव। कृतः प्रत्युपकारोऽभूत्र कोऽपि हि यतो मया ॥१५३॥ विमलोऽथ पुनः प्रोचे धर्मेऽहं स्थापितेऽधुना। यातियोऽपि निमित्तत्वं सोऽपि धर्मगुरुः खलु ॥ १५४ ॥ भवांस्तु भगवद्बिम्बदर्शनाद्धर्मवर्त्मनि। मामित्थं स्थापयन् धर्माचार्य एव मम ध्रुवम् ॥ १५५ ॥ तदेवं विहितानन्यसामान्योपकृतेस्तव। प्राणैरपि प्रयात्यार्य! न निष्क्रयमयं मनः ॥ १५६ ॥ तदेव च स्थिते मत्र! भवार्णवतरीनिभाम्। विधित्साम्यधुना दीक्षां विरक्तो गृहवासतः ॥ १५७ ॥ केवलं सन्ति भूपासस्तातादाः स्वजना मम। यदि तेऽपि प्रबोध्यन्ते ततः स्यादतिसुन्दरम् ॥ १५८॥ बोधोपायस्ततस्तेषां कोऽप्यार्येण विचार्यताम्। रत्नचूडस्ततोऽवादीदर्यैवं भूयतां सखे! ॥१५९॥ इहैव मन्दिरेऽस्तीताम्यामेनं जिनेश्वरम्। अहं ननु समायातो बभूव सपरिच्छदः ॥ १६० ॥ तत्पश्चाश्च मयानेकसाधुमध्यवर्ति। स्थितः। सोऽधुना पुरतः धर्मम् गिरा स्तनितधीरया ॥ १६१ ॥ धर्मपीयूषगण्डूषदेशीयां धर्मदेशनाम्। सूरिरेकोऽतिवीमर्त्यैः गुरूणां शिरोमणिः ॥ १६२ ॥ युग्मम् ॥ दृष्यौ त च विलोक्यात्मतो! भगवतोऽस्य नं।

१ वदई वि० ग०। २ रे वीतरा० ग०। ३ स्तुः क्रु० ग०। ४ मा ग०।

सरूपं वचसो रूपं क्व वा सर्वे गुणाः पुनः ? ॥ १६३ ॥ चिन्तयन्निति गत्वान्तस्तीर्थनाथमनंसिषम् । स्नपयित्वाऽतिविच्छर्दाद् विलिप्यापूजयं ततः ॥ १६४ ॥ सङ्गीतकं कारयित्वा नुत्वा नत्वा पुनः प्रभुम् । विवन्दिषुरहं साधून् बहिस्तानथ निर्ययौ ॥१६५॥ हेमाम्भोजसमासीनो जात्यजाम्बूनदद्युतिः । रूपनिर्जितकन्दर्प्पः सौभाग्यापास्तचन्द्रमाः ॥ १६६ ॥ तथैव साधुमध्यस्थः कुर्वाणो धर्म्मदेशनाम् । स एवान्य इवादर्शि तत्राथ गणभृन्मया ॥ १६७ ॥ अवधारितया पूर्वं प्रत्यभिज्ञाय तं गिरा । अथाहं विममर्शैवं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥१६८॥ अहो ! तादृक्कुरूपोऽपि सूरिरेष क्षणादपि । कथमीदृक्सुरूपोऽभूदथवा चित्रमत्र किम् ? ॥ १६९ ॥ साधूनां हि भवन्त्येषां तपसानेकलब्धयः । तत्प्रभावाच्च तन्नास्ति यदेते नहि कुर्वते ॥ १७० ॥ विमृश्येति ववन्देऽहं प्रोद्यद्रोमाञ्चकञ्चुकः । विधिवद् भगवन्तं तमपरानपि तान्मुनीन् ॥ १७१ ॥ प्राप्ताशीः सपरीवारो निविष्टः शुद्धभूतले । तां चाश्रौषमहं धर्मदेशनां मोहनाशिनीम् ॥ १७२ ॥ क एष भगवानेवं पृष्टोऽथ शनकैर्मया । साधुरेकोऽन्तिकासीनः कथयामास सादरम् ॥ १७३ ॥ धरातलवासी शुभविपाकनृपनन्दनः । अस्मद्गुरुरयं सूरिर्बुधो नाम निगद्यते ॥ १७४ ॥ तच्छ्रुत्वा वीक्ष्य तांस्तांश्च सूरेरतिशयान्मम । जज्ञे सपरिवारस्य जैनधर्मे स्थिरं मनः ॥१७५॥ नत्वाहमथ तं सूरिं मुदितः सपरिच्छदः । स्वस्थानमगमं सोऽपि भगवानन्यतो ययौ ॥१७६॥ ततश्चैवं स्थिते भद्र ! बुधः स भगवान् यदि । एत्यत्र तत्ते स्वजनवर्गं बोधयति ध्रुवम् ॥ १७७ ॥ आर्य ! सोऽपि त्वयैवात्रानेयोऽभ्यर्थ्य कथञ्चन ।

---

१ नत्वा स्तुत्वा ग० ।

इत्युक्तो विमलेनाथ रत्नचूडोऽब्रवीत्पुनः ॥ १७८ ॥ कुमार ! भवदादेशः प्रमाणं सर्वथापि मे । विधुरौ पितरौ
किन्तु वर्तेते मद्वियोगतः ॥ १७९ ॥ तद् गच्छाम्यधुना तावत्तदाह्लादनहेतवे । ततोऽत्र भवदादेशं करिष्याम्येव
निश्चितम् ॥ १८० ॥ भवत्सङ्गामृतास्वादलालसस्य ममाधुना । गच्छामीति च वक्तव्ये भारती न प्रवर्तते ॥१८१॥
परमेतन्महत् कार्यं पित्राश्वासनलक्षणम् । संचिन्त्य हृदये स्वच्छ ! गच्छामीति मयोच्यते ॥ १८२ ॥ विमलोऽप्या
ख्यदाज्ञाविवियोगविमनापितः । अवश्य यदि गन्तव्यं तत् सम्प्रस्थार्य ! गम्यताम् ॥ १८३ ॥ विसर्ज्य परं
चरेन्न तस्याऽऽनयन सखे ! । अत्रार्थे नाधृतिः कार्येत्यूचे विद्याधरोऽपि सः ॥ १८४ ॥ इत्युक्त्वा रत्नचूडोऽथ
निजकान्तासमन्वितः । संभाष्य विमल मां च जगाम निजमास्पदम् ॥१८५॥ निशम्यापि तयोर्धर्म्यवार्तां ताम-
मृतोपमाम् । मनागपि मनो भद्र ! नामद्रस्य ममाद्रवत् ॥ १८६ ॥ विमलोऽथ नमस्कृत्य भगवन्त विशेषतः ।
त मन्दिराच्च निर्गत्य मामवोचत चाटुवाक् ॥ १८७ ॥ वयस्य ! यदिदं रत्नं रत्नचूडेन मे किल । महाप्रभाव
मदत्तं तेनार्थः स्यात् कश्चिन्महान् ॥ १८८ ॥ रत्नादौ मम चानास्था प्रधानेऽपि धनेऽधुना । गृहे नीतं ततो
नूनं नश्यत्यस्येतदनादरात् ॥१८९॥ तदतोऽत्रैव कुत्रापि प्रदेशे न्यस्य गम्यते । इत्युक्त्वोन्मोच्य वस्त्रान्त तद्रत्न स
ममार्पयत् ॥ १९० ॥ मयापि हि तदेकत्र प्रदेशेऽनुपलक्षिते । न्यस्तान्यथ पुरे गत्वा स्व स्वभावौ गतौ गृहम्
॥ १९१ ॥ ततः स्वेयबुद्धिकाधिष्ठितोऽहमचिन्तयम् । चिन्तारत्ननिभं रत्न रत्नचूडस्तदाऽऽख्यत ॥ १९२ ॥
तूर्णं तत्र वने गत्वा हरामि तदहं ततः । ध्यात्वेति तत्र गत्वाऽहं तदन्यत्र निखातवान् ॥ १९३ ॥ भूयो

दध्यावहं सम्प्रत्यायाति विमलोऽत्र चेत्। रिक्तं स्थानं स दृष्ट्वैतत् तदैवं चिन्तयेद् ध्रुवम् ॥ १९४ ॥ यन्नूनं वामदेवेन रत्नं तज्जगृहे ततः। तद्रत्नमानो यद्यत्र क्षिप्यते ग्रावगोलकः ॥ १९५ ॥ ततस्तमत्र संवीक्ष्य स नूनं चिन्तयेदिति। ममैवाभाग्यवशतस्तद्रत्नं प्रस्तरोऽभवत् ॥ १९६ ॥ इति ध्यात्वा तत्प्रमाणं तत्र पाषाणगोलकम्। क्षिप्त्वाऽऽगां स्वगृहं रात्रौ शय्यास्थोऽचिन्तयं पुनः ॥ १९७ ॥ सुन्दरं न मया चक्रे न रत्नं तदनायि यत्। तथा-कुर्वन् भविष्यामि दृष्टोऽहं केनचित्तदा ॥ १९८ ॥ स ग्रहीष्यति तन्नूनं किं करोम्यधुना ततः। एवं चिन्तयतोऽतीता रात्रिर्जाग्रत एव मे ॥ १९९ ॥ अथोत्थाय प्रगे रत्नं तदानेतुं द्रुतं वने। तस्मिन्नगामितश्चागाद् विमलो मे निकेतने ॥ २०० ॥ शशंस तस्मै पृष्टोऽथ वेश्मस्थो मत्परिच्छदः। वामदेवोऽधुना क्रीडानन्दनाभि-मुखं ययौ ॥ २०१ ॥ ततो ममानुमार्गेण विमलोऽपि समाययौ। तं वीक्ष्य क्षोभतो रत्नप्रदेशो विस्मृतो मम ॥ २०२ ॥ ग्रावगोलमथादाय कटीपट्यां प्रगोप्य च। कृत्वा स्थानमलक्ष्यं च कुञ्जान्तरमगामहम् ॥ २०३ ॥ सम्प्राप्तोऽन्वेषयंस्तत्र क्षोभसंभ्रान्तलोचनम्। विमलो मां विलोक्याथ पप्रच्छ स्वस्थमानसः ॥२०४॥ वामदेव! किमेकाकी मां विना त्वमिहागतः। भीतवद् दृश्यसे किं वा न्यगद्यत मयाप्यथ ॥ २०५ ॥ श्रुत्वा प्रातरिह प्राप्तं त्वामेकोऽहमिहाऽऽगमम्। परं नैवात्र दृष्टस्त्वं त्रासोऽयं तेन मेऽभवत् ॥ २०६ ॥ साम्प्रतं त्वयि दृष्टे तु स्वास्थ्यं भावि कुमार! मे। विमलोऽप्याह यद्येवं तत् सुन्दरमभूदिदम् ॥ २०७ ॥ आवां सङ्घटितावेवमत्रैव

१ °व वयस्य! य० ख०।

पदुभावपि । भगवन्नसने तत्र गच्छावः साम्प्रतं ततः ॥ २०८ ॥ मयैवमस्त्विति प्रोक्ते विमलोऽथ मदन्वितः । ययौ तत्र प्रविश्यान्तर्ववन्दे च जगत्प्रभुम् ॥ २०९ ॥ द्वारस्योर्ध्वं पुनर्दध्यौ विमलोऽनेन स्वस्त्रम् । ततो रत्नमिदं मूर्ने प्रदीप्यति चलादसौ ॥ २१० ॥ न चात्र विघ्नतो मेऽस्मान्मोक्षोऽस्त्यन्यत्र चामि तत् । ततो नंष्ट्वा व्याहृत्याऽगामसर्वविलोचनीम् ॥ २११ ॥ प्रथिमोक्षे च तं वीक्ष्य पापाणं मूर्च्छयाऽपतम् । सम्प्राप्य चेतनां कृष्यात् व्यलप ताडयन् शिरः ॥ २१२ ॥ पुना रत्न तदाऽऽदातु चलितोऽहमयेषितः । मच्छुद्धिहेतोः प्रहिते निष्पग् विमलपूर्वैः ॥ २१३ ॥ हे मत्पूज्य मां वामदेव ! क गतवानसि ? । त्वद्वियोगेन विमलः शोकार्त्तो वर्तते यतः ॥ २१४ ॥ तथैते वचमानेषु प्रहितास्तेन तत्र द्रुतम् । पश्यतां विमलाम्यर्णे मा विलम्बो विधीयताम् ॥ २१५ ॥ नैवाह लक्षितस्तावद् विमलेनेति चिन्तयन् । सार्धं तैर्निगताः स्तवन्तोऽहमयागमम् ॥ २१६ ॥ सोऽथ मां गाढमालिङ्ग्य हर्षोत्फुल्लविलोचनः । निवेश्यार्धासनेऽपृच्छत् क गतोऽसीति सादरम् ॥ २१७ ॥ आच रूपाचक्षम्येवं कुमार ! भूयतां ननु । प्रविष्टस्त्वं तदा तावज्जिनेन्द्रसदनान्तरे ॥ २१८ ॥ प्रविशामि ततो यावद् द्वारमपि प्रभवः । तावत् खे तूर्णमायान्ती खेचरी दृष्टा मया ॥ २१९ ॥ तां च निष्कोशनिस्त्रिंशां रूपलावण्य शालिनीम् । दृष्ट्वा चापरं भीतो विस्मितश्चाभवं हृदि ॥ २२० ॥ हा ! कुमार ! कुमारेति रटन्त मां नमोम्बना । पिच्छी हारमिवाऽऽदाय सा तावत् खेचरी ययौ ॥ २२१ ॥ दूरे नीत्वाथ धुम्बित्वा गाढमाश्लिष्य चोरसा । साऽथ

१ ऽम मयेक्षितः सा० ।

मां प्रार्थयामास रताय मदनातुरा ॥२२२॥ त्वद्वियोगादहं तस्यां विरक्तो यावदुत्तरम् । तस्यै किञ्चिद् ददे तावद-
न्योपेयाय खेचरी ॥ २२३ ॥ साऽपि मय्यनुरक्ता मामुद्दालयितुमुद्यता । मदर्थेऽभूत्ततो युद्धं विद्याधर्योस्तयोर्मिथः
॥ २२४ ॥ तयोश्च युद्धाकुलयोः पपाताहं महीतले । चूर्णिताखिलगात्रश्च मूर्च्छामासादयं क्षणम् ॥ २२५ ॥ तयोरे-
काप्यथो यावन्न मां गृह्णाति खेचरी । तावद् झटिति नष्टोऽहं त्वद्दर्शनसमुत्सुकः ॥२२६॥ स्वपुरं च समागच्छन् दृष्टा
त्वत्प्रहितैर्नरैः । एभिरत्राहमानीतोऽनुभूतं तदिदं मया ॥ २२७ ॥ विसिष्मियेऽथ तच्छ्रुत्वा विमलोऽथ मुदं गता ।
ममान्तःस्था बहुलिका किल प्रत्यायितोऽसकौ ॥ २२८ ॥ अत्रान्तरे प्रादुरासीत्सर्वाण्यङ्गानि सर्वतः । दारयन्तीव
मे कापि शरीरे सहसा व्यथा ॥ २२९ ॥ भूश्र(स्र)स्तं प्रबलश्वासं भग्ननेत्रं गतक्रियम् । विमलो मां विलोक्याथ
चक्रे हाहारवं शुचा ॥ २३० ॥ तच्छ्रुत्वा धवलो राजा लोकश्च बहुराययौ । विशेषः कोऽपि नाभून्मे प्रयुक्तै-
र्भेषजैरपि ॥२३१॥ स्मृत्वा तस्याथ रत्नस्य सर्वदोषविनाशिनः । विमलः कानने गत्वा तं प्रदेशं न्यरूपयत् ॥२३२॥
अप्राप्ते तत्र रत्नेऽथ किंकर्त्तव्यविमूढधीः । स मत्समीपमायासीन्मद्दुःखात्यन्तदुःखितः ॥ २३३ ॥ अत्रान्तरे
च वृद्धा स्त्री काप्येकाऽऽमोट्य विग्रहम् । कलामापूरयामास मुत्कलीभूतकुन्तला ॥ २३४ ॥ धूपोत्क्षेपादिकां पूजां
कृत्वा का त्वमसीत्यथ । पृष्टा भीतैर्जनैः साऽऽख्यत् भ्रकुटीभङ्गभीषणा ॥ २३५ ॥ भोः ! क्रीडानन्दनोद्याना-
धिष्ठात्री वनदेव्यहम् । पापात्मा वामदेवोऽयं नीतोऽवस्थां मयेदृशीम् ॥ २३६ ॥ वञ्चितोऽयं यतोऽनेन निस्त्रपेण
दुरात्मना । सद्भावप्रतिपन्नोऽपि विमलः सरलाशयः ॥ २३७ ॥ इत्युक्त्वाऽऽख्याय चाशेषं मद्वृत्तं तद्यथातथम् ।

भूयोऽप्युवाच सा तस्मान्मार्योऽयमधुना मया ॥ २३८ ॥ विमलस्योपरोधेन मां जीवन्तं कथञ्चन । मुक्त्वा साथ
निजं स्थानं जगाम वनदेवता ॥२३९॥ ततो धिक्कारितो लोकैः स्वजनैश्च बहिष्कृतः । बभूव सुभ्रु ! तत्राहं तूलादपि
लघुर्वने ॥२४०॥ तथाप्येकः स विमलः पूर्ववद्वर्त्तते मयि । महतां प्रतिपन्नं हि नान्यथा जातु जायते ॥२४१॥
अथान्येद्युर्मया युक्तो विमलो वनसंस्थिते । जिनौकसि ययौ तत्र वन्दितुं तं जगद्गुरुम् ॥ २४२ ॥ तत्राथ
तं जिनाधीशं पूजयित्वा प्रणम्य च । विमलः स्तोतुमारेभे भक्तिकोमलया गिरा ॥ २४३ ॥ जयाशेषजगन्नाथ !
जय तत्त्वोपदेशक ! । जय ज्ञानमहाम्भोधे ! जय मायानिवारण ! ॥ २४४ ॥ मन्ये किञ्चिन्मयोपार्जि पुरा भावि
परत्र च । शुभं येनेह लब्धोऽसि स्वामी विश्रामपप्रदः ॥ २४५ ॥ नाथ ! नाथमहं नान्यं नाथे नाथे सति त्वयि ।
को हि कल्पद्रुमं प्राप्य करीरे कुरुते रतिम् ॥ २४६ ॥ अभव्यो दूरभव्यो वा किमहं भुवनेश्वर ! । प्राप्तेऽप्याप्नो
मि यथार्हं मुक्तिं मुक्तिमत्त्वयि ॥ २४७ ॥ किमभक्तोऽस्मि ते नाथ ! विस्मृतो वाऽस्मि यन्न मे । रागादि
रिपुरुद्धस्य त्रातापि क्रियते त्वया ॥ २४८ ॥ संसारान्तरभ्रान्तिश्रान्तेनाधमवत्सल ! । प्राप्तोऽसि त्वं मया
तृष्णाभिर्हितं तत्प्रयच्छ मे ॥ २४९ ॥ सोऽपि कोऽपि प्रभो ! भावी समयः संभवालयः । प्रेक्ष्यामि त्वामहं यत्र
साक्षाल्लोकाग्रसंस्थितम् ॥२५०॥ अलं सांसारिकैरेभिर्विषयैर्विषसन्निभैः । किन्तु नाथ ! सदानन्दं देहि मे परमं पदम्
॥ २५१ ॥ इत्यभिष्टुत्य सद्भक्त्या पञ्चाङ्गस्पृष्टभूतलः । प्रणनाम जिनाधीशं स नराधीशसंभवः ॥ २५२ ॥ अत्रा
न्तरे स्फुरद्दीप्तिविद्योतितदिगन्तरः । प्राप्तः खेचरवीरैः परितः परिवारितः ॥ २५३ ॥ भार्यया भूतमञ्जर्या समेतः

कान्तया तया । अमन्दसंमदस्तत्र रत्नचूडः स खेचरः ॥ २५४ ॥ युग्मम् ॥ साधु साधु जगद्भर्तुः स्तवनं कृतवानसि । इति प्रशंसन् विमलं सोऽथानंसीज्जिनेश्वरम् ॥ २५५ ॥ विधिवद्विहितान्योन्यवन्दनाद्युचितक्रियाः । निषेदुरथ सर्वेऽपि मुदिताः शुद्धभूतले ॥२५६॥ मेघनादाङ्गजः सोऽथ जगाद धवलाङ्गजम् । निशम्यतां महाभाग ! स हेतुर्दुरतिक्रमः ॥२५७॥ एतावान् येन मे कालविलम्बः समजायत। नानीतो भवदादिष्टः स सूरिश्च बुधाभिधः ॥२५८॥ गतेनेतस्तदा तावन्मयाम्बाजनकौ निजौ । परमां प्रापितौ प्रीतिं चिरादात्मीयदर्शनात् ॥ २५९ ॥ निशायामथ शय्यायां कृत्वा देवनमस्कृतिम् । आसाद्यत मया निद्रा द्रव्यतो न तु भावतः ॥२६०॥ अथाहं भो ! महाभाग ! जिनपादाब्जषट्पद ! । उत्तिष्ठेति गिरं शृण्वन् विबुद्धोऽन्त्ये क्षपाक्षणे ॥ २६१ ॥ ततः स्वाङ्गप्रभाजालप्रभासितदिगन्तराः । मया प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त देवता विविधाः पुरः ॥ २६२ ॥ विस्मितं सम्भ्रमोत्थानविहितस्वागतं च माम् । ततस्ताः प्रत्यवोचन्त प्रसादविशदाननाः ॥ २६३ ॥ धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूजनीयोऽसि मादृशाम् । हंसवत्तव यस्यार्हद्धर्म्मः क्रीडति मानसे ॥ २६४ ॥ रोहिण्याद्या वयं विद्यास्तव पुण्येन नोदिताः । समस्ता अपि सम्भूय समायाताः स्वयंवराः ॥ २६५ ॥ तत्प्रतीच्छ महाभाग ! करिष्यामः प्रवेशनम् । त्वदङ्गे भवितव्यं हि त्वया खेचरचक्रिणा ॥ २६६ ॥ एतच्चास्माभिरादिष्टं विद्याधरबलं तव । पदातिभावमापन्नमायातं द्वारि वर्तते ॥ २६७ ॥ एवं तासु ब्रुवाणासु नानालङ्कारभासुराः । प्रणेमुः खेचराः सर्वे ते समागत्य मामथ ॥ २६८ ॥ अत्रान्तरे दिशं प्राचीं

१ ०सुरम् ग० ।

भूयोऽप्युवाच सा तस्मान्मार्गोऽयमधुना मया ॥ २३८ ॥ विमलस्योपरोधेन मां जीवन्तं कथञ्चन । मुक्त्वा साथ निजं स्थानं जगाम वनदेवता ॥२३९॥ ततो धिक्कारितो लोकैः स्वजनैश्च बहिष्कृतः । बभूव सुभ्रु ! तत्राहं तूलादपि लघुर्जने ॥२४०॥ तथाप्येकः स विमलः पूर्ववद्वर्तते मयि । महतां प्रतिपन्नं हि नान्यथा जातु जायते ॥२४१॥ अथान्येद्युर्मया युक्तो विमलो वनसंस्थिते । जिनौकसि ययौ तत्र वन्दितुं तं जगद्गुरुम् ॥ २४२ ॥ तत्राथ त जिनाधीशं पूजयित्वा प्रणम्य च । विमलः स्तोतुमारेभे भक्तिकोमलया गिरा ॥ २४३ ॥ जयाक्षेपजगन्नाथ ! जय तत्त्वोपदेशक ! । जय ज्ञानमहाकोश ! जय भवाब्धितारक ! ॥ २४४ ॥ मन्ये किञ्चिन्मयोपार्जि पुरा भावि परत्र च । शुभं येनेह लब्धोऽसि स्वामी विश्वाभयप्रदः ॥ २४५ ॥ नाथ ! नाथमहं नान्यं नाथे नाथे सति त्वयि । को हि कल्पद्रुमं प्राप्य करीरे कुरुते रतिम् ॥ २४६ ॥ अभव्यो दूरभव्यो वा किमहं भुवनेश्वर ! । प्राप्तेऽप्याप्नोमि यन्नाहं मुक्तिं मुक्तिप्रदे त्वयि ॥ २४७ ॥ किमभक्तोऽस्मि ते नाथ ! विस्मृतो वाऽस्मि यन्न मे । रागादिरिपुध्वस्य सारापि क्रियते त्वया ॥ २४८ ॥ संसारप्रान्तरभ्रान्तिश्रान्तेनाभ्रमयत्प्रभो ! । प्राप्तोऽसि त्वं मया कल्पशाखिवर्ति तत्समपन्छ मे ॥ २४९ ॥ सोऽपि कोऽपि प्रभो ! भावी समयः संभवालयः । द्रक्ष्यामि त्वामहं यत्र साक्षाल्लोकाग्रसंस्थितम् ॥२५०॥ अलं सांसारिकैरेभिर्विषयैर्विषसन्निभैः । किन्तु नाथ ! सदानन्दं देहि मे परमं पदम् ॥ २५१ ॥ इत्यभिष्टुत्य सद्भूत्या पञ्चाङ्गस्पृष्टभूतलः । प्रणनाम जिनाधीशं स नराधीशसंभवः ॥ २५२ ॥ अत्रान्तरे स्फुरद्दीप्तिविद्योतितदिगन्तरः । प्रभूतैः खेचरवरैः परितः परिवारितः ॥ २५३ ॥ आययौ चूतमञ्जर्या समेतः

कान्तया तया। अमन्दसंमदस्तत्र रत्नचूडः स खेचरः ॥ २५४ ॥ युग्मम् ॥ साधु साधु जगद्भर्तुः स्तवनं कृतवानसि। इति प्रशंसन् विमलं सोऽथानंसीज्जिनेश्वरम् ॥ २५५ ॥ विधिवद्विहितान्योन्यवन्दनाद्युचितक्रियाः। निषेदुरथ सर्वेऽपि मुदिताः शुद्धभूतले ॥२५६॥ मेघनादाङ्गजः सोऽथ जगाद धनलाङ्गजम्। निशम्यतां महाभाग ! स हेतुर्दुरतिक्रमः ॥२५७॥ एतावान् येन मे कालविलम्बः समजायत। नानीतो भवदादिष्टः स सूरिश्च बुधाभिधः ॥२५८॥ गतेनेतस्तदा तावन्मयाम्बाजनकौ निजौ। परमां प्रापितौ प्रीतिं चिरादात्मीयदर्शनात् ॥ २५९ ॥ निशायामथ शय्यायां कृत्वा देवनमस्कृतिम्। आसाद्यत मया निद्रा द्रव्यतो न तु भावतः ॥ २६० ॥ अथाहं भो ! महाभाग ! जिनपादाब्जषट्पद !। उत्तिष्ठेति गिरं शृण्वन् विबुद्धोऽन्त्ये क्षपाक्षणे ॥ २६१ ॥ ततः स्वाङ्गप्रभाजालप्रभासितदिगन्तराः। मया प्रत्यक्षमैक्ष्यन्त देवता विविधाः पुरः ॥ २६२ ॥ विस्मितं सम्भ्रमोत्थानविहितस्वागतं च माम्। ततस्ताः प्रत्यवोचन्त प्रसादविशदाननाः ॥ २६३ ॥ धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूजनीयोऽसि मादृशाम्। हंसवत्तव यस्यार्हद्धर्म्मः क्रीडति मानसे ॥ २६४ ॥ रोहिण्याद्या वयं विद्यास्तव पुण्येन नोदिताः। समस्ता अपि सम्भूय समायाताः स्वयंवराः ॥ २६५ ॥ तत्प्रतीच्छ महाभाग ! करिष्यामः प्रवेशनम्। त्वदङ्गे भवितव्यं हि त्वया खेचरचक्रिणा ॥ २६६ ॥ एतच्चास्माभिरादिष्टं विद्याधरबलं तव। पदातिभावमापन्नमायातं द्वारि वर्तते ॥ २६७ ॥ एवं तासु ब्रुवाणासु नानालङ्कारभासुराः[1]। प्रणेमुः खेचराः सर्वे ते समागत्य मामथ ॥ २६८ ॥ अत्रान्तरे दिशं प्राचीं

१ ०सुरम् ग०।

पञ्चरोषिपि जुम्भति । प्रहते प्राबरातोपेऽपठन्मङ्गलपाठकः ॥ २६९ ॥ सूर्योदयेऽधुनोत्थाय धर्म्मे कुरुत हे जनाः ! ।
येन योऽसर्क्किता एव सम्पद्यन्ते विभूतयः ॥ २७० ॥ तच्छ्रुत्वाऽचिन्तयमहं नूनं धर्म्मप्रभावतः । अकुच्छ्रेणैव
मे विद्याः सिद्धा एताः परःशताः ॥ २७१ ॥ हर्पस्थानं परं नैवद्विष्नोऽयममवत् यतः । सार्द्धं मे विमलेनैव
वीक्षां मद्बन्धु विधूयतः ॥ २७२ ॥ सौवर्ण्णगिरप्राय पुण्य पुण्यानुबन्धयपि । यतो जिनन्द्रैराख्यात मोग्य
सस्सर्गमाप्यतः ॥ २७३ ॥ एव ध्यायन्त एवाय ममाङ्गेऽनुप्रवेशनम् । देवतास्ता विदधिरे रोहिणीप्रमुखाः क्षणात्
॥ २७४ ॥ ततो विद्याधरैः सर्वैः सम्भूय मम विस्तरात् । चक्रे खेचरचक्रित्वाभिषेकसुमहोत्सवः ॥ २७५ ॥
ततश्च कल्पीयानि नगराज्योषितानि मे । कुमार ! सर्वतोऽङ्गानि लक्षिगानि कियन्त्यपि ॥ २७६ ॥ संस्मृत्य
पुष्पदाहेलमथाई स्वयमेव तम् । गवेषय पुरे धरिं सुघमेकत्र दृष्टवान् ॥ २७७ ॥ तस्मै निवेदिते युष्मद्वृत्तान्ते स
समाह माम् । स्व तावदधुना गच्छ विमलाय निवेदय ॥ २७८ ॥ एतदेतस्य समये पश्चादेष्याम्यहं पुनः । तेषां
विमलस्य धूर्तो योपोपायोऽयमेव मेत् ॥ २७९ ॥ कल्पान्त्यपर्वे ततः स्थित्वा स सनैर्विमलाय तत् । खरितामिक
मायम्मो तस्तु नाकर्णितं मया ॥२८०॥ पुनः सोऽयोचदेतेन कारणेन ममागमत् । विलम्बो बुधधरिम नानीतोऽ
मेन हेतुना ॥ २८१ ॥ विमलोऽयोचदार्येण क्व साम्प्रत तत्पुरे । स्थित्वा द्विनाण्यहान्येष ययो विद्याधरेश्वरः
॥ २८२ ॥ विमलोऽथ विक्षेपेण विषयेषु पराङ्मुखः । समयं गमयामास निर्मलीमसमानसः ॥ २८३ ॥ तथाविध

१ तत् म० । २ निर्मलामलमानसः ग० ।

च तं वीक्ष्य पितरौ तस्य दध्यतुः । चरितं भुवनातीतं सुतस्यास्य किमप्यहो ! ॥ २८४ ॥ यौवनारोग्यवित्तादिसामग्रीसंयुतोऽपि सन् । निर्ग्रन्थ इव यन्नैव रज्यते विषयेष्वसौ ॥ २८५ ॥ यावच्चैवं कुमारोऽयं विषयान्नैव सेवते । तावद्राज्यमिदं प्राज्यमावयोर्निष्फलं खलु ॥ २८६ ॥ तदयं कामसेवायां स्वयमेवोच्यतेऽधुना । विनीतो ह्यस्मदादेशं नायमुल्लङ्घयिष्यति ॥ २८७ ॥ ध्यात्वेति मन्त्रयित्वा च मिथो रहसि तावथ । प्रोचतुः सुतमाहूय सुधामधुरया गिरा ॥ २८८ ॥ मनोरथशतैस्तात ! समग्रगुणमन्दिरम् । त्वमस्मन्मन्दिरे तावज्जातश्चन्द्र इवाम्बुधौ ॥ २८९ ॥ निजावस्थानुरूपं तद् भुङ्क्षे राज्यसुखं न किम् ? । राज्येनापि किमेतेन ? यत्ते नायाति भोग्यताम् ॥ २९० ॥ अयमेवानयोर्नूनं बोधोपायो भविष्यति । विमृश्येति जगादेवं विमलोऽथ धियां निधिः ॥ २९१ ॥ यदाज्ञापयतस्तत्रभवन्तौ तद्धि मादृशाम् । विधातुमुचितं सर्वं किन्त्वसावाशयो मम ॥ २९२ ॥ स्वराज्ये यदि सर्वेषां दुःखं संहृत्य दुःखिनाम् । सम्पाद्य च सुखं पश्चात् स्वयं तदनुभूयते ॥ २९३ ॥ एवं च कुरुते यो हि स एव पृथिवीपतिः । प्रजानामधिपः सर्वजनीनश्च निगद्यते ॥ २९४ ॥ दुःखार्त्तेऽपि जने यस्तु निश्चिन्तः स्वयमेककः । सुखं भुङ्क्ते प्रभुत्वं हि तस्य कुक्षिम्भरेः कुतः ? ॥ २९५ ॥ तदेवं संस्थिते ह्येतद्युज्यते कर्त्तुमात्मनः । घर्म्मर्तुर्वर्त्तते तावदधुना घर्म्मदारुणः ॥ २९६ ॥ मनोनन्दनसंज्ञेऽत्र स्वगृहोपवने ततः । कुर्वन् ग्रीष्मोचितां क्रीडां कुर्वे तातम्बयोर्मुदम् ॥ २९७ ॥ आनेतुं दुःखिनो लोकान् प्रेष्यन्तां किन्तु पूरुषाः । तेषामपि वराकाणां येन सौख्यं विधीयते ॥ २९८ ॥ तच्छ्रुत्वा पितरौ हृष्टौ वदन्तौ साधु साध्विति । कारयामासतुस्तत्रोपवने

हिममन्दिरम् ॥ २९९ ॥ मृणालमिषितरुचिरे रम्भास्तम्भविभूषिते । नलिनीच्छदनच्छन्ने ससिक्ते चन्दनद्रवैः
॥ ३०० ॥ तत्राथ क्षीतले मत्वा विमलः सपरिच्छदः । कुर्वन् ग्रीष्मोचितां क्रीडां पित्रोर्मुदमवर्द्धयत् ॥ ३०१ ॥
युग्मम् ॥ प्रयुक्तपुरुषानीतदुःस्थिलोकाय संमदम् । यच्छे धवलराजोऽपि विदधद्भीप्सितम् ॥ ३०२ ॥ निषण्णेऽ-
थान्यदास्थाने दत्त्वा धवलभूपतौ । नियुक्तपुरुषाः केऽपि तत्र सुभ्रु ! समाययुः ॥ ३०३ ॥ प्रतिसीरान्तरे कञ्चिदेक
संस्थाप्य पूरुषम् । तेऽथ विज्ञपयामासुर्विहितानतयो नृपम् ॥ ३०४ ॥ देवास्माभिः पर्यटद्भिः पुमानेकोऽप्य
मीक्षितः । दुःस्थितोऽत्यन्तमेकत्राऽऽनीतश्चात्र कथञ्चन ॥ ३०५ ॥ किन्त्वयं मादृशीमत्त्वदर्शनो देवदर्शनम् ।
नार्हतीति व्यवहितोऽस्माभिरत्र प्रवेशितः ॥ ३०६ ॥ दृष्टोऽथ कुत्र युष्माभिः कथ चात्यन्तदुःस्थितः । इति पृष्टाः
क्षितीशेन तेष्वेकः प्रत्यभाषत ॥ ३०७ ॥ देवादेशादितो गत्वा कम्प्यार्थं पुरे जनम् । अनालोक्य वयं याताः
पर्यटन्तो महाटवीम् ॥ ३०८ ॥ ग्रीष्मार्ककरसम्पर्कनसम्यचरक्षोभरे । दृष्टोऽयं तत्र चास्माभिस्तत्पानत्यपि व्रजन्
॥ ३०९ ॥ अत्यन्तदुःस्थित इति कृत्वास्माभिरसौ ततः । भो ! भद्र ! तिष्ठ तिष्ठेति दूराद्धैर्न्यगद्यत ॥ ३१० ॥
अनेनोक्तमहं भद्राः ! स्थितो यूयं तु तिष्ठत । युष्माभिति प्रवदते गन्तुमेष तथैव हि ॥ ३११ ॥ ततो देव ! बलाद्
गत्वा बलाद् धृत्वा वटोत्तले । मानीय चायमस्माभिः सर्वैरपि निरूपितः ॥३१२॥ प्रस्विन्नकण्ठरोमार्धकीर्णबीभत्स
विग्रहः । भ्रमनिःश्वाससम्पूर्णपिपासाशोषिताननः ॥ ३१३ ॥ कृमिकुलगलत्कर्णनासिकोष्ठकराङ्घ्रिकः । तदास्यलु
ञ्चितशिराः स्कन्धविन्यस्तकम्बलः ॥ ३१४ ॥ मलीमसजरद्वस्त्रः सवम्भालाबुयुग्ममभृत् । कथानिक्षिप्तविभं(सं)सि

शीर्णोर्णागुच्छपिच्छकः ॥ ३१५ ॥ निधानं सर्वदुःखानां दारिद्र्यस्य निकेतनम् । ततोऽयं ददृशेऽस्माभिः
प्रत्यक्ष इव नारकः ॥३१६॥ कलापकम् ॥ मध्याह्ने त्वं किमीदृक्षे भद्र ! भ्राम्यसि भीषणे । इति प्रोक्तोऽयमस्माभिर्जु-
गुप्साकरुणापरैः ॥ ३१७ ॥ अयमूचे न खल्वस्मि स्वाधीनः किन्त्वहं गुरोः । आयत्तस्तत्तदादेशात्
पर्यटाम्येवमन्वहम् ॥ ३१८ ॥ एवमन्वहमादेशं कुर्वतस्ते गुरुः स किम् । करिष्यतीत्ययं भूयोऽप्यस्माभिः सम-
पृच्छ्यत ॥ ३१९ ॥ ममाष्टावृणिकाः[1] सन्ति बलिनो यमसन्निभाः । मोचयिष्यति तेभ्यो मामित्यसावप्यचीकथत्
॥ ३२० ॥ ततश्चिन्तितमस्माभिरहो ! अस्य तपस्विनः । स्वपापकर्मोपनता कापि कृच्छ्रपरम्परा ॥ ३२१ ॥ यदेकं
परतन्त्रत्वं गतस्यापीदृशीं दशाम् । ऋणिकोपद्रवोऽन्यच्च तद्विमोक्षस्पृहा परम् ॥ ३२२ ॥ तदेष नीयते सर्व-
दुःखितानां शिरोमणिः । उपदेवमिति ध्यात्वाऽस्माभिरेषोऽभ्यधीयत ॥ ३२३ ॥ उत्तिष्ठ भद्र ! यद्येवं चल राजकु-
लेऽधुना । सर्वदारिद्र्यदुःखर्णविमोक्षः क्रियते यथा ॥ ३२४ ॥ मच्चिन्तया वः पर्याप्तं मोचितो हि भवादृशैः ।
नैव मुच्येऽहमित्येष ब्रुवाणो गन्तुमुद्यतः ॥ ३२५ ॥ अस्माभिश्चिन्तितमथो सोन्माद इव लक्ष्यते । दुरात्माऽयं
तथाप्येतत् कर्त्तव्यं राजशासनम् ॥३२६॥ नेतव्यो देवपार्श्वेऽयमिति ध्यात्वा बलादसौ । धृत्वाऽस्माभिरिहाऽऽनीतः
क्रियतां यदिहोचितम् ॥ ३२७ ॥ तदाकर्ण्य नृपः प्राह प्रतिसीराऽपसार्यताम् । पश्याम्येनमहं येन महत्कौतूहलं
मम ॥ ३२८ ॥ तस्यां तैरपनीतायां विस्मितेन स वीक्षितः । यथाख्यातस्वरूपोऽथ सजनेन महीभुजा ॥ ३२९ ॥

१ अष्टकर्माणि ।

विमलोऽथ तमालोक्य साश्चर्यो व्यचिन्तयत् । अये ! स एष भगवान् सुपर्वरूपामयो ॥ २३० ॥ अहो ! भगवतोऽमुष्य कापि वैक्रियरूपता । अहो ! स्वार्थानपेक्षित्वमहो ! सर्वजनीनता ॥ २३१ ॥ परार्थ एव यदि वा स्वार्थो नूनं महात्मनाम् । नहि स्वदेहशान्त्यर्थं वापन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ २३२ ॥ सन्दिष्टं च ममानेन रत्नचूडमुखेन यत् । दुःखपीडितसत्त्वानां कार्यमन्वेषणं त्वया ॥ २३३ ॥ कृतरूपान्तरो लब्ध्वा यन्नून् पोषयितुं तव । ततोऽहमागमिष्यामि विज्ञातावसरः खलु ॥ २३४ ॥ किञ्चाहं भवता तावद् वन्द्यो न विदितोऽपि हि । प्रस्तुतार्थस्य संसिद्धिर्यावत्सैव भजायते ॥ २३५ ॥ ध्यात्वेति विमलस्तस्मै विदधे मनसा नतिम् । सोऽप्याशिषं ददौ तस्मै मनसैवेष्टसिद्धिदाम् ॥ २३६ ॥ अत्रान्तरे नृपाभ्यर्णे स राजपुरुषैर्बलात् । समानीतः पपातोर्व्यां श्राद्धकस्य भमनिःसहः ॥ २३७ ॥ निन्दावधीरणाहासशोकादिविविधक्रियाः । तावच्च त च संवीक्ष्य प्रोचुरेव मिथो जनाः ॥ २३८ ॥ कृष्णाङ्गः क्षुधाक्रान्तः खिन्नः कुष्ठी ज्वरार्दितः । कुतानीतो दुरात्माय पापपुञ्ज इवाङ्गवान् ॥ २३९ ॥ तच्छ्रुत्वा भगवानेष क्रुद्धो भैरवरूपभृत् । ज्वालामालाकरालाभ्यां दृग्भ्यां लोकं दहन्निव ॥ २४० ॥ आः ! पापाः ! किमहं जातो युष्मत्तोऽपि विरूपकः ? । दुःखितो वा यदेवं मां यूयं रे ! हसथाधमाः ! ॥२४१॥ कृष्णाङ्गाः क्षुधाक्रान्ताः सखेदाः कुष्ठिनस्तथा । तापार्त्ता ज्वरविधुराः शूलालीढा जरार्दिताः ॥२४२॥ सोन्मादा विकलाक्षाश्च घूर्णमाना भ्रमाकुलाः । परायत्ता दरिद्राश्च रे ! भूप नस्सहं सदाः ! ॥ २४३ ॥ युग्मम् ॥

१ पो० प० म० ।

मुनिं मां दुर्बलं मत्वा येनैवं हसथाधुना ॥ ३४४ ॥ मृगयूथ-
अकाले बालिशाः । कालेनोत्क्षिप्तं पत्रकं हि वः । मुनिं मां दुर्बलं मत्वा येनैवं हसथाधुना ॥ ३४५ ॥ विमलं भूमिपा-
मिव क्ष्वेडां तां वाचमतिभैरवाम् । तस्य श्रुत्वा चकम्पेऽथ स लोकः सकलो भयात् ॥ ३४६ ॥ यतः क्वास्य पुरा
लोऽथ प्रोचे सम्भ्रान्तमानसः । कुमार ! नैष सामान्यः कश्चिदेष नरो ध्रुवम् ॥ ३४७ ॥ वक्तुमक्षमता सा च
चक्षुर्युगलं तन्मलाविलम् ? । जितकल्पान्तमार्त्तण्डमण्डलं क्वाधुना त्वदः ? ॥ ३४८ ॥ तदेष निश्चितं कोऽपि त्रिदशो
तादृशी क्व पुरातनी ? । युगान्तमेघनिर्घोषघोरोऽयं क्वाधुना स्वरः ? ॥ ३४९ ॥ क्रोधान्धस्तदयं यावद् दृग्विषाहिरिव
वापरोऽपि वा । समायातः कृतरूपान्तरः केनापि हेतुना ॥ ३५० ॥ विमलोऽप्यभ्यधादेवं साधु तातेन निश्चितम् । सामा-
क्षणात् । न भस्मीकुरुते सर्वं तावत्तूर्णं प्रसाद्यते ॥ ३५१ ॥ ततः सपरिवारोऽपि भूपतिश्चरणद्वयम् । ननाम सादरं तस्य ललाट-
न्यपुरुषो नैष सत्वरं तत्प्रसाद्यताम् ॥ ३५१ ॥ ततः सपरिवारोऽपि भूपतिश्चरणद्वयम् । ननाम सादरं तस्य ललाट-
स्पृष्टभूतलः ॥ ३५२ ॥ ऊचे च क्षम्यतामेष दोषो मूढजनैः कृतः । दीयतां च प्रसद्याशु स्वकीयं दिव्यदर्शनम्
॥ ३५३ ॥ इत्युक्त्वा सजनो राजा यावदुन्नमति क्षितेः । तावत् स्वर्णाम्बुजासीनं स्वरूपापास्तमन्मथम् ॥ ३५४ ॥
तेजोविजिततिग्मांशुं दृक्चकोरसुधाकरम् । अशेषलक्षणोपेतं तं मुनीशं ददर्श सः ॥ ३५५ ॥ युग्मम् ॥ विलोक्य
तादृशं तं चाश्चर्यभूतं मुनिं नृपः । स्मेराक्षः सजनो जज्ञे किमेतदिति विस्मयात् ॥ ३५६ ॥ पृथ्वीनाथेन कृत्वाथ
ललाटे करकुड्मलम् । कथ्यतां नाथ ! कोऽसि त्वमित्युक्तः सोऽब्रवीदथ ॥ ३५७ ॥ महाराज ! न देवोऽहं
दैत्यो वा न च किन्त्वहम् । यतिरस्मि तदेतच्च लिङ्गादप्यनुमीयते ॥ ३५८ ॥ भूपतिः पुनरप्याह यद्येवं भगवन् !

रूपम् ? । एवं तादृशं रूपमिदानीमीदृशं पुनः ॥ ३५९ ॥ कृष्णवर्णादयो दोषाः कथं चात्मस्थिता अपि । अस्मास्वारोपिताः श्रोतुमिदमिच्छाम्यशेषतः ॥ ३६० ॥ सूरिराह महाराज ! मया व्यधित वैक्रियम् । बीभत्सं वपुरात्र रूप दृष्टान्तार्थं शरीरिणाम् ॥ ३६१ ॥ एवम्भूता अमी सर्वे सत्त्वाः संसारवर्तिनः । स्वरूपमात्मनो मूढा स्वथापि न विदन्ति ते ॥ ३६२ ॥ दृष्टान्तभूत भूतानां रूप भूप ! मया ततः । तपक्षे सन्तुषोषार्थमव स्थितमिदं पुनः ॥ ३६३ ॥ कृष्णवर्णादयो दोषा युष्माकं यच्च पोषिताः । आत्मस्था अपि तत्रापि कारण शृणु भूपते ! ॥ ३६४ ॥ अन्तःपापमलालीढा गृहिणोऽमी जना इह । स्वर्णवर्णा अपि बहिर्वर्ण्यन्ते कृष्णवर्णकाः ॥ ३६५ ॥ मुनयस्त्वपि कृष्णाङ्गाभिधे स्फटिकनिर्मलाः । विज्ञेयाः परमार्थेन घातकाञ्जनरोपिणः ॥ ३६६ ॥ तथा तृप्तिर्न संप्राप्तैरपि या विषयैर्घनैः । बुभुक्षा सा समाख्याता तत्त्वतस्तत्त्ववेदिभिः ॥ ३६७ ॥ तया बुभुक्षयाक्रान्ता बहिः पुष्टोदरा अपि । जना एते परिज्ञेया बुभुक्षाक्षामकुक्षिकाः ॥ ३६८ ॥ तया क्षुधा पुनस्त्यक्ताः क्षामा अपि बहिः क्षुधा । यूयमत्र क्षमाधीश ! ज्ञेयाः सौहित्यशालिनः ॥ ३६९ ॥ तथा माविषु भोगेषु योऽभिलाषो निरन्तरः । सा पिपासा समाम्नाता मावशोषविधायिनी ॥ ३७० ॥ ततस्तया तृषाऽऽक्रान्ताः सर्वदा गृहमेधिनः । पिबन्तोऽपि पयः स्वादु तर्षिताः सन्तु मानवाः ॥ ३७१ ॥ तया तु तृष्णया मुक्ता बहिस्तृष्णार्दिता अपि । वीततृष्णाः परिज्ञेया निर्ग्रन्थाः परमार्थतः ॥ ३७२ ॥ तथाऽनाद्यादिताधन्तो दुःखपुष्टिप्रपूरितः । विषयस्तेन सङ्कीर्णः संसारोऽध्वा बुधैर्मतः ॥ ३७३॥ ततस्तत्र वहन्तोऽमी जनाः पथि निरन्तरम् । अपि सुन्दरसत्पथा विज्ञेयाः

खेदनिःसहाः ॥ ३७४ ॥ विवेकाख्ये महाशैले नगरे जैननामनि । स्थिताश्चित्तसमाधानाभिधे च वरमण्डपे ॥ ३७५ ॥ बहिर्मार्गपरिभ्रान्तिश्रान्तसंहनना अपि । मुनयस्तु सदा ज्ञेयाः तत्त्वतः खेदवर्जिताः ॥ ३७६ ॥ ॥ युग्मम् ॥ तथा सम्यक्त्वनामात्मरूपसौन्दर्यदूषकम् । निदानं सर्वदुःखानां मिथ्यात्वं कुष्ठमुच्यते ॥ ३७७ ॥ कुष्ठेनान्तस्ततस्तेन दूषिता जन्तवो ह्यमी । सुन्दराङ्गा अपि बहिर्भावतः कुष्ठिनो मताः ॥ ३७८ ॥ साधवस्तु बहिर्भूप ! कुष्ठिनोऽपि कथञ्चन । सम्यग्भावविशुद्धाङ्गा बोद्धव्याश्चारुविग्रहाः ॥ ३७९ ॥ तथा कषायनामान्तस्तापयोगाज्जना अमी । कीर्त्तिताः खलु तापार्त्ता बहिस्तापोज्झिता अपि ॥ ३८० ॥ अन्तस्तापविनिर्मुक्ता बहिस्तापजुषोऽपि हि । यतयः पुनराख्याता निस्तापाः परमार्थतः ॥ ३८१ ॥ तथाऽमी रागद्वेषान्तर्ज्वरशूलार्दिता जनाः । गदिता ज्वरशूलार्त्ता बहिस्तद्वर्जिता अपि ॥३८२॥ श्रमणास्तु तथारूपज्वरशूलविदूरगाः । ज्वरशूलोज्झिताः प्रोक्ता बहिस्तद्व्यथिता अपि ॥ ३८३ ॥ तथा यौवनवन्तोऽपि बहिर्गृहिजना अमी । विना विवेकतारुण्यं जराजीर्णा बुधैः स्मृताः ॥ ३८४ ॥ प्राप्ता विवेकतारुण्यं बहिः प्रवयसोऽप्यमी । विज्ञेया मुनयो नित्ययौवनास्तत्त्वतः पुनः ॥ ३८५ ॥ तथा कृत्यं न कुर्वन्त्यकर्त्तव्यं कुर्वते पुनः । येन मोहेन स प्रोक्त उन्मादो भवचारिणाम् ॥ ३८६ ॥ ततस्तस्य समायोगात् सोन्मादाः खल्वमी जनाः । साधवस्तद्वियोगात्तु निरुन्मादा उदाहृताः ॥ ३८७ ॥ तथा यः कामविवशः कृत्याकृत्यं न पश्यति । स क्षितीश ! समाख्यातो विकलाक्षो विचक्षणैः ॥ ३८८ ॥ ततस्तद्विकलाक्षत्वं

१ ०बाधिता क० ख० ग० ।

पश्यत्स्वपि चरित्रैवा । दृश्यतेऽमीषु लोकेषु न पुनः क्वापि साधुषु ॥३८९॥ तथा सुप्ताः प्रमादाख्यनिद्रया जाग्रतोऽप्यमी । मनास्तद्यमवस्तत्वैर्घूर्णमानाः प्रकीर्तिताः ॥ ३९० ॥ यथा तु निद्रया हीनाः स्वपन्तोऽपि यदिः क्वचित् । जागरूकाः सदा ज्ञेयाः साधवस्तु नराधिप ! ॥३९१॥ यथाष्टकर्मक्षणिकयोगादेते क्षणाकुलाः । विज्ञेयास्तत्त्वतः सत्त्वा पापकर्मरहिता अपि ॥ ३९२ ॥ साधूनामपि सन्त्येते क्षणिका किन्तु तैर्न ते । प्रपीड्यन्ते यतस्तेषां शुद्धप्रायमृणं सतु ॥ ३९३ ॥ तथा माताः पुत्रमित्रकलत्रपितृपादयः । अत्यन्तमात्मनो भिन्नाः प्रोच्यन्ते विबुधैः परे ॥३९४॥ तदधीना जनाः सर्वे क्लिश्यन्तोऽमी दिवानिशम् । प्रकीर्तिताः परायत्ताः स्वधिया स्ववशा अपि ॥३९५॥ मुनयस्तु महात्मानो निर्गता गृहवासतः । अपि गुर्वादिपरवशाः स्ववशास्तत्त्वतो मताः ॥ ३९६ ॥ तथा दर्शनज्ञानचारित्रवसुवर्जिताः[1] । श्रीमन्तोऽपि परिज्ञेया देहिनो दुर्गता अमी ॥ ३९७ ॥ रत्नैस्तैरान्तरैर्युक्ता यदि दुर्गतरूपताम् । धारयन्तोऽपि विज्ञेयाः श्रीमन्तो मुनयः पुनः ॥ ३९८ ॥ एवमन्येऽपि वैरूप्यदुर्भगत्वादयो नृप ! । दोषा गेहिषु बोद्धव्याः सदा पापकर्मसु ॥ ३९९ ॥ यतयस्तु पुनर्दोषगन्धोऽपि हि न विद्यते । तपस्सत्कर्मनिर्माणसफलीकृतजन्मनाम् ॥ ४०० ॥ कृष्णवर्णादयो दोषास्तथो युष्मासु गेहिषु । आरोप्यन्त यथाऽऽत्मानस्यानयित्वा मुनि नृप ! ॥ ४०१ ॥ एवं च संस्थिते भूप ! यत्सुखं पारमार्थिकम् । साधोः सर्वविमुक्तस्य तदन्यस्य न कस्यचित् ॥ ४०२ ॥ यत्तु वैषयिकं सौख्यमेषां देहभृतामिदम् । तदुःखमेव विज्ञेयं परिणामेऽतिदारुणम्

१ ०चारित्रज्ञानवसुविवर्जिताः ख०, ०चारित्रज्ञानाभिधवसु० ग० ।

॥ ४०३ ॥ परमेतद् विजानन्ति नैते मूढधियो जनाः । स्वेच्छयोपहसन्त्येवं तेनैते मां वराककाः ॥ ४०४ ॥ यदि वैषां न दोषोऽयं दोषो मोहस्य किन्त्वसौ । तद्वशाच विदन्त्येते तत्त्वं बठरभौतवत् ॥ ४०५ ॥ भगवन् ! बठरः कोऽयमित्युर्वीशेन सादरम् । पृष्टः स शमिनामीशः शशंसेति पुनस्ततः ॥ ४०६ ॥ भवाख्येऽस्तीह विस्तीर्णे ग्रामे शिवनिकेतनम् । तत्स्वरूपाभिधं भूप ! रत्नादिधनपूरितम् ॥ ४०७ ॥ तत्र सारगुरुर्नाम सकुटुम्बो निरन्तरम् । शैवाचार्यो वसत्येकः किन्तून्मत्तः सदाप्यसौ ॥ ४०८ ॥ ततो रक्षति नात्मीयं कुटुम्बं हितमप्ययम् । समृद्धिं न च जानाति तस्य स्वस्य शिवौकसः ॥ ४०९ ॥ ततो विज्ञाय तद्वृत्तं चौरैस्तद्ग्रामवासिभिः । एत्य धूर्त्ततया मैत्री तेन सार्द्धं व्यधीयत । ४१०॥ सोऽप्युन्मत्ततया शैवगुरुः क्रूराशयानपि । निजानिव हितान् बन्धून्मेने तान् परिपन्थिकान् ॥४११॥ नितान्तं तैः कृतप्रीतिं स्वकुटुम्बपराङ्मुखम् । माहेश्वरास्ततो वीक्ष्य बहुधा तमशिक्षयन् ॥४१२॥ अश्रौषीदपि तच्छिक्षां स पुनर्न मनागपि । उन्मादिन्युपदेशो हि प्रयासायैव केवलम् ॥ ४१३ ॥ मूर्खोऽयमिति बठरगुरुरित्यभिधां व्यधुः । तस्य ते तत्यजुस्तं च धूर्त्ततस्करवेष्टितम् ॥ ४१४ ॥ सम्प्राप्तप्रसरास्तेऽथ तस्करा योगदानतः । उन्मादं तस्य संवर्द्ध्य स्वीचक्रुस्तं शिवालयम् ॥ ४१५ ॥ मध्यापवरके कारावेश्मनीव बलादपि । प्रक्षिप्य तत्कुटुम्बं च तद्द्वारं परितः प्यधुः ॥ ४१६ ॥ तेऽथ संस्थापयामासुराशु स्वातन्त्र्यमोदिनः । चौरमेकं महाधूर्त्तं प्रचण्डं तत्र नायकम् ॥ ४१७ ॥ विहितोत्तालतालं च गायन्तस्तत्पुरोऽनिशम् । कुण्डान्तः कौतुकात् क्षिप्त्वा बठरं नाटयन्ति तम् ॥ ४१८ ॥ एवं विडम्ब्यमानोऽपि बठरः स पुनः कुधीः । परमार्थमजानानः सुतरां मोदते हृदि ॥ ४१९ ॥

पश्यन्तस्त्वपि यद्दिर्दशा । दृश्यतेऽमीषु लोकेषु न पुनः क्वापि साधुषु ॥३८९॥ तथा सुप्ताः प्रमादाख्यनिद्रया जाग्रतोऽप्यमी । जनास्तथान्तरस्तन्द्रैर्घूर्णमानाः प्रकीर्तिताः ॥ ३९० ॥ तया तु निद्रया हीनाः स्वपन्तोऽपि यतिः क्वचित् । जागरूकाः सदा ज्ञेयाः साधवस्तु नराधिप ! ॥३९१॥ यथाष्टकर्मक्रमिकयोगादेते क्षणाकुलाः । विज्ञेयास्तत्त्वतः सत्त्वा भावधर्मरहिता अपि ॥ ३९२ ॥ साधूनामपि सन्त्येते क्षमिका किन्तु तेन ते । अपीड्यन्ते यतस्तेषां शुद्धप्रायमृष सत्तु ॥ ३९३ ॥ तथा मात्राः पुत्रमित्रकलत्रविभवादयः । अत्यन्तमात्मनो भिन्नाः प्रोच्यन्ते विबुधैः परे ॥३९४॥ तदधीना जनाः सर्वे क्लिश्यन्तोऽमी दिवानिशम् । प्रकीर्तिताः परायत्ताः स्वधिया स्ववशा अपि ॥३९५॥ मुनयस्तु महात्मानो निर्गता गृहनासतः । अपि गुर्वादिवशगाः स्ववशास्तत्त्वतो मताः ॥ ३९६ ॥ तथा दर्शनज्ञानचारित्रधनवर्जिताः । श्रीमन्तोऽपि दरिद्रा देहिनो दुर्गता अमी ॥ ३९७ ॥ रत्नैस्तैरान्तरैर्युक्ता यतिर्दुर्गतरूपताम् । धारयन्तोऽपि विज्ञेयाः श्रीमन्तो मुनयः पुनः ॥ ३९८ ॥ एवमन्येऽपि वैरूप्यदुर्भगत्वादयो नृप ! । दोषा गेहिषु बोद्धव्याः सदा साधयकर्मसु ॥ ३९९ ॥ मुमुक्षूणां पुनर्दोषगन्धोऽपि हि न विद्यते । तपस्सत्कर्मनिर्मासफलीकृतमन्मनाम् ॥ ४०० ॥ कृष्णवर्णादयो दोषास्तथा युष्मासु गेहिषु । आरोप्यन्ते मयाऽऽत्मानं स्थापयित्वा मुनिं नृप ! ॥ ४०१ ॥ एवं च संस्थिते भूप ! यत्सुखं पारमार्थिकम् । साधोः सर्वाविमुक्तस्य तदन्यस्य न कस्यचित् ॥ ४०२ ॥ यत्तु वैषयिकं सौख्यमेषां देहभृतामिदम् । तद्दुःखमेव विज्ञेयं परिणामेऽतिदारुणम्

१ ॰चारित्रज्ञानसमुपवर्जिताः ख०, ॰चारित्रज्ञानविवर्जि॰ ग० ।

॥ ४०३ ॥ परमेतद् विजानन्ति नैते मूढधियो जनाः । स्वेच्छयोपहसन्त्येवं तेनैते मां वराककाः ॥ ४०४ ॥ यदि
वैषां न दोषोऽयं दोषो मोहस्य किन्त्वसौ । तद्वशान्न विदन्त्येते तत्त्वं बठरभौतवत् ॥ ४०५ ॥ भगवन् ! बठरः
कोऽयमित्युर्वीशेन सादरम् । पृष्टः स शमिनामीशः शशंसेति पुनस्ततः ॥ ४०६ ॥ भवाख्येऽस्तीह विस्तीर्णे ग्रामे
शिवनिकेतनम् । तत्स्वरूपाभिधं भूप ! रत्नादिधनपूरितम् ॥ ४०७ ॥ तत्र सारगुरुर्नाम सकुटुम्बो निरन्तरम् ।
शैवाचार्यो वसत्येकः किन्तून्मत्तः सदाप्यसौ ॥ ४०८ ॥ ततो रक्षति नात्मीयं कुटुम्बं हितमप्ययम् । समृद्धिं न च
जानाति तस्य स्वस्य शिवौकसः ॥ ४०९ ॥ ततो विज्ञाय तद्वृत्तं चौरैस्तद्ग्रामवासिभिः । एत्य धूर्त्ततया मैत्री तेन
सार्द्धं व्यधीयत । ४१०॥ सोऽप्युन्मत्ततया शैवगुरुः क्रूराशयानपि । निजानिव हितान् बन्धून्मेने तान् परिपन्थिकान्
॥४११॥ नितान्तं तैः कृतप्रीतिं स्वकुटुम्बपराङ्मुखम् । माहेश्वरास्ततो वीक्ष्य बहुधा तमशिक्षयन् ॥४१२॥ अश्रौ-
षीदपि तच्छिक्षां स पुनर्न मनागपि । उन्मादिन्युपदेशो हि प्रयासायैव केवलम् ॥ ४१३ ॥ मूर्खोऽयमिति बठरगुरु-
रित्यभिधां व्यधुः । तस्य ते तत्यजुस्तं च धूर्त्ततस्करवेष्टितम् ॥ ४१४ ॥ सम्प्राप्तप्रसरास्तेऽथ तस्करा योगदानतः ।
उन्मादं तस्य संवर्द्ध्य स्वीचक्रुस्तं शिवालयम् ॥ ४१५ ॥ मध्यापवरके कारावेश्मनीव बलादपि । प्रक्षिप्य तत्कुटुम्बं
च तद्द्वारं परितः प्यधुः ॥ ४१६ ॥ तेऽथ संस्थापयामासुराशु स्वातन्त्र्यमोदिनः । चौरमेकं महाधूर्त्तं प्रचण्डं तत्र
नायकम् ॥ ४१७ ॥ विहितोत्तालतालं च गायन्तस्तत्पुरोऽनिशम् । कुण्डान्तः कौतुकात् क्षिप्त्वा बठरं नाटयन्ति
तम् ॥ ४१८ ॥ एवं विडम्ब्यमानोऽपि बठरः स पुनः कुधीः । परमार्थमजानानः सुतरां मोदते हृदि ॥ ४१९ ॥

भोजने याचिते चाथ तेन क्षुत्क्षामकुक्षिणा । ते प्रोचुर्दस्यवस्त्वं हि भिक्षां ग्रामेऽत्र पर्यट ॥ ४२० ॥ इत्युक्त्वा चर्म पिनद्ध्वा च तं मषीतिलकादिभिः । भिक्षार्थमर्पयामासुस्तस्मै ते घटकर्परम् ॥ ४२१ ॥ चत्वारस्तत्र च ग्रामे विकटाः सन्ति पाटकाः । अतिप्रथ पञ्चपन्थोरकटोत्कटवराभिधाः ॥ ४२२ ॥ फलवालारवैः सोऽथ धूर्तैस्तैः परिवेष्टितः । गत्वाद्ये पाटके भिक्षार्थी चचाम गृहे गृहे ॥ ४२३ ॥ तत्रास्य दूरतो भिक्षाप्राप्तिवार्तापि तिष्ठतु । पिष्टैः प्रस्तुत सोऽकुट्टि विविधं धूर्तनोदितैः ॥ ४२४ ॥ चिरमेवं महाघोरं दुःखं तत्रानुभूय सः । निर्ययौ पाटकात्तस्माद्विशीर्णे घट कर्परे ॥ ४२५ ॥ शरावेऽर्पिते पारिपन्थिकैस्तैस्तदन्वितः । स एव इव भिक्षार्थी द्वितीय पाटकं ययौ ॥ ४२६ ॥ चिरं भ्रान्तोऽपि तत्रापि भिक्षां नाऽऽप स कुत्रचित् । पूर्ववत्ताड्यते पिष्टैः केवलं कठिनाश्मभिः ॥ ४२७ ॥ शरावके विशीर्णे च स दत्त्वा ताम्रभाजनम् । तृतीयपाटकं नीतस्तस्करैः क्रूरकर्मभिः ॥ ४२८ ॥ तत्रासौ विरलां भिक्षां लभते छायपानया । यथाऽप रत्नपूर्वस्य देवगेहस्य नायकः ॥ ४२९ ॥ तत्रापि ताड्यते पिष्टैर्भग्नेऽथो ताम्रभाजने । स तुर्यपाटके नीतस्तैर्दत्त्वा रूप्यभाजनम् ॥ ४३० ॥ विशिष्टरत्नसम्भारैश्चर्पण्यापात्रभावतः । भिक्षां सर्वस्करां तत्र लभतेऽसौ गृहे गृहे ॥ ४३१ ॥ एवं ते तस्करास्तेषु पाटकेषु पुनः पुनः । तं मौस भ्रमयन्त्युच्चैर्नाटयन्तो दिवानिशम् ॥ ४३२ ॥ इत्थं कदर्थ्यमानोऽपि तेषु स्निग्धमनाः स तु । भिक्षाप्तिमात्रमुदितः स्वस्योच्चैर्मन्यते सुखम् ॥ ४३३ ॥ रत्नादिपूर्णास्त्वमठाधु मकताब स्वकृष्मतः । स्पृष्ट मग्नं च दुःखाब्धौ शोच्य स्वं वेत्ति नो पुनः ॥ ४३४ ॥ तदेव ते महाराज ! कथितो वठरो गुरुः । लोकोऽयं येन सदृशः परमार्थं न बुध्यते ॥ ४३५ ॥

कथमेतदिति प्रोक्ते राज्ञा भूयोऽवदद् गुरुः । ग्रामोऽत्र भूप ! संसारो विज्ञातव्योऽतिविस्तृतः ॥ ४३६ ॥ ज्ञान-दर्शनचारित्ररत्नादिधनपूरितम् । स्वरूपं जीवलोकस्य विज्ञेयं शिवमन्दिरम् ॥४३७॥ जीवलोकश्च मौतोऽयमुन्मत्तः कर्मयोगतः । क्षमासत्यादयस्तस्य ये गुणास्तत्कुटुम्बकम् ॥ ४३८ ॥ रागद्वेषप्रभृतयो विज्ञेया धूर्त्ततस्कराः । ये दुष्टा अपि भासन्ते जीवलोकस्य बन्धुवत् ॥ ४३९ ॥ जैना माहेश्वराः प्रोक्ता जीवलोकस्य बोधकाः । त्यज-न्त्यबुध्यमानं च जठरं ते प्रकल्प्य तम् ॥ ४४० ॥ रागाद्यास्तेऽथ लोकस्योन्मादं संवर्द्ध्य तद्गुणान् । क्षिप्त्वा चित्ते निरुन्धन्ति मध्यापवरकोपमे ॥ ४४१ ॥ तत्स्वरूपं वशीकृत्य महामोहं च नायकम् । महाधूर्त्तोपमं न्यस्या-स्याग्रे तं नाटयन्ति च ॥ ४४२ ॥ भोगाकाङ्क्षा क्षुधा ज्ञेया जीवलोको ययार्दितः । रागादीनेष यत्नेन याचते भोग-भोजनम् ॥ ४४३ ॥ रागाद्यास्तेऽथ भिक्षायै पापमष्या विलिप्य तम् । भ्रमयन्ति भवग्रामे लोकं विहितवेष्टनाः ॥ ४४४ ॥ नारकतिर्यग्मनुजदेवसम्बधिनो भवाः । विज्ञेयास्ते भवग्रामे चत्वारः पाटकाः क्रमात् ॥ ४४५ ॥ कर्प्परं च शरावं च ताम्रं राजतमेव च । भाजनं जीवलोकस्य तदायुष्कमुदाहृतम् ॥ ४४६ ॥ गृहाण्युक्तानि विद्वद्भिर्विविधा योनयः पुनः । षिङ्गलोकास्तु परमाधार्मिकक्षुत्तृषादयः ॥ ४४७ ॥ तत्तदायुर्धरस्तत्तद्भवयोनिष्वटं-स्ततः । दुःखमेवोल्बणं तत्तल्लोकोऽयं लभते तदा ॥ ४४८ ॥ पुण्यं तु रत्नच्छायोक्ता तदाविर्भावतश्चिरात् । लभते मर्त्यदेवत्वे भोगभोजनमप्यसौ ॥ ४४९ ॥ एवं रागादिभिर्लोको भोगाकाङ्क्षी मुहुर्मुहुः । संसारे भ्राम्यमाणोऽसौ क्लिश्यते क्रूरकर्मभिः ॥ ४५० ॥ अयं तु क्लिश्यमानोऽपि जीवलोको विमूढधीः । मन्यते सुखभाजं स्वं न तु

सर्वस्वमिच्युतम् ॥ ४५१ ॥ तदेवमेव राजेन्द्र ! लोकस्तत्त्वं न बुध्यते । दुःखाम्भोनिधिमग्नोऽपि यथाऽसौ जठरो गुरुः ॥ ४५२ ॥ ऊचे धवलराजोऽथ यद्येवं भगवन् ! कथम् । विमोक्षो भविताऽस्माकमस्माद् भवविडम्बनात् ॥ ४५३ ॥ गुरुराह तदा भावी मोक्षोऽस्मात्भवतां यदा । तावच्चो भावि जठरस्यामुष्याद्य कथान्तरम् ॥ ४५४ ॥ किं तस्य भगवन् ! स्यादिति भूपतिनोदिते । जगाद भगवानेवं महाराज ! निशम्यताम् ॥ ४५५ ॥ तैस्तथा जठरं चौरैर्बाध्यमानं विलोक्य तम् । महामाहेश्वरस्याभूदेकस्य करुणैकदा ॥ ४५६ ॥ ततस्तदुपकाराय शिवोकः स सुधीर्निधि । सम्पृच्छ्यैकं महावैद्यमावोपकरणो ययौ ॥ ४५७ ॥ रात्रौ पृष्ठतो वेला जठरं विनष्ट्य तम् । भ्रान्त्या इव प्रसुप्तपुस्तदा ते धूर्ततस्कराः ॥ ४५८ ॥ माहेश्वरवरः सोऽथ प्रविश्य शिवसद्मनि । प्रदीप दीपया मास जठरं तं ददर्श च ॥ ४५९ ॥ जलपानेऽथ मौनेन तेन स्निग्धेन याचिते । स तत्त्वरोचकं नाम तीर्थाम्भ स्तमपाययत् ॥ ४६० ॥ तत्पानात् गलितोन्मादः समुल्लसितचेतनः । शिवौकः परितः पश्यन्स तानैक्षिष्ट तस्करान् ॥ ४६१ ॥ किमेतदिति संपृष्टस्तेन माहेश्वरोऽथ सः । मूलादारभ्य वृत्तान्तं तदीयं सर्वमाख्यत ॥ ४६२ ॥ किमिदानीं मया कार्यमिति तेनोदितः पुनः । वज्रदण्डं समर्प्यैकमूचे माहेश्वरः स तम् ॥ ४६३ ॥ तवैते वैरिण स्तावद् भट्टारक ! मलिम्लुचाः । दण्डेनैते ततोऽनेन हन्यन्तामविलम्बितम् ॥ ४६४ ॥ सोऽथ दण्डेन चौरांस्तान् जघान निखिलानपि । मध्यापवरकद्वारं सद्य उद्घाटयति स्म च ॥ ४६५ ॥ कुटुम्बं तमिमं दृष्ट्वा तां च रत्नादि सम्पदम् । योगीव परमं ज्योतिः परं हर्षमवाप सः ॥ ४६६ ॥ मठग्राम सारगुरुः स स्वकस्या बहुतस्करम् । गत्वा

शिवालयाभिख्ये मठेऽस्थात् निरुपद्रवे ॥ ४६७ ॥ तदेतत्तस्य संजज्ञे महीनाथ ! कथान्तरम् । महीनाथोऽप्युवाचैव
कथमेतज्जने समम् ? ॥ ४६८ ॥ शशंस शमिनामीशो विशामीश ! निशम्यताम् । महामाहेश्वरो धर्मोपदेष्टात्र गुरुर्मतः
॥ ४६९ ॥ स हि रागाद्यभिव्याप्तं तच्चदुःखौघपीडितम् । जीवलोकमिमं दृष्ट्वा जायते करुणापरः ॥ ४७० ॥
महावैद्यस्तु विज्ञेयो जिनस्तदुपदेशतः । ज्ञात्वोपायं गुरुर्लोकोपकाराय प्रवर्त्तते ॥ ४७१ ॥ ततो रागादिषु क्षीणो-
पशान्तत्वं गतेषु सः । जीवस्वरूपे ज्ञानाख्यं प्रदीपं दीपयत्यलम् ॥ ४७२ ॥ पाययित्वा जलं सोऽथ सम्यग्दर्शन-
संज्ञकम् । चारित्राख्यं वज्रदण्डं लोकायार्पयति क्रमात् ॥ ४७३ ॥ लोकोऽप्ययमथ ज्ञानवीक्षिताशेषवस्तुकः ।
सम्यग्दर्शननिर्नष्टकर्मा गुरुनिदेशतः ॥ ४७४ ॥ तांश्चारित्रेण रागादीन् निहत्य नि[1]खिलानपि । पश्यत्युद्घाटिते
चित्ते निजान् स्वाभाविकान् गुणान् ॥४७५॥ युग्मम् ॥ सं[2]प्राप्तनिजनिर्व्याजगुणातिशयसुं[3]स्थितः । प्रादुर्भूताद्भुतैश्वर्यः
परमां मुदमश्नुते ॥४७६॥ रुद्धं रागादिभिस्त्यक्त्वा स संसारमिमं ततः । गत्वा मठोपमे मोक्षे निराबाधे च तिष्ठति
॥ ४७७ ॥ ततो यदैष वृत्तान्तो भविता भवतामपि । भविष्यति तदा मोक्षोऽमुष्माद् भवविडम्बनात् ॥ ४७८ ॥
सूरेः श्रुत्वाथ तां वाचं विवेकारामसारणिम् । मुदितस्तं जनाधीशो जनश्चैवं व्यजिज्ञपत् ॥ ४७९ ॥ अस्माकं
भगवन् ! येषां त्वमकारणवत्सलः । नाथः समभवत् तेषां वृत्तान्तोऽयं न दुर्लभः ॥ ४८० ॥ अतो भगवतास्माकं
विधायानुग्रहं परम् । दीयतामधुनादेशः किमस्माभिर्विधीयताम् ? ॥ ४८१ ॥ सूरिरूचेऽथ भो भद्राः ! साधु साधु

---

१ निखिलान् क्रमात् क० ख० ग० । २ स प्राप्त० क० ख० ग० घ० । ३ °सस्थितः क० ख० ग० घ० ।

प्रशस्तिवम्। फलवानधुना सोऽभून्मत्प्रयासद्रुमो ध्रुवम् ॥ ४८२ ॥ इयानेव ममादेशो भवद्भिः क्रियतामिह। कुर्वन्तु तद् भवन्तोऽपि यस्तुं पन्मया कृतम् ॥ ४८३ ॥ युष्माभिः किं कृतमिति पृष्टो राज्ञाऽवदद्गुरुः। मत्ना घोरं मया वैनी दीक्षेयं जगृहे मया ॥ ४८४ ॥ युष्माकमपि चेत्स्वातो बोधो मदुपदेशतः। भवक्षयक्षमा भवतु दीक्षेप गृह्यतां ततः ॥ ४८५ ॥ नृपः प्रोवाच भगवन्! यदादिष्टमिदं त्वया। स्थित हृदि तदस्माकं केवलं कथ्यतां भवः ॥ ४८६ ॥ वयमेते त्वया तावद् मालायासेन बोधिताः। भवांस्तु बोधितो नाथ! कथं केन कुतः क्व च! ॥ ४८७ ॥ ततो जगाद भगवान् सभामात्मप्रशंसनम्। परनिन्दा च भूपाल! विज्ञातु नैव युज्यते ॥ ४८८ ॥ तत्र स्यात् स्वयमप्यात्मचरितं वदतो मम। तथापि तव निर्बन्धात् कथ्यते शृणु पार्थिव! ॥४८९॥ प्रभूतशुभवृत्तान्ते पुरे नाम्ना धरातले। राजा शुभविपाकोऽस्ति प्रत्यक्षमिव चन्द्रमाः ॥ ४९० ॥ कान्ता तस्यानुरूपाऽस्ति नामतो निजसाधुता। तत्कुक्षिसम्भवश्चाहं सद्गुणमणिरोहणः ॥ ४९१ ॥ तथा शुभविपाकस्य कनीयानस्ति सोदरः। अशुभविपाकनामा विश्वसन्तापकारकः ॥ ४९२ ॥ अनुरूपाऽस्ति तस्यापि परिणत्यभिधा प्रिया। तत्कुक्षिजन्मा मन्दाख्यः सर्वदोषविषोरगः ॥ ४९३ ॥ पितृव्यपुत्रभावेन तयोश्च सुधमन्दयोः। मैत्री समभनि भ्रात्रोरति मात्रमकृत्रिमा ॥ ४९४ ॥ इतश्च धिषणा नाम पुरे विमलमानसे। शुभाभिप्रायभूमर्तुर्दुहिताऽस्ति मनोहरा ॥ ४९५ ॥ तां च स्वयंवरायातामुपार्यस्त मुदा बुधः। तत्कुक्षिसम्भवस्तस्य विचाराख्यः सुतोऽभवत् ॥ ४९६ ॥

१ °सुबोधधिः क० ख० ग० घ०।

अन्येद्युश्च निजे क्षेत्रे रममाणौ यदृच्छया । शैलं ललाटनामानं बुधमन्दावपश्यताम् ॥ ४९७ ॥ विनीलबहुलच्छाया कबर्याख्या वनावली । तुङ्गे शीर्षाभिधे शृङ्गे यस्योपरि विराजते ॥ ४९८ ॥ कौतुकादथ तं यावद्वीक्षितुं धरणीधरम् । तौ राजतनयौ तत्र प्रदेशे समुपेयतुः ॥ ४९९ ॥ तस्याद्रेः प्रसृताऽधस्तात् शिलासङ्घातनिर्मिता । तावत् ताभ्यामदर्श्येका नासिकाख्या महागुहा ॥ ५०० ॥ सुदीर्घमतिगम्भीरमन्धकाराभिपूरितम् । अदृश्यमान-पर्यन्तं द्वाराभ्यामेव लक्षितम् ॥ ५०१ ॥ विभक्तं मध्यशिलया विस्मयैकनिकेतनम् । तदन्तश्चापवरकद्वितयं ताव-पश्यताम् ॥ ५०२ ॥ युग्मम् ॥ पश्यतस्तत् ततो यावद्विस्मितौ तौ नृपात्मजौ । गुहातो निर्ययौ तावद्दारिकैका-तिचञ्चला ॥ ५०३ ॥ नत्वोचे सादरं तौ सा स्वागतं भवतोः प्रभू ! । आत्मीयदर्शनात्साधु ममाद्यानुग्रहः कृतः ॥ ५०४ ॥ निवेदयावयोर्बाले ! कासि त्व कन्दरोदरे ! । किमर्थं चात्र वससीत्यूचे मन्दोऽथ तां मुदा ॥ ५०५॥ तच्च तस्य वचः श्रुत्वा सा शोकभरनिःसहा । पपात मूर्च्छया भूमौ लतेव पवनाहता ॥ ५०६ ॥ ततः शीतोप-चारेण मन्देनाश्वास्य सम्भ्रमात् । किमेतदिति सम्पृष्टा साऽगदत् गद्गदस्वरम् ॥५०७॥ विस्मृता युवयोरेवं याहं स्वस्वामिनोरपि । तस्या मे मन्दभाग्यायाः किं स्तोकं शोककारणम् ? ॥ ५०८ ॥ भुजङ्गताभिधानाहं युवयोः परिचारिका । तिष्ठामि युष्मदादेशादेव दर्यामिहान्वहम् ॥५०९॥ अस्यां हि भवतोरस्ति घ्राणाख्यः परमः सुहृत् । ततो युवाभ्यां निर्दिष्टा तस्याहं परिचारिका ॥ ५१० ॥ चिरकालप्ररूढं च युवयोस्तेन सङ्गतम् । यथा चैतत्सम-

१ °देव तं ग० । २ °छाया क० ख० । ३ साऽवदत् ग० ।

मणपया नाभो विश्रम्पगाम् ॥ ५११ ॥ पुराऽसंम्पषेहारास्म्पुरात्मयपपुर्युषाम् । एकाङ्गनिवासे कर्मपरिणामस्य
शासनात् ॥५१२॥ विकलाक्षनिवासे च ततोऽपि हि गतो युवाम् । अनेककलोककसम्पूर्णपाटकत्रयभूषिते ॥ ५१३ ॥
तत्र विकला नाम महेना कुलपुत्रकाः । द्वितीये पाटके सन्ति तन्मध्ये संस्थितौ युवाम् ॥ ५१४ ॥ सोऽथ
पुवयोस्तत्र तिष्ठतोः । प्रथमः प्रददावेतां नासिकास्यां महागुहाम् ॥५१५॥ अयं च प्राणसंज्ञोऽस्या
पालकः । युवयोर्विषये तेन वयस्योऽस्मन्तवत्सलः ॥ ५१६ ॥ मंतयोः सकृत तेन ततः प्रभृति वर्तते ।
त् न निर्याति गुहायाः किन्त्वसौ बहिः ॥ ५१७ ॥ युवाभ्यां संस्थितोऽत्रैव ग न्धेर्नानाविधैस्ततः । तत्र
तत्र पर्यटतुभ्यामप्यसौ लालितः सदा ॥ ५१८ ॥ गंताभ्यां मनुजगतावन्येषुः परिचारिका । अस्याहं सुहृदः
स्नेहात् युवाभ्यां विहिते मम ! ॥ ५१९ ॥ ततः प्रभृत्यहं तिष्ठाम्येषा युष्मन्निदेशतः । प्राणान्तेऽत्र सदा तत् किं
युवयोरस्मि विस्मृता ! ॥ ५२० ॥ ततोऽयं पूर्वमाभो ! स्वयतां किङ्करो जनः । वदन्त्येव युवमन्दपदयोर्निपपात
सा ॥ ५२ ॥ न्त्रोऽप पादपतितां समुत्थाप्य भुजङ्गताम् । तस्मीविवासितस्वान्तः समभाषत सादरम् ॥५२२॥
। मम वरानने ! । विस्मृतोऽप्येष वृत्तान्तः साधु संस्मारितस्त्वया ॥५२३॥ तदत्र भवती
स्नेहभीतो जनोऽयं ते विदधातु किमीप्सितम् ! ॥ ५२४ ॥ साऽप्योवादियदेसात्र कार्य
लास्यतां प्राप्तो वयस्यो यदसौ निजः ॥५२५॥ मनोहरेषु गन्धेषु वद्वृष्णस्य सर्वदा ।
न चास्य प्रतिभासते ॥ ५२६ ॥ [illegible]मागरुकस्तूरीकर्पूरकुसुमादिभिः । ततः क्षुमन्निभमि

र्द्रन्यैर्लाल्यतामेष सर्वदा ॥ ५२७ ॥ एवं च लालितेऽमुष्मिन् घ्राणे यद्भवतोः सुखम् । सम्भविष्यति तन्नाथ ! को
वर्णयितुमीश्वरः ? ॥५२८॥ मन्दोऽथाभिदधे सुभ्रु ! सुन्दरं गदितं त्वया । एतत्करिष्यते सर्वं तिष्ठ भद्रे ! निराकुला
॥ ५२९ ॥ महाप्रसाद इति सा वदन्त्यथ भुजङ्गता । पपात पादयोस्तस्य भूयोऽप्युद्भूतसम्मदा ॥ ५३० ॥
दर्थ्यौ बुधस्तु मे भाति दारिकेयं न सुन्दरा । ततो ममानया कर्तुं संस्तवोऽपि न युज्यते ॥५३१॥ किन्तु क्षेत्र-
मिदं शैलः कन्दरा च मदीयिका । अतोऽत्र यः स्थितो घ्राणः स मे पाल्यो न संशयः ॥ ५३२ ॥ केवलं यदियं
वक्ति दारिका विप्रतारिका । तन्मया नास्य कर्त्तव्यं लालनं सुखकाम्यया ॥ ५३३ ॥ एवं निश्चित्य चित्तेन
घ्राण तं पालयन्नपि । बुधो न युज्यते दोषैर्लभते च परं सुखम् ॥ ५३४ ॥ भुजङ्गतां पुरस्कृत्य क्लेशं मन्दस्तु
केवलम् । प्राप्नोति तत्तत्सद्गन्धवस्तुमीलनलम्पटः ॥ ५३५ ॥ इतश्च यौवनारूढो विचारो बुधनन्दनः । कौतुका-
न्निर्ययौ बाह्यान्तरदेशदिदृक्षया ॥ ५३६ ॥ भ्रान्त्वा तेषु चिरं सोऽथ परिपूर्णकुतूहलः । स्वस्थानमाययौ राजकुलं
च मुमुदेतराम् ॥५३७॥ वृत्ते महाविमर्देन तदागममहोत्सवे । विचारो बुबुधे मैत्रीं घ्राणेन बुधमन्दयोः ॥५३८॥
ततो रहसि संस्थाप्य तमात्मपितरं बुधम् । विचारश्चारुवचनैरुवाच रचिताञ्जलिः ॥५३९॥ तात ! यो युवयोर्जातो
घ्राणनामा वयस्यकः । सोऽयं न सुन्दरोऽमुष्य मूलशुद्धिर्निशम्यताम् ॥ ५४० ॥ इतस्तावदहं तात ! देशदर्शन-
कौतुकात् । अपृष्ट्वा तातमम्बां च तदैकाकी विनिर्ययौ ॥ ५४१ ॥ विपुलां विपुलामेनां प्रविलोक्य ततो मुदा ।

---

१ दारका ता० । २ ०सुगन्ध० ग० ।

ममाधमो नाथौ निशम्यताम् ॥ ५११ ॥ पुराऽसंव्यवहाराख्यपुरास्मयपथुर्युवाम् । एकाक्षनिवासे कर्मपरिणामस्य शासनात् ॥५१२॥ विकलाक्षनिवासे च ततोऽपि हि गतौ युवाम् । अनेकलोकसम्पूर्णपाटकत्रयभूषिते ॥ ५१३ ॥ तत्र त्रिकरणा नाम सन्ति कुलपुत्रकाः । द्वितीये पाटके सन्ति तन्मध्ये संस्थितौ युवाम् ॥ ५१४ ॥ सोऽथ कर्मपरिणामो युवयोस्तत्र तिष्ठतोः । प्रसन्नः प्रददावेतां नासिकाख्यां महागुहाम् ॥५१५॥ अयं च घ्राणसंज्ञोऽस्या गुहायाः परिचारकः । युवयोर्विश्वे तेन वयस्योऽत्यन्तवत्सलः ॥ ५१६ ॥ भवतोः सङ्गत तेन ततः प्रभृति वर्तते । राजादेशात् न निर्याति गुहायाः किन्त्वसौ बहिः ॥ ५१७ ॥ युवाभ्यां संस्थितोऽप्येष गन्धैर्नानाविधैस्ततः । तत्र तत्र पर्यटनस्थानमप्यसौ लालितः सदा ॥ ५१८ ॥ गताभ्यां मनुजगतावन्येद्युः परिचारिका । अस्याहं सुन्दरं स्नेहाद् युवाभ्यां विदधे भृशम् ! ॥ ५१९ ॥ ततः प्रभृत्यहं तिष्ठाम्येषा युष्मन्निदेशतः । घ्राणान्तेऽत्र सदा तत् किं युवयोरस्मि विस्मृता ! ॥ ५२० ॥ ततोऽयं पूर्वभार्यो ! स्मरतां किङ्करो मनः । वदन्त्येव युवमन्दपदयोर्निपपात सा ॥ ५२१ ॥ मन्दोऽथ पादपतितां समुत्थाप्य भुजङ्गमाम् । तत्प्रीतिपालितस्वान्तः सममापत सादरम् ॥५२२॥ पिपासं मुञ्च चार्वङ्गि ! धीरा भव वरानने ! । विस्मृताऽप्येष वृत्तान्तः साधु संस्मारितस्त्वया ॥५२३॥ तदत्र भवती तावद्विवेचयतु मेऽधुना । स्नेहक्रीतो जनोऽयं ते विदधातु किमीप्सितम् ! ॥ ५२४ ॥ साऽप्योचदयं देवास्य कार्यं नाथ ! ममेप्सितम् । पूर्वपक्षाख्यतां घ्राणो वयस्यो यदसौ निजः ॥५२५॥ मनोहरेषु गन्धेषु [illegible] सर्वदा । दुर्गन्धवस्तुनामापि न चास्य प्रतिभासते ॥ ५२६ ॥ [illegible]भावकस्तूरीकर्पूरकुसुमादिभिः । ततः सुगन्धिभि

नुसारिता । तात ! तन्मे पुरं विष्वक् सवृत्तान्तमदर्शयत् ॥ ५५८ ॥ अथैकत्र मया दृष्टा पुरं तत्र महागिरिम् ।
तच्छृङ्गेऽन्यच्च नगरं प्रोक्ता मार्गानुसारिता ॥५५९॥ निवेदयाम्ब ! किं नाम पुरमेतदवान्तरम् । कश्चायं शिखरी ?
किं च पुरं शृङ्गे[1]ऽस्य दृश्यते ? ॥५६०॥ मार्गानुसारिता प्राह वत्स ! नो लक्षितं त्वया ? । सुप्रसिद्धमिदं लोके पुरं
सात्त्विकमानसम् ॥ ५६१ ॥ एषोऽपि सुप्रतीतोऽत्र विवेकाख्यो महीधरः । प्रसिद्धमप्रमत्तत्वाभिधानं शिखरं त्वदः[2]
॥ ५६२ ॥ इदं च विश्वविख्यातं जैनाख्यं पुरमुच्यते । तव विज्ञातसारस्य कथं प्रष्टव्यतां ययौ ? ॥ ५६३ ॥
यावच्च कथयत्येवं सा मे मार्गानुसारिता । तावज्जातोऽपरस्तत्र वृत्तान्तस्तात ! तं शृणु ॥ ५६४ ॥
गाढप्रहारविधुरः पुरुषैः परिवेष्टितः । अभिशैलं नीयमानः पुमानेको मयैक्ष्यत ॥ ५६५ ॥ तत्स्वरूपं मया
पृष्टा साऽऽह मार्गानुसारिता । वत्स ! चारित्रधर्माख्यो गिरावस्तीह भूपतिः ॥ ५६६ ॥ यतिधर्मस्य तत्सूनो-
र्भटोऽयं संयमाभिधः । एकाकी च क्वचिद् दृष्टो महामोहादिशत्रुभिः ॥५६७॥ ततो बहुत्वाच्छत्रूणां प्रहारैर्जर्जरी-
कृतः । अयं निर्वाहितो वत्स ! रणभूमेः पदातिभिः ॥५६८॥ नेष्यन्त्येतेऽधुना चैनं गिरिस्थे जैनपत्तने । तिष्ठन्ति
तत्र पित्राद्याः सर्वे ह्येतस्य बान्धवाः ॥ ५६९ ॥ मयाप्यूचे करिष्यन्ति दृष्ट्वे[3]मं शत्रुविद्रुतम् । यत्ते चारित्रधर्माद्या-
स्तदम्ब ! मम दर्शय ॥ ५७० ॥ एवं विधीयते वत्सेत्युक्त्वा सा तत्र पर्वते । समारुह्य मया सार्द्धं तज्जैनं पुर-
मासदत् ॥ ५७१ ॥ तत्र चित्तसमाधानाभिधाने सोऽथ मण्डपे । राजमण्डलमध्यस्थो वीक्षितः क्षितिनायकः

१ तत्कस्य घ० । २ त्विदम् क० ग० घ० । ३ दृष्ट्वैतं शत्रु० ग० ।

जगाम भवचक्राख्ये नगरेऽहं गरीयसि ॥ ५४२ ॥ राजमार्गेऽथ मद्राक्षं तत्र चैकां मृगीदृशम् । यशोरमन्त्यमानन्ददायिनीं कौमुदीमिव ॥ ५४३ ॥ छायान्तरं भजन्त्युच्चैः सापि मां वीक्ष्य सुस्मिता । उच्छ्वासं कलयामास पक्षीव सलिलोक्षिता ॥ ५४४ ॥ मया कृतनतिः साथ वत्साशिषमुवाच माम् । कोऽसि वत्स ! किमर्थं वा कुतो वात्र समागतः ! ॥ ५४५ ॥ विचक्षणाभयोः सूनुर्विचारोऽस्मि धरातलात् । महीविहृतया भ्राम्यम् प्राप्तोऽत्रेति मयोच्यत ॥ ५४६ ॥ तन्मुक्त्वाश्लिष्य मां मूर्ध्नि चुम्बित्वा च मुहुर्मुहुः । जगाद सादरं साथ हर्षाश्रुप्लाविलेक्षणा ॥ ५४७ ॥ ममाद्य कृतमैर्वत्स ! फलितं पुण्यपादपैः । अनभ्रपर्जन्याख्यो यदभूत् त्वत्समागमः ॥ ५४८ ॥ वत्स ! प्रत्यभिजानासि त्वं मां नैव विशेषतः । यतो मया लघिष्ठोऽसि तदा मुक्तः स्तनन्धयः ॥ ५४९ ॥ अहं हि मातुस्ते वत्स ! विचक्षणायाः स्वसा वरा । अभीष्टा नृपराजस्य नाम्ना मार्गानुसारिता ॥ ५५० ॥ तयोरहं समादेशात् सर्वलोककविलोकनम् । कर्तुं विनिर्गता तात ! जातमात्रे पुरा त्वयि ॥ ५५१ ॥ अतो मे भागिनेयस्त्वं तनयस्त्वं वपुस्तथा । जीवितं परमात्मा च सर्वं भवसि सुन्दर ! ॥ ५५२ ॥ अन्यच्च विहितं साधु ! भवतोपमशालिना । यदेवं निर्गतो गेहात् देशदर्शनकौतुकी ॥ ५५३ ॥ यो देशान् नेक्षते क्षोणिमनेकाद्भुतसंकुलाम् । कूपमण्डूकवत् तस्य गुणास्वादः कुतः ! ॥ ५५४ ॥ तदेवं सुन्दरतरं वत्सेन विहितं ननु । भवचक्रे यदायातस्त्वमत्र प्रवरे पुरे ॥५५५॥ अदृष्टकौतुकागारं यो हि पश्यत्यदः पुरम् । तेनाशेषमिदं दृष्टं मन्ये विश्वं चराचरम् ॥ ५५६ ॥ मयोक्तमम्ब ! यद्येवं ततो मे दर्शयाधुना । भवचक्रं पुरमिदं पुण्यैर्मे मिलिताऽसि यत् ॥ ५५७ ॥ तदेति भगवती साथ मामा

हापरैः ॥ ५८८ ॥ तस्याजननिरेवास्तु यद्वा भूयादजीवनिः । यः क्लीब इव निर्जीवः सहतेऽरिपराभवम् ॥५८९॥ यस्यैकोऽपि च किञ्चैते प्लावयन्त्येव त्वद्भटाः सागरा इव । रिपुलोकं न चेदेषां स्यात् तवाज्ञोपरोधिनी ॥५९०॥ यस्यैकोऽपि च राज्ञः स्यात् रिपुः सोऽपि जिगीषति । तस्योपेक्षोचिता किं ते द्विषो यस्य पराःशताः ॥ ५९१ ॥ तन्निहत्याखिलानेतान् व्याधीनिव विरोधिनः । निराकुलः प्रभो ! भुङ्क्ष्व प्राज्यसाम्राज्यसम्पदम् ॥ ५९२ ॥ इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्नरेन्द्रेण निरीक्षितः । मन्त्री जगाद सद्बोधः सद्बुद्धिघनसेवधिः ॥ ५९३ ॥ साधु साधूदितं देव ! सुप्रगल्भगिराऽमुना । एवं च स्वामिभक्तत्वं निजं तेजश्च दर्शितम् ॥ ५९४ ॥ प्रस्तावरहितं कार्यं नारम्भ्यं किन्तु धीमता । नीतिविक्रमयोर्यस्मात्प्रस्तावः कार्यसाधकः ॥ ५९५ ॥ न नः सम्प्रति स त्वस्ति तत्र हेतुर्निशम्यताम् । इदं मूलविनष्टं हि तावत्सर्वं प्रयोजनम् ॥ ५९६ ॥ भवचक्रमिदं यस्माद् वयं ते च विरोधिनः । स च कर्मपरीणाममहाराजो महाभुजः ॥ ५९७ ॥ तस्य संसारिजीवस्याधीनं निःशेषमप्यदः । चित्तवृत्तिमहाटव्यां यस्यैतत्सकलं स्थितम् ॥ ५९८ ॥ युग्मम् ॥ स पुनर्वेत्ति नाद्यापि नामाप्यस्मादृशां खलु । तान्महामोहमुख्यांश्च मन्यतेऽत्यन्तवत्सलान् ॥५९९॥ इतश्च यत्र तस्य स्यात् पक्षपातः समुत्कटः । तस्यैव विजयो नूनं स हि सर्वस्य नायकः ॥६००॥ ततः संसारिजीवोऽस्मान्यावज्जानाति नैव सः । यावन्न पक्षपातश्च तस्यास्मासु प्रजायते ॥ ६०१ ॥ तावद्वैरिभिरस्माकं विग्रहो नैव युज्यते । किं कुर्यादियमस्माकमुत्साहस्तद्बलं विना ॥६०२॥युग्मम्॥ चान्यं नैतच्च यदसावस्मान् ज्ञास्यति वा न वा ?। समये क्वापि सोऽवश्यमेवास्मानवभोत्स्यते ॥६०३॥ यतः कर्मपरीणामः स राजाऽत्र बलद्वये । समान-

॥ ५७२ ॥ एवम् वैनैरैस्तत्र समानीय स संयमः । दर्शितो भूपतेः सर्वो वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥ ५७३ ॥
ततस्तं तादृशं दृष्ट्वा प्रतिपक्षपराभवम् । चुक्षुभुस्ते नृपास्तत्र युगान्त इव सागराः ॥ ५७४ ॥ केऽपि मुञ्चन्ति हुङ्कारं
भ्रुकुटीभङ्गभीषणाः । अपरे विमुञ्चन्त्युच्चैर्गुञ्जारुणविलोचनाः ॥ ५७५ ॥ भुजमास्फालयन्त्यन्ये वक्षसि न्यस्तदृष्टयः ।
सर्वेऽप्येवं क्रुधाध्माता विविधं विचिचेष्टिरे ॥ ५७६ ॥ तादृशमथ तं वीक्ष्य क्षुभितं राजमण्डलम् । चारित्रधर्मराजेन्द्रं
सद्बोधसचिवोऽवदत् ॥ ५७७ ॥ धीराणां देव ! युक्तोऽयं नेदृशः क्षोभविभ्रमः । वार्यन्तां तदमी भूपाः कार्यसारा
हि यतः ॥ ५७८ ॥ ततो निवार्य राजेन्द्रः सर्वांस्तान् दृष्टिसंज्ञया । पप्रच्छैवमुपस्थिते कार्ये भो ! भोः ! कि
क्रियतामिति ? ॥ ५७९ ॥ प्रोचिरे मानिनस्तेऽथ दुःसहेऽस्मिन् पराभवे । रिपुभिस्तैः कृते देव ! किमद्यापि विल
म्ब्यते ? ॥ ५८० ॥ वरं तृणं वरं तूलं वरं भस्म वरं रजः । प्रतिपक्षापमानेऽपि सुस्थितो न पुनः पुमान् ॥५८१॥
क्रिमेभ्यो देवपादानां यावद् रुषा न वर्धते । पापानां प्रलयस्तेषां तावदेव न जायते ॥ ५८२ ॥ एकैकोऽपि
मतो देव ! तावकीनो रणे यतः । निःशेषांस्तानलं हन्तु करजानिव केसरी ॥५८३॥ अथवाऽमी नराः सन्तु नार्यो
ऽपि तव सैन्यपाः । किमस्तानलमुच्छेत्तुं तत् किं देव ! विलम्ब्यते ? ॥ ५८४ ॥ विरतेष्वथ तेष्वेवमुक्त्वा चारित्र
भूपतिः । मन्त्रार्थं सम्यग्दर्शनसद्बोधाभ्यां ययौ रहः ॥ ५८५ ॥ मया सार्धं कृतान्तर्धिः साऽथ मार्गानुसारिता ।
तत्रापि प्रययौ तावत् तन्मन्त्रमथपेक्षया ॥५८६॥ अथ तत्रोचितं राज्ञा पृष्टयोर्मन्त्रिणोस्तयोः । स सम्यग्दर्शन-
स्तावद् भूपतिं प्रत्यभाषत ॥ ५८७ ॥ रणकर्मरसोद्वृत्तैर्यदुक्तं देव ! पार्थिवैः । यदेव प्राप्तकालं ते किमालोच्यैरि

अतो युष्माकमस्माकमपि स्वामी स एव हि। ततः समस्वामितया को विरोधः परस्परम् ? ॥ ६१९ ॥
सुभृत्या हि मिथः स्निग्धा भवेयुर्बान्धवा इव। स्थिरास्तु तस्मादस्माकं प्रीतिरद्य प्रभृत्यपि ॥ ६२० ॥ इत्युक्त्वा
तत्र विश्रान्ते महामोहमहाभटाः। परितः प्रोचिरे प्रोच्चैः प्रोद्भूतक्रोधभीषणाः ॥ ६२१ ॥ अरे! रे! तव केनेद-
माख्यातं दूतपांसन!। यथा संसारिजीवो नः स्वामी सम्बन्धिनो वयम् ? ॥ ६२२ ॥ पातालेऽपि प्रविष्टानां नैव
मोक्षोऽस्ति वः क्वचित्। जल्पाकजल्पितैरेभिरनल्पैरपि[१] किं ततः ? ॥ ६२३ ॥ संसारिजीवो नः स्वामी यूयं
सम्बन्धिनः किल। अहो! सम्बन्धघटना काप्येषामिनवा श्रुता ॥ ६२४ ॥ तत् तूर्णं याहि रे! दूत! देवता-
स्मरणोद्यताः। यूयं भवत नन्वेते वयमन्वागताः खलु ॥ ६२५ ॥ इति निर्भर्त्स्य तं दूतं महामोहादयोऽथ ते। चेलुः
सर्वाभिसारेण तत्क्षणं रणकाम्यया ॥ ६२६ ॥ सत्येनाभ्येत्य तद्वृत्ते समाख्यातेऽथ मूलतः। चारित्रधर्मराजोऽपि
द्विषस्तानभ्यषेणयत् ॥ ६२७ ॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यास्ततः परिसरे तयोः। लग्नमायोधनं घोरमुभयोरपि सेनयोः
॥ ६२८ ॥ ततश्चारित्रधर्मोऽसौ सबलो बलशालिना। महामोहनरेन्द्रेण निर्जितस्तत्र सङ्गरे ॥ ६२९ ॥ चारित्रधर्म-
राजेऽथ नंष्ट्वा स्वस्थानमीयुषि। कृतकोलाहलास्तस्थुर्विद्विषस्ते निरुध्य तम् ॥ ६३० ॥ मातृष्वसाथ मामूचे
दृष्टं तात! कुतूहलम्। मयाप्यूचे सुष्ठु दृष्टमम्बिकायाः प्रसादतः ॥ ६३१ ॥ केवलं कलहस्यास्य मूलमम्ब!
परिस्फुटम्। विज्ञातुमहमिच्छामि ततः साप्यब्रवीदिति ॥ ६३२ ॥ महामोहनृपास्थाने रागकेशरिणोऽग्रतः।

१ जल्पनैः कल्पितै० ख०, जल्पाककल्पितै० ग०।

पक्षपातेन सदा प्रार्थेयं वर्तते ॥ १०४ ॥ यस्य संसारिजीवोऽपि सर्वे च कुरुते वचः । अस्मानेव ततस्तस्य फलाशिषं शापयिष्यति ॥१०५॥ ततश्च तेन विज्ञाताः सप्रसादं च नोदिताः । जय देव ! भविष्यामः शत्रुनिर्दलनक्षमाः ॥ १०६ ॥ प्रस्तावामापतस्तस्मात् सम्प्रत्यत्र प्रयोजने । पुत्रकः कालविलम्बो नः काले हि सफला क्रिया ॥१०७॥ प्रोचे सम्यग्दर्शनोऽथ यथेव प्रेष्यतां ततः । दूतो द्विषां यथा सीम्नि सन्ति ते तेन भर्त्सिताः ॥ १०८ ॥ सक्रोधः प्राह दूतेनाप्यधुना प्रहितेन किम् ? । एवमेवाऽस्माद् तावत् समयं यावदाप्नुमः ॥ १०९ ॥ प्राह सम्यग्दर्शनोऽपि न माध्यमतिभीरुभिः । करिष्यन्ति किमस्माकं सुबद्धा अपि ते शठाः ? ॥ ११० ॥ अथवा रोचते नाऽर्य ! दूतस्ते दम्भपूर्वकः । ततः सन्धिविधानार्थं सामपूर्वः प्रहीयताम् ॥१११॥ सक्रोधः प्राह तेष्वेषां साम प्रस्तुत दीपकम् । प्रतप्तानि हि सर्पीषि दीप्यन्ते भृशमम्भसा ॥ ११२ ॥ दम्यतां वा फलेनैतत् पूर्वतां यः कृतालम् । प्रेष्यतामनुशिष्याऽसु कोऽपि दूतः प्रगल्भवाक् ॥ ११३ ॥ तद्वाक्यमनुमेन्याथ जिज्ञासुर्विपदाशयम् । सत्यास्य प्राहिणोद् दूतमनुशिष्य महीपतिः ॥ ११४ ॥ अथ दूतानुमार्गेण सापि मार्गानुसारिता । ततो तात ! मया सार्धं महामोहबले ययौ ॥ ११५ ॥ प्रमत्ततानदीतीरे चित्तविक्षेपमण्डपे । महामोहमहीपालो हस्त्यास्थानसंस्थितः ॥ ११६ ॥ सोऽथ दूतोऽपि तत्रैत्य प्रभक्त्याऽऽसनि ढौकिते । निषद्य क्षेममापृच्छ्य महामोहमदोऽवदत् ॥ ११७ ॥ बाह्याभ्यन्तरभावानां चित्तस्पष्टदीपिका । तावत् स एव संसारिजीवो भो ! मूलनायकः ॥ ११८ ॥

१ न्ये म० क० स० ग० घ० । २ ष्मोपाञ्ज क० ख० ग० घ० । ३ तत्र मया ता० । ४ नी मू० ग० ।

त्कालं च न्यपद्यत ॥ ६४७ ॥ तन्मृत्योरधिकोद्भूतघ्राणत्यागमनोरथः । तदुपायमथापृच्छद् बुधो मार्गानुसारि-
ताम् ॥ ६४८ ॥ मार्गानुसारिताप्यूचे देव ! हित्वा भुजङ्गताम् । तिष्ठ त्वं साधुमध्यस्थस्तदाचारपरायणः ॥६४९॥
ततोऽयं विद्यमानोऽपि घ्राणो दोषनिबन्धनम् । न ते सम्पत्स्यते देव ! ततस्त्यक्तो भविष्यति ॥ ६५० ॥ तद्वाक्य-
मनुमन्याथ बुधः सद्गुरुसन्निधौ । समाददे परिव्रज्यां मुक्तिव्रज्यासमुत्सुकः[1] ॥ ६५१ ॥ अभ्यस्तोभयशिक्षोऽथ
सञ्जातानेकलब्धिकः । स योग्य इति मत्वाऽऽत्मपदेऽस्थाप्यत सूरिभिः ॥ ६५२ ॥घ्राणकथानकम्॥ बुधसूरिः स
एषोऽहं युष्मद्बोधविधित्सया । विहाय गच्छमेकाकी महाराज ! समाययौ ॥ ६५३ ॥ प्रबोधकारणं भूप ! तदिदं
संविधानकम् । मम सम्पन्नमेतच्च तुल्यं युष्मादृशामपि ॥ ६५४ ॥ हृषीकैः को हि नामीभिर्वञ्चितो विश्ववञ्च-
कैः ? । महामोहादिभिः को वा पाप्मभिर्न विडम्बितः ? ॥ ६५५ ॥ तदेतेषु विरागोऽस्ति यदि वो[2] भाववैरिषु ।
गृह्णीत तदिमां दीक्षां श्रेयःकामगवीनिभाम् ॥ ६५६ ॥ श्रुत्वेति देशनां सूरेरज्ञानोरगजाङ्गुलीम् । सलोको धवलो-
र्वीशः परं संवेगमासदत् ॥ ६५७ ॥ प्रोवाच विमलं दीक्षां जिघृक्षुः क्षितिपस्ततः । वत्सेदं राज्यमादत्स्वाऽऽ-
दास्यामस्तु वयं व्रतम् ॥ ६५८ ॥ विमलोऽप्याह किं तात ! तवाहं नैव वल्लभः ? । यद् राज्ये नरकान्ते मां
संस्थापयितुमिच्छसि ॥ ६५९ ॥ मुक्तिप्रियसखीं दीक्षां जिघृक्षसि पुनः स्वयम् । तदेतेन न मे तात ! कार्यं राज्ये-
न सर्वथा ॥ ६६० ॥ आदास्ये किन्त्वहमपि प्रव्रज्यां भवता सह । भाग्यैर्हि भगवानेष लेभे संसारतारणः ॥६६१॥

---

१ मुक्तिगमनोत्सुकः । २ भो ! भा० ता० ।

रक्तो यो यस्य ! विषयाभिलाषः सचिवस्त्वया ॥ ६३३ ॥ अनेन मन्त्रिणा पूर्वं जगत्साधनकाम्यया ।
मानुषाणि प्रयुक्तानि पञ्चात्मीयानि सर्वतः ॥ ६३४ ॥ चारित्रधर्मराजस्य सन्त्रपालेन तानि तु । सन्त्रोपेयाणि
भूतानि तन्मूलोऽयं हि विग्रहः ॥ ६३५ ॥ मातः ! किमभिधानानि तानि ? यत्रैव वा कथम् । मानुषाण्यनिशं सर्वे
भुवनं साधयन्त्यदः ? ॥ ६३६ ॥ मार्गानुसारिता प्राह प्रोच्यन्ते तानि सुन्दर ! । स्पर्शनरसनाघ्राणदृष्टिश्रुत्य
भिधानतः ॥ ६३७ ॥ स्पर्शे रसे च गन्धे च रूपे शब्दे च तानि च । मनः प्रैलोभ्य जन्तूनां साधयन्त्यखिलं
जगत् ॥ ६३८ ॥ एकैकमपि चामीषु वशीकर्तुमलं जगत् । यत्पुनर्वत्स ! पञ्चापि तत्र किं चित्रमुच्यताम् ?
॥६३९॥ तत् सर्वं मध्यकाधुना वत्साहमं प्येष्यामि शृणु तः । विमृशेऽन्न यथेत्युक्त्वापातस्त्वात ! तथान्वितक्रम् ॥ ६४० ॥
मानुषाणां ततस्तेषां पञ्चानां विषयिद्विषाम् । मध्यवर्ती यतो प्राप्यो न साधुस्तात ! सर्वथा ॥ ६४१ ॥ मार्गा
नुसारिताप्येवं विचारोक्त्यपक्षेपयत् । दंपौ बुधोऽथ तच्छ्रुत्वा प्राणस्यागमनोरथम् ॥ ६४२ ॥ इतो भुजङ्गता
देशाचवसङ्ग वयस्तुभिः । मन्दस्त्वं लालयन् प्रायं न चेतयति किञ्चन ॥ ६४३ ॥ स देवराजभार्यापास्तत्रैव
नगरेऽन्यदा । लीलावत्यभिधानाया भगिन्या भवनेऽगमत् ॥ ६४४ ॥ इतस्तदा च सा गन्धयोग मारणकारणम् ।
सपत्नीसुतघाताय डोम्बीपार्श्वादुपाददे ॥ ६४५ ॥ तां गन्धपुटिकां द्वारि मुक्त्वा सान्तर्गृहं ययौ । मन्दस्तदा
च सम्प्राप्तस्तत्र तां निरवर्णयत् ॥६४६॥ ततो भुजङ्गतावेशादुन्मोच्य पुटिकामसौ । ददौ घ्राणाय मन्दांस्तांस्त-

१ ०म्यतो ! क० ख० म० च० । २ भक्कन्त ख० । ३ ०मप्याथामि भ० । ४ दम्भी ख० ।

नृपतेः पुरे विशदमानसे । भार्ये स्तो निर्मलाचारे शुद्धतापापभीरुते ॥ ६७६ ॥ तयोः कुक्षिसमुद्भूते जनका-
नन्ददायिके । ऋजुताऽचौरते नाम विद्येते कन्यके उभे ॥ ६७७ ॥ ते च कन्ये यदा धन्ये सुहृत् ते परिणे-
ष्यति । तदाऽऽभ्यां पाप[1]बन्धुभ्यां वियोगोऽस्य भविष्यति ॥ ६७८ ॥ भविष्यत्ययमर्थस्तु प्राज्ये कालेऽतिलङ्घिते ।
ततः सम्प्रत्ययोग्यस्य विधेह्यस्यावधीरणाम् ॥ ६७९ ॥ अनुशिष्येति विमलं बुधः स भगवानथ । ययौ गच्छं
निजं नव्यदीक्षितैस्तैः समावृतः ॥ ६८० ॥ अहं तु काञ्चनपुरे सरलस्याऽऽपणं ययौ । साश्रुदृक् प्रणतश्चास्मै
प्रोद्यद्गद्गदिकावशात् ॥ ६८१ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽहं श्रेष्ठिना तेन चावदम् । त्वां वीक्ष्य स्वपिता तात ! स्मृतो
मे श्रेष्ठ्यथाभ्यधात् ॥ ६८२ ॥ यद्येवं तर्ह्यपुत्रस्य पुत्रो मे त्वं ततोऽनयत् । स्वगृहे मां स्वभार्यायै बन्धुमत्यै तथाऽ-
र्पयत् ॥ ६८३ ॥ स्नपयित्वा भोजयित्वा पृष्टो नामकुलादिकम् । निजं न्यवेदयमहं निःशेषं श्रेष्ठिनोस्तयोः
॥ ६८४ ॥ सजातिरयमित्युच्चैर्मुदितः सरलोऽथ[2] सः । [3]प्रपन्नपुत्रे मय्येव गृहभारं न्यवेशयत् ॥ ६८५ ॥ स च
श्रेष्ठी मया सार्धं विपणौ निशि सर्वदा । स्वपित्यन्तःक्षितिन्यस्तरत्नादिधनमूर्च्छया ॥ ६८६ ॥ षष्ठीजागरणे
स्वस्य सूनोः सोऽथान्यदा निशि । आहूतो बन्धुला[4]ह्वेन [5]वैयस्येन जगाद माम् ॥ ६८७ ॥ [6]मयाऽद्य वत्स !
गन्तव्यं सुहृद्बन्धुलवेश्मनि । एकाक्यपि ततो गत्वा वस त्वं विपणौ निशि ॥ ६८८ ॥ मया प्रोचे विना

१ °बुद्धिभ्याम् ग० । २ ऽभवत् ख० । ३ ततो मय्येव सोऽखिलं गृ० ख० । ४ °लाख्येन ख० ग० ।
५ मित्रेण मामवोचत ख० । ६ वत्स ! मयाऽद्य ग० ख० ।

तदुक्त्या मुदितः सोऽथ भूपालः कमलाभिधम् । द्वैतीयीकं न्यधाद्राज्ये तनयं नयशालिनम् ॥ ६६२ ॥ विधाय
शान्तिकर्मादीनि कृत्यान्यथ नृपोऽग्रहीत् । दीक्षां शुभगुरोः पार्श्वे पत्नीसुतजनान्वितः ॥ ६६३ ॥ येऽपि केचित्
तदा दीक्षां न ग्रहीतुमपारयन् । सम्यक्त्वाणुव्रतादानात् तेऽप्यात्मानमपावयन् ॥ ६६४ ॥ चरैर्दृष्ट्वापि तद्रूपं
तदा भूत्वापि तद्वशः । न मनागपि दोषोऽभूत्ते ! प्रायाकृतेस्तु मे ॥ ६६५ ॥ प्रत्युताऽचिन्तयमहं तदा चटुलिका
वशात् । सिद्धेन्द्रजालचातुर्यः कोऽप्ययं भ्रमयत्यहो ॥ ६६६ ॥ अहो ! कूटमहो ! धार्ष्ट्यमहो ! साधाटताऽस्य
च । अहो ! मूढा नरेन्द्राद्या येऽमुनापि प्रतारिताः ॥ ६६७ ॥ विमलो मां बलाद्दीक्षां ग्राहयिष्यति चिन्त्यसौ ।
नश्यामि यद्यपि स्वैरं तदहं क्वापि सत्वरम् ॥ ६६८ ॥ चिन्तयित्वेति चतुष्पादं गाढं मुष्टिकृत्य ततः । तथा नष्टो यथा
गन्धमपि जानाति नो जनः ॥ ६६९ ॥ सर्वत्रान्वेषितमपि मामवीक्ष्य ससम्भ्रमः । अन्यावसरेऽपृच्छत्
मच्छुद्धिं विमलो गुरुम् ॥ ६७० ॥ ज्ञानालोकेन विज्ञाय मत्स्वरूपं यथातथे । हरिणाय समाख्याते पप्रच्छ
विमलः पुनः ॥ ६७१ ॥ अभव्यः किमयं नाथ ! तथापि यथासि श्रुते । ममज्ञातविवेकोऽय यदेव हन्त ! चेष्टते !
॥ ६७२ ॥ हरिराह महाभाग ! नाभव्यः सुहृदेष ते । यत् स्वैरं चेष्टते तत्र समाकर्णय कारणम् ॥ ६७३ ॥ आस-
राधान्तरायस्य स्तेयो चटुलिकापि च । तत् साम्प्रतमितो वामदेवो दोषं विचेष्टते ॥ ६७४ ॥ आभ्यां भावी
वियोगोऽस्य कदाचिद् भगवन् वा ! । इत्युक्तो विमलेनाथ भूयोऽपि गुरुरभ्यधात् ॥ ६७५ ॥ शुभाभिसन्धि-

१ स्तस्वा० ग० ।

नृपतेः पुरे विशदमानसे । भार्ये स्तो निर्मलाचारे शुद्धतापापभीरुते ॥ ६७६ ॥ तयोः कुक्षिसमुद्भूते जनकानन्ददायिके । ऋजुताऽचौरते नाम विद्येते कन्यके उभे ॥ ६७७ ॥ ते च कन्ये यदा धन्ये सुहृत् ते परिणेष्यति । तदाऽऽभ्यां पापबन्धुभ्यां[1] वियोगोऽस्य भविष्यति ॥ ६७८ ॥ भविष्यत्ययमर्थस्तु प्राज्ये कालेऽतिलङ्घिते । ततः सम्प्रत्ययोग्यस्य विधेह्यस्यावधीरणाम् ॥ ६७९ ॥ अनुशिष्येति विमलं बुधः स भगवानथ । ययौ गच्छं निजं नव्यदीक्षितैस्तैः समावृतः ॥ ६८० ॥ अहं तु काञ्चनपुरे सरलस्याऽऽपणं ययौ । साश्रुदृक् प्रणतश्चास्मै प्रोद्यद्रहुलिकावशात् ॥ ६८१ ॥ किमेतदिति पृष्टोऽहं श्रेष्ठिना तेन चावदम् । त्वां वीक्ष्य स्वपिता तात ! स्मृतो मे श्रेष्ठ्यथाभ्यधात् ॥ ६८२ ॥ यद्येवं तद्यपुत्रस्य पुत्रो मे त्वं ततोऽनयत् । स्वगृहे मां स्वभार्यायै बन्धुमत्यै तथाऽर्पयत् ॥ ६८३ ॥ स्नपयित्वा भोजयित्वा पृष्टो नामकुलादिकम् । निजं न्यवेदयमहं निःशेषं श्रेष्ठिनोस्तयोः ॥ ६८४ ॥ सजातिरयमित्युच्चैर्मुदितः सरलोऽथ सः । प्रपन्नपुत्रे[3] मय्येव गृहभारं न्यवेशयत् ॥ ६८५ ॥ स च श्रेष्ठी मया सार्धं विपणौ निशि सर्वदा । स्वपित्यन्तःक्षितिन्यस्तरत्नादिधनमूर्च्छया ॥ ६८६ ॥ षष्ठीजागरणे स्वस्य सूनोः सोऽथान्यदा निशि । आहूतो बन्धुलाह्वेन[4] वैयस्येन[5] जगाद माम् ॥ ६८७ ॥ मयाऽद्य[6] वत्स ! गन्तव्यं सुहृद्बन्धुलवेश्मनि । एकाक्यपि ततो गत्वा वस त्वं विपणौ निशि ॥ ६८८ ॥ मया प्रोचे विना

---

१ °बुद्धिभ्याम् ग० । २ ऽभवत् ख० । ३ ततो मय्येव सोऽखिलं गृ० ख० । ४ °लाख्येन ख० ग० ।
५ मित्रेण मामवोचत ख० । ६ वत्स ! मयाऽद्य ग० ख० ।

तात गमनेनालमापथे । यस्स्यामि तावदम्बाया एवात्र परमान्तिके ॥ ६८९ ॥ अयाहो ! स्नेहसारोऽयमिति
ध्यायन् भवत्सदः । इत्युक्त्वा सरलोऽप्यासीत् तस्थौ वेश्मन्यह पुनः ॥ ६९० ॥ ततोऽहं हर्म्यमन्तःस्थ निशीथे
स्तेयनोदितः । गत्वा प्रोद्घाटयन् द्वार पुरारक्षैर्निरीक्षितः ॥ ६९१ ॥ ज्ञातं मदाशय तेषु निभृतं संस्थितेष्वय ।
द्रविणमाभुवि न्यस्तमुत्खायान्यदर्दने मया ॥ ६९२ ॥ रात्रौ विभातकल्पायां कृते हाहारवेऽमिलत् । लोकः प्राप्ताश्च
सरला समेता दण्डपाशिकाः ॥ ६९३ ॥ किमेतदिति तेनाहं पृष्टोऽथोद्घाटिताऽऽपणम् । निधानस्थानमग्नौ
पार्श्वस्य विमनायितः ॥ ६९४ ॥ ज्ञातं कथमिदं वत्स ! त्वया चौरविचेष्टितम् ?। इत्युक्तः सरलेनाहमाचख्यौ
मद्वाक्षरम् ॥ ६९५ ॥ तदा तात ! त्वयि मृते त्वद्वियोगभयाकुलः । अलब्धनिद्रः शय्यायां निशान्तेऽहम
चिन्तयम् ॥ ६९६ ॥ तातसंसर्गपूतायां नूनं निद्रासुख मम । सम्पत्स्यतेऽत्र शय्यायामेव तदत्र याम्यहम् ॥६९७॥
ध्यात्वेत्यत्रागतेनेदृक् दृष्टं तच्चौरचेष्टितम् । मया हाहारवस्तात ! ततोऽस्य विदधेऽधुना ॥ ६९८ ॥ वष्युस्तेऽथ
पुरारक्षा महो ! अस्य कृतज्ञता । अहो ! विश्वासघातित्वमहो ! कूटप्रकल्पना ॥ ६९९ ॥ स्वय कृतमिदं चौर्यं
परेण निह्नुतेऽसकौ । तत् सलोप्त्रं ग्रहीष्यामः ध्यात्वाप्यस्य वधमारताः ॥ ७०० ॥ ध्यायन्त इति ते प्रोचुः श्रेष्ठिन् !
मा भूः समाकुलः । अस्माभिर्लब्ध एवास्ते चौरस्त्वद्वसुमोचकः ॥ ७०१ ॥ पुनाचैरिति साङ्कव तैर्मस्तमृस
मीक्षिते । ज्ञातोऽस्मेतैरिति मे भयं महदजायत ॥ ७०२ ॥ स्वस्वस्थानं गते लोके लज्जिते तत्र चाहनि । इत्था

१ तथा' क० स० ध०।

प्रदोषे तद्द्रव्यं पलायिषि जवादहम् ॥ ७०३ ॥ नश्यंश्च जगृहे दण्डपाशिकैर्दत्तहेरिकैः । तुम(तुमु०)लायात-लोकाय मद्वृत्तं च न्यवेद्यत ॥ ७०४ ॥ जनेन निन्द्यमानश्च रिपुसूदनभूपतेः । नीतोऽहमन्ते तेनाज्ञापितो वध्यतया ततः ॥ ७०५ ॥ तदा च द्रुतमागत्य सरलः सरलाशयः । कृच्छ्रान्मां मोचयामास पार्थिवादन्तकादिव ॥ ७०६ ॥ मां मुक्त्वाऽस्यार्पयित्वा च तद्द्रव्यं प्राह भूपतिः । श्रेष्ठिन्नयं सुपुत्रस्ते मद्वेश्मन्येव तिष्ठतु ॥ ७०७ ॥ तद्राजवचनं श्रेष्ठी प्रतिपद्य ततो निजे । जगाम भवनेऽहं तु तस्थौ नृपतिवेश्मनि ॥७०९ ॥ इतः पुण्योदयो मित्रं पुराप्यत्यन्तदुर्बलः । मां विहाय तदाऽनेशद् दृष्ट्वा तद्दुष्टचेष्टितम् ॥७०८॥ स्तेयबहुलिके ते च तत्र संवसतो मम । राजदण्डभयादुग्रात् प्रशमं किञ्चिदीयतुः ॥ ७१० ॥ तथापि मे जनः सर्वः सर्वकार्येषु शङ्कते । अन्येनापि कृतं चौर्यं ममोपरि निपात्यते ॥ ७११ ॥ एवं च निन्द्यमानस्य ताड्यमानस्य चान्वहम् । भूयान् कालो व्यतीयाय भद्रे ! तत्र स्थितस्य मे॥७१२॥ अन्येद्युः श्रीगृहं राज्ञो विद्यासिद्धेन केनचित् । चौरेण मुमुषे सत्रं नाज्ञायि स पुनः क्वचित् ॥ ७१३ ॥ अस्यैव साहसमिदं नान्यस्येति विचिन्तयन् । नृपो मां ग्राहयामास दृष्टदोषं पुराप्यथ ॥७१४॥ सकलेऽपि पुरे तत्र विडम्ब्य बहुधा च माम् । तरावुल्लम्बयामास नरेन्द्रोऽत्यन्तरोपणः ॥ ७१५ ॥ अत्रान्तरे च जीर्णायां प्राच्यां सा भवितव्यता । ममान्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ ७१६ ॥ तस्याः प्रभावतो भद्रे ! त्वरितं प्रययावहम् । तस्यां पापिष्ठवासायां नगर्यामन्त्यपाटके ॥ ७१७ ॥ असंख्येष्वनुभूतेषु तत्र दुःखेषु

१ दाण्ड° ता० ।

मौ ततः । पश्चात्पञ्चसंस्थाने सा निन्ये भवितव्यता ॥ ७१८ ॥ यत्रा नास्त्येव तत्स्थानं मुक्त्वाऽसंव्यवहारकम् । तथा न भ्रमितो यत्र प्रायः सीरूपमागतम् ॥ ७१९ ॥ एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । इदं विचिन्तितं गाढसंविग्नापन्नचित्तया ॥ ७२० ॥ अहो ! दुरन्तः स्तेयोऽसौ माया चात्यन्तदारुणा । ययोरासक्तचित्तोऽयं वराको भूरि नाटितः ॥ ७२१ ॥ संसारिजीवः प्रोवाच भवितव्यतयान्यदा । कृतोऽहं मानुषः क्वापि सुकृतं किमपि व्यधाम् ॥ ७२२ ॥ ततः सन्तुष्टया पत्न्या प्रकाशयोमी नरामरम् । प्रोक्तस्त्वयाधुना गम्यमानन्दनगरे प्रिय ! ॥ ७२३ ॥ मृत्वाङ्कविलम्भृतो रागकेसरिणः सुतः । सागरोऽयं सहायस्ते मानी पुण्योदयस्तथा ॥ ७२४ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ तत्पश्चात्पुरं प्रति । ताभ्यां मन्तु प्रवृत्तोऽहं प्रयुक्तगुटिकस्तया ॥ ७२५ ॥ इत्यवेत्य परिणामदारुणां सागरेवमुतमन्दयोः कथाम् । हे ! जनास्त्यजत शाठ्यचौरिकागम्यताद्विमपवर्गवाञ्छया ॥ ७२६ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे मायास्तेयप्रमाणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम पञ्चमः प्रस्तावः समाप्तः ।

१ 'यम ही म' स० 'यो यो न' क० प० । २ सोम ग० ।

षष्ठः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतावमन्दानन्दमन्दिरम् । तदानन्दपुरं नाम पुरं सुरपुरोपमम् ॥ १ ॥ स्फुरत्सु परितो यत्र मणिमन्दिररश्मिषु । ज्यौत्स्नीष्विव तमिस्रं न तमिस्रास्वपि जृम्भते ॥ २ ॥ दुर्दान्तरिपुमातङ्गनिर्भेदनवकेशरी । केशरी नाम तत्राभूद्भूपतिः प्रौढविक्रमः ॥ ३ ॥ यो मन्दर इवानेककटकः प्रकटोदयः । लक्ष्मीं चकर्ष निर्मथ्य परसैन्यपयोनिधिम् ॥ ४ ॥ स्वरूपाद्भुतसौन्दर्यनिर्जितामरसुन्दरी । तस्याग्रमहिषी जज्ञे नामतो जयसुन्दरी ॥ ५ ॥ अशेषार्त्तजनाध्वन्यसमाश्वासनपादपः । राजमान्योऽभवत्तत्र वाणिजो हरिशेखरः ॥ ६ ॥ शीलादिगुणरत्नौघभास्वद्भूषणभूषिता । तस्य बन्धुमती नाम दयिता समजायत ॥ ७ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया । तदाहं गुटिकादानात् तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥८॥ पूर्णे च समये ताभ्यां वयस्याभ्यां समन्वितम् । साथ मां सुषुवे सूनुमङ्कुरमिव मेदिनी ॥ ९ ॥ जन्मोत्सवादिकृत्येषु कृतेष्वथ सविस्तरम् । धनशेखर इत्याख्यां चक्रतुः पितरौ मम ॥१०॥ पितृभ्यां पाल्यमानश्च मित्रद्वययुतः क्रमात् । जगृहेऽहं कलाचार्याद् विना धर्म्मकलां कलाः ॥ ११ ॥ संप्राप्तयौवनस्याथ सागरेण क्षणे क्षणे । जन्यन्ते चित्तकल्लोलाः स्वसामर्थ्यान्ममेदृशाः ॥ १२ ॥ धनमत्र जगच्छ्रेष्ठं धनं नरसुरेप्सितं । धनं प्रत्यूहसंहारि धनं सर्वसुखाकरः ॥ १३ ॥ यद्वा नास्त्येव तल्लोके धनाद्यन्न भवेन्नृणाम् ।

धनमेव परिप्राप्य यस्मात्सर्वप्रपञ्चतः ॥ १४ ॥ ततः क्रमागत भूरि यद्यप्यस्ति धनं मम । तथाप्यन्यदतिप्राज्य मुज्यते मे स्वर्जितम् ॥ १५ ॥ जननीस्तन्यवत्प्रोक्तं बालानामेव युज्यते । पूर्वजोपार्जित द्रव्य न तु पूनां महौज साम् ॥ १६ ॥ भुज्यमानं च तद्द्रव्यं कियत्काल भविष्यति । भुष्यत्सुर्दव्यमानो हि समुद्रोऽप्यनुपार्जनः ॥ १७ ॥ द्रव्यार्जन च न प्रायः स्थानस्थैः कर्तुमीश्यते । तदर्जनेच्छुना तस्माद् गम्य देशान्तरे मया ॥ १८ ॥ किञ्च माप्य सहायादिसामग्रीमचलोपि हि । संप्राप्यार्थपति द्रव्यं भुवक्षुणां तु का कथा ? ॥ १९ ॥ तदेष मे विशेषः स्यात् सामग्रीरहितोऽपि यत् । गत्वा देशान्तरे द्रव्यमर्जयाम्यतिपुष्कलम् ॥ २० ॥ यद्वा किं चिन्तया बहुया ? न रत्नैः परितो मया । स्वगृहं पूरितं यावत् तावन्मे क सुखासिका ? ॥ २१ ॥ ज्ञात्वेति पितरौ स्निग्धौ रुन्धौ कथमप्य च । अजानाप्याशितनिर्बन्धात् प्रस्तुतार्थाय निर्ययौ ॥ २२ ॥ दक्षिणां च प्रचचालाशामन्तरस्वयसस्वयुक् । पुरे जयपुरेऽ गच्छ समुद्रतटवर्तिनि ॥ २३ ॥ वने तत्रहिरेकत्र निविश्याथ तरोस्तले । द्रविणोपार्जनोपायान् दध्यौ सागर मोहितः ॥२४॥ युग्मम् ॥ वाणिज्य किमहं चित्रं ? किं वा नृपतिसेवनम् ? । किं वा रत्नाकरोपास्तिमुत रोहणदारणम् ? ॥ २५ ॥ देवताराधन यद्वा धातुवादमथापि वा । करोमि साधुपायेन केन मे हन्त ! चिन्तितम् ॥२६॥ युग्मम् ॥ एवं संचिन्तयमानं प्रारोह रथवान्पुरः । पलाशशाखिशाखा नाः संप्रविष्टमधःस्थितौ ॥२७॥ स्वन्यचाद ततो भद्रे ! स्मुसामिनवशिखिवम् । अचिन्तयमहं चित्ते प्रमोदप्रोच्छ्वसद्वपुः ॥ २८ ॥ नूनं निधानमस्तीह किंशुकस्येयमन्यथा ।

१ °मिच्छ° क० ख० ग० घ० । २ °ष्णोऽपि घ० । ३ म छु° ख० । ४ भूपति° ख० ।

कुतः प्रारोहसंभूतिर्गृह्णाम्यहमदस्ततः ॥ २९ ॥ ध्यात्वेति सागरादेशात् खाते तत्र मया ततः । दीनारसहस्रभृतं
ताम्रपात्रं प्रकट्यभूत् ॥३०॥ पुण्योदयवशात्प्राप्तं निभृतं परिगृह्य तत् । अत्यन्तमुदितस्तूर्णमन्तर्जयपुरं ययौ ॥३१॥
चतुष्पथे च मां श्रेष्ठी विलोक्य बकुलाभिधः । संभाष्य स्वगृहं निन्ये मत्पुण्योदयनोदितः ॥ ३२ ॥ तद्गेहिन्याथ
भोगिन्या कारितस्नानभोजनः । तेनाहं श्रेष्ठिना पृष्टो नामान्वयपुरादिकम् ॥ ३३ ॥ यथास्थिते समाख्याते मया
तत्राथ मूलतः । योग्यो वरोऽयं मत्पुत्र्या इति श्रेष्ठी स पिप्रिये ॥ ३४ ॥ कन्दर्पप्रेयसीरूपगर्वसर्वस्वतस्कराम् ।
कमलिन्यभिधां पुत्रीं सोऽथ मां पर्यणाययत् ॥ ३५ ॥ जगाद चैष मां वत्स ! स्वमन्दिरमदोऽपि ते । ततोऽत्र
तिष्ठ निश्चिन्तः स्वच्छन्दं वत्सया सह ॥ ३६ ॥ मयोचे तात ! नो यावदर्जिता रत्नराशयः । तावत्सर्वामहं
मन्ये भोगलीलां विडम्बनाम् ॥ ३७ ॥ ततस्तात ! न दातव्यो ममादेशोऽयमीदृशः । प्रस्थापय सुसार्थेन रत्नद्वीपं
व्रजाम्यहम् ॥३८॥ स पुनः प्राह यद्येवं ततो वत्सानया कृतम् । विपत्तिविपुलागारसागरोत्तरणेच्छया ॥३९॥ मदी-
यनीवीमादाय कुर्वन्नैव धनार्जनम् । अथाहमवदं तात ! निर्बन्धस्तव यद्यसौ ॥ ४० ॥ ततः पृथग्गृहे स्थित्वा पणेऽहं
पृथगापणे । भाण्डमूल्यं ममास्त्येव न गृह्णाम्यत्र तावकम् ॥ ४१ ॥ श्रेष्ठिनानुमतेनाथ पृथग्भूय मृगेऽपणे ! । वाणि-
ज्यानि मया कर्तुमारभ्यन्त सहस्रशः ॥४२॥ ततस्तैस्तत्र दीनारसहस्रे द्विगुणे क्रमात् । संपादिते ममाकाङ्क्षा सहस्र-
दशकेऽभवत् ॥ ४३ ॥ क्रमात् तत्रापि संजाते लक्षाकाङ्क्षा ममाजनि । तस्यामपि च पूर्णायां जज्ञे कोटिस्पृहा मम
॥४४॥ तां च मीलितुकामेन मया सागरशासनात् । धान्यतैलाऽऽज्यकर्पासतिलपश्वादिसंग्रहः ॥४५॥ वातकीगुलिका-

लोभारम्भेक्यादिविक्रयः। भूयेतो विषयाऽऽस्थानं धनाङ्गारकृषिक्रियाः ॥४६॥ श्वश्रूटोमश्छलायोद्गलरनागादिवाहनम्। दास्यादिपोषणं चापि मानोन्मानविपर्ययः ॥ ४७ ॥ अलीकमाषण मुग्धविभवपमलबञ्चनम्। किमन्यदपि सावद्य कर्म्म नैव व्यधीयत ? ॥४८॥ कलापकम् ॥ न पापशङ्का न हेयभीरुता न सुखस्पृहा। न संतोषश्च संजज्ञे तदा मे तत्र ॥ ४९ ॥ यदि वा किं बहूक्तेन ? न तृष्णाऽऽर्तोऽप्यपां तदा। क्षुधाक्षामोऽपि नाभुङ्क्षि निशास्वपि न चास्वपम् ॥ ५० ॥ ततश्च तैर्महापापैर्मया कालेन भूयसा। पुण्योदयस्य माहात्म्यात् सा कोटिः सुभ्रु ! पूरिता ॥ ५१ ॥ विहित सागरेणाथ बहुकोट्यर्मनोपमे। रत्नद्वीप प्रयातु मे सद्धे हृदि मतिर्दृढा ॥ ५२ ॥ स्वामिभावे मयाख्याते श्रेष्ठी मां पञ्चलोऽन्वशात्। गमनागमनं यस्स ! तत्र न क्वापि युज्यते ॥ ५३ ॥ जायते विभवाशाप्तिर्देहिनो हि यथा यथा। तथा तथा विवर्द्धन्तेतरामस्य मनोरथाः ॥ ५४ ॥ तृप्येदपि जलैरब्धिररेपोभिर्वा हुताशनः। नरस्तेष मधरक्षोमो जन्तुर्विर्भवैर्धनैरपि ॥ ५५ ॥ ततो विधाय संतोषमिदमेवाखिलं धनम्। भत्रैव तिष्ठ सुज्ञानो यथेच्छं यस्स ! सुस्थितः ॥ ५६ ॥ मयाऽथ जगदे तात ! न कल्प्यमिदं वचः। निरारम्भस्य पुंसः स्यात् कुतः श्रीसंगमो ननु ? ॥ ५७ ॥ कथमिस्संमतापि श्रीरसौ साहसवर्जितम्। पुरुषं संत्यजत्येव पण्यनारीव निर्द्धनम् ॥ ५८ ॥ किञ्च स्तोकमपि प्राप्य लक्ष्मी तृप्यति यः पुमान्। न तत्कार्यक्लेशस्तस्य वर्द्धतेऽसौ महाशया ॥ ५९ ॥ कार्यस्तस्मात्र संतोषो विदुषा धनसंग्रहे। भवस्ताततोऽनुज्ञानात् रत्नद्वीपे मयाम्यहम् ॥ ६० ॥ श्रेष्ठपुत्रे सदने रत्नद्वीपे ना देहिनो

१ 'भाररक' म०। २ 'वो कि' म०। ३ विधीयते क०।

सोद्यमस्येतरस्य वा ॥ ६१ ॥ तथापि यदि निर्बन्धस्तवायमतुलस्ततः । अनुज्ञातो
ध्रुवम् । पूर्वोपार्जितमेव स्यात् सोद्यमस्येतरस्य वा ॥ ६१ ॥ तथापि यदि निर्बन्धस्तवायमतुलस्ततः । अनुज्ञातो
मया वत्स ! गम्यतां यत्र रोचते ॥ ६२ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा सार्द्धं सांयात्रिकैः परैः । पोतभाण्डादिसामग्री
न्यधीयत मया ततः ॥ ६३ ॥ मुहूर्त्तेऽथ शुभे प्राप्ते कृतनिःशेषमङ्गलः । पोतमारोहमापृच्छ्य स्वजनीं स्वजनानपि
॥ ६४ ॥ आरोहन्त्यपरेऽपि स्म यानपात्रं निजं निजम् । सांयात्रिकाः कृताशेषवार्द्धियात्रोचितक्रियाः ॥६५॥ पूरयि-
त्वा सितपटान्समुत्क्षिप्य च नङ्गरान् । अरित्रैश्चालयामासुर्यानपात्राणि नाविकाः ॥ ६६ ॥ पोतास्तेऽथ समुल्ल-
ङ्घ्य संसारमिव सागरम् । रत्नद्वीपं क्रमादापुर्लोकाग्रमिव योगिनः ॥ ६७ ॥ अन्ये सांयात्रिकास्तत्र भाण्डानां
क्रयविक्रयम् । कृत्वा प्रतिनिवर्त्त्य स्वं वेलाकूलमुपाययुः ॥ ६८ ॥ अहं तु सागरेणोक्तो गम्यते किं विमुच्य तत् ।
लभ्यन्ते यत्र रत्नानि द्वीपे निम्बच्छदैरपि ॥ ६९ ॥ ततस्तत्राऽऽपणं कृत्वा स्थिते मय्यन्यदाययौ । वृद्धैका स्त्री
तया चोक्तं श्रूयतां वत्स ! मद्वचः ॥ ७० ॥ समस्त्यानन्दनगरे केशरी नाम भूपतिः । जयसुन्दरीकलसुन्दर्यौ
तस्य प्रिये उभे ॥ ७१ ॥ स च हन्ति सदा राज्यसुखलुब्धो महीपतिः । जातान् जातान्निजसुतानहो ! मोहमहो
महत् ॥ ७२ ॥ जातगर्भा ततोऽन्येद्युरपत्यस्नेहतो निशि । गृहीत्वा मां सहचरीं साऽनशत् कलसुन्दरी ॥ ७३ ॥
व्रजन्त्याश्च निशाशेषे तस्याः कान्तारवर्त्मनि । विष्वगाविरभूदङ्गे दुःसहा सहसा व्यथा ॥ ७४ ॥ साथ मामब्रवी-
द्गन्तुं न क्षमा वसुमत्यहम् । ममाङ्गे वर्त्तते बाधा कापि प्राणान्तकारिणी ॥ ७५ ॥ मयाथ चिन्तितं हन्त !
किमिदं ? बुबुधेऽथवा । नूनं प्रसवकालोऽस्याः प्रत्यासीदति संप्रति ॥७६॥ विमृश्येति ततो यावद्देवि ! धीरा भवे-

स्पदम् । वदामि कर्म तस्कालोचित कुर्वे च संभ्रमात् ॥ ७७ ॥ प्राङ्कृत्य मूतले तातवेदनाभरविह्वला । पपात
स्वामिनी सा मे छिन्ननालेव पद्मिनी ॥ ७८ ॥ हतमेतम वेक्षन्ती कुर्वन्ती च मुहुर्मुहुः । सुपुवे दारक साथ प्राणेश
प्राणसुप्यत ॥७९॥ ततो मयाश्वेवोचे प्राप्य मूर्च्छामह क्षणम् । कष्ट्रावशाप्यपेतन्या व्यलपं करुणस्वरम् ॥८०॥
विलम्बन्स्थाय मे तत्राभ्युद्गते गगनाम्बरे । ससार्थो वरणः सार्थवाहस्तेनाम्बनाऽऽययौ ॥ ८१ ॥ दृष्ट्वा संस्थाप्य
तेनाहं पृष्टास्य वृत्तमात्मनः । मयुच्च च क सार्थेन्द्र । गन्तव्यं भवतेति तम् ॥ ८२ ॥ वेलाकुलमितो गत्वा
रत्नद्वीपे मया क्रमात् । यातव्यमिति तेनोक्ते व्यचिन्तयमहं इति ॥८३॥ सुतो मयाऽस्ति तत्रास्या रत्नद्वीपे मही
पतिः । सोदर्यः कण्ठसुन्दर्या नीलकण्ठोऽभिधानतः ॥८४॥ तदनेनैव सार्थेन प्रविश्य तत्र दारकम् । भागिनेयमिमं
तस्मै मातुलायार्पयाम्यहम् ॥८५॥ ध्यात्वेति सार्थवाहेन तेन सार्धमिहागमम् । स्तन्येन पालयन्त्यमुं तं स्नेहमधुत
स्वनी ॥८६॥ मयार्पितोऽथ आमेये आम्बुदन्ते च शसिते । नृपतिनीलकण्ठोऽयं प्रमदे विषसाद च ॥८७॥ तेनाथ
पाल्यमानोऽत्र हरिरित्याहितामिधः । क्लासमीती तारूप्य प्राप केसरिशावकः ॥ ८८ ॥ पूर्वः सर्वोऽपि वृत्तान्तो
मया चास्मै न्यवेदयत । त्वामानन्दपुरायात स शुभाय च सुन्दर । ॥ ८९ ॥ ततो हरिकुमारोऽय वीक्षितुं त्वां
सदेवजम् । समीहते ततो वत्सस्त्वदन्ते गन्तुमर्हति ॥ ९० ॥ ओमिति प्रतिपद्याह तद्योऽय तया सह । ययौ
हरिकुमारस्य तदपाम्यर्णे तदैव हि ॥ ९१ ॥ वपस्यहृन्यमभ्यस्यो निष्पातः स मया ततः । क्यानतिरह तस्मै

१ च का वा० । २ ॰माप्यसे प० । ३ मह मेक ॰

वसुमत्या निवेदितः ॥ ९२ ॥ सोऽथ मां गाढमाश्लिष्य निवेश्यार्द्धासने निजे । संभ्रमादब्रवीदेवं प्रीतिविस्फारि-
तेक्षणः ॥ ९३ ॥ अम्बया कथितस्तातवयस्यो हरिशेखरः । मया तस्य च सूनुस्त्वं विज्ञातो जनवार्त्तया ॥ ९४ ॥
ततो भ्राताऽसि मे मित्रं शरीरं जीवितं तथा । तवात्रागमनं दिष्ट्या संजज्ञे साधु साध्वदः ॥ ९५ ॥ मयाप्यूचे श्रुतः
सर्वो वृत्तान्तोऽम्बामुखान्मया । अत्यादरं भृत्यजने न देवः कर्तुमर्हति ॥ ९६ ॥ यथानुजीवी तातो मे तत्र
केशरिभूपतेः । तथाहमत्र देवस्य किङ्करः परिभाव्यताम् ॥ ९७ ॥ मद्वचस्तन्निशम्याथ विशेषाज्जातसंमदः । स
हरिः कारयामास मित्रागममहोत्सवम् ॥ ९८ ॥ ततो मे हरिणा तेन सदा संगतशालिनः । यथेष्टं चेष्टमानस्य
कालस्तत्रात्यगात् कियान् ॥ ९९ ॥ अन्यदा च वसन्तर्त्तौ वयस्यैः परिवारितः । हरिर्मया समं क्रीडोद्याने
क्रीडाकृतेऽगमत् ॥ १०० ॥ तत्र मित्रयुतस्यास्य स्थितस्याम्रतरोस्तले । परिव्राजिकया चित्रपट्टिकैत्य समर्पिता
॥ १०१ ॥ पश्यतस्तत्र कन्याया रूपमाविरभूद् भृशम् । कामावस्था कुमारस्य ततः प्रव्राजिका ययौ ॥ १०२ ॥
तथावस्थं च तं वीक्ष्य प्रैषेऽहं तां गवेषितुम् । पद्मकेशरादिमित्रैस्तद्वृत्तान्तबुभुत्सया ॥ १०३ ॥ पुराद्बनं
मया यान्ती सा परिव्राजिकैक्ष्यत । नत्वा पृष्टाऽवदच्चैवं वृत्तान्तं चैत्रपट्टिकम् ॥ १०४ ॥ यदद्य कणभिक्षाया
हेतवेऽहमयासिषम् । नीलकण्ठमहादेव्याः शिखरिण्या निकेतने ॥ १०५ ॥ दृष्टा मया सचिन्ता सा पृष्टा च
किमसीदृशी ? । तयोदितं भगवति ! बन्धुलेऽसौ सुता मम ॥ १०६ ॥ मयूरमञ्जरी जीवितव्यादप्यतिवल्लभा ।

---

१ 'स्याऽथ परिव्राजि' क० ख० ग० घ० ।

केनापि हेतुना शून्येको मयेशाय रम्यते ॥ १०७॥ युग्मम् ॥ तभिमित्तं ममाऽऽस्थाहि तभिमित्तोपयोगतः । मया-प्यथ त्वयाऽऽख्याहि—न्यासादितीरितम् ॥ १०८ ॥ यन्महादेव्यसौ चीव पुत्र रामनन्दनम् । नाम्ना हरिकुमारं च त्यागमेधप्रमानसा ॥१०९॥ देव्या प्रोक्त मिलस्येतत् यतो यटोऽन्यया गमन् । कुमारो हरिख्याने लीलासुन्दर नामनि ॥ ११० ॥ ततोऽथ मगयस्येव सुभगत्मा ततो मया । मयूरमञ्जरीरूपं पट्टिकायामलिख्यत ॥ १११ ॥ दर्शयित्वा हरेस्तत्र ज्ञात्वा चास्यानुरक्तताम् । समेत्याहं महादेव्यै निवेदितवती मुदा ॥ ११२ ॥ तथापि नीलकण्ठेन सहैवं निश्चित हृदि । योग्यो मयूरमञ्जर्या वरो हरिरयं ध्रुवम् ॥ ११३ ॥ ततोऽहमेव प्रहिताऽऽह्वातुमे तमितीरितः । वृत्तान्तोऽप मया चैत्रपट्टिकः पुरतस्तव ॥ ११४ ॥ ततो गत्वा मया सार्कं तया तत्र निवेदितम् । सभीसकण्ठभूपालशासने क्षेमनाशनम् ॥ ११५ ॥ कुमारस्तस्यपयाय समित्रोऽथाशुपौकसि । महत्यां नील-कण्ठेन मुतां च परिणायितः ॥ ११६ ॥ तथाप प्रियया सार्द्धं मवन्नेपयिकं सुखम् । रत्नद्वीपे परां स्यार्ति हरि र्निजगुणैर्गतः ॥११७॥ प्रसृत्य लोकमान्यस्य कीर्त्तिः भीम ममाप्यभूत् । हरिसञ्जात् तदा तत्र सन्निभ्रात् किं मयेश्च वा ॥ ११८ ॥ तथापि भ्रेर्यमाणस्य सागरेण क्षणे क्षणे । मम भावास्तवा मद्रे ! विकल्पा मनसीदृशाः ॥ ११९ ॥ महो ! प्रमादो मे नित्य हरिसङ्गस्तपा मया । यदे नार्न्यन्त रत्नौघा यभिमित्तमिहागमम् ॥ १२० ॥ कृतोऽयं हरिणा स्वस्य निर्मूल्यः कर्मकृत् ध्रुवम् । रत्नोपार्जनविघ्नोऽयं तत् स्पष्ट युज्यते मम ॥१२१॥ न चैव प्रकल्पते हन्त !

१ ऽऽन्नेघुमे० ख० । २ °त्यमूत् ता० ।

[illegible] । [illegible] मया त्यक्तं यथा तथा ॥१२२॥ म्रियते चैवं मया तावत्कार्यमेव धनार्जनम् ।
[illegible] फलितं चित्तरञ्जनम् ॥ १२३ ॥ ध्यात्वेति विविधोपायैस्तत्र रत्नोत्करा: क्रमात् । तदेकता-
[illegible] भूमिषु ॥१२४॥ नानदं सागरालीढो हन्यमानो जनैरपि । मुहुरद्राक्षमस्माकं निचखानोच्च-
[illegible] ॥ १२५ ॥ [illegible] रत्नानि द्वीपे यान्यत्र कानिचित् । यद्यहं तानि सर्वाणि गृहीत्वा यामि पत्तनम्
॥ १२६ ॥ [illegible] वर्जिता बालभावेन विदधे चित्तरञ्जनम् ॥ १२७ ॥ एवं च
[illegible] तदा मम । भद्रे ! योऽन्योऽपि संपन्नो वृत्तान्तः स निशम्यताम् ॥ १२८ ॥ मूलभूपप्रिया
[illegible] । या पुत्रानुजो संतस्तस्या यौतनमैथुनौ ॥ १२९ ॥ यौतनो मैथुनं प्रोचे धनशेख-
[illegible] । मित्र ! संसारिजीवोऽसौ [illegible] मे वर्ततेऽधुना ॥ १३० ॥ अतस्तत्रापि प्रस्तावोऽधुना गन्तुं तदन्तिके ।
मैथुनोऽपि [illegible] मुदिताशयः ॥ १३१ ॥ ततो द्वावपि तौ तन्वि ! मत्समीपमुपेयतुः । नाटयन्निबिडं
[illegible] यौतनः ॥ १३२ ॥ अयं मे मैथुनो नाम वयस्योऽत्यन्तवत्सलः । अतो मामिव सर्वत्र पश्येमं
धनशेखर ! ॥ १३३ ॥ अथाहमपि दुर्बुद्धिः सुहृदं प्रतिपद्य तम् । स्वान्ताख्यस्वान्तरावासे निदधे मैथुनं मुदा
॥ १३४ ॥ [illegible] स तस्थौ यौतनः पुनः । तन्वानः स्मितसौन्दर्यविलासप्रभृतीन् गुणान् ॥ १३५ ॥
[illegible] जातोऽहं योषितां शतैः । संभुक्तैरप्यतृप्तात्मा दावानल इवेन्धनैः ॥१३६॥ इतश्च गणिकासङ्ग

१ [illegible]

भर्पि मैथुनेच्छया। निवारयति मामेष सागरो धनलम्पटः ॥ १३७ ॥ तस्मै मयाथ मित्रस्य कस्य कार्यं वधो मया। इदं माणिक्यमेकस्य माणिक्यान्यपरस्य यत् ॥ १३८ ॥ विना नैव च माणिक्यैर्गाणिक्य माप्यते क्वचित्। ततो व्याघ्रतटीन्यायात् सङ्कटे पतितोऽस्मि हा! ॥ १३९ ॥ उपायो यदि चाऽस्त्येष द्वयोरप्यनुवर्तने। विनैव मूल्यं यद्गता याः स्त्रियस्ता भजाम्यहम् ॥ १४० ॥ विमृश्येति प्रभूतोऽथ पापस्ताः सेवितुं स्त्रियः। याः कामिक्रियकामुकाभिमुख्यः प्रोषितप्रियाः ॥१४१॥ अथवा किं बहूक्तेन? तस्यजे नान्यथापि सा। मया कामयते रागाद् द्रम्मदानं विनापि या ॥१४२॥ सेतस्य मां तथा च बलाद्गनार्थेर्भरम्ययन्। योपितसंबन्धि-पुष्पा पृच्छिस्त्यो यथाऽभवम् ॥ १४३ ॥ केवलं हरिदासिख्याते पुण्योदयवशाच्च तेः। नाहं व्यापादितो नापि प्रपञ्चेरपि वञ्चितः ॥ १४४ ॥ एष च सागरस्येव मैथुनस्यापि दोषतः। किं किं दुःखं मया तत्र न प्राप्यत? तदाऽनघे! ॥ १४५ ॥ इतः क्लेशेन सैन्येन हरिर्विमुपाययौ। जनानुरागमभयाः श्रियः स्यात्समिव यतः ॥१४६॥ जनराग दृशौ धीश्य सं तारथमथाक्षयम्। क्षितीशश्चिन्तयामास नीलकण्ठः स दुर्मनाः ॥१४७॥ अये! तावदिद राज्यं नगरं च ममाखिलम्। अनुरक्त हरावस्मिन् सर्वे भाग्यनिकेतने ॥१४८॥ तदेषो मां समुत्पाट्य पूर्वं सदाविवर्जितम्। सहायकोशसम्पूर्णलाक्रान्तं ग्रहीष्यति ॥१४९॥ तथाभोपेक्षणीयोऽयं किन्तु हन्तव्य एव हि। सर्वदारसहरं मूल्यं यो न हन्यास्स हन्यते ॥१५०॥ विचिन्त्येति तमाहूय सचिवाय सपद्यये। साभिप्राय तमा

१ स्वयम् ता० प०। २ चपयारक० ग०। ३ दुर्मेनाः ग०।

चख्यौ विजने स जनेश्वरः ॥१५१॥ अन्तरत्यन्तदूनोऽपि सचिवोऽथ तया गिरा। प्रत्यभाषत भूपालं तच्चित्तमनुवर्त्तयन् ॥१५२॥ यत्तवाभिमतं देव ! तदवश्यं विधीयताम्। अयुक्ते हि प्रवर्त्तन्ते मतयो न महात्मनाम् ॥१५३॥ ततः स नीलकण्ठेन विसृष्टो निजमन्दिरे। समेत्य चिन्तयामास सचिवः शुचिमानसः ॥ १५४ ॥ धिग् धिग् भोगसुखाकाङ्क्षां धिगज्ञानविजृम्भितम्। धिगहो ! राज्यलाम्पट्यं कुविकल्पशतालयम् ॥ १५५ ॥ यदेष पूर्वं देवस्य जीवितादपि वल्लभः। जामाता भागिनेयश्च हरिरासीन्निजैर्गुणैः ॥ १५६ ॥ अधुना वर्त्तते द्वेष्यः स एवोच्चैर्विपक्षवत्। तदत्र मोहराजाज्ञां विमुच्यान्यन्न कारणम् ॥ १५७ ॥ कथं हि स विनीतात्मा निर्लोभः पापभीरुकः। हरिः स्वप्नेऽपि देवस्य विरुद्धं चिन्तयेदिदम् ॥ १५८ ॥ रक्षणीयस्ततोऽवश्यं कुमारः सर्वथाप्यसौ। सुदुर्लभं जगत्यत्र नररत्नं हि तादृशम् ॥ १५९ ॥ विमृश्येति रहस्यूचे हरिमाप्तमुखेन सः। विरुद्धः सर्वथाप्येष नीलकण्ठः कुमार ! ते ॥ १६० ॥ ततो मदुपरोधेन त्यज देशमिमं जवात्। देशान्तरेऽपि महतां सहचर्यो ननु श्रियः ॥ १६१ ॥ ततश्च तां समाकर्ण्य सुबुद्ध्यभ्यर्थनां हरिः। समुद्रलङ्घने चित्तमभीतोऽपि चकार सः ॥ १६२ ॥ वृत्तान्तमखिलं तं च कथयित्वा रहस्यसौ। कुमारो मामुवाचैवं गाढविश्वस्तमानसः ॥ १६३ ॥ ततोऽधुना मया गम्यमतिक्रम्य महोदधिम्। न च मे त्वां विना तुष्टिः प्रतिष्ठस्व सहैव तत् ॥ १६४ ॥ तद्रत्नोपार्जने विघ्नभूतमप्युदितं हरेः। किञ्चिद्दाक्षिण्यमालम्ब्य मयाऽपि प्रत्यपद्यत ॥ १६५ ॥ कुमारः प्राह यद्येवं ततः किञ्चि-

निरूपय । बोहित्थ येन कोशस्थो रत्नौघः सह नीयते ॥१६६॥ तद्वचः प्रतिपद्याथ पोतयुग्मं निरूप्य च । भृतमेकं निजै रत्नैस्तथान्यैस्त्वपरं मया ॥ १६७ ॥ सार्धं मयूरमञ्जर्या वसुमत्या च राजभूः । निजपोतमथाऽऽरोहद् गते द्वीपान्तरं रवौ ॥ १६८ ॥ अहं तु निर्यत्नोऽहित्थं समारोहन् बलादपि । संस्थापितो निजे पोते हरिणा प्रीतिविप्लिना ॥ १६९ ॥ पठन्त्या वार्धिवेलायामुदये रजनीपतेः । नाविका यानपात्रे च पूरयामासुरान्तु ते ॥ १७० ॥ अन्येद्युर्जलधौ तेऽपारं चेतस्यचिन्तयम् । पापात्मना सागरेण मैथुनेन च नोदितः ॥ १७१ ॥ यथाहो ! विधिवै रत्नैः परिव स्फुरद्ररश्मिः । यानपात्रं हरेरेतन्मया कस्य विधुस्यते ! ॥ १७२ ॥ रूपलावण्यपुण्याङ्गी साक्षादिव सुराङ्गना । मयूरमञ्जरी चैषा कथं नैवोपभुज्यते ! ॥ १७३ ॥ हरौ जीवति नाऽऽज्वातु स्वप्न च द्वयमप्यदः । ततो व्यापादयाम्येनमभीष्टार्थस्य सिद्धये ॥ १७४ ॥ पर्यालोच्येति पापेन मया निशि पयोनिधौ । हरिः शरीरचिन्तार्थं मायीनः मेर्ष पातितः ॥ १७५ ॥ आह्कारादुत्थिता लोकाः किं किं किमिति वादिनः । मयूरमञ्जरी त्रस्ता वातोऽर्ज शून्यमानसः ॥ १७६ ॥ स तु पुण्योदयो मिश्रं पापपङ्कमलीमसम् । तस्याश मां तदा मन्ये ! चण्डालमिव दूरतः ॥ १७७ ॥ अत्रान्तरे प्रादुरासीत् समुद्राधिपतिः सुरः । भीषणं रूपमाधाय कृतान्त इव नूतनः ॥ १७८ ॥ स च तं स्थापयामास यानपात्रे हरिं रयात् । समाकृष्य पयोराशेस्तत्प्रभावर्जितो हृदि ॥ १७९ ॥ धृत्वा मां तु शिरस्येवाम्भोधि नीत्वा च रोषणः । स मामूचे प्रतिध्वानैर्ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ॥ १८० ॥ रे ! रे ! निर्मुक्तमर्याद !

१-४ बोधित्थ ता० क० प०, बोधित्थ ग० । २ गर्भं डी० ता० । ३ तदा ता० ।

महापाप ! नराधम ! । विधायापीदृशं कर्म्म जीवस्यद्यापि निस्त्रपः(°प !) ॥ १८१ ॥ इत्युक्त्वाऽऽस्फोट्य मां सोऽथ चिक्षेपागाधवारिधौ । हरौ प्रेमार्द्रहृदये बहुधाऽनुनयत्यपि ॥ १८२ ॥ ईदृशस्यैव योग्योऽयं किमनेन तवाऽनघ ! । गच्छ स्वस्थानमित्युक्त्वा हरिं सोऽथ तिरोदधे ॥ १८३ ॥ वेलाकूले क्रमाच्चाऽऽगात् पोतद्वययुतो हरिः । शुश्राव च जनश्रुत्या स्वपितुस्तत्र पञ्चताम् ॥१८४॥ ततो हरिकुमारेण गत्वाऽऽनन्दपुरे द्रुतम् । भद्रे ! तत् पैतृकं राज्यमक्लेशेन समाददे ॥ १८५ ॥ मूलतस्तस्य वृत्तान्ते वसुमत्या निवेदिते । सर्वोऽपि च जनो जज्ञेऽनुरक्तो नितरां हरौ ॥ १८६ ॥ मदीयं रत्न[1]बोहित्थमर्पयित्वाऽथ मत्पितुः । बुभुजे तन्निजं राज्यं हरिराजो महाभुजः ॥ १८७ ॥ इतश्च तेन देवेन क्षिप्तोऽहं जलधौ तदा । निमज्य क्षणमुन्मग्नो वेद्यं वह्वस्ति यन्मया ॥ १८८ ॥ ततश्चाहं पुरा भं[2]ग्नबोहित्थफलकाश्रितः । यादोभिरभितः क्रूरैस्ताड्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ १८९ ॥ महोर्मिभिः प्रेर्यमाणः सप्तरात्रेण सुन्दरि ! । कृच्छ्रात्कण्ठगतप्राणः प्राप पारं पयोनिधेः ॥ १९० ॥ युग्मम् ॥ मरुता चेतनां प्राप्य मुक्त्वा च फलकं ततः । क्षुत्तृषार्त्तोऽभ्रमं तीरवने फलजलाशया ॥ १९१ ॥ कृच्छ्रादाप्तैः फलजलैः प्राणवृत्तिं विधाय च । भ्राम्यन् क्रमादहं सुभ्रु ! वसन्तं देशम[3]भ्यगाम् ॥ १९२ ॥ धनार्थं विविधोपाया मया तत्र च चक्रिरे । पुण्योदयं विना तेषु न कोऽपि फलितः परम् ॥ १९३ ॥ वाणिज्ये हि मयारब्धे न रूपेणार्द्धमप्यभूत् । विहितायामथ कृषौ वृष्टिर्देशेऽपि नाभवत् ॥ १९४ ॥ सेवितेऽथ महीनाथे हेत्वभावेऽपि सोऽकुपत् ।

१ °वोचित्थ° ता० क० घ०, °वोधित्थ° ग० । २ भग्नवोचित्थ° ता० क०, भग्नवोधित्थ° ग० । ३ °मागमम् ख० ।

प्रविष्टे शुचि तस्मुख्ये प्रहारैर्जर्जरीकृतः ॥ १९५ ॥ कृते दृष्या वाहने थे मूतास्तिलकरोगत । तस्करैर्लुण्टित सार्थः प्रस्तुते सरमाहने ॥ १९६ ॥ स्नातेऽथ रोहणगिरौ धूलिरेखामयस्करे । प्रकृते धातुवादे च क्षार एव बभूव मे ॥१९७॥ अभ्यस्ते पूर्वरमणे विना धूर्तैर्निमन्त्रितः । शुचि नोकामपि प्राप जातः कस्यापि कर्मकृत् ॥ १९८॥ यदि वा किं बहुकेन पुस्ताकामभिक्षिणा । न भिक्षापि तदा लेभे मया पुण्योदय विना ॥ १९९ ॥ ततश्चास्य न्निर्विण्णं कृत्वा पादप्रसारिकाम् । संस्थित मासुवासैर्वं सागरः स हितः किल ॥ २०० ॥ न विषादपरैरर्थाः प्राप्यते धनशेखर ! । अविषादः श्रियो मूलं यतो धीराः प्रचक्षते ॥ २०१ ॥ विषाद सर्वथा प्रोज्झ्य तदाऽवलम्बस्व पौरुषम् । पौरुषात्सुलभा लक्ष्मीः प्रतिकूलेऽपि वेधसि ॥ २०२ ॥ किञ्चालीकमपि प्रोच्य मुषित्वापि परं जनम् । छद्मममपि निर्वास्य सर्वथाऽर्ज्यं धनं नरैः ॥ २०३ ॥ धनी हि विहितानेकपातकोऽपि धनोत्सवा । श्लाघ्यते सर्वलोकेन लभते वेप्सित सुखम् ॥ २०४ ॥ ततो धैर्यं समालम्ब्य कुरु द्रव्यार्जनोद्यमम् । सुवन्ति व्यसने नार्यः पुमांसो न पुनर्यतः ॥ २०५ ॥ एवं प्रोत्साहितस्तेन धैर्यमालम्ब्य सत्वरम् । पापकर्मसु यत्नोऽपि प्रवृत्तोऽहं धनाशया ॥ २०६ ॥ तथापि हि न संपन्नं विना पुण्योदय मम । धनगन्धोऽपि रम्भोरु ! मत्पुत्रानर्थसन्तति ॥ २०७ ॥ पुण्योदयविहीनस्य तदा मिथ्याभिमानतः । न ययौ श्वशुरस्याह गृहे नापि पितुः क्वचित् ॥२०८॥ किन्तु मां मैथुनः सोऽपि स्त्रीसेवायां महद्गुरुः । तस्यामपि यवस्यायां प्रेरयन्नेष तिष्ठति ॥२०९॥ केवल तदवस्थं स्त्री क्षणाऽप्यापि न कापि माम् । वीक्ष्य("च")तेऽहं ततः स्थिते इयमीदृक्स्यमावतः ॥ २१० ॥

एवं विविधदेशेषु पापकर्म्मपरायणः । ताभ्यां पापवयस्याभ्यां क्लेश्यमानोऽभ्रमं तदा ॥ २११ ॥ इतश्चानन्द-
नगरे सूरिरुत्तमनामकः । अन्येद्युर्बहिरुद्याने समेत्य समवासरत् ॥ २१२ ॥ तं नन्तुं सपरीवारः स हरिः पृथिवी-
पतिः । पौरलोकश्च सर्वोऽपि प्रययौ प्रीतमानसः ॥ २१३ ॥ नत्वा नत्वा निषण्णेषु सर्वेष्वथ यथोचितम् । भगवान्
विदधे धर्म्मदेशनां पापनाशिनीम् ॥ २१४ ॥ तां श्रुत्वा हरिराजोऽथ चेतस्येवमचिन्तयत् । विश्वदृश्वा प्रभुरसौ
तदमुं प्रश्नयाम्यदः ॥ २१५ ॥ किं मां तदाक्षिपत् वार्द्धौ वयस्यो धनशेखरः ? । किं वा दृष्टः स देवोऽस्य ?
किं जीवति मृतः स च ? ॥ २१६ ॥ यावत्स चिन्तयत्येवं तावद् ज्ञात्वा तदाशयम् । समभासत तं सूरिः स
चतुर्ज्ञानसेवधिः ॥ २१७ ॥ यदेतच्चिन्तितं भूप ! त्वया यद्वारिधौ कथम् । क्षिप्तोऽहं सुहृदेत्यादि तत्राकर्णय
कारणम् ॥२१८॥ अन्तरङ्गौ हि विद्येते तस्य सागरमैथुनौ । वयस्यौ स तयोर्दोषो नैव तस्य तपस्विनः ॥२१९॥
सागरेण यतोऽमुष्य त्वद्रत्नग्रहणे मनः । मयूरमञ्जरीभोगे विदधे मैथुनेन च ॥ २२० ॥ तद्वशाच्च त्वयि
क्षिप्तेऽर्णवे देवोऽर्णवाधिपः । सोऽकुपत् तस्य संरक्ष्य त्वां वार्द्धौ च तमक्षिपत् ॥ २२१ ॥ तथापि न मृतस्तत्र
किन्तु तीर्त्वाम्बुधिं तदा । सोऽधुनानेकदेशेषु भ्राम्यन्नस्ति धनाशया ॥ २२२ ॥ तदेवं पापसुहृदोस्तयोरेव
नरेश्वर(°र !) । दोषोऽयं न पुनस्तस्य प्रकृत्या सुन्दरो हि सः ॥ २२३ ॥ तत् समाकर्ण्य कारुण्यं सुतरामुद्वहन्नयि ।
मुनिनाथं महीनाथः पप्रच्छ पुनरप्यदः ॥ २२४ ॥ ताभ्यां पापवयस्याभ्यां स कदा धनशेखरः । वियोगं लप्स्यते
नाथ ! शशंस गुरुरप्यथ ॥ २२५ ॥ पुरेऽस्ति शुभ्रचित्ताख्ये नृपो नाम्ना सदाशयः । वरेण्यताभिधा तस्य देवी

बभाव विभुता ॥ २२६ ॥ तत्कालसमये तस्य गुणसमारमाश्रनम् । मुक्तवाग्रसरस्यास्ये विधेते कन्यके उमे ॥ २२७ ॥ ततस्ते लप्स्यते कन्ये स यदा धनशेखरः । तदाभ्यां पापमित्राभ्यां नि सन्देह वियोक्ष्यते ॥ २२८ ॥ राजा कर्म्मपरीणामः कार्यस्यास्य च चिन्तकः । अतो विमुच्य तच्चिन्तां स्वकार्ये यत्यतां नृप ! ॥ २२९ ॥ तभि सम्भाष मचिन्तां विमुच्य वसुधाधवः । मुनीन्द्रमिति पप्रच्छ पुनः संजातसंशयः ॥ २३० ॥ यदुक्त नाथ ! युष्माभिर्यथासौ धनशेखरः । पापमित्रसमायोगात् तत् तादृक् कर्म्म निर्म्ममे ॥ २३१ ॥ स्वरूपतः पुनरय मत्रकस्तत्र किं पुमान् । निर्मलोऽपि स्वरूपेण परदोषेण दुष्यते ? ॥ २३२ ॥ सूरिः प्रोचे समस्त्येव महीभर्तरित्र यतः । द्विविधो यत्र लोकोऽय पाथाम्यन्तरभेदतः ॥ २३३ ॥ तत्र बाह्यलोकदोषा लगन्ति न लगन्ति वा । दोषास्त्वान्तरलोकानां लगन्त्येव शरीरिणाम् ॥ २३४ ॥ तत्रान्तरङ्गलोकानां दोषकारित्वसूचकम् । आकर्ण्णय महीनाथ ! कथयामि कथानकम् ॥ २३५ ॥ आस्ते मनुजगत्याख्या नगरीह गरीयसी । राजा कर्म्मपरीणामस्तत्र चास्ति महाभुजः ॥ २२६ ॥ स कालपरिणत्याख्यमहादेव्या समन्वितः । संसारनाटकं पश्यन्नित्यमास्ते यथा सुखम् ॥ २२७ ॥ तस्यानन्तान्यपत्यानि किन्तु तान्यस्य मन्त्रिणः । अविवेकादयश्चदोषादृशाद्गोपयन् ॥२२८॥ इतश्च तत्र विख्यातः सर्वभावस्वभाववित् । यथास्थितार्थवादी च सिद्धान्तोऽस्ति परः पुमान् ॥२२९॥ मन्त्रोऽरिष्टमनिष्टं वा किमत्र भगवन्निति । अप्रबुद्धाभिधोऽपृच्छदन्तेवासी समेत्यदा ॥ २४० ॥ सुखमिष्टमनिष्टं तु दुःखं तेनेति भाषिते । तयोः कारणमप्राक्षीदप्रबुद्धः पुनर्गुरुम् ॥ २४१ ॥ गुरुरप्यस्यपात्रान्य प्रसादेतः सुपालितम् ।

दुष्पालितं तु दुःखस्य तदेवैकं निबन्धनम् ॥ २४२ ॥ अप्रबुद्धः पुनः प्रोचे प्रत्यक्षोपहतं ह्यदः । यतो राज्यमिह स्वल्पतमानामेव विद्यते ॥ २४३ ॥ सुखदुःखे पुनर्जीवाः सर्वेऽपि भववर्त्तिनः । दृश्यन्तेऽनुभवन्तोऽमी तदिदं घटते कथम् ? ॥ २४४ ॥ सिद्धान्तः प्राह नह्येतत्सुखदुःखैककारणम् । बाह्यं राज्यं मया प्रोचे किं तर्ह्याभ्यन्तरं ननु ॥२४५॥ तच्चास्त्येव समस्तानां जीवानां भववर्त्तिनाम् । ततो ये पालयन्तीदं सम्यक् तेषां भवेत्सुखम् ॥२४६॥ ये तु दुष्पालितमिद कुर्वते मूढबुद्धयः । तेषां दुःखं भवेत्तस्मान्न प्रत्यक्षविरोधिता ॥२४७॥ किमेकरूपं तद्राज्यमथवानेकरूपकम् । इति पृष्टोऽप्रबुद्धेन सिद्धान्तः पुनरभ्यधात् ॥२४८॥ सामान्येनैकरूपं तद्विशेषेणेतरत्पुनः । तत्र सामान्य राजयस्य स्वरूपं भृणु सुन्दर ! ॥ २४९ ॥ विश्वत्रितयविख्यातः समग्रैश्वर्यभाजनम् । संसारिजीवनामात्र राज्ये तावन्नरेश्वरः ॥ २५० ॥ साम्यवीर्यामलज्ञानप्रमुखै रत्नराशिभिः । भास्वरैः पुरितस्तत्र कोशश्चात्यन्तपुष्कलः ॥ २५१ ॥ गाम्भीर्यौदार्यशौर्यादिस्यन्दनश्रेणिसुन्दरम् । यशःप्रश्रयसौजन्यप्रमुखेभविभूपितम् ॥ २५२ ॥ वाग्मित्वबुद्धिमत्वादिवाजिराजिविराजितम् । दाक्षिण्यसौमनस्यादिपदातिपरिपूरितम् ॥२५३॥ क्षीरनीरधिसंकाशं भुवनानन्ददायकम् । चतुरङ्गं महासैन्यं राज्ये तत्र च सुन्दरम् ॥ २५४ ॥ विशेपकम् ॥ संसारिजीवराजेन्द्रहितकारी चतुर्मुखः । तत्र चारित्रधर्म्मश्च भूपतिः प्रतिनायकः ॥ २५५ ॥ जैनसात्त्विकचित्तादिपुरग्रामादिसंभृता । राज्ये च पृथिवी तत्र चित्तवृत्त्यभिधाटवी ॥ २५६ ॥ कपायनोकपायाख्यप्रमादाद्याः सहस्रशः । चौरास्तस्य च राज्यस्य सन्त्युपद्रवकारिणः ॥ २५७ ॥ मध्ये तेषां च चौराणां स्वामिनौ भ्रातरावुभौ । संस्तः कर्म्मपरीणाममहामोहौ

महाबला ॥ २५८ ॥ चतुरङ्गबलोपेतौ विक्रमाक्रान्तविष्टपौ । तौ चात्यन्तमदाध्मातौ मन्येते इति चेतसि ॥ २५९ ॥
कोऽस्य संसारिजीवोऽत्र ? को वा चारित्रधर्मकः ? । अस्मदीयमिदं राज्यं नात्र कोऽप्यपरः प्रभुः ॥ २६० ॥ ततः
सर्वेऽपि संभूय वरटास्ते महोत्सवम् । राज्ये कर्मपरीणामं स्थापयामासुरत्र तम् ॥ २६१ ॥ राजसभामथविच
प्रसवीनि पुराण्यथ । चिन्तयित्वा महाटम्यां विष्वक् सोऽपि न्यवीविशत् ॥ २६२ ॥ राज्यस्थितिं विधायान्यामपि
सेनां समर्प्य च । अस्थापयच्च तेष्वेव महामोहं महीपतिम् ॥ २६३ ॥ स्वयं पुनरसौ कर्मपरीणामो महानृपः ।
देव्या समन्वितः कालपरिणत्याऽनपायिनया ॥ २६४ ॥ पुर्यस्यां मनुजगतौ सदा संसारनाटकम् । वीक्षमाणः परं
सदैव राज्यसौख्यं निराकुलः ॥ २६५ ॥ युग्मम् ॥ किन्तु कर्मपरीणामस्तत्सामर्थ्यं विदन्निव । संसारिजीवराजस्य
राज्यं न द्वेष्टि सर्वथा ॥ २६६ ॥ तस्मै हित च चारित्रधर्मं तमनुवर्तते । कानिचित्कुमकस्थानि सम्भूय कुरुतेऽपि
च ॥ २६७ ॥ ततश्चारित्रधर्मोऽपि प्रपेदे सपरिच्छदः । मध्यस्थोऽयमिति कृत्वा स्वामिभावेन तं नृपम् ॥ २६८ ॥
महामोहस्तु संसारिजीवराजं महोद्धुरः । चारित्रधर्मसैन्यं च न तृणायापि मन्यते ॥ २६९ ॥ ततः संसारिजीवोऽसौ
पापप्राज्यं निजं न तत् । जानाति कोशसैन्यादिसमृद्धिपरिपूरितम् ॥ २७० ॥ प्राप्तान्तरो महामोहः स सापरस्परि-
च्छदः । तस्य राज्यं तदाक्रम्य प्रेष्यप्रायं करोति तम् ॥ २७१ ॥ यदा पुनः स संसारिजीवो राज्यं कथञ्चन । चेष्टि
तत् वाघात्मीयं विगृह्णाति तदा क्षिपम् ॥ २७२ ॥ स च त विग्रहाख्यो महामोहमनेकशः । निर्जीवसा विमयते

१ गप म° स० । २ °या यथा ग० । ३ सर्वं तु मनु° स० । ४ क्षिपम् ग० ।

तेनाप्येष विजीयते ॥ २७३ ॥ यदा विजयते यावत्तावदाप्नोति शं तदा । विजीयते यदा यावद् दुःखं तावत्तदा पुनः ॥२७४॥ यदा तु वीर्यमतुलं स प्राप्याभ्यासयोगतः । महामोहपुरोगांस्तान् सर्वान् विजयते रिपून् ॥२७५॥ तदा निष्कण्टकं राज्यमासाद्य तदसौ निजम् । निःशेषक्लेशनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं सुखम् ॥ २७६ ॥ युग्मम् ॥ तदेवं तस्य तद्राज्यं कारणं सुखदुःखयोः । पालनापालनाज्जातमेकमेव शुभाशय ! ॥ २७७ ॥ स्वामिन् ! संसारिजीवस्य तस्य किं वर्त्ततेऽधुना । सौराज्यमुत दौराज्यमिति शिष्योऽवदत्ततः ॥ २७८ ॥ सिद्धान्तः प्राह दौराज्यं वर्त्तते तस्य संप्रति । वराकोऽद्यापि तद्राज्यं न वेत्त्येष निजं यतः ॥ २७९ ॥ बहिरङ्गेषु देशेषु स हि संप्रति दुःखभाक् । सागरेण भ्रम्यमाणो मैथुनेन च विद्यते ॥ २८० ॥ तत्पुनस्तस्य चारित्रधर्म्माद्यं निखिलं बलम् । निरुद्धं परितोऽप्यस्ति महामोहादिवैरिभिः ॥ २८१ ॥ अप्रबुद्धः पुनः प्राह श्रुतं तावदिदं मया । सामान्येनैकधा राज्यं सुखदुःखकृदान्तरम् ॥ २८२ ॥ अथ पूज्यैर्यदा(°र्यथा°)ख्यातं यत्तदेव विशेषतः । अनेकरूपं तच्छ्रोतुमहमिच्छामि सांप्रतम् ॥ २८३ ॥ सिद्धान्तोऽप्याह संसारिजीवेनायं महीभुजा । चक्रे कर्म्मपरीणामः प्रमाणं सर्वकर्म्मसु ॥ २८४ ॥ ततश्च स्वेच्छया राज्यमिदमेव पृथक् पृथक् । स तेभ्यो निजपुत्रेभ्यः सर्वेभ्योऽपि प्रयच्छति ॥२८५॥ अनन्तेषु ततस्तेषु तद्दत्तं तेन गच्छति । अनेकरूपतां सौख्यदुःखहेतुर्यथोचितम्[1] ॥ २८६ ॥ तदेवमन्तरङ्गं तन्महाराज्यं विशेषतः । अनेकरूपं जानीहि बहुत्वात् तव तनूभुवाम् ॥ २८७ ॥ अप्रबुद्धोऽवदत्कर्म्मपरिणामतनूरुहाम् ।

१ °दितम् ख० ।

तत्राज्य कुर्वतां तेषां संपर्क कस्य किं प्रभो ! ॥२८८॥ सिद्धान्तोऽथोपवाक्यपातमेव यतस्य सूनवः । अनन्तास्ते
ततस्तेषां कियतां कथ्यते कथा ! ॥ २८९ ॥ तथापि यदि कल्याण ! मदस्कौतूहलं तव । व्यापकः कथनोपाय
स्वतोऽस्त्येषं निशम्यताम् ॥ २९० ॥ सन्ति कर्म्मपरीणाममूपतेरस्य सुन्दर ! । सुरूपाः पड्जन्मानो जगत्त्रितय
विश्रुताः ॥ २९१ ॥ निकृष्टः प्रथमस्तेषु ततोऽधमविमध्यमौ । मध्यमश्चोत्तमश्चैव वरिष्ठश्चेति नामतः ॥ २९२ ॥
तेषां कर्म्मपरीणामं समभ्यर्थ्य कथञ्चन । एकैकं वत्सरं राज्यं दापयिष्याम्यहं क्रमात् ॥२९३॥ षण्णामप्यथ राज्यानां
तेषां वीक्षणहेतवे । प्रेष्यो वितर्कनामायमास्मीयोऽनुचरस्त्वया ॥२९४॥ विज्ञातेषु ततस्तेषु षट्सु राज्येषु तन्मुखात् ।
पृथोऽपमर्दः सर्वोऽपि प्रतीतस्ते भविष्यति ॥ २९५ ॥ अप्रबुद्धोऽथ तद्वाक्यं तथेति प्रत्यपद्यत । विश्वे सर्वमप्यास्थ
सिद्धान्तोऽपि यथोदितम् ॥ २९६ ॥ अप्रबुद्धगिरा वीक्ष्य वितर्कोऽथ समाययौ । तन्मनुष्यजनं माभिकर्षे वर्षेण
दृके प्रतिलक्षिते ॥ २९७ ॥ अप्रबुद्धं प्रणम्याथ स प्रोचे रचिताञ्जलिः । इतस्तावदहं देव ! राज्ये तत्रान्तरेऽगमम्
॥ २९८ ॥ तं मनुष्यमथावेदनास्यपरिडिम्बिमताडनात् । अभीयं घेवघुष्यमाणं तत्र पुरादिषु ॥ २९९ ॥ निकृष्टो
वर्षते राजा प्राकप्रवादेण हे जनाः ! । समाचरत कृत्यानि यथा पिवत खादत ॥ ३०० ॥ ततस्तां घोषणां श्रुत्वा
तत्र सर्वेऽपि ते जनाः । कीदृक् स्यादेष राजेति चिन्तया उत्सुकस्तराम् ॥ ३०१ ॥ ते च सर्वेऽपि संभूय परटा
निवर्संसदि । महामोहादयो देव ! पर्यालोचमिति व्यधुः ॥ ३०२ ॥ विषयाभिलाषमन्त्री महामोहमदोऽब्रवत् ।

१ च नि॰ प्र॰ ।

निकृष्टेऽत्र नृपे जाते वृथैव वयमाकुलाः ॥३०३॥ यत्कर्म्मपरिणामेन निकृष्टस्तादृगेव सः। जनितो यादृशोऽस्माकं
वशवर्त्ती भुजिष्यवत् ॥३०४॥ तत्कर्म्मपरिणामेन चेत्तस्मै विनियोजितम्। इदं राज्यं ततो देव! वयमेवात्र नायकाः
॥ ३०५ ॥ लब्धे निष्कण्टके राज्ये तदेवं देव! संप्रति। हर्षस्थाने किमस्माभिरातुरैर्वत भूयते ? ॥ ३०६ ॥
निकृष्टो जनितः कर्म्मपरिणामेन कीदृशः ?। महामोहेनेति पृष्टो मन्त्री प्रोचे निशम्यताम् ॥ ३०७ ॥
कुरूपो दुर्भगः क्रूरः परलोकपराङ्मुखः। धर्म्मार्थकाममोक्षैश्च दूरतः परिवर्जितः ॥ ३०८ ॥ देवतागुरु-
विद्वेषी दोषैरन्यैरपि श्रितः। गाम्भीर्यौदार्यधैर्यादिगुणनाम्नोऽपि दूरगः ॥ ३०९ ॥ युग्मम् ॥ न वेत्ति च
वराकोऽसौ निजं राज्यं न वा बलम्। न समृद्धिं न वा मूढः स्वरूपमपि तत्त्वतः ॥ ३१० ॥ न चास्मानेष
जानाति चरटान् राज्यहारकान्। प्रत्युत स्वामिभूतांश्च बन्धुभूतांश्च मन्यते ॥ ३११ ॥ स ईदृशो महाराज्ये लब्धेऽ-
प्यत्राधमाधमः। निःशेषशक्तिशून्यात्मा किमस्माकं करिष्यति ? ॥ ३१२ ॥ तदेवं संस्थिते देव! विहायाकुलतां
हृदि। महावर्द्धनकं कर्तुं युज्यते निजनीवृति ॥ ३१३ ॥ तच्छ्रुत्वाथ महामोहो निजराज्ये व्यधापयत्। महावर्द्धनकं
हृष्टः सर्वतस्करतोषकृत् ॥ ३१४ ॥ इतश्चारित्रधर्म्माद्याः श्रुत्वा तां राज्यघोषणाम्। कीदृक् स्यादेष राजेति मन्त्रं
संभूय चक्रिरे ॥ ३१५ ॥ सद्बोधः प्राह चारित्रधर्म्मं विज्ञातमेव ते। निकृष्टस्यास्य यद्रूपमेकान्तेन दुरात्मनः
॥ ३१६ ॥ नास्माकं न[1] च राज्यस्य नामाप्यस्यैष बुध्यते। मित्रीयति महामोहप्रभृतींस्तु रिपूनपि ॥ ३१७ ॥

---

१ निजराज्यस्य ग०।

निकृष्टराज्य वदेव ! सर्वदेवदोषतः । अद्ये सद्यमस्माकं युगापत्तौ सुपस्थितः ॥ ३१८ ॥ एकः तावत्परामृता महामोहादिभिर्वयम् । द्वितीयमीदृशो राजा धिग् दैवमसमञ्जसम् ॥ ३१९ ॥ तत्समाकर्ण्य चारित्रधर्म्मीयाः पृथिवीश्वरः । चक्रिरे सहसा ते च शोकम्लानमुखाम्बुजाः ॥ ३२० ॥ चारित्रधर्म्मवेश्मेऽपि ये जनाः सन्ति तेऽप्यथ । निकृष्टराज्यं विज्ञाय बभूवुः शोकविह्वलाः ॥३२१॥ अथाह चिन्तयामास निकृष्टः क स वर्त्तते ? । एकैः प्रसवितं यस्मात्त्रिजगमपरैः पुनः ॥ ३२२ ॥ यदि चालोकयिष्यामि राज्यार्थं समिहागतम् । तन्मार्गं पेश्यमसौ तदा क्षणम् ॥३२३॥ यावत्स्य निकृष्टस्य तत्र राज्ये प्रवेशनम् । न दधमेव तैर्देव ! महामोहादि तस्करैः ॥ ३२४ ॥ किन्तु चारित्रधर्म्मीयैनस्ता निर्वास्य तं तथा । तद्राज्यमान्तरं विष्वक् स्वीचक्रुः स्वयमेव ते ॥ ३२५ ॥ ततस्तथाकृतं राज्य महामोहादिवेष्टितम् । अगां मनेषु चामषु दिष्टुस्त निकृष्टकम् ॥ ३२६ ॥ निव राज्यपरिभ्रष्टः कुरूपो विमगर्हितः । कुचेलो मलिनः क्रूरः पुरुषार्थविवर्जितः ॥ ३२७ ॥ जन्तुघातककर्म्मार्थे कुर्वन्तु दरपूरणम् । मातङ्गम्लेच्छभिक्षादिरूप नानाविधं भवन् ॥ ३२८ ॥ निधान सर्वदुःखानां पापराशिरिवाकृतान् । दृष्टो मया निकृष्टोऽत्र नृपस्तत्र स पर्यटन् ॥३२९॥ विशेषकम् ॥ किञ्च दुष्पालित राज्य विदधेऽनेन पापिना । इति कर्म्मपरीणामस्तस्योपर्यन्यपराक्रमत् ॥ ३३० ॥ ततस्तं स दृष्टभीत्या दुष्पूरे पापिपञ्जरे । यातनाभिरनेकाभिरपी रयदिति श्रुतम् ॥३३१॥ मयाद्य चिन्तितं देव ! निकृष्टस्यास्य पाप्मनः । अ पद्भूरणमज्ञानविजृम्भितमहो ! महत्

१ पश्यमसौ तदा स० ।

॥ ३३२ ॥ यत्प्रभावान्महाराज्यं हारयित्वैष तन्निजम् । इह तत्र च दुःखौघभाजनं समभूत् परम् ॥ ३३३ ॥ यद्वा तच्चिन्तया किं मे राजादेशो मया परम् । कर्त्तव्योऽतः प्रपश्यामि द्वितीयस्यापि चेष्टितम् ॥ ३३४ ॥ अथाधमस्य तद्राज्यं द्वितीये देव ! वत्सरे । संजज्ञे घोषितं प्रोच्चैः पटहेन च पूर्ववत् ॥ ३३५ ॥ क्षुभिते च जने विष्वग् महामोहनरेश्वरः । सभायां निषसादाथ मन्त्राय सपरिच्छदः ॥ ३३६ ॥ विषयाभिलाषः प्रोचे देवास्मादधमादपि । नैवास्ति भयमस्माकं श्रूयतां यादृगस्त्यसौ ॥ ३३७॥ इहलोकरतो गाढं परलोकपराङ्मुखः । धर्म्ममोक्षकृतद्वेषः कामार्थविहितादरः ॥ ३३८ ॥ वत्सलोऽस्मासु चारित्रधर्म्मादिषु तु मत्सरी । अस्यान्तरङ्गराज्यस्य नामाप्येष न बुध्यते ॥ ३३९ ॥ युग्मम् ॥ तदेतस्यापि यद्राज्यं राज्यमस्माकमेव तत् । किन्त्वेतस्यापि राज्येऽत्र न दातव्यं प्रवेशनम् ॥३४०॥ प्रविष्टो ह्येष जानीयादस्माकमिह चेष्टितम् । किञ्चिन्मात्रं यतो देव ! वीर्यमेतस्य विद्यते ॥३४१॥ बहिष्करणमेवातो युज्यतेऽस्य दुरात्मनः । तदुपायश्च कामार्थप्रतिबद्धो ह्यसौ किल ॥३४२॥ ततः सर्वेऽपि संभूय वयं तं धनकामयोः । आसक्तं बाह्यदेशेषु धारयामो बहिष्कृतम् ॥ ३४३ ॥ भवत्वेवमिति प्रोच्य महामोहादयोऽथ ते । अधमं तं बहिष्कर्तुं त्वरन्ते यावदुन्मदाः ॥३४४॥ सुता तावदमात्यस्य निजसामर्थ्यगर्विता । दृष्टिर्नाम समुत्थाय सप्रगल्भमदोऽवदत् ॥ ३४५ ॥ सोऽधमः कियती मात्रा ? देव ! यं प्रति गामुकाः । यूयं वशीकृताशेषसुरासुरनरेश्वराः ॥ ३४६ ॥ तद्दीयतां ममैवायमादेशो येन तं जवात् । एकाप्यहं करोम्येषा व्रजित्वा परवर्त्तिनम् ॥ ३४७ ॥ किञ्च मे प्रसरो यत्र तत्रैते मत्सहोदराः । स्पर्शनाद्या भवन्तश्च गवेयुर्भवितोऽन्तिके ॥ ३४८ ॥ एव-

…कपता माथ महामोहमहीभुजा । विसृष्टा प्रययौ तत्र यत्रास्ते सोऽधमो नृपः ॥ ३४९ ॥ ते च चारित्रधर्मीयाः पूर्वमस्तोकसंकुलाः । चमूपुरधमस्यापि राज्यं कुस्वामिमागतः ॥ ३५० ॥ दृष्टिस्तु योगिनी कृत्वान्तर्दर्शनमथ माश्रिणी । भेजे स चमूपलावापूर रूपालोकनलोलुभः ॥ ३५१ ॥ नारीमद्भुतसौन्दर्यां तद्विलासांश्च हारिणः । चित्राण्यन्यच्च चक्षुष्यं स पेशलमेव तृप्यति ॥३५२॥ एवं रात्रिंदिवं रूपदर्शनाक्षिप्तमानसः । सोऽन्यत्किंचिन्न जानाति पराक्रमे हितमात्मनः ॥ ३५३ । यथा च वर्तमानस्य तस्य तैः स्पर्शनादिभिः । महामोहादिभिश्चैष स्व स्व वीर्यमदर्शयत ॥ ३५४ ॥ ततस्तैर्लुप्तसंज्ञानः प्रसक्तो धनकामयोः । वशिमके बलादेव । सोऽधमो निजराज्यतः ॥ ३५५ ॥ चारित्रधर्ममुख्यास्तान्निर्निर्वास्य स्वयं पुनः । तद्राज्यमुररीचक्रुः सर्वतस्ते निरङ्कुशाः ॥ ३५६ ॥ भ्रष्टराज्यप्रतापोऽपि परिभूतोऽपि चारिभिः । मन्यते परमं सौख्यमात्मनः सोऽधमः पुनः ॥ ३५७॥ एवकभटवैन्यादि रूपं नानाविधं पश्यन् । दूषयन् धार्मिकं लोकं प्रहसन् मोगिलं पुनः ॥ ३५८ ॥ चारुरूपेक्षणक्षः प्रद्युम्नपुम्नतस्पटः । बहिरङ्गेषु देशेषु भ्राम्यन् कालं निनाय सः ॥ ३५९ ॥ युग्मम् ॥ अन्येद्युः क्वापि मातङ्गी रूपयौवनशालिनी । दृष्टा तेन भेजे च तद्रूपाकृष्टचेतसा ॥ ३६० ॥ ततस्तं त्यक्तमर्यादं दुराचारं स्ववेश्मतः । बहिरङ्गा अपि जनाः क्रोशन्तो निरवासयन् ॥ ३६१ ॥ क्लेशयित्वा बहिर्लोके चिरं समधम ततः । निन्ये कर्मपरीणामो दुष्पुर पापिपञ्जरं ॥ ३६२ ॥ रौन्यचुम्बासकस्तेन रोपपेन निकृष्टवत् । विविधं बाध्यते सोऽपि तत्रोचैरिति च श्रुतम्

१ मूपा॰ क॰ ग॰ प॰ । २ पक्षमेव प॰ । ३ चन्या॰ स॰ प॰ । ४ राज्ये कु॰ ता॰ क॰ प॰ ।

॥ ३६३ ॥ मयाथ चिन्तितं देव ! यदेषोऽपीह तत्र च । दुःखभागभवत् तत्राज्ञानमेव निबन्धनम् ॥ ३६४ ॥ संवत्सरे तृतीयेऽथ जज्ञे राजा विमध्यमः । घोषणादौ कृते मन्त्री महामोहमुवाच च ॥ ३६५ ॥ वत्सलोऽस्मासु देवायमपि राजा विमध्यमः । किन्तु चारित्रधर्माद्यांस्तानप्ययमपेक्षते[1] ॥ ३६६ ॥ अत एव यथामुष्य सर्वदा धनकामयोः । प्रतिबद्धं मनो देव ! तथा धर्मेऽपि किञ्चन ॥ ३६७ ॥ देवानां चैष[2] सर्वेषां सर्वेषां च तपस्विनाम् । धर्म्माणामपि सर्वेषां स्तोता मध्यस्थमानसः ॥ ३६८ ॥ तदेवं मन्यते बन्धूभूतानस्मानयं यथा । तथा चारित्रधर्म्माद्यानपि जानाति किञ्चन ॥ ३६९ ॥ प्रवेशोऽस्यापि तद्राज्ये न देयोऽत्र यतो भवेत् । प्रविष्टोऽयं स्वसैन्यस्य पालकोऽस्मद्विबाधया ॥ ३७० ॥ बहिर्भूतस्तु यद्येष स्वसैन्यपरिपालनम् । कुर्यात् तथापि नास्माकं भवेदत्यन्तबाधकः ॥ ३७१ ॥ ततो दृष्टिं पुरस्कृत्य सत्वरं पृथिवीपतिः । एषोऽप्यधमवद्देव ! राज्यतः क्रियते बहिः ॥ ३७२ ॥ भवत्वेवमिति प्रोक्ते महामोहमहीभुजा । बहिश्चक्रे स तैश्चौरै राज्याद् दृष्टिपुरस्सरैः ॥ ३७३ ॥ वशीकृतं च तद्राज्यं किन्तु नात्यन्तपीडितम् । चारित्रधर्म्मसैन्यं च मनागेतैरुपेक्षितम् ॥ ३७४ ॥ तस्माद्राज्याद्बहिःस्थोऽपि स तु राजा विमध्यमः । नित्यं धर्म्मार्थकामेषु यथाकालं प्रवर्त्तते ॥ ३७५ ॥ क्षत्रियब्राह्मणादीनामाकारं देव ! बिभ्रता । तेऽपि चारित्रधर्माद्यास्तेनैवं प्रीणिता मनाक् ॥ ३७६ ॥ तथा च वर्त्तमानोऽयं श्लाघां बाह्यजनेष्वपि । प्राप कर्म्मपरीणामस्तुतोष च मनाग् नृपः ॥ ३७७ ॥ ततस्तं मानवा-

१ °क्ष्यते क० ख० ग० । २ °व स० ता० ।

षामहन्येषु द्युतवहइषु । अनैपीमगरथ्येष मयस्याकम्पित सदा ॥ २७८ ॥ मध्यमऽथ नृपे जाते तुर्येऽब्दे घोषणा
दिक्षम् । पमून पूर्ववत् यावरस मन्त्री नृपमाह तम् ॥ २७९ ॥ देवास्माकमयं नैष सुन्दरो मध्यमो नृपः ।
तेनास्मद्विद्विषा यस्य सिद्धान्तेनास्ति सङ्गमः ॥२८०॥ ततस्तत्कथनात् किञ्चित् स्वरूप वेत्त्यसौ नृपः । स्वराज्य
स्यास्य चारित्रधर्म्माद्दीनो च नस्तथा ॥ २८१ ॥ अत एवैष निःशेषक्लेशराशिनिशुम्भनम् । तत्त्वतो मन्यते मोक्ष
धर्म्मं चेतस्य साधकम् ॥ २८२ ॥ उदारसत्त्वविरहात् केवलं स्वक्रमक्षमः । कामार्थो सेवते नित्यमेष तदोपवेयपि
॥ २८३ ॥ तदस्यावहितैर्देव । भाव्यमस्माभिरन्वहम् । नो चेन्निरस्य नः सर्वाभिवराज्य प्रदीप्यति ॥ २८४ ॥
निशम्य तदमात्योक्त महामोहादयोऽथ ते । पमूवुर्मध्यमे राज्ये किञ्चिच्चकितचेतसः ॥ २८५ ॥ ते तु स्वोकी
मनल्लोकाः कोका इव दिनोदये । चारित्रधर्म्मराजाद्याः प्रापुरीषत्तरां सुखम् ॥ २८६ ॥ मध्यमस्तु महामोहादीन्
द्विस्त्रोथ पोषयन् । चारित्रधर्म्माद्दीन् राज्य किपदप्पादवे निजम् ॥ २८७ ॥ श्रावकाणां दयद्रूपं भूयसां
जिनशासने । स प्राप परमां श्लाघां बहिरङ्गजनेष्वपि ॥ २८८ ॥ ततः कर्म्मपरीणामस्तत्पिता विशुधालये ।
पुरे तं नीतवान् हर्षाद्दिति चाकर्णितं मया ॥ २८९ ॥ पञ्चमे हायनेऽथामूदुत्तमः पृथिवीपतिः । घोषणायां
च मातापां परितमुषुसर्जनाः ॥ २९० ॥ संधीरणाय लोकानां निजानामथ तोपमाक्ष । चारित्रधर्म्मराजेन्द्र
सद्बोधः प्राह पर्षदि ॥ २९१ ॥ चिरात्मः फलितं देव । भाग्यैरद्य यदुत्तमः । बभूव भूमिपालोऽयं सर्वाद्भुतगुणास्पदम्
॥२९२॥ स्वराज्यमिदमस्माभि महामोहादयीम तान् । नामतो गुणतश्चापि सर्वं जानात्यसौ यतः ॥२९३॥ संसारा

मन्यते धर्म्ममेवैकं तत्त्वं मोक्षैकमानसः ॥ ३९४ ॥ ततोऽयं पोपयन्नस्मान्निरस्य-
द्विरतश्चायमर्थकामपराङ्मुखः । मन्यते धर्म्ममेवैकं तत्त्वं मोक्षैकमानसः ॥ ३९५ ॥ तदस्य यदिदं राज्यं तद्राज्यं
स्त्वांस्तु तस्करान् । पालयिष्यत्यदः सम्यग् निजराज्यं महामनाः ॥ ३९६ ॥ महामोहादयस्ते तु श्रुत्वा राज्यं तदौत्तमम् ।
तत्त्वतोऽस्ति नः । कार्यतामुत्सवस्तस्माद्विदधे तत्तथा नृपः ॥ ३९६ ॥ महामोहादयस्ते तु श्रुत्वा राज्यं तदौत्तमम् । राज्यं पृष्टः स
प्रलीना वयमित्युच्चैर्मुक्तप्राणा इवाभवन् ॥ ३९७ ॥ इतः कर्म्मपरीणामात् पितुः प्राप्योत्तमेन तत् । राज्यं पृष्टः स
सिद्धान्तः स्थितिं राज्यस्य तद्यथा ॥३९८॥ कथमत्र प्रवेष्टव्यं ? हन्तव्याश्चरटाः कथम् ? । कथं चैतद्वशे कार्यं ? क
नियोज्यं च पौरुषम् ? ॥ ३९९ ॥ सिद्धान्तः प्राह राज्येऽत्रान्तरे प्रविशता त्वया । कार्यं गुरुवचो भक्त्या पाल्या
पञ्चमहाव्रती ॥ ४०० ॥ यतिवेषेण निःसङ्गेन चानियतवासिना । भाव्यं शब्दादिषु तथा रागद्वेषविवर्जिना
॥४०१॥ परात्मनि मनो न्यस्यं मान्याः समितिगुप्तयः । परीषहोपसर्गाश्च सोढव्या धीरचेतसा ॥४०२॥ ततश्चा-
भ्यासवैराग्याद्वसहायवता त्वया । निहन्तव्या यथादर्शं महामोहादयो द्विषः ॥ ४०३ ॥ पोषणीयं च चारित्रधर्म्म-
सैन्यं ततस्त्वया । राज्ये तत्र प्रवेष्टव्यं पूर्वद्वारेण सुन्दर ! ॥ ४०४ ॥ वामे तस्य च दिग्भागे महामोहादयो द्विषः ।
सर्वाधारा पुनस्तेषां चित्तवृत्तिमहाटवी ॥ ४०५ ॥ पश्चिमे तामतिक्रम्य
चारित्रधर्म्मराजाद्या विद्यन्ते दक्षिणे पुनः ॥ ४०५ ॥ सर्वाधारा पुनस्तेषां चित्तवृत्तिमहाटवी । पश्चिमे तामतिक्रम्य
भागे पुर्यस्ति निर्वृतिः ॥ ४०६ ॥ इतश्च तत्र यातस्य तव वत्स ! भविष्यति । पालितस्यास्य राज्यस्य परिपूर्णं
फलं ध्रुवम् ॥ ४०७ ॥ तस्यां च प्रेप्सुना सेव्यस्त्वयौदासीन्यनामकः । राजाध्वा ममतायोगनलिकादत्तदृष्टिना
॥ ४०८ ॥ तत्रास्पृष्टे महामोहादिभिस्ते व्रजतः सतः । आदावेवाप्यवसायाभिधानोऽस्ति महाह्रदः ॥ ४०९ ॥

पुष्णाति स महामोहसैन्यं परेण कश्मलः । प्रमादितस्तु चारित्रधर्म्मसैन्यं समागतः ॥ ४१० ॥ ततश्च कार्ये
यो यत्र कुशलस्तत्र तं सुधीः । नियुञ्जीतेति भवता तं प्रसादयितु मिदम् ॥ ४११ ॥ चतस्रोऽपि महादेव्यो
नियोज्यास्तत्र कर्म्मठाः । उपेक्षाकरुणामैत्रीमुदितास्या नरोत्तम ! ॥ ४१२ ॥ युग्मम् ॥ अप्रमत्तत्वं कूटाचलस्मात्
चारणा नामतो नदी । सा च स्थिरासनस्थेन निरुध्य श्वाससंचयम् ॥ ४१३ ॥ जितेन्द्रियेण च प्राप्या
त्वया यत्नेन तत्र च । विकल्पवीचयः प्रेर्या महामोहादिनिर्मिताः ॥ ४१४ ॥ युग्मम् ॥ द्रक्ष्यसि त्वं ततो
धर्म्मध्यानदम्भोलकं पुरः । स च सबीजयोगाख्ये महामार्गे पतिष्यति ॥ ४१५ ॥ तेन ते मच्छतचाशु
महामोहादिशत्रुषु । क्षीणप्रायेषु तद्ग्रामेपूच्छलितेषु च ॥ ४१६ ॥ चारित्रधर्मसैन्ये च प्रबलत्वमुपेयुषि ।
धारयिष्यति शुक्लस्य राज्यमूर्त्तिरमस्तमाः ॥ ४१७ ॥ युग्मम् ॥ ततस्त्वं लप्स्यसे शुक्लध्यानदम्भोलकं
पुरः । भविता केवलालोकस्तेन ते गच्छतः सतः ॥ ४१८ ॥ स च दम्भोलको गत्वाऽश्वमेव मिलि
ष्यति । मार्गे प्रवृत्ति निर्बीजयोगनामनि निर्मले ॥ ४१९ ॥ तत्रस्थेन समीक्ष्यं भवता विपमानरीन् । केवलि
समुद्घाताख्यः प्रयत्नः कार्य एव हि ॥ ४२० ॥ हन्तव्यास्त्रयो दुष्टवेताला योगनामकाः । ततः परं च
भविता शैलेशी नाम वर्त्तनी ॥ ४२१ ॥ तया मनाग्वजन् तां पुरीं प्राप्स्यसि निर्वृतिम् । ततोऽनन्तकालान्यस्य
फलमुत्तमं ! मोक्ष्यसे ॥ ४२२ ॥ चारित्रधर्म्मराजाद्या ये तु त्वदनुजीविनः । तत्र त्वासुपतां सर्वे तेऽपि यास्यन्त्य-
भेदतः ॥ ४२३ ॥ तद् गच्छ वत्स ! सिद्धिस्त्वे कुरु राज्यं मनोहरम् । त्वया राज्यफले प्राप्ते सफलो मे परिश्रमः

॥ ४२४ ॥ तथेति प्रतिपद्याथ हृष्टः सिद्धान्तशासनम् । तथैव विदधे सर्वं तदुत्तममहीपतिः ॥ ४२५ ॥
यावज्जित्वा महामोहादिकान् दृष्टिं च तामयम् । तां पुरीं निर्वृतिं प्राप जन्मादिक्लेशवर्जिताम् ॥ ४२६ ॥
यो राज्यदाताऽऽसीत्कर्म्मपरिणामः पितास्य च । तस्यापि कृतकृत्योऽयं न ढौकं तत्र यच्छति ॥ ४२७ ॥
जज्ञेऽथ वत्सरे षष्ठे वरिष्ठो नाम भूपतिः । घोषणायां च जातायां पूर्ववच्चुक्षुभुर्जनाः ॥ ४२८ ॥ मुदं चारित्र-
धर्म्माद्याः प्रापुर्जातेऽत्र राजनि । महामोहादयस्ते तु मुमूर्षव इवाभवन् ॥ ४२९ ॥ यश्चोत्तमस्य संपन्नो वृत्तान्तो
राज्यसाधने । स एवापि वरिष्ठस्य विशेषस्तु निगद्यते ॥ ४३० ॥ सिद्धान्तवचनात् कृत्यं ज्ञातवानुत्तमः किल ।
वरिष्ठोऽयं पुनः सर्वं स्वयमेव विवेद तत् ॥ ४३१ ॥ निजज्ञानबलेनैव राज्यं पालयतस्ततः । बहिरङ्गा महात्मानो
जातास्तस्य पदातयः ॥ ४३२ ॥ बहिरङ्गपदातीनां धारयन्ति यतो गणम् । ततस्ते विश्रुता लोके नाम्नेति गण-
धारिणः ॥ ४३३ ॥ ततस्तेन वरिष्ठेन तैरात्मगणधारिभिः । उपकारीति विज्ञाय स सिद्धान्तो निरूपितः ॥ ४३४ ॥
राजादेशेनोपलभ्य सिद्धान्तं तेऽपि तं जवात् । अङ्गोपाङ्गादिसंस्कारान्ससज्जुः शुद्धबुद्धयः ॥ ४३५ ॥ ततोऽसौ
नित्यरूपोऽपि सिद्धान्तः परमार्थतः । कारितोऽयं वरिष्ठेन ख्यातिमेवं जने ययौ ॥ ४३६ ॥ किञ्चास्य कुर्वतो
राज्यं महात्मैकशिरोमणेः । चतुस्त्रिंशदतिशया बभूवुर्भुवनाद्भुताः ॥ ४३७ ॥ अम्भोजसुरभिः श्वासो वपुर्नीरोग-
निर्म्मलम् । अदृश्याहारनिहारौ धवले मांसशोणिते ॥ ४३८ ॥ क्षेत्रे योजनमात्रेऽपि कोटिकोटिजनस्थितिः ।
सर्वभाषानुगा वाणी पृष्ठे भामण्डलं वरम् ॥ ४३९ ॥ सपादे योजनशते न रुग् न स्वान्यचक्रभीः । न वैरमारि-

दुर्भिक्षादिवर्षाविषयपि ॥ ४४० ॥ चामराः सिंहपीठं च छत्रत्रितयमुज्ज्वलम् । रत्नध्वजो धर्मचक्रं चप्रत्रितय मुच्चकैः ॥ ४४१ ॥ संचारिनवपद्मानि क्लेशच्छिमतुरङ्गता । अनुकूलोऽनिलो पथानर्दिर्दुन्दुभिनिस्वनः ॥ ४४२ ॥ पुष्पवृष्टिः सुग धाम्बुवृष्टिर्न्यस्तसकण्टकाः । कणशमश्रुनखावृद्धिः शकुनाम प्रदक्षिणाः ॥ ४४३ ॥ जघन्यतोऽपि देवानां कोटिर्निकटवर्तिनी । ऋतूनामिन्द्रियार्थानामानुकूल्यममी च ते ॥ ४४४ ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥ एतैश्चा तिशयैर्युक्तो विश्वविवेकपरस्सलः । प्रतिपक्षपरेभ्योऽपि स निर्वृतिपथं निजम् ॥४४५॥ स्वा(सा°)रमीमाषपरिमिता रमीयान्तरमहावलः । वरिष्ठः स नृपप्रष्ठश्चिरं राज्यमपालयत् ॥ ४४६ ॥ युग्मम् ॥ सर्वानपि महामोहादीनभिहत्याथ वैरिणः । तेनैव वर्त्मना प्राप निर्वृतो स महीपतिः ॥ ४४७ । तदेव भवतादेशात्तेषां षण्णामपि प्रभो ! । राज्यानि प्रविलोक्याहमायातस्तव सन्निधौ ॥ ४४८ ॥ अप्रबुद्धो वितर्कस्य श्रुत्वा सदिय भाषितम् । प्रचिन्तयदहो ! सर्वं तथैव तत्सममनु ॥ ४४९ ॥ किंत्वेकमपि तद्राज्यं कारणं सुखदुःखयोः । मयेत्पालनमाभित्सेस्यावयो पदू गुरु मेम ॥ ४५० ॥ यतो निकृष्टमुख्यानां तेषां षण्णां महीभुजाम् । भिन्न फलमभूद्राज्यं श्रापाप्राप्तविभेदतः ॥ ४५१ ॥ एतद्वार्षिकराज्यानां पद्रूक फलपता मया । सर्वमेव च विज्ञात यतः प्रोक्त मनीषिभिः ॥ ४५२ ॥ येन संवत्सरो दृष्टः सकृत्कामश्च सेवितः । तेन सर्वमिव दृष्ट पुनरावर्तकं जगत् ॥ ४५३ ॥ तत्सिद्धान्तप्रसादेन विज्ञाय सुखदुःखयोः । हेतुं स्वातः प्रबुद्धोऽभूर्विनष्टैनाप्रबुद्धता ॥ ४५४ ॥ एव च परितुष्टा

१ कश्चिद्वि ता० क० स० प०। २ स्वामी° म०। ३ °ताम् निहत्यान स्ववैरिणः स०। ४ °नष्टा वाम स०, °नष्टा° म०।

त्मा स प्रबुद्धो महामनाः। तद्राज्यषट्कं निश्चित्य ज्ञानाज्ञातो निरातुरः ॥ ४५५ ॥ दृष्टिकथानकम् ॥ प्रसङ्गात्सर्वमेतच्च तुभ्यं हरिनरेश्वर!। निवेदितं मया योऽर्थः प्रस्तुतः स निशम्यताम् ॥ ४५६ ॥ तस्याघमस्य भूभर्तुर्महामोहादिशत्रवः। सा च दृष्टिर्विशेषेण यथा दोषाय जज्ञिरे ॥ ४५७ ॥ तथान्येऽप्यान्तरा लोका दुष्टा दोषाय निश्चितम्। अज्ञानध्वान्तलीढानां जायन्ते भवचारिणाम् ॥ ४५८ ॥ ततः[2] सोऽपि वराको यत् क्लेश्यते धनशेखरः। ताभ्यामान्तरमित्राभ्यां पापाभ्यां तत्र कौतुकम् ॥ ४५९ ॥ हरिराहोदिताः कर्म्मपरिणामस्य ये सुताः। षडमी तेषु यातेषु परतः किमभूत्प्रभो! ॥ ४६० ॥ किं षडेव हि जातानि तानि राज्यानि नापरम्?। किं वा भवन्ति तादृशि राज्यान्यत्र[3] पुनः पुनः? ॥ ४६१ ॥ सूरिराह महाराज! य एते भुवनोदरे। विद्यन्ते देहिनः केचिन्नानाकाराश्चराचराः। ॥ ४६२ ॥ ते कर्म्मपरिणामस्य नरेन्द्रस्याखिला अपि। विज्ञेयाः षड्विधाकारास्तनयाः परमार्थतः ॥ ४६३ ॥ ततस्तेषु गतेष्वेवं तद्राज्यमपरे सुताः। तादृशा एव भुञ्जन्ति तेन दत्तं पुनः पुनः ॥ ४६४ ॥ यद्वा तिष्ठन्तु दूरेऽन्ये तनयास्तस्य तत्सुतम्। मामेवोत्तममुर्वीश! विद्धि स्वं[4] तु विमध्यमम् ॥ ४६५ ॥ यतः स्वरूपमाख्यायि[5] यत् त्वदग्रे[6] तयोर्मया। दृश्यते मयि तद् व्यक्तमशेषं त्वयि च क्रमात् ॥ ४६६ ॥ हरिः प्रोचेऽथ यद्येवं कृतं वैमध्यमेन मे। राज्येन दाप्यतां मह्यमप्येतद्राज्यमौत्तमम्

१ °त्स्तन्निश° ख०। २ ततः सोऽपि हि सजातः सर्वतो धनशेखरः। पीडितस्ताभ्यामान्तरमित्राभ्यां तत्र कौतुकम्॥ ख० ३ °न्येवं पुनः ग०। ४ त्वां च वि° ख०। ५ °ख्यातं यत् ख०। ६ तयोर्नृपयोर्मया क० ख०, त्वदग्रेऽनयोर्मया ग०।

॥ ४६७ ॥ अभ्यधान्मुनिरामोऽथ साधु साध्विति नृप ! । विज्ञातपरमार्थानां युक्तमेतद्भवादृशाम् ॥ ४६८ ॥
किन्तु भागवती दीक्षां विना नैतदवाप्यते । ततस्ते तत्र यद्यस्ति वाञ्छा तद्गृह्यतामियम् ॥ ४६९ ॥ ततो
हरिपोऽप्योघवेगाचन्मात्रतो यदि । तदाप्यते महाराज्य ततः कस्माद्विलम्ब्यते ? ॥ ४७० ॥ इत्युक्त्वा स गृहे
गत्वा पौरामात्यादिसंमतम् । स्वराज्ये स्थापयामास सुतं शार्दूलनामकम् ॥ ४७१ ॥ कृत्वान्यदपि कर्तव्य
मस्याऽन्ते स गुरोस्ततः । दीक्षां मयूरमञ्जर्या प्रधानैश्च सहाऽऽददे ॥ ४७२ ॥ विहरन्गुरुणा सार्धमथ तद्राज्य
मौघमम् । स चिरं पालयामास क्रमाच्च प्राप निर्वृतिम् ॥ ४७३ ॥ इतो बहुषु देवेषु सागरो मैथुनः स च । धन
लोलोऽयं सुधु ! भ्रमयामास मां चिरम् ॥४७४॥ अन्येद्युश्च महारण्ये पतितोऽहं क्षमाकुलः । उपाविशं करञ्जाधि !
बिल्वपादपसन्निधौ ॥ ४७५ ॥ तच्छाखानिर्गतं दृष्ट्वा प्ररोहं भूमिगामिनम् । नूनं निधानमत्रास्तीत्यवगम्यैव मया
ततः ॥४७६॥ खातेऽथ सागरादेशान्मया तत्र महीतले । रत्नपूर्णो महानेकः कुम्भो रम्भोरु ! निर्ययौ ॥४७७॥
तमस्त्वापि पापश्च तामग्रीपरूपभृत् । प्रादुर्भूव वेतालः कालस्येवानुजः क्षणात् ॥४७८॥ कक्षायामस्फुरद्दंष्ट्रे क्षिप्त्वा
सवनकेटरे । कटरकटि(टे)ति कुर्वाणः पाटयामास सोऽथ माम् ॥ ४७९ ॥ अत्रान्तरे च जीर्णायां पूर्वस्यां
मतिवत्सया । ममान्यपुरयानाय गुटिकामपरां ददौ ॥ ४८० ॥ तस्यां पापिष्ठाशायां पुर्यां सप्तमपाटके । गतोऽ-
मातुश्चभूताहं महादुःखानि भूरिशः ॥ ४८१ ॥ ततोऽपि सर्वस्थानेषु भ्राम्यता मयका बहु । दुःखं नास्त्येव तद्यन्मे
यत्ना नानुभूयत ॥ ४८२ ॥ मातुष्कस्य तमन्येद्युर्मित्रं पुण्योदय पुनः । किञ्चिद्विहितसत्कर्मा मोचेऽहं मार्यया

तया ॥ ४८३ ॥ साह्लादाख्ये पुरे बाह्येऽधुना गम्यं त्वया प्रिय ! । अयं तु पूर्ववद्भावी सुहृत् पुण्योदयस्तत्र ॥४८४॥ स्वीकृत्याथ तदादेशं दत्तान्यगुटिकस्तया । पुण्योदयसमेतोऽहं प्रतस्थे तत्पुरं प्रति ॥ ४८५ ॥ इत्यवेत्य हरिशेखरसूनोर्दुर्विपाकमधमस्य च वृत्तम् । लोभमैथुनविलोक(°च°)नलौल्यं मुञ्चतेच्छत सुखं यदि भव्याः ! ॥ ४८६ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे लोभमैथुनचक्षुरिन्द्रियविपाकवर्णनो नाम षष्ठः प्रस्तावः समाप्तः ।

सप्तमः प्रस्तावः ।

इतोऽस्ति मनुजगतौ महीमण्डलमण्डनम् । जनताजनिताह्लादं साह्लादं नाम तत्पुरम् ॥ १ ॥ दोषस्तत्रैक एवायं चोरयन्ति यदुद्भटाः[1] । यूनां हृदयसाराणि युवतीजनतस्कराः ॥ २ ॥ तत्राभूद्भूपतिः शूरराजतेजःकृतक्षतिः[2] । अर्थिचातकजीवातुर्जीमूत इति विश्रुतः ॥ ३ ॥ सिक्ता विवेकनीरेण यस्य नीतिलताद्भुता । यशःप्रसूनं सुपुवे वासिताशेषदिङ्मुखम् ॥ ४ ॥ शुद्धपक्षद्वया तस्य लीलागमनशालिनी । हंसीव राजहंसस्य जज्ञे लीलाभिधा प्रिया ॥ ५ ॥ गुटिकायाः प्रयोगेण साथ मां भवितव्यता । तस्याः कुक्षौ प्रचिक्षेप क्षणादेव मृगेक्षणे ! ॥ ६ ॥ संपूर्णे

१ °वः क० ख० । २ °क्षितिः क० ख० ग० घ० ।

समये सापि मां पुण्योदयसंयुतम् । नन्दनं जनयामास मलयोर्वीव चन्दनम् ॥ ७ ॥ जन्मोत्सवं विधायाथ पितरौ
हृष्टमानसौ । धनवाहन इत्याख्यां चक्रतुः समये मम ॥ ८ ॥ इतोऽस्ति मत्पितुर्भ्राता कनिष्ठो नीरवाभिधः ।
देवी पद्माभिधा तस्याकलङ्काख्यस्तयोः सुतः ॥ ९ ॥ ततोऽहममुना सार्धमधीत्य सकलाः कलाः । क्रमादवाप
तारुण्यममूर्तं मूर्तिभूषणम् ॥ १० ॥ स चाकलङ्कः संवेगे चारपाद्म्यमलाशयः । सुसाधुदेशनाश्रुत्या कुशलो
जिनशासने ॥ ११ ॥ अथ क्रीडितुमन्येद्युरुद्याने सुधनन्दने । गतावावामपश्याव सुन्दरं जिनमन्दिरम् ॥ १२ ॥
नत्वा तत्राथ तीर्थेशं पावदावां विनिर्गतौ । साधवः सुन्दराकाराः केचिदावामुपाययुः ॥ १३ ॥ ते च तत्राष्टमीं
मत्वा नत्वा जिनमुपोषिताः । सिद्धान्तं गुणयन्ति स्म परिभूत्वा पृथक् पृथक् ॥ १४ ॥ तद्दर्शनसमुद्भूतहर्षोत्कर्षो
मया सह । अकलङ्को जगामाथ साधोरेकस्य सन्निधौ ॥ १५ ॥ नत्वोपविश्य तेनाथ पृष्टो वैराग्यकारणम् ।
स साधुरभ्यधादेवं महाशय ! निशम्यताम् ॥ १६ ॥ ग्रामे लोकोदरे नाम वास्तव्योऽहं कुटुम्बिकः । लग्नं
प्रदीपनं विष्वग् रात्रौ तत्र च भैरवम् ॥ १७ ॥ धूमज्वालाकलापाढ्यं वंशस्फोटरवाकुलम् । लोककोलाहलाकीर्णं
तच्च वातेन वर्धते ॥ १८ ॥ क्रन्दन्त्यर्भाः स्त्रियो धावन्त्यारटन्त्यन्यपक्षिणः । पिङ्गाः किलकिलायन्ते मुष्णन्ति च
मलिम्लुचाः ॥ १९ ॥ सर्वस्वानि च दहन्ते शोचन्ति कृपणास्तथा । अमूदमातापुत्रीयमित्युच्चैस्तारमदीपनम्
॥ २० ॥ युग्मम् ॥ विबुद्धः कोऽपि गोचन्द्रे ग्रामसम्परिस्थिते ततः । कोऽप्यारभमकथम् मन्त्रवादी मण्डलमालिखत्

१ °क्लिकि° ता० । २ °ख्यास° क० ख० ग० ।

॥ २१ ॥ तेनाहूतास्ततः केचिदल्पास्तत्राययुर्जनाः । प्रदीपनकनिष्काशाज्जाताश्च सुखभाजिनः ॥ २२ ॥ ग्रहग्रस्ता इवान्ये तु मूढास्तत्र प्रदीपने । क्षिपन्ति तत्प्रशान्त्यर्थं तृणकाष्ठघृतादिकम् ॥ २३ ॥ मण्डलस्थैर्जनैस्तैश्च वारिता बहुधापि ते । न तिष्ठन्त्युपहासादि तेषां प्रत्युत कुर्वते ॥ २४ ॥ विदधत्यपि तद्वाक्यं पुण्यभाजस्तु केचन । भवितव्यतया भातं वचस्तेषां ममाप्यथ ॥ २५ ॥ उत्प्लुत्य मण्डले तत्र गतेनाथ मयेक्षिताः । रटन्तो दह्यमानास्ते ग्राम्यलोकाः समन्ततः ॥ २६ ॥ मण्डलस्था जनास्ते तु कियन्तो व्रतिनस्ततः । तेषु व्रत्यहमप्येतत् तन्मे वैराग्यकारणम् ॥ २७ ॥ तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽथ द्वितीयमुनिसंमुखम् । प्रस्थितः स मया भद्रे ! जगदे नीरदात्मजः ॥ २८ ॥ किं साधुनाऽमुनाऽऽख्यातं भ्रातर्वैराग्यकारणम् ? । मुदितस्त्वमभूरेवं यच्छ्रुत्वा सोऽप्यथावदत् ॥ २९ ॥ भ्रातर्लोकोदरो ग्रामो निवासस्थानमात्मनः । मुनिना यः समाख्यातः स संसारः प्रतीयताम् ॥ ३० ॥ रागद्वेषाग्निना तत्र मोहरात्रौ प्रदीपनम् । धूमोऽत्र तामसो भावो ज्वालाटोपस्तु राजसः ॥ ३१ ॥ कलिर्वंशभिदारावो लोककोलाहलेसदृक् । अशुद्धाध्यवसायश्च पवनः प्रेरको मतः ॥३२॥ कषायाः शिशवो ज्ञेया दुष्टलेश्याश्च योषितः । अन्धा मूर्खा जनाः प्रोक्ताः क्रियाहीनास्तु पङ्गवः ॥३३॥ पिङ्गास्तु नास्तिकाः ख्याता इन्द्रियाणि च तस्कराः । तथात्मगेहसाराणि सर्वस्वानि मतान्यहो ! ॥ ३४ ॥ हीनसत्त्वास्तु कृपणास्त्राताऽत्र च परस्परम् । न कोऽप्यस्तीदमाख्यातममातापुत्रकं ततः ॥ ३५ ॥ मन्त्रवाद्यत्र बोद्धव्यः स्वयम्बुद्धो जिनेश्वरः ।

१ °तन्मम वै° ख० । २ °लः स° ता० क० ग० घ० ।

तीर्थमण्डलकन्मध्यलोके गोचन्द्रकोपमे ॥ ३६ ॥ इत्यारभक्षपेनैव प्रश्नमन्त्रस्य रेखया । आह्वानं जीवलोकानां धर्मदेशनया कृतम् ॥ ३७ ॥ ततस्तत्राऽऽययुः केऽपि भव्या आवाय निर्वृताः । स्तोकास्ते किन्तु यन्मार्गेऽनन्ते ते भवचारिणाम् ॥ ३८ ॥ कषायान् विषयांश्चैव विपर्यस्तधियोऽपरे । घृतकुम्भे घनप्रख्यांस्तच्छमाय प्रयुञ्जते ॥ ३९ ॥ विषमस्तुपहासादि तीर्थस्यैर्मोरिताश्च ते । केचिदेव वचस्तेषां कुर्वन्त्येव मुनिर्यथा ॥ ४० ॥ तीर्थेऽत्र च प्रचिन्तेनामुना संसारचारिणः । दह्यमाना जना दृष्टा रागद्वेषप्रदीपने ॥४१॥ भावकृत्याविकासाशुभाभ्यां भेदाच्चतुर्विधाः । तीर्थस्यास्ते च तन्मध्ये प्रव्रज्यैषोऽप्यभूद् यती ॥ ४२ ॥ ततः प्रदीपनमिदं स्वस्य वैराग्यकारणम् । मुनिनाऽल्पापि तथार्हं पुपुषे मुदितस्ततः ॥ ४३ ॥ प्रदीपनकमेतच्च सर्वसाधारणं मतम् । आवयोरपि तज्ज्ञातः । स्यात्तु नेवात्र युज्यते ॥ ४४ ॥ मयि तूष्णींस्थिते पापे । सोऽथ नीरदनन्दनः । गत्वा द्वितीयमप्राक्षीन्मुनिं वैराग्यकारणम् ॥४५॥ शशंसाथ मुनिर्लोकाकाशभूमिप्रतिष्ठितम् । अस्त्यापानकमस्तोकमद्यपालकसंकुलम् ॥ ४६ ॥ भूरिमधासवसुरासुरकापूर्णभाजनम् । नीलनीरजसंच्छन्नानाचषकसङ्कुलम् ॥ ४७ ॥ मृदङ्गकंसीकतालवंशवीणारवाकुलम् । पिशाचहासमृत्यावेर्मोवैर्बहुविधैर्युतम् ॥ ४८ ॥ विशेषकम् ॥ जनास्तत्र च ते मद्यपायिनो मदघूर्णिताः । दशामनुभवन्त्युच्चैः शोचनीयां सचेतसाम् ॥ ४९ ॥ यतोऽत्र मद्यपाः सर्वक्रियाशून्या मृता इव । एकेऽप्यचारिवनस्पतिवत् सन्त्यनन्तकाः ॥ ५० ॥ अपरे संव्यवहारिवनस्पतिनिभाः पुनः । अनन्ता एव पिबन्ते व्यवहारकुपो

१ 'हारय' क० ख० ग० ।

मनाक् ॥५१॥ अन्ये पुनरसंख्याताः पृथ्व्यम्बुशिखिवायुवत् । विद्यन्ते तादृशा एव मद्यपा मदविह्वलाः ॥५२॥ द्वित्रीन्द्रियका इवासंख्या आरटन्तः परे पुनः । न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति नापि शृण्वन्ति किञ्चन ॥ ५३ ॥ अन्ये तु मद्यदोषेणासंख्यास्त्रिकरणा इव । जिघ्रन्ति किञ्चिन्न पुनः पश्यन्त्याकर्णयन्ति वा ॥ ५४ ॥ चतुरक्षा इवासंख्याः शृण्वन्त्यपि न चापरे । एके त्वसंज्ञिपञ्चाक्षवदसंख्या अमानसाः ॥५५॥ असंख्याश्चापरे स्पष्टचेतना नारका इव । छेदभेदादिभिर्बाढं क्लिश्यन्ते मदविह्वलाः ॥ ५६ ॥ एके पुनरसंख्येयाः पञ्चाक्षपशुसन्निभाः । कृत्याकृत्यमजानन्तो भजन्ति जननीमपि ॥ ५७ ॥ लोलन्ति भूतले केचित्केचिदुत्प्लुत्य यान्ति खे । केचिज्जले निमज्जन्ति नानादुःखसमाकुलाः ॥५८॥ लुठन्तो भूतलेऽन्ये च संमूर्च्छनजमर्त्यवत् । वान्तं पित्तं शकृन्मूत्रमसंख्या भक्षयन्त्यलम् ॥५९॥ स्तेयाब्रह्ममृषाहिंसाद्यासक्ता मारणादिकम्[3] । संख्येयाश्चाप्नुवन्त्युच्चैर्दुःखं गर्भजमर्त्यवत् ॥ ६० ॥ असंख्याः पुनरन्ये च चतुर्वृन्दव्यवस्थिताः । सन्ति लोका मदाध्माताश्चतुर्विधसुरा इव ॥ ६१ ॥ विषयैः सुखितंमन्यास्ते च यद्यपि पञ्चभिः । तथापि दुःखिता एव शोकेर्ष्याभिभवादिभिः ॥ ६२ ॥ संख्याताश्चापरे लोकाः सन्ति संयतसन्निभाः । ये नो पिबन्ति तन्मद्यं मध्यस्थाः परमासते ॥ ६३ ॥ ततस्ते तेन लोकेन सततं मद्यपायिना । अपिबन्तोऽभिधीयन्ते ब्राह्मणा इत्यसूयया ॥ ६४ ॥ तस्मादापानकादन्ये बहिर्भूता मदोज्झिताः । लोका मुक्ता इवानन्ता विद्यन्तेऽनन्तसम्पदः ॥ ६५ ॥ इतश्चाद्येषु लोकेषु स्थित्वाहं मदघूर्णितः । लुठन्नितस्ततः प्राप्तो द्वितीयेषु कदाचन

१ °टन्त्यपरे ख० । २ °य्यवि° क० ख० ग० । ३ मार° ता० ।

॥ ६६ ॥ एवं च मे मया भद्र ! कथितास्ते भयोदय । लोकभेदाः समासेन स्वरूपेण च वर्णिताः ॥ ६७ ॥
तेषां प्रथममनन्तो च मुक्त्वान्येषु दशस्वपि । अनन्तवाराः पापोऽहमटितो मदविह्वलः ॥ ६८ ॥ युग्मम् ॥
अन्येद्युरतिबीभत्से तस्मिन्नापानके भ्रमन् । बाधितो विविधैर्दुःखैर्दस्तैर्मायापैरहम् ॥ ६९ ॥ ततस्तैर्मासि
कारुण्यैश्चिन्तितं पदसाविह । वराकोऽनुभवत्युच्चैरसुखं मद्यदोषतः ॥ ७० ॥ तदेनं मद्यविरतिं कारयामः
कथमन । सुखभावनमस्मद्वत् येनायमपि जायते ॥ ७१ ॥ ध्यात्वेति तैस्तथा यत्नो विदधे मम बोधने ।
यथा मद्यस्य विरतिं कारितोऽहं शनैः शनैः ॥ ७२ ॥ जातोऽहमपि तादृक्षो प्राशमो भाजनाम ते । सर्वे प्रव्रजिता-
स्तन्मध्येऽहमपि तादृशः ॥ ७३ ॥ किन्तु वीर्यति नाद्यापि मद्याजीर्णं ममास्थितम् । सरयिष्यामि तदपीद
मे वैराग्यकारणम् ॥ ७४ ॥ तच्छ्रुत्वा किमनेनोक्तं विमृशमिति नैरदिः । जातजातिस्मृतिः पूर्वभवार्थं भूतमस्मरत्
॥ ७५ ॥ ततो विज्ञातसाधूक्तमायार्थो मुदिताशयः । तं नत्वा स मुनीपस्य मुनेरभिमुखं ययौ ॥ ७६ ॥ मया च
पूर्वभवप्रोऽहकस्तुः प्रत्यमायत । मोक्षः संसार एवायमनेनापानकच्छलात् ॥ ७७ ॥ यस्मिन्न गदिता जीवा
मनन्ता मद्यपालयाः । तेषं मद्यं तु कर्माणि कषायाः पुनरासवाः ॥ ७८ ॥ सुरा च घातिकर्माणि सरका नो
कषायकाः । सदाचारतपार्यूंषि भावनानि मतानि तु ॥ ७९ ॥ चषकाः कर्ममद्योपभोगाङ्गत्वेन देहिनाम् । देहाः
शोका हीक्षणि पुनस्तच्चपचसतः ॥ ८० ॥ लौल्यहेतुतया चात्र नीलोत्पलनिभानि च । मर्दलाः कलहा दैन्यक-
विततानि च कंसिकाः ॥ ८१ ॥ खला मृगकृगायन्त्वाः कांस्यतालनिभा मताः । वीभारवाः सदुःखानां परिदेवन

कानि च ॥ ८२ ॥ वंशस्वनाः सशोकानां लोकानां कूजितानि तु । विलासहासनृत्ताद्या भावा ज्ञेयास्तथैव त
॥ ८३ ॥ त्रयोदशभिदा ये च लोकास्तत्र प्ररूपिताः । ते दृष्टान्तमिषादेव सूचिता देहिनो मताः ॥ ८४ ॥ आख्यायि
लेशतस्तेषां स्वरूपं च तथात्मनः । मत्तबालकता कर्म्ममद्यपानात् तदन्तरे ॥ ८५ ॥ अव्यवहारिजीवेषु
पूर्वं स्वस्य न्यवेद्यत । अवस्थानं ततस्तेभ्योऽनन्तकालाच्च निर्गमः ॥ ८६ ॥ अव्यवहारिकयतिसिद्धवर्जं दशस्वपि ।
स्थानेषु भूयो भूयोऽपि भ्रमणं कथितं ततः ॥ ८७ ॥ संसारापानके भ्राम्यंस्तीव्रदुःखार्दितस्ततः । दृष्टोऽयमपरे-
द्युस्तैः संयतैर्ब्राह्मणोपमैः ॥ ८८ ॥ तैश्च संजातकारुण्यैर्बोधितोऽयं शनैः शनैः । प्रव्रज्य कर्म्मरूपस्य मद्यस्य
विरतिं न्यधात् ॥ ८९ ॥ प्रव्रज्यया च तत्कर्म्ममद्याजीर्णमयं मुनिः । जरयित्वा भवापानाद् बहिर्भूतो भविष्यति
॥ ९० ॥ तदिदं स्वस्य वैराग्यकारणं मुनिनामुना । प्रोक्तमेतच्च सर्वेषां सामान्यं घनवाहन ! ॥ ९१ ॥ संसारा-
पानके स्थातुं तदीदृश्यावयोरपि । न युक्तमथ तच्छ्रुत्वा पापोऽहं मौनमाश्रयम् ॥ ९२ ॥ अथ पृष्टोऽकलङ्केन
तृतीयमुनिराख्यत । वैराग्यकारणं स्वस्यारघट्टं भवनामकम् ॥ ९३ ॥ तथाहि नित्यवाह्येष तत्र सारथयो मताः ।
चत्वारः कर्षका रागद्वेषमिथ्यात्वमन्मथाः ॥९४॥ महामोहः सीरपतिः कषायाख्याश्च षोडश । विनापि चारिपानीयं
वेगवन्तो वृषाः स्मृताः ॥ ९५ ॥ हास्यादयः कर्म्मकरा रत्याद्याः कर्मकारिकाः । दुष्टयोगप्रमादाख्यं तत्र तुम्बद्वयं
महत् ॥ ९६ ॥ विलासोल्लासविब्बोकरूपास्तत्रारकाः स्मृताः । कूपः पापाविरत्यम्बुपूर्णो जीवस्त्वसंयतः ॥ ९७ ॥
पापाविरतितोयौघमग्नपूरितरेचितम् । जीवलोको घटीयन्त्रं स्फुरन्मरणखाट्कृतिः ॥ ९८ ॥ अज्ञानमलिनात्माख्यो

वेषस्तत्र प्रतीच्छकाः । इह मिथ्याभिमानाख्य तत्र वार्त्तिक मठम् ॥ ९९ ॥ संक्लिष्टचित्ता निर्वहणी कृपया
तु लोलता । क्षेत्र मन्मतविप्राः परापरजनमपि तु ॥ १०० ॥ कर्मापि जीवं तज्जीवपरिणामस्तु पापकः । असत्को
पामिषः पानान्तिकः सिध्यति तस्सदा॥१०१॥ ततस्तेनारघट्टेनोप्त सिक्त सिद्धिमागतम् । सुखदुःखादिशस्यौषजनक
तदुद्गतम्॥१०२॥ मठारघट्टे तत्राह प्रसुप्तः सुचिरं स्थितः । ततः प्रबोधितोऽनेन गुरुणा करुणावता ॥१०३॥ तदा
देशनरं तीर्थं जगृहे पारमेश्वरीम् । मठारघट्टस्यामायैतन्मे वैराग्यकारणम् ॥१०४॥ ततोऽकलङ्कस्तच्छ्रुत्वा वन्दित्वा
तं मुनिं मुदा । प्रचलस्य च मया सार्द्धं दुर्गसाधुं समाश्रयत् ॥ १०५ ॥ ततस्तमपि मत्प्रोक्तवे वैराग्यकारणम् ।
अपृच्छदकलङ्कोऽपि स चञ्चमठमाख्यत ॥ १०६ ॥ तथाहि चक्रेस्थितुक्तिर्नानारूपे कश्चिन्मठे । कुटुम्बमेक
संप्राप्य मुख्यमानुपपत्तकम् ॥ १०७ ॥ हितपुत्रस्त्री प्रतिपेदे तत्र चैर्यपि तैर्वृतैः । अन्येद्युर्भोजन तेन चित्र छात्र
कृते कृतम् ॥ १०८ ॥ संस्कृत्य मन्त्रयोगैस्तत्तेभ्यो दत्त ततो महान् । सन्निपातस्तयोन्मादस्तेषामस्वच्छनादभूत्
॥ १०९ ॥ तद्वशेन च ते पञ्चाः कथिञ्चिगतचेतनाः । भूतग्रस्ता इवाभूवन्नन्ये चासम्प्रलापिनः ॥ ११० ॥ अपदो
चारकमपि तन्मध्ये तद्विधोऽभवम् । ततो महारमनानेन चायुर्वेदविदान्वता ॥ १११ ॥ अपाकृत्य ततः सन्निपातो
न्मादौ स्वभेषजैः । अनुकम्पावतानेन कृतोऽहं स्पष्टचेतनः ॥ ११२ ॥ गुरोरस्योपदेशेन भद्र ! सांप्रतमप्यमूम् ।
ममन्यामाचरमस्मि मोहनाम्नीर्णशोषिनीम् ॥ ११३ ॥ यां यां चोपदिशत्येष क्रियां मे सुनिपुङ्गवः । तां तामह
करोम्येतन्मम वैराग्यकारणम् ॥ ११४ ॥ ततोऽकलङ्कस्तच्छ्रुत्वा मममन्यमुनिं प्रति । मया प्रोक्तोऽस्य भाषार्थे

कथयेत्यथ सोऽवदत् ॥ ११५ ॥ अनेनापि मुनीन्द्रेण संसारो घनवाहन ! । दृष्टश्चट्टमठाकारः स चेत्थं मे निवेदितः ॥ ११६ ॥ परस्परमसम्बद्धास्तत्र चट्टाश्च जन्तवः । रागादिककुटुम्बं च तैरिदं वैर्यपि स्फुटम् ॥ ११७ ॥ प्रमादो योगमिथ्यात्वे कषायाविरती तथा । अमीभिः पञ्चभिर्मुख्यैर्मानुषैर्युक्तमाहतम् ॥ ११८ ॥ युग्मम् ॥ तत्प्रदत्तं च कर्मान्नभोज्यमश्नन्ति सर्वदा । ते महामोहमन्त्राद्यं ज्ञानावरणयौगिकम् ॥ ११९ ॥ ततश्चात्यशनोद्भूत-गाढाजीर्णवशादमी । गृह्यन्ते सन्निपातेन मिथ्यात्वाज्ञानरूपिणा ॥ १२० ॥ अतत्त्वाभिनिवेशाख्योन्मादेन च ततोऽङ्गिनः । धर्माधर्मौ न जानन्ति जानन्ति व्यत्ययेन वा ॥ ॥ १२१ ॥ तन्मध्ये साधुरेषोऽपि तथा-रूपो विलोकितः । गुरुणा वैद्यकल्पेनानल्पानुक्रोशशालिना ॥ १२२ ॥ सिद्धान्तवैद्यशास्त्रोक्तविविधार्हद्वचोऽगदैः । अज्ञानसन्निपातोऽयमस्य दूरीकृतस्तदा ॥ १२३ ॥ अतत्त्वाभिनिवेशाख्य उन्मादश्चापि नाशितः । तद्दीक्षा-क्रियया कर्माजीर्णं च जरयत्ययम् ॥ १२४ ॥ आवयोरपि तद्दीक्षाविधानाद् घनवाहन ! । विधातुमधुना युक्तं कर्मान्नाजीर्णशोधनम् ॥ १२५ ॥ मयि तूष्णींस्थिते पापेऽकलङ्केनाथ पञ्चमः । गत्वा नत्वा मुनिः पृष्टः किं ते वैराग्यकारणम् ? ॥ १२६ ॥ मुनिः प्राह ममाख्यातं गुरुणैकं कथानकम् । तदेव मम संजातं भद्र ! वैराग्य-कारणम् ॥१२७॥ तथाहि वसन्तपुरे चत्वारः सुहृदः पराः । चारुर्योग्यो हितज्ञश्च मूढ इत्याह्वयाभवन् ॥ १२८ ॥ पारावारमपारं तेऽन्यदा प्रोल्लङ्घ्य दुस्तरम् । रत्नानामर्जनकृते रत्नद्वीपमुपाययुः ॥ १२९ ॥ तत्रानेकविधोपायैर-

प्रमथेन चारुणा। अर्जितैर्भूरिभी रत्नैर्बोहित्थं पूरितं निजम् ॥१३०॥ योग्यः पुनः काननादिकौतुकी सोऽन्तरान्तरा। संगृह्णन् भूरिकालेन स्तोकरत्नान्यमेलयत् ॥ १३१ ॥ हितज्ञस्तु स्वयं रत्नपरीक्षायामदक्षधीः। अन्यस्य कथिते घच स्वचिते प्रत्ययं पुनः ॥ १३२ ॥ ततो रत्नधिया तेन काचशकलकादयः। अगृह्यन्त धूर्तलोकसञ्चितेनर्जुभावतः ॥ १३३ ॥ अजस्र ध्रियते सोऽपि काननादिकुतूहलैः। न वेत्ति यदय यासि दिनैः सार्थो निरर्थकः ॥ १३४ ॥ लाति रत्नधिया मूढः पुनः काचादि धूर्ततः। ध्रियते कौतुकैमोपदेश न बहु मन्यते ॥ १३५ ॥ मन्मित्रैः किं कृतमितिधिया चारुस्ताऽऽययौ। योग्यस्यान्ते रत्नमुतबोहित्थो गन्तुमुद्यतः ॥ १३६ ॥ कथितश्च समस्तोऽपि स्वाभिप्रायोऽस्य चारुणा। पृष्टश्चाय किंयन्ति त्व मित्र! रत्नान्यमीलयः? ॥ १३७ ॥ प्रदर्शितेषु योग्येन निजरत्नेषु तेष्वथ। चारुः प्रोवाच किमिति स्तोकान्येवार्जयद्भवान्? ॥ १३८ ॥ ततो योग्येन कथितं सर्व मात्मीयचेष्टितम्। परिखिन्नमनास्तत्र भुक्त्वा चारुरमापत ॥ १३९ ॥ रत्नद्वीपागतस्यापि वृथा ममयतो दिनान्। स्वार्थभ्रष्टो न युक्तस्ते कौतुकैः काननादिभिः ॥ १४० ॥ एवं च शिक्षया चारोर्योग्यो मनसि लज्जितः। तमुवाच दिनानि त्वं कत्यपि प्रैक्षिपालय ॥ १४१ ॥ चारुणा प्रतिपन्नेऽथ कौतुकानि विमुच्य सः। योग्यः सर्वप्रयत्नेन रत्नानामर्जनेऽलगत् ॥ १४२ ॥ अथ पृष्टो हितज्ञोऽपि चारुणा मित्र! किं त्वया। रत्नद्वीपमद्य प्राप्य मीलितं मम

१ °बोधित्थ ता० क०, °बोधित्थ ग० प०। २ °नसार्थो ता० क० स० प०। ३ °बोधित्थो ता० क०, °बोधित्थो म० प०। ४ मत्पपाक्षपः क० प०, मत्पपाक्ष ग०।

दर्शय ॥ १४३ ॥ तेनाथ दर्शितं काचशुक्तिशङ्खनकादिकम् । कथितं च स्वचरितं काननादिविहारवत् ॥ १४४ ॥ चारुणोक्तं त्वया भद्र ! काननादिषु कौतुकम् । न कर्त्तव्यं ध्रुवं धूर्त्तैरसि त्वं विप्रतारितः ॥ १४५ ॥ अमूदृशानि रत्नानि वयस्य ! न भवन्ति यत् । रत्नानां लक्षणं ह्येतदेतच्च ननु बुध्यताम् ॥ १४६ ॥ ततः परीक्ष्य रत्नानि स्वीकार्याण्यथ तद्वचः । प्रतिपद्य हितज्ञेन तथैव विदधेऽखिलम् ॥ १४७ ॥ मूढस्यापि निजं भावं स्वस्थानगमनादिकम् । चारुराख्यत्ततो मूढस्तं प्रत्येवमभाषत ॥ १४८ ॥ गमनेन कृतं मित्र ! स्थातुमत्रैव युज्यते । द्वीपेऽतिरुचिरक्रीडाकाननादिककौतुके ॥ १४९ ॥ मयास्ति नानारत्नौघैर्यानपात्रं च पूरितम् । इत्युक्त्वाऽदर्शयन्मूढः काचखण्डादिशालि तत् ॥ १५० ॥ चारुणोक्तं न ते युक्तं वञ्चनं कर्तुमात्मनः । कौतुकैः काननादीनां रत्नद्वीपेऽत्र दुर्लभे ॥ १५१ ॥ तथैतानि न रत्नानि यानि रत्नानि मन्यसे । तच्छ्रुत्वा कुपितो मूढश्चारुमेवमवोचत ॥ १५२ ॥ गच्छ त्वं गच्छ नो कार्यं मित्रेणापीदृशा त्वया । यस्त्वं मदीयरत्नानि न रत्नानीति भाषसे ॥ १५३ ॥ नाहं समं समेष्यामि त्वद्रत्नैः पूर्यतां च मे । तच्छ्रुत्वाचिन्तयच्चारुर्नैष शिक्षोचितः कुधीः ॥ १५४ ॥ रत्नानां यानपात्राणि पूरयित्वा निजान्यथ । सार्द्धं योग्यहितज्ञाभ्यां चारुः स्वस्थानमागतः ॥ १५५ ॥ रत्नानां विनियोगं च कुर्वाणास्तत्र ते त्रयः । अनन्तानन्दसन्दोहपूरिताः सुखमासते ॥ १५६ ॥ मूढस्तु दुःखदारिद्र्यभाक् क्रुद्धेन महीभुजा । प्रक्षिप्तः सागरे घोरेऽनन्तयादःप्रपूरिते ॥ १५७ ॥ तदिदं ते मयाख्यातं सूरिप्रोक्तं कथानकम् । यत्तदा

१ °मत् क० ग० घ० । २ पर्याप्तम् इत्यर्थः ।

मम मवाम मत्र । वैराग्यकारणम् ॥ १५८ ॥ मङ्कलस्तुस्ततो नत्वा मुनिमन्यमुनिं प्रजन् । मया मावार्थमास्थान
स्थाम्न दृष्टोऽन्यपादिनि ॥ १५९ ॥ समन्तपुरतुरपोऽपमत्रासोऽप्यपहारिकः । कीवराशिर्वापिमकाः पुनस्तस्मादि
निपता ॥ १६० ॥ बोराभतुर्विधामावादपः मान्यपनामकाः । समुद्रः पुनरत्रैव प्रेयः संसारविस्तरः ॥ १६१ ॥
मपल्गुमारत्नानां स्तुत्पनद दुर्लभः । रत्नदीपममानोऽप्य मेपो मपर्षमपः पुनः ॥ १६२ ॥ लघुकर्मा तमासाद्य
र्धर्मपाठममोऽनुमान् । पतिकमाप्यपानिन्येनावपेद्रत्नसंभिमम् ॥ १६३ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रधमामममवादिकम् ।
तेन पोषोरम जीवस्वरूपं दूपेप मः ॥ १६४ ॥ युग्मम् ॥ पोग्पतुरपः पुनर्देशविरतः श्रावको मतः । पनादि
भेदकमन्ये धेजन् मोगमुर्गादिके ॥ १६५ ॥ दाक्षिण्यादेव साप्नो पतमानश्च भूपसा । कालेन गुणरत्नानि
ज्ञानादीनि पिनोत्यपि ॥ १६६ ॥ युग्मम् ॥ कश्चिद्दितमतुरपस्तु मिथ्यात्वम् मरुपमद्भकः । ममानानः स्वपं
ज्ञानादिरत्नपरीक्षणम् ॥ १६७ ॥ आदपे पूपसारैर्विप्रलब्धः कुतीर्थिकैः । कपर्दकापतुरयानि पमशोमादिकान्यलम्
॥ १६८ ॥ युग्मम् ॥ दिनं दिनेऽपिया कल्पमान पेपपेप कि पुनः । ह्रियते कौटुकौपम्यैः मुसैर्विपपसम्भवैः ॥ १६९ ॥
समप्यो दूरमप्यो पा कपि मूलमपः पुनः । स्वप नैव विजानाति धर्मरत्नपरीक्षणम् ॥ १७० ॥ धर्मरत्नधिया
पापरोमादीनि म मोहलः । गृह्णाति कापकल्पशुक्त्यादिसदृशा पतः ॥ १७१ ॥ हिंसोपदेशदातारमपि द्वेष्टि
दिनं मया । मन्यते पित्रकरोगान् मोगिमोगनिमानपि ॥ १७२ ॥ पथा प पाप्मा तेन स्वस्थानं गच्छता

१ भ्रमन् क० ख० ग० घ० । २ न्यादिकम् क० ख० ग० घ० । ३ मुकोरम्ये। क० ख० ग० घ० ।

सता । पृष्टो योग्यः परिज्ञाततद्वृत्तान्तेन चादरात् ॥ १७३ ॥ रत्नद्वीपममुं प्राप्य स्वार्थभ्रंशो न युज्यते । तवेत्याद्युपदेशेन शिक्षयित्वा प्रवर्त्तितः ॥ १७४ ॥ युग्मम् ॥ तथैव यतिरात्मानं गुणैर्ज्ञानक्रियादिभिः । परिपूर्णं त्रिधायोच्चैर्यियासुः परमं पदम् ॥ १७५ ॥ श्रावकं प्रेरयत्येवं कृतस्तोकगुणार्जनम् । यथा न युज्यते कर्तुं तवैवं निशदाशय ! ॥ १७६ ॥ धनभोगसुखादीनां व्याक्षेपेणातिमूर्च्छितः । दुष्प्रापं प्राप्य मानुष्यं स्वार्थभ्रंशं करोषि यत् ॥ १७७ ॥ ततः साधुक्रियावाणिज्येन सोऽपि प्रवर्त्तते । गुणरत्नान्युपादातुं धनभोगपराङ्मुखः ॥ १७८ ॥ यथा च चारुणा पृष्टो हितज्ञः शिक्षितश्च सः । काचादिपूरिते पोते स्वकीये दर्शितेऽमुना ॥ १७९ ॥ तथा भद्रक मिथ्यादृगपि [1]प्रेर्येत साधुना । यथा भोगेष्वभिष्वङ्गस्तव नैव समञ्जसः ॥ १८० ॥ धूर्त्तैः कुतीर्थिकैरेभिर्वञ्चयित्वार्पितानि च । काचतुल्यान्यहो ! यज्ञहोमादीनि परित्यज ॥१८१॥ परीक्ष्य श्रुतशीलादिलक्षणैस्त्वं गृहाण च । धर्मतत्त्वानि रत्नानि कुरुते सोऽपि तत्तथा ॥ १८२ ॥ यथा च मूढः स्वस्थानगमनं प्रति चारुणा । भाषितः सन् द्वीपवासमेव श्लाघितवान् भृशम् ॥ १८३ ॥ पुनः पुनः शिक्षितोऽपि काचशङ्खनकादिषु । रत्नबुद्धिं कुबुद्धिः स कथञ्चिदमुचच्च न ॥ १८४ ॥ तथा मूढनिभो दूरभव्योऽभव्योऽथवा पुमान् । उत्साहितोऽनगारेणापुनर्भवगतेः कृते ॥ १८५ ॥ श्लाघां करोति संसारनिवासस्यैव केवलम् । यागहोमादिपापेषु धर्मबुद्धिं च नोज्झति ॥ १८६ ॥ भोगादिषु निषिद्ध[2]श्च क्रुद्धः सन्वदतीदृशम् । मोक्षे भवन्तो गच्छन्तु तेन मे न प्रयोजनम् ॥ १८७ ॥ तं

१ प्रेर्यते सा० क० ग० घ०, प्रेर्यत सा० ता० । २ ष्ठ ग० ।

विशुध्याप ज्ञानादिरत्नैः सभाद्यमृद्धकः । जीवस्वरूपपोतानापूर्यं साधुः शिव भजेत् ॥ १८८ ॥ ज्ञानादिफलमूत च तन्नानापापमक्षयम् । प्राप्नोति परमानन्दं ज्ञानदर्शनवीर्ययुक् ॥ १८९ ॥ अभव्यं तु भावरत्नहीनत्वात् बोऽस्व्यदुःखितम् । कुदः कर्मपरीणामः क्षिपते भववारिधौ ॥ १९० ॥ एवं कथानकस्यास्य ज्ञात्वा भावार्थमी क्षम् । अय प्रबभिणो जातः साधुर्मो ! धनवाहन ! ॥ १९१ ॥ इत्थं कथानके अत्र श्रुते को न मुनिर्भवेत् । रत्नैर्भूत्वारमर्मोदिस्य निर्वाणं कथ न भजेत् ? ॥ १९२ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! शृण्वतो मे तदेक्षम् । अकलङ्क वषो बही कर्मणां ह्रसिता स्थितिः ॥ १९३ ॥ अकलङ्को मया सार्धमथ पश्चमुनि ययौ । नत्वापृच्छ्य वैराग्यकारणं सोऽप्यथीकथत् ॥ १९४ ॥ योऽय ध्यानस्थितः साधुस्तेन मे भद्र ! दर्शितः । दृष्टान्ता संस्तुतेः पुर्णा सोऽभूद्वैराग्यक मम ॥ १९५ ॥ तथास्ति क्षमायुक्तो भवाख्यापवपद्विभिः । भूरिभिः सुखदुःखोरुव्यैः पथ्येव परिपूरितः ॥ १९६ ॥ जीवनाधिसधैर्नित्यं स्वार्थनिष्ठैश्च सेवितः । दृश्यमार्गो महान् च भवसन्तान इति नामतः ॥ १९७ ॥ युग्मम् ॥ तत्र पापिजीवरोरे(रैः) सम्यान्युत्पादितापथे । पथ्यानि सुखदुःखानि पुण्यापुण्याख्यवेतनैः ॥ १९८ ॥ महामोहो महाध्यक्षस्तत्र कामादिपथियुक् । विलसन्ति कषायाख्यास्तत्र घोन्मत्तडिम्भकाः ॥ १९९ ॥ किञ्च जीवाधमर्णानां कर्मास्थ्यैर्धनिकैरिह । क्षिपते घरके घोरे तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः ॥ २०० ॥ अथान्ये दृश्य माधुः कृपापूरितमानसः । विशोधने ममानक्ष ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥ २०१ ॥ ततो दृष्ट्वा मयोपीणो

१ °बोधिस्य ता० ह०, °बोधिस्वं ग० प० ।। २ °वाचः प° ता० ।

मठो नाम्ना शिवालयः । व्यलोकि तत्र चानन्ता मुक्ताख्याः सुखिनो जनाः ॥ २०२ ॥ निर्विण्णोऽहं ततो द्रुमार्गात् तत्र यियासया । तत्प्रापिकां गुरुप्रोक्तां दीक्षामेनां समाददे ॥ २०३ ॥ गुरुः प्रोचे च मां सौम्य ! वासार्थं त्वत्परिग्रहे । कायाख्योऽस्त्यपवरकः पञ्चाक्षाख्यगवाक्षयुक् ॥ २०४ ॥ तत्र कार्मणदेहाख्यं गर्भगेहं च विद्यते । कायपञ्चाक्षाभिमुखक्षयोपशमरन्ध्रयुक् ॥ २०५ ॥ तत्र वानरलीवं च चित्ताख्यमतिचञ्चलम् । त्वया सुरक्षितं तच्च करणीयं निरन्तरम् ॥ २०६ ॥ तत्रस्थं भक्ष्यते तद्धि कषायाभिधमूषकैः । वृश्चिकैर्नोकषायाख्यैः क्रियते चातिचञ्चलम् ॥ २०७ ॥ रागद्वेषसंज्ञकोलोन्दुराभ्यां च विलुप्यते । महामोहौतुना संज्ञामार्जारीभिश्च भक्ष्यते ॥ २०८ ॥ परीषहोपसर्गैश्चाशंस्यते मशकदंशकैः । विह्वलीक्रियते दुष्टाभिप्रायोल्वणमत्कुणैः ॥ २०९ ॥ अलीकचिन्तासंज्ञाभिरत्यन्ताशुभहेतुभिः । गृहकोकिलिकाभिश्च सर्वदाप्युपताप्यते ॥ २१० ॥ प्रमादाख्यकृकलासै-रजस्रमभिभूयते । घनाविरतिजम्बालयूकाजालेन तुद्यते ॥ २११ ॥ तथान्धीक्रियते मिथ्याज्ञानध्वान्तेन तत्ततः । रौद्रध्यानाभिधेऽङ्गारकुण्डे पतति पीडितम् ॥ २१२ ॥ कुतर्कलूतिकातन्तुजालाबद्धमुखे तथा । कदाचित्प्रविशत्येतदार्तध्यानमहाबिले ॥ २१३ ॥ तदेतदप्रमत्तेन रक्षितव्यं त्वया सदा । मया तद्रक्षणोपायं पृष्टः प्राह पुनर्गुरुः ॥ २१४ ॥ तत्रापवरके भद्र ! गवाक्षाः पञ्च सन्ति ये । तद्द्वारे पञ्च विद्यन्ते विषयाख्या विषद्रुमाः ॥ २१५ ॥ ते चातिदारुणा गन्धदर्शनस्पर्शनाशनैः । श्रवणस्मरणाभ्यां च निश्चितं मारयन्त्यदः ॥ २१६ ॥ इदं

१ °स्यते ता० । २ दूयते ता० ।

वानरलीव तु तानाभस्तेन मेन्यते । ततो गवाक्षैर्निर्गत्य तेषां भवति संमुखम् ॥ २१७ ॥ ततश्च सुन्दराणीति पुष्पा केऽप्यपि रम्यते । फलेष्वसुन्दराणीति द्वेष भवे च केषुचित् ॥ २१८ ॥ लुठत्यविरतामेवत् तथार्थनिषयाभिधे । पत्रपुष्पफलवरे तरुसोमूमिवर्तिनि ॥ २१९ ॥ तेषु भास्यस्यविक्षोरयेनाक्षेपशाखान्तरेष्वपि । ततश्च गुप्यते कर्म पराणुसुमरेणुना ॥ २२० ॥ तथार्द्रीक्रियते मोगस्नेहास्यमधुबिन्दुभिः । ततो विज्ञाततद्भावमावार्थोऽभ्रम चिन्तयम् ॥ २२१ ॥ इमाः श्वम्रादयः पुष्पाण्येषामेव विशेषकाः । फल स्फुन्तराः शाखान्तराणि तु तदाभयाः ॥ २२२ ॥ तेषु संचरण चित्तस्योक्त छोकोपचारतः । यदाहुर्लौकिकाभिरत्तमस्तकत्र गतं मम ॥ २२३ ॥ एव स्थिते मया बुद्धमिदं सर्वं मुनेर्वचः । विचिन्त्येति मया प्रोक्तं पश्चयन्त्व ! ततस्ततः ? ॥ २२४ ॥ गुरुराह ततो भद्र ! स्नेहार्द्रेऽस्य शरीरके । रमसो मेदकत्वेन संभूतैः पीड्यते घतैः ॥ २२५ ॥ रमसा विपरूपेण तस्य दग्धस्य छम्पता । रक्तता च भवेत् तैस्तैर्मार्यते तदुपद्रवैः ॥ २२६ ॥ तत् त्वया भद्र ! तैर्मिर्यभिमपीर्याभिधे करे । भ्रमणात् चमदण्डमासपास्क्रोध्यमूषकैः ॥ २२७ ॥ यथा न विषयभूमौ निर्याति फललिप्सया । अन्यथा चिरकालीनं पक्रमस्य भविष्यति ॥ २२८ ॥ तथापुपद्रवैस्तैस्तैः पीडित मूषकादिभिः । वेदनाविह्वलं मोहाद्याकेषु प्रवर्तते ॥ २२९ ॥ गुप्यते रमसा भूयो मियते स्यन्दबिन्दुभिः । ततः क्षतानि जायन्ते चाप्यते मूषकादिभिः ॥ २३० ॥ ततस्तत्क्षणासक्ता वर्धन्ते मूषकादयः । भूयश्च चाप्यमानं तैराम्रकेष्वेव धावति ॥ २३१ ॥ पुनर्गुप्यनमेवास्य

१ मन्यते ग० । २ ततो भाव्यति जो॰ ग० । ३ गुरोर्वचः क० ख० ग० । ४ तन्निर्याति ता० क० ।

स्नेहेन पुनरार्द्रता । पुनश्च क्षतसंपत्तिः पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥ २३२ ॥ रक्षिते निर्गमे त्वस्य भोगस्नेहार्द्रतैष्यति । शोषां(°पं) शुष्कशरीराच्च रजः परिस(°श°)टिष्यति ॥ २३३ ॥ ततः क्षतानि रोक्ष्यन्ति नङ्क्ष्यतो रक्तकृष्णते । भविष्यति वपुःस्थैर्यं नैर्मल्यं दर्शनीयता ॥ २३४ ॥ किञ्चाप्रमाददण्डेन चूर्ण्या ओत्वादयोऽपि ते । येन गर्भ-गृहस्थस्य तस्य न स्युरुपद्रवाः ॥ २३५ ॥ तदस्य रक्षणोपायो भद्रैषोऽथ मयोदितम् । भदन्त ! रक्षितेनैवं किमेतेन भविष्यति ? ॥ २३६ ॥ गुरुराह तवाभीष्टा शिवालयमठे गतिः । तस्या हेतुरिदं चित्तवानरं हि सुरक्षितम् ॥ २३७ ॥ ततो ध्यातं मया हन्त चित्तं रागाद्युपद्रुतम् । विषयेषु प्रवर्त्तेताऽथादत्ते कर्मसंचयम् ॥ २३८ ॥ स्नेहार्द्रताथ संसारसंस्काराः स्युः क्षतोपमाः । ततस्ते प्रभवन्त्यत्र भूयो रागाद्युपद्रवाः ॥ २३९ ॥ तैर्भूयो विषयेष्वेति पौनः-पुन्यात् तथैव तत् । तदेवं चक्रके मग्नं चित्तमेतन्न मुच्यते ॥ २४० ॥ अप्रमादः स्ववीर्येण गुरुणास्य च रक्षकः । प्रोक्तो मे युज्यते कर्तुं ध्यात्वेत्यस्मि करंस्तथा ॥ २४१ ॥ अभ्यधादकलङ्कोऽथ साधु बुद्धं गुरोर्वचः । दृढार-म्भेण चारम्भि साध्वस्याचरणं त्वया ॥ २४२ ॥ ततो मुनिमनुज्ञाप्य निजाभ्यूहितचक्रकम् । मुनिचक्रक-सङ्काशमकलङ्कोऽभ्यधादिति ॥ २४३ ॥ चित्तमेतद् द्विधा तावद् द्रव्यतो भावतस्तथा । आद्यं पर्याप्तियुक्तात्म-गृहीतं पुद्गलात्मकम् ॥ २४४ ॥ तत्रोपयुक्तो जीवस्तु भावचित्तं निगद्यते । तत्कार्मणशरीरस्थं तेन भिन्नं [3]निवेद्यते ॥ २४५ ॥ तच्चित्तं नियमाज्जीवो जीवश्चित्तं न वा भवेत् । यतः केवलिनो जीवा भावचित्तविवर्जिताः ॥ २४६ ॥

१ °ता च स° क० ख० ग० । २ तद् भयाद् विषयेष्वेति ता० ख० । ३ न विद्यते क० ख० ग० घ० ।

एवं स्थिते विपर्यासाज्जीवो रागादिसंगतः । दुःखरूपेषु भोगेषु सुखबुद्ध्या प्रवर्तते ॥ २४७ ॥ ततः कर्माणि
संघातमादत्ते स्नेहतन्तुभिः । ततो जन्मान्तरारम्भ विधत्ते तद्वशात्मकम् ॥ २४८ ॥ पुनस्तत्र विपर्यासः पुना
रागादिसंततिः । पुनश्च विषयाकाङ्क्षा पुनस्ते स्नेहतन्तवः ॥ २४९ ॥ पुनश्च कर्मग्रहणं पुनर्जन्मसमुद्भवः ।
पुनस्तत्र विपर्यासः पुना रागादिकक्रमः ॥ २५० ॥ एवं यावदविच्छिन्नं विपर्यासादिचक्रकम् । जीवस्य वर्तते
तावदनिष्टा भवप्रवृत्तिः ॥ २५१ ॥ मोक्षे साधुस्ततः साधु भवताम्भूरि चक्रकम् । वत्सलौ ! भवाब्धौ पतनान्याख्य
वीक्षिणः ॥ २५२ ॥ अथ मोक्षेऽक्लक्षस्तं केनोपायेन तत् क्षमम् । शिवालयमठं नेतु गुरुणा ते प्ररूपितम्
॥ २५३ ॥ मुनिः प्रोवाच मां मोक्षे गुर्व्यस्ति धर्मगेहके । तत्र गोत्रेण विख्याता लेश्या इति परङ्गनाः ॥ २५४ ॥
ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लिकाः । नाम्ना गर्भगृहे तत्रोत्तमास्तेनैव वर्णिताः ॥ २५५ ॥ तद्वर्णेन
विधायिन्यस्तन्मध्ये तिस्र आदिमाः । क्रूरतमक्रूरतरक्रूरा नार्यः स्वरूपतः ॥ २५६ ॥ वानरस्यारिभूतास्ता
धर्मध्यानशुभैषिकाः । प्रवर्तिका दुःखमार्गे मठप्राप्तिनिवारिकाः ॥ २५७ ॥ अन्यास्तिस्रः शुभशुभतरशुभतमाः
पुनः । मठस्यावाप्तिनाशवैपरीत्यविधायिकाः ॥ २५८ ॥ ताभिः षड्भिश्च नारीभिस्तत्र गर्भगृहे कृतः । स्वस्व
तद्गर्भमध्येषु परिमाणकपद्धरैः ॥ २५९ ॥ षट्संख्यास्तत्र वेताभिः प्रत्येकं पट्टिकाः कृताः । अध्यवसायस्या-
नाम्न्याः स्वस्वनामसमयुताः ॥ २६० ॥ तथाधस्त्रीत्रयकृतपट्टिकासु स्थितः कपिः । उत्प्लुत्य यावति गवाक्ष
केरामकसंसृतम् ॥ २६१ ॥ ततः पूर्वोदितानर्थप्राप्तेर्दुःखमवाप्नुयात् । तथाऽन्याः पट्टिकाभ्यस्ताभिःसायरोप

मूर्ध्वतः ॥ २६२ ॥ तुर्यस्त्रीपदिकारोहेऽस्य तापोऽल्पीभविष्यति । यास्यन्त्युपद्रवाः कार्श्यमाम्रेच्छापि त्रुटिष्यति
॥ २६३ ॥ रोक्ष्यन्तीषत् क्षतान्यस्य रजः परिस(°श°)टिष्यति । ततः सुखासितं तेजोभासि वर्णेन भावि तत्
॥ २६४ ॥ पञ्चमस्त्रीपदिकास्वारोहात्पूर्वोदिता गुणाः । भाविनो विशिष्टतरास्तस्य शुद्धस्य वर्णतः ॥ २६५ ॥
षष्ठस्त्रीपदिकारोहात् ते विशिष्टतमा गुणाः । भाविनोऽस्य पराह्लादस्फटिकोज्ज्वलभाजुषः ॥ २६६ ॥ किञ्चात्र
स्त्रीत्रयकृते चटतः पदिकाध्वनि । धर्म्मध्यानाख्यपवनः शीतोऽस्याङ्गे लगिष्यति ॥ २६७ ॥ मिलिष्यति तथैतस्य
नितान्तहितकारकम् । बोधसंयमसंतोषशमप्रमुखवानरम् ॥ २६८ ॥ धृतिश्रद्धाधारणादिवानरीभिः समन्वितम् ।
ब्रह्मवैराग्यधैर्यादैर्युतं वानरलीवकैः ॥ २६९ ॥ शुद्धधर्म्ममहाशाखामृगेण समधिष्ठितम् । स्वाभाविकं मनोहारि
निजं वानरयूथकम् ॥ २७० ॥ विशेषकम् ॥ त्वच्चित्तवानरस्यैतत्कपियूथं करिष्यति । शुक्लध्यानाख्यगोशीर्षचन्दनेन
निषेचनम् ॥२७१॥ ततोऽर्द्धमार्गेऽतिक्रान्ते तद् गाढानन्दनिस्सहम् । आरोढुमुपरितनपदिकासु न शक्ष्यति ॥२७२॥
तत्रारूढे च भद्र ! त्वमप्यारूढो भविष्यसि । यतस्तद्वानरं तेऽन्तर्द्धनमात्मा च जीवितम् ॥ २७३ ॥ ततश्च निःस-
हीभूतं तद्विमुच्य त्वयोपरि । पदिकासु स्वयमेवारोहणीयमनुक्रमात् ॥ २७४ ॥ ततोऽन्ते पदिकास्त्यक्त्वा स्थित्वा
काशे स्वशक्तितः । पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारमात्रं कालमनाश्रयः ॥ २७५ ॥ मुक्त्वापवरकं गर्भगेहं वानरकं तथा ।
उत्प्लुत्य त्यक्तहट्टाध्वा शिवालयमठं व्रँज ॥ २७६ ॥ तत्रानन्दमनन्तं च लप्स्यसेऽनन्तकालिकम् । इत्याकर्ण्य

१ °मूर्द्धतः क० ख० ग० घ० । २ शिक्ष्यति क० ख० ग० घ० । ३ व्रजे ता०, व्रजः क० ग० घ० ।

मया प्रोक्तं यदाज्ञापयति प्रभुः ॥ २७७ ॥ उपायेन ततोऽनेन मठं नेतुं शिवालयम् । यम पानरक मद्र ! गुत्वा मे निवेदितम् ॥ २७८ ॥ अथाकलङ्को निमित्तस्य समाचार्यं मुनेर्वचः । मत्रेऽगृहीतसङ्केते ! मधुपोषापा न्यथादिति ॥ २७९ ॥ एवं स्फुगचरैः सर्वं यवनेन निवेदितम् । तत् त्वया विदितं मद्र ! किं वा नो धनवाहन ! ॥ २८० ॥ कथितं मुनिनानेन विषमेव हि केवलम् । प्रवर्तमान शोषेषु मयानन्त्यनिबन्धनम् ॥ २८१ ॥ निर्दोषं तु तदेव स्यान्मोक्षसौख्यैककारणम् । यथेदं विषसम्पर्कं तस्मादन्तर्दनं परम् ॥ २८२ ॥ अर्थार्थे भोगलोल्येन यावद् धावति सर्वतः । चित्तं कुतस्त्यस्ते तावत् सुखगन्धोऽपि विद्यते ? ॥ २८३ ॥ यदद निःस्पृहं भूत्वा परित्यज्य यदि भ्रमम् । स्थिरं संपत्स्यते चित्त तदा ते परमं सुखम् ॥ २८४ ॥ भक्ते स्तोतरि कोपान्धे निन्दाकर्तरि चोरिते । यदा समं भवेच्चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २८५ ॥ स्वजने स्नेहसम्बद्धे रिपुवर्गेऽपकारिणि । स्यात् तुल्य ते यदा चित्त तदा ते परम सुखम् ॥ २८६ ॥ गम्यादिविषयग्रामे सुन्दरेऽसुन्दरेऽपि च । एकाकारं यदा चित्त तदा ते परम सुखम् ॥ २८७ ॥ गोशीर्षचन्दनालेपिवासीच्छेदकयोर्यदा । अभिन्ना चित्तवृत्तिः स्यात् तदा ते परम सुखम् ॥ २८८ ॥ सांसारिकपदार्थेषु सकलेष्वेषु ते यदा । अभिष्टं चित्तपथ स्यात् तदा ते परम सुखम् ॥ २८९ ॥ स्पृष्टे पूर्णामला धम्मबन्धुराङ्गेषु योषिताम् । निर्विकारं यदा चित्त तदा ते परम सुखम् ॥ २९० ॥ यदा सत्त्वैकसारत्वादर्थकाम-पराङ्मुखम् । धर्मे एवं भवेच्चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २९१ ॥ रजस्तमोविनिर्मुक्तं स्तिमितोदधिसन्निभम् । निष्प्रकम्पं यदा चित्तं तदा ते परमं सुखम् ॥ २९२ ॥ मैत्रीकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रमोदोद्दामभावनम् । यदा

मोक्षैकतानं तत् तदा ते परमं सुखम् ॥ २९३ ॥ इति चित्तं विहायान्यो नास्ति भो ! घनवाहन ! । नरस्य सुखसन्दोहे सिद्धो हेतुर्जगत्रये ॥ २९४ ॥ एवं तदा मेऽकलङ्कवाक्सुधाऽप्रीणयन्मनः । दृष्टान्तमुद्गरैर्भिन्ना बह्वी कर्म्मततिस्तथा ॥ २९५ ॥ कर्मस्थितिमतीत्याहं भूयिष्ठां पूर्ववर्त्तिनीम् । अभ्यर्ण्णः संस्थितो भद्रे ! कर्म्मग्रन्थेः सुदुर्भिदः ॥ २९६ ॥ इतश्च वामदेवस्य प्रस्तावे यन्मयोदितम् । बुधसूरिवचस्तत्किं स्मरसि त्वं ? यथा किल ॥ २९७ ॥ मम पुत्रो विचाराख्यो भवचक्रं निरीक्ष्य तत् । मार्गानुसारितायुक्तः समायातो न्यवेदयत् ॥ २९८ ॥ प्राहागृहीतचारित्रधर्म्मसैन्यं यन्महामोहमहीभुजा । रुद्धं दर्पवता तच्च वीक्ष्यायातोऽस्मि तेऽन्तिके ॥ २९९ ॥ सङ्केता घ्राणदोषक्षणे त्वया । प्रोक्तं मेऽदः स्मृतं तस्मान्मह्यमाख्याह्यतः परम् ॥ ३०० ॥ ततः संसारिजीवेन प्रोक्तं यच्चित्तवृत्तिगम् । चारित्रधर्मसैन्यं तत् तस्थौ कालमनन्तकम् ॥ ३०१ ॥ ततोऽकलङ्कपार्श्वस्थे मयि तत्र बले तदा । चारित्रधर्म्मभूपालं सद्बोधसचिवोऽवदत् ॥३०२॥ देव ! मा स्म विषीदस्त्वं जितमेव बलेन नः । यतः संसारिजीवोऽस्मान्साम्प्रतं बहु मन्यते ॥३०३॥ दृश्यते चित्तवृत्तिर्यदुज्ज्वला नष्टतामसा । मन्ये मनाक् प्रसन्नस्तदस्माकं स महाप्रभुः ॥३०४॥ ततः कर्म्मपरीणाममालोच्य प्रेष्यतां प्रभो ! । प्रभोः संसारिजीवस्य समीपेऽसौ सदागमः ॥ ३०५ ॥ यतः परिचयोऽनेन भविष्यति यदा बहुः । तदा संसारिजीवो नः पक्षं कक्षीकरिष्यति ॥३०६॥ वयं परिगृहीताश्च तेन शत्रुविसूत्रणे । भविष्यामः क्षमा देवाथ नृपोऽमंस्त तद्वचः ॥ ३०७ ॥ अभ्यधत्त च सद्बोधं किमेषोऽपि प्रहीयताम् ? । सम्यग्दर्शननामास्य सन्निधाने महत्तमः ॥ ३०८ ॥ सद्बोधोऽथावदद्देव ! प्रस्तावे

प्रेषयिष्यते । महत्तमोऽपि संसारिजीवे दृष्टे सदागमात् ॥ २०९ ॥ ततोऽभ्युपगते वाक्ये मन्त्रिणस्तेन सद्‌धिया । समागतः क्रमेणाय मत्समीपं सदागमः ॥ २१० ॥ तत्प्रीत्यान्तर्निलीनोऽस्यान्महामोहादिभिः पुरा । व्यापारितो ममोपान्ते ज्ञानसंवरणो नृपः ॥ २११ ॥ अथाकलङ्कः संप्राप्तः कोविदाचार्यस्य सन्निधौ । घरेस्तस्य मया सार्धं व्यधाच्च पदवन्दनम् ॥ २१२ ॥ ध्यानं समाप्य दत्त्वा चाशिषं सोऽथ मुनीश्वरः । अकलङ्केन पृष्टः सन् निजगौ धर्मदेशनाम् ॥ २१३ ॥ तदा तस्यान्तिके सोऽथ मया दृष्टः सदागमः । ज्ञापितश्चाकलङ्केन विविधस्तद्‌गुणो चयः ॥२१४॥ ततस्तदुपरोधेन मया मन्ये ! सदागमः । प्रतिपन्नस्तदा किंचित् तुष्टेने("नै")वान्तरात्मना ॥२१५॥ किञ्च तस्योपरोधेन नमन्नेवान् गुरूनहम् । महापिवर्जितो जातो नमस्कारादिपाठकः ॥ २१६ ॥ अकलङ्कः पुनर्दीक्षां कोविदाचार्यसन्निधौ । गृहीत्वा सममेतेन सशिष्येण गतोऽन्यतः ॥ २१७ ॥ इतश्चोक्तो महामोहो रागकेसरिमन्त्रिणा । ज्ञानसंवरणं ज्ञात्वा सदागममयद्रुतम् ॥ २१८ ॥ स्थिता वयमियत्कालं निश्चिन्ता देव ! मङ्गलात् । ज्ञापितः सदागमेन ज्ञानसंवरणोऽस्ति सः ॥ २१९ ॥ तच्छ्रुत्वा देव ! वार्योऽसौ मया पापः सदागमः । इत्येकैको महापापो महामोहममाषत ॥ २२० ॥ तेनापि गर्वितं वत्साः ! कुर्वन्त्येतद्‌भवादृशाः । किन्तु स्वयं मया गत्वा स हन्तव्यो दुरात्मकः ॥ २२१ ॥ किञ्च मेऽन्तर्गताः सर्वे भवन्तः सर्वदा ततः । प्रतिजागरणीयोऽहं सर्वैरप्यन्तरा वरा ॥२२२॥ क्वो यूयं स्थ किन्त्वेष सदापोऽस्तु परिग्रहः । रागकेसरिपुत्रस्य सागरस्य वयस्यकः ॥२२३॥ स्वपोषानन्तु शिष्यैर्महामोहोऽथ मेऽन्तिकम् । परिग्रहगुणापाता सदागमजिघांसया ॥ २२४ ॥ ततस्तौ वीक्ष्य मे स्नेहः

संजातस्तारलोचने ! ॥ ३२५ ॥ इतश्चोपरते ताते जीमूतेऽह तदाऽ-
सार्द्धं ताभ्यां सुनिर्भरः । अनाद्यभ्यासयोगेन मां वक्ति यद्राज्यविषयादिकम् । क्षणिकं
भवम् । पुण्योदयवशादुग्रशासनोऽवनिशासनः ॥ ३२६ ॥ सदागमोऽथ सर्वं तदाख्याति चिरं स्थिरम् । तथा नास्ति-
सर्वमेतत् तत् मूर्च्छा कार्या त्वयात्र न ॥ ३२७ ॥ महामोहस्तु मे घनवाहन ! । हिरण्यधान्यरत्नादिष्वसन्तुष्टः
कताहेतुमुपदेशं प्रयच्छति ॥ ३२८ ॥ परिग्रहस्तु मां ब्रूते यथा भो ! चित्तं यावदस्ति सुलोचने ! ॥३३०॥
सदा भव ॥३२९॥ ततस्त्रयाणामप्येषां शृण्वतो वचनानि मे । ईषद्दोलायितं सदागमवाग् मया ॥३३१॥ यदाहतुः पुनर्भद्रे !
तावन्महामोहबलाद् ज्ञानसंवरणो मम । आविर्भूतस्ततो बुद्धा न तत्परित्यज्य देववन्दनपूजनम् ।
महामोहपरिग्रहौ । तल्लग्नं मामके चित्ते यथा रङ्गः सुपासिते ॥ ३३२ ॥ ततोऽहं तत: परम् । घनसंग्रहणोद्युक्तः
नमस्कारादिपाठं च संजातो भोगमूर्च्छितः ॥३३३॥ दानं च साधुवर्गादौ विनिवार्य नो वाञ्छा पूर्णा सर्व-
पीडयामि करैर्जनम् ॥ ३३४ ॥ रोचते मे महामोहात् तदा नैव सदागमः । परिग्रहाच्च सन्तुष्टौ महामोहपरिग्रहौ
धनैरपि ॥ ३३५ ॥ ततो मां तादृशं मत्वा दूरीभूतः सदागमः । लब्धात्मलाभौ भद्रे ! गत्वाथ वन्दितः
॥ ३३६ ॥ स चान्यदाययौ सूरिरकलङ्कादिसाधुयुक् । मयाकलङ्कदाक्षिण्याद् चाखिलम् ॥ ३३८ ॥
॥ ३३७ ॥ ततश्च ज्ञानतो ज्ञातं तेन कोविदसूरिणा । मदीयं चरितं लोकादकलङ्केन तन्नतीम् ॥ ३३९ ॥ पुरे क्ष्मातले
ततः प्रोक्तोऽकलङ्केन सूरिराख्यत्कथां मम । सदागमे गुणं दुष्टसङ्गे दोषं च ॥ ३४० ॥ इतश्च कोविदस्यासीत्
मलनिचयाख्योऽस्ति भूपतिः । देवी तदनुभूत्याख्या पुत्रौ कोविदबालिशौ

तस्य जन्मान्तरेऽमुना । सार्द्धं सदाममेनोचैः पुरा परिचयमिरम् ॥ २४१ ॥ आविस्मृत्या ततोऽमुष्य गुणान्
ज्ञात्वा स कोविदः । तमप्रीत् च धुघुन्त्सा तदुक्तोऽपि न बालिशः ॥ २४२ ॥ इतश्च कर्म्मपरिणामेन भेषि
स्वयंवरा । श्रुतिर्नाम कन्यका कोविदबालिशयोस्तयोः ॥ २४३ ॥ कर्त्तुं तस्याश्च सम्बन्धं सज्ञाकयो दासदारकः ।
प्रहितोऽथ तथामस्य च षू द्वावपि तौ वृतौ ॥ २४४ ॥ ताभ्यां सा परिणीताथ तयोश्चास्ति परिग्रहे । पर्वतो
निषदेशाख्यस्तत्रकूटं मूर्द्धनाम च ॥ २४५ ॥ तस्य चोपान्तवर्त्तिन्योः सपरिक्षेपयोरियम् । ताभ्यामपवरिकयोः
स्थापिता भयमाक्षयोः ॥ २४६ ॥ इतश्च तां समासाद्य दृष्यो हृष्टः स बालिशः । धन्योऽहं यस्य सम्पन्ना
भार्या सर्वोत्तमा श्रुतिः ॥ २४७ ॥ ततस्तं स्नेहतः तस्याः मत्या सद्धः समालपत् । देव ! दृष्टा सम योगो
योग्योऽय भवतोऽभवत् ॥ २४८ ॥ यतो यथः कुलं शीलं रूपं च गुणयोः समम् । सर्वं पुण्यादभूत्प्रेमाय यो यत्नस्तु
केवलम् ॥ २४९ ॥ तद्बुद्धिः प्रियसेवाया बालिशः प्राह किं प्रियम् ? । सद्धेनोक्त यथा देव ! प्रियोऽस्या मधुरो
ध्वनिः ॥ २५० ॥ मया स एव सेव्यस्तत् बालिशेनेति भाषिते । हृष्टः सद्धोऽथ तं स्नेहाल्लालितो नियते इति
॥२५१॥ ततः स चेत्रुषीनादिनात्मानमवतः श्रुतिम् । लालयन् बालिशोऽजस्रं सुखिनं मन्यते स्वकम् । ॥२५२॥
त्यक्तं तेनापरं कृत्यं धर्म्मार्थं दूरतः स्थितः । पित्रप्रायतया ज्ञातो हास्यभासो विवेकिनाम् ॥ २५३ ॥ इतः
सदागम भोषे कोविदः किं हिता मम ? । भार्येयं सोऽभ्यधोचाथ ससङ्गेय हिता न हि ॥ २५४ ॥ इय हि
महिता पूर्वे रायकेन्द्ररिमन्त्रिया । इयं जगदशीकर्तुं पञ्चमानुपमप्यमा ॥ २५५ ॥ स च कर्म्मपरीणामभ्रातृभ्यो

रागकेशरी । प्रसिद्धश्चरटो लोके तस्यामात्यो विशेषतः ॥ ३५६ ॥ स कर्म्मपरिणामस्तु शुभाशुभकरो नृपः । इयं चरटकन्येति मत्वा नाङ्गीकरिष्यति । अयं लोके विश्वास्यतां यातस्ततश्चैवं स्थिते सति ॥ ३५७ ॥ निजं दत्त्वाग्रतो दासं सङ्गं संबन्धकारकम् । महाराजजनस्ततस्तेन रागकेशरिमन्त्रिणा ॥ ३५८ ॥ तेन ते न हिता हन्त भार्येयं भर्तृवञ्चिका । त्वया सुतात्वेन ख्यापितेयं श्रुतिः पुरा ॥ ३५९ ॥ युग्मम् ॥ इयं च नाधुना हातुं शक्या सङ्गस्तु तदस्या (ॱस्यां) विश्वस्यं न कदापि हि कोविद ! ॥ ३६० ॥ यदिष्टानिष्टशब्दानां श्रवणेऽपि न सर्वथा । हेयः सानेन हीना च ने सत्यपि हि दोपकृत् ॥ ३६१ ॥ मध्यस्था सङ्गहीनेयं भविता तव बाधिका ॥ ३६२ ॥ इत्थं सदागमगिरा स श्रुतिं श्रावयन्नपि । कोविद ! । एवं च ललमानौ तौ श्रुत्या कोविदबालिशौ । सङ्गत्यागशब्दान्सङ्गोज्झनाज्ज्ञे जने श्लाघ्यः सुखी तथा ॥३६३॥ अथास्ति बहिरङ्गोऽद्रिस्तावारूढौ तमन्यदा । तत्र दिव्यगुहारन्ध्रग्रहाज्जातौ सुखदुःखप्रपूरितौ ॥ ३६४ ॥ तदन्तः कैन्नरं युग्मं गान्धर्वं च परस्परम् । बद्धस्पर्द्धं समाध्यक्षं गीतं गातुं प्रचक्रमे मस्त्यदृष्टतलं जनैः ॥ ३६५ ॥ मधुरं च स्वरं श्रुत्वा तयोः कोविदबालिशौ । अद्रेः शिखरमारूढौ श्रुत्या गाढं प्रबोधितौ ॥ ३६७ ॥ ॥ ३६६ ॥ अथ चित्तस्थसङ्गेन बालिशेन श्रुतिः कृता । तच्छ्रुतौ तत्परा किञ्चिन्न रसाच्चेतयत्ययम् ॥ ३६८ ॥ ततः स तेन सङ्गेन स्ववीर्येण तथा कृतः । गण्डशैलसमो रन्ध्रे द्राक्कृत्य पतितो यथा ॥ ३६९ ॥ बृहदास्फोटपातेन तेन गन्धर्व-

१ सत्यपि न हि दो° ख० । २ लोके श्ला° ख० ।

किमराः । कुशलं वाछितं मधुप्वा संभूपावपिपुः क्षणात् ॥२७०॥ इतः सदागमादेशात् स्यक्तसङ्गः स कोविदः । तं तथा पीस्म वेगेनापक्रान्तो मिरिम्रमुता ॥ २७१ ॥ स धर्मघोषनामान गुरु प्राप्यामवन्मुनिः । कृतम् स्व परे तेन सोऽस्मात् कोविदो नृप! ॥ २७२ ॥ श्रुतिकथानकम् ॥ तस्मात् कुमित्रसङ्गः स्याद्बालिशस्येव दुःखकृत् । सदागमस्तु सुखकृपया मे पनवाहन ! ॥ २७३ ॥ तदाकर्ण्य मया ध्यातं महामोहपरिग्रहौ । विमोच्य कारयस्येष मां भयर्स्न सदागमे ॥ २७४ ॥ ततः किं करवाणीति ध्यायन्तं मामपोषत । अकलङ्को यथा पुर्द गुरोर्नास्य स्यथा न वा ? ॥ २७५ ॥ मया प्रोचे पृष्ठ पुर्व स प्राह क्रियतामिदम् । ततो मयाकलङ्केन सार्द्धं स्निग्धतया सुपम् ॥ २७६ ॥ प्रन्थिस्थानासभतया गुरोमापि प्रमापता । मत्पुपराक्षमस्माच भूयोऽप्यादि सदागमः ॥ २७७ ॥ पुग्मम् । मकान्तं प्रप्यवमैस्यपन्दनं दानमाहतम् । दूरीभूतौ च तौ किञ्चिन्महामोहपरिग्रहौ ॥ २७८ ॥ विहते परिणा साकमकलङ्केऽप तौ पुनः । आयातो मां ततमाह समस्तं कत्पमस्पजम् ॥ २७९ ॥ ततो मोमपिपासातः पीसहस्राण्यमेसपम् । संचिन्त्येम पनं मात्री विदधे निर्वनामहम् ॥ २८० ॥ पाप पथापरमपि तत्सर्वं विदधे मया । ततः सदागमो नष्टो रुष्टः पुण्योदयो मनाक् ॥ २८१ ॥ ततश्च मे महादेवी नाम्ना मदनसुन्दरी । मस्पन्तपक्षमा मद्रे । भृता शूलेन विह्वला ॥ २८२ ॥ समागतो महामोहप्रतिमागरकस्तदा । शोचये मत्या मर्हं च सं मामाश्लिषेत् तदामपा ॥ २८३ ॥ स्मृत्वा स्मृत्वा ततोऽन्नं तां विलपामि मुहुर्मुहुः । तच श्रुत्वा जनश्रुत्वाऽ-

१ ममत् ग० प० ।

कलङ्को मामुपागमत् ॥ ३८४ ॥ ततः मां महाभागो दृष्ट्वा शोकवशीकृतम् । विमुक्ताशेषसत्कृत्यं कृपयेदमभाषत ॥ ३८५ ॥ सर्वेऽमी जन्तवो नित्यं कृतान्तमुखकोटरे । वर्त्तन्तेऽतः क्षणं भूप ! यज्जीवन्ति तदद्भुतम् ॥ ३८६ ॥ स हि नापेक्षतेऽवस्थां प्रेमाबन्धनसुन्दर(°रा°)म् । दलयत्येव भूतानि मत्तवद्गन्धवारणः ॥ ३८७ ॥ इत्यादि देशनां तस्मिन् कुर्वाणेऽपि महात्मनि । सविलापमहं तारस्वरं रोदिमि शोकतः ॥ ३८८ ॥ मुनिर्मां पुनरप्याह यथा भो ! घनवाहन ! । न युक्तं बालवृत्तं ते मुञ्च शोकं स्थिरो भव ॥ ३८९ ॥ विस्मृतस्ते कथं साधुकथितोऽप्यधुना भवः । प्रदीपनापानकारघट्टचट्टमठोपमः ॥ ३९० ॥ इत्यादिभिरहं वाक्यैरकलङ्कस्य किञ्चन । सचेतनोऽभवं शोको महामोहमथावदत् ॥ ३९१ ॥ देव ! व्रजाम्यहं सोऽथ प्राहैवं कुरु किन्तु नौ । प्रतिजागरणं कार्यं केनापि भवतां ननु ॥ ३९२ ॥ तथेत्युक्त्वा गते शोके मया मेने मुनेर्वचः । ततः सदागमश्चक्रे मया हृदयवल्लभः ॥ ३९३ ॥ अकारयं जिनस्याथ बिम्बानि भवनानि च । यात्रास्नात्रपात्रदानादीनि प्रावर्त्तयं तथा ॥ ३९४ ॥ ततः कृतस्तावदेष निःशेषगुणभाजनम् । मयेति चित्ते संतुष्टः सोऽकलङ्कमहामुनिः ॥ ३९५ ॥ अत्रान्तरे कृतानुज्ञो रागकेशरिभूभुजा । परिग्रहस्नेहाद् बहुलिकाकृपणतायुतः ॥ ३९६ ॥ प्रतिजागरकोऽभ्यागान्महामोहस्य सागरः । तं दृष्ट्वा हृदि हृष्टौ च महामोहपरिग्रहौ ॥ ३९७ ॥ युग्मम् ॥ ततः कृपणताश्लेषान्मयाऽरक्षि धनव्ययः । चिन्तितं चाकलङ्कोऽयं कामं कारयति व्ययम् ॥ ३९८ ॥ तदत्र किं करोमीति ध्यायन्तं मां समाश्लिषत् । तदा बहुलिकाथाभूदीदृशी कुमतिर्मम ॥ ३९९ ॥ यत्प्रेषया-

ष्पकलङ्क यशोगुप्त्या कथाप्यहम् । येनाथ न भवेद् ग्रन्थप्रपञ्चोऽय स यथोदितः ॥ ४०० ॥ ममोपकारोऽभूत्
पूर्व्वः कल्पस्तेऽपि ततोऽन्यतः । पूर्व विस्तरतस्तु कथिष्ये भगवन्मया ॥ ४०१ ॥ तदाकर्ण्य ययौ मन्त्रे-
ऽकलङ्को गुरुसन्निधौ । ततोऽत्र सागरादेवास्तु नः सङ्ग परिग्रहे ॥ ४०२ ॥ ततः परिग्रहमोक्तः सागरो रक्षितो-
ऽस्म्यहम् । तया स्वतोऽपि मे प्राणदात्री कृपमतामयत् ॥ ४०३ ॥ येयं षड्गुलिकाप्येषा गाढं मदुपकारिणी ।
सोऽकलङ्को महाशत्रुर्दूरं निर्वासितो मया ॥ ४०४ ॥ एवं यद्वत्त्वं प्रोवाच महामोहः परिग्रहम् । वदथ सागरो
वत्स ! सर्वस्वं जीवितं च मे ॥ ४०५ ॥ मत्कृतं सर्वमस्त्यत्र भक्तोऽयं मयि सत्यतः । मत्पुत्रराज्ययोग्योऽयमथ ते
रक्षणक्षमः ॥४०६॥ एवं चोल्लासितस्तेन सागरो मम्मनूम्मत । ततोऽत्र पूर्वचक्रे ! सर्वं सत्कृत्यमस्त्यजम् ॥४०७॥
तथाकर्ण्याकलङ्केन यथोपायाऽपि याधुना । यामीति स्वयो विज्ञापितास्तेऽथ समभ्ययुः ॥ ४०८ ॥ वत्स !
ध्यर्थस्तव प्रश्नोऽत्र तावत् मनवाहने । यावदस्य समीपस्थौ महामोहपरिग्रहौ ॥ ४०९ ॥ आयान्ति च तयोः
पार्श्वे सर्वदा सागरादयः । ततोऽस्य कोपदेशः ! क धर्म्मः ! क च सदागमः ! ॥ ४१० ॥ बोधितस्यापि नो तस्य
संस्कारः कोऽपि ते पुनः । स्वाध्यायप्रवृत्तिर्वा स्यात् कुत तत्र भवेन तत् ॥ ४११ ॥ अकलङ्कस्ततोऽवादीत्
भवन्त्यस्य तपस्विनः । विरतोऽनर्थहेतुभ्यामाभ्यां भावी कदा पुनः ! ॥ ४१२ ॥ गुरुणोक्तं विज्ञानन्ति त प्रायेण
यथाख्याः । चारित्रधर्म्मराजस्य प्रसिद्धो यो महत्तमः ॥ ४१३ ॥ चारित्रधर्म्मयुक्तेन स्ववीर्येण विनिर्मिता ।
तेनास्ति मानसी कन्या विद्या नाम मनोहरा ॥ ४१४ ॥ तया चारित्रधर्म्मस्य विरतेः कृपिसंभवा । निरीक्षणा

नामधेया कन्यान्या विद्यतेऽनघा ॥ ४१५ ॥ यदा कर्म्मपरीणामदापिते ते उभे अपि। परिणेष्यति भाव्यस्य सहाभ्यां विरहस्तदा ॥ ४१६ ॥ अधुना तु प्रयासोऽयं सर्वस्तेऽस्मिन्निरर्थकः। गुरोर्वाक्यं तदाकर्ण्याकलङ्को मामशात्यजत् ॥ ४१७ ॥ अहं तु तौ समाश्रित्य महामोहपरिग्रहौ । आगत्यागत्य तद्भृत्यैरेकैकेन कदर्थितः ॥ ४१८ ॥ तैः सर्वैरपि संभूयानेकधा बाधितं ततः। मामयोग्य इति ज्ञात्वा गतो दूरं सदागमः ॥ ४१९ ॥ यथाभिमतकामांश्च सम्पादयति मे तदा। असौ पुण्योदयोऽहं तु विमूढस्तन्न लक्षये ॥ ४२० ॥ किञ्च भद्रे! महामोहमहत्तमवशादहम्। कुर्वे धर्म्मधिया हिंसादीन्यदीनः कुकर्मणि ॥ ४२१ ॥ कामान्धश्च पुरे यां यां पश्यामि मृगलोचनाम्। कुलीनामकुलीनां वा तां तां पत्नीं करोम्यहम् ॥ ४२२ ॥ ततः कुकर्म्मणा तेन विरक्ताः पौरबान्धवाः । ममावरजमालोच्य नाम्ना नीरदवाहनम् ॥ ४२३ ॥ मां निबध्याक्षिपन् घोरे चारके नारकोपमे। राज्ये संस्थापयामासुस्तं च भक्तिपुरःसरम् ॥ ४२४ ॥ युग्मम् ॥ हृष्टाः कुस्वामिनाशेन तुष्टाः सुस्वामिनो गुणैः । ते पौरसैनिका लोकास्ततः किं किं न कुर्वते ? ॥ ४२५ ॥ अहं तु चारके तत्र पुरीषमलपिच्छिले । क्षुधा क्षामोदरो बद्धश्चिरं तस्थौ सुदुःखितः ॥ ४२६ ॥ परिवारसमेतस्य महामोहस्य दोषतः। तथाप्यहं न निर्विण्णः संसारात् चारुलोचने ! ॥ ४२७ ॥ रौद्रध्यानपरस्याथ पूर्वा मे गुटिकाऽजरत्। ततो वितीर्णा सा मह्यं भवितव्यतयापरा ॥ ४२८ ॥ ततः पापिष्ठवासायां पूर्यां सप्तमपाटके। अहं तस्याः प्रभावेण जातः पापिष्ठरूपभृत् ॥ ४२९ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरायुःपर्यन्ते भवितव्यता। कृत्वाथ

मत्स्यरूप मां पुनस्तत्रैव सानयत् ॥ ४२० ॥ एवं कालमनन्तं च महामोहवशस्तथा । मुक्त्वाऽसंख्यप्रहारं
वत् भ्रमितोऽत्र पुरेष्वहम् (?) ॥ ४२१ ॥ तथा परिभ्रमणाहं संज्ञया निजभार्यया । पुत्रेण बहुशो भद्रे ! योनौ योनौ
विडम्बितः ॥ ४२२ ॥ गृहकोकिलिकासर्पोन्दुरावाकारभुग् मतः । इतो निधानमासाद्य तमाद्धे विह्वलो मृतः
॥ ४२३ ॥ ममैव भ्रमतो भद्रे ! प्रसभा भवितव्यता । भ्रान्ता इव महामोहादयश्च क्षयतामगुः ॥ ४२४ ॥ ततो
मनुजगत्यन्तः पाटके भरताभिधे । साकेतेऽहं पुरे नीतो भवितव्यतयान्यदा ॥ ४२५ ॥ वणिगस्तत्र नन्दस्य
तनयः गुटिकावशात् । भार्यायां धनसुन्दर्यां सुतो नाम्नाऽमृतोदरः ॥ ४२६ ॥ मयाथ यौवनस्थेन वने साधुः
सुदर्शनः । इतो देवनया चास्य पुनः प्राप्तः समागमः ॥ ४२७ ॥ जातोऽत्र श्रावकाकारधारको द्रव्यतस्तदा ।
नीतोऽथ गुटिकायोगात् नगरे विबुधालये ॥४२८॥ तस्मिंश्च भवनव्यन्तरज्योतिष्कल्पवासिनः । पाटकेषु वसन्त्येते
विबुधाः कुलपुत्रकाः ॥ ४२९ ॥ दशाष्टपञ्चभेदास्ते त्रयः पूर्वे यथाक्रमम् । कल्पस्यास्तवतीताश्च द्विभेदास्तुर्यपाटके
॥ ४४० ॥ कल्पस्था द्वादशावाससंस्थिताः सपरिच्छदाः । नवपञ्चनिवासस्थास्तदतीताः प्रकीर्तिताः ॥ ४४१ ॥
तत्राद्ये पाटके भद्रे ! जातोऽत्र भावनस्तदा । आद्यमेदस्थितेष्वेव विबुधः कुलपुत्रकः ॥ ४४२ ॥ ततश्च तत्र
पद्माक्षि ! विस्मृत्याहं सदागमम् । सार्धपल्योपमायुष्को लीलयावस्थितः सुखम् ॥ ४४३ ॥ तदन्ते गुटिकां
दत्त्वा भवितव्यतया तया । नगरे मानवावासे प्रापितः पुनरप्यहम् ॥ ४४४ ॥ तत्रास्ति बन्धुदत्तस्य
वणिजः प्रियदर्शना । भार्या तस्याः सुतत्वेन जातोऽहं च सुनामकः ॥ ४४५ ॥ यौवनस्थो मुनेः प्राप्य सुन्द

राख्यात्सदागमम् । जातश्चाहं तदा भद्रे ! श्रमणो भाववर्जितः ॥ ४४६ ॥ ततस्तदनुभावेन गतो व्यन्तरपाटके । न नीतो विस्मृतत्वेन किन्तु तत्र सदागमः ॥ ४४७ ॥ मयैवं भवचक्रेऽत्र भ्राम्यता दयिताज्ञया । अयं सदागमो दृष्टो विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥ ४४८ ॥ अनन्तवाराः श्राद्धश्च यतिश्च द्रव्यतोऽभवम् । पुनः सदागमत्यागात् प्राप्ता नाना विडम्बनाः ॥ ४४९ ॥ कुतीर्थिकोऽपि जातोऽहं भवचक्रेऽत्र भूरिशः । कर्म्मस्थितिः क्वचिद्दीर्घा क्वचिदल्पा बभूव च ॥४५०॥ क्वचिच्च प्रबला जाता महामोहादिशत्रवः । क्वचित्सदागमो जातः प्रबलस्तन्निवारकः ॥ ४५१ ॥ ततश्चानन्तवाराभिरभ्यस्तेऽस्मिन्सदागमे । सा मनाग् निर्म्मलीभूता चित्तवृत्तिर्महाटवी ॥ ४५२ ॥ ततश्चारित्र-धर्मेण सद्बोधामात्यवाक्यतः । प्रहितो मेऽन्तिके सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः ॥ ४५३ ॥ तेनोक्तं देव ! विद्येयं नीयतां कन्यका मया । तस्य संसारिजीवस्य प्राभृतं तोषहेतवे ॥ ४५४ ॥ सद्बोधः प्राह नाद्यापि प्रस्तावोऽस्या महत्तम ! । त्वद्रूपे तात्त्विके ज्ञाते किन्तु भावी तदस्त्वसौ ॥ ४५५ ॥ यदा स्यात्तेन विज्ञातं रूपं तव परिस्फुटम् । तदाहमागमिष्यामि विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥ ४५६ ॥ अविद्येऽपि त्वयि गते मित्रवृद्धिरिपुक्षयौ । भाविनाविति सद्बोधेनोक्तोऽचालीन्महत्तमः ॥ ४५७ ॥ इतश्चाहं तदा भद्रे ! नगरे जनमन्दिरे । सुनुरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥ ४५८ ॥ यौवनस्थोऽगमं चित्तनन्दने काननेऽन्यदा । धर्म्मघोषं गुरुं तत्र विलोक्याहं ननाम च ॥ ४५९ ॥ ततश्च प्रतनूभूतमहामोहादिवैरिकः । निषण्णोऽहं पुरस्तस्य तेन चक्रे च देशना ॥ ४६० ॥ सुदुर्लभमिदं प्राप्य मर्त्यजन्म सुमेधसा । तत्रापि शासनं जैनमर्ज्जनीयं परं पदम् ॥ ४६१ ॥ तां चाकर्णयतः प्रत्यक्षीभूतो

मत्स्यरूप भो पुनस्त्वमैव सानयत् ॥ ४३० ॥ एवं कालमनन्तं च महामोहवशस्तया । मुक्त्वाऽसंख्यव्यवहारं तत्र भ्रमितोऽहं पुरेश्वरम् (?) ॥ ४३१ ॥ तथा परिग्रहेणाहं संज्ञया निजभार्यया । पुत्रेण मदुक्तो भद्रे ! योनौ योनौ विडम्बितः ॥ ४३२ ॥ गृहकोकिलिकासर्पोन्दुराद्याकारभृत् यतः । इतो निधानमासाद्य तत्राशे विह्वलो मृतः ॥ ४३३ ॥ ममैव भ्रमतो भद्रे ! प्रसभा भवितव्यता । भ्रान्ता इव महामोहादयश्च कश्चनागुः ॥ ४३४ ॥ ततो मनुजमस्यन्तः पाटके भरताभिधे । साकेतेऽहं पुरे नीतो भवितव्यतयान्यदा ॥ ४३५ ॥ वणिजस्तत्र नन्दस्य कृतश्च गुटिकावशात् । भार्यायां धनसुन्दर्यां सुतो नाम्नाऽमृतोदरः ॥ ४३६ ॥ तथाथ यौवनस्थेन वने साधुः सुदर्शनः । इतो देशनया चास्य पुनः प्राप्तः सदागमः ॥ ४३७ ॥ जातोऽहं श्रावकाकारधारको द्रव्यतस्तदा । नीतोऽथ गुटिकायोगात् नगरे विबुधालये ॥४३८॥ तस्मिंश्च भवनव्यन्तरज्योतिष्कल्पवासिनः । पाटकेषु वसन्त्येते विबुधाः कुलपुत्रकाः ॥ ४३९ ॥ दशाष्टपञ्चभेदास्ते त्रयः पूर्वे यथाक्रमम् । कल्पस्थास्तदतीताश्च द्विभेदास्तुर्यपाटके ॥ ४४० ॥ कल्पस्था द्वादशावाससंस्थिताः समुदाहृताः । नवपञ्चनिवासस्थास्तदतीताः प्रकीर्तिताः ॥ ४४१ ॥ तत्रापि पाटके भद्रे ! जातोऽहं भावनस्तदा । आद्यभेदस्थितेष्वेव विबुधः कुलपुत्रकः ॥ ४४२ ॥ ततश्च तत्र पर्याधि ! विस्मृत्याहं सदागमम् । सार्धपल्योपमायुष्के लीलयावस्थितः सुखम् ॥ ४४३ ॥ तदन्ते गुटिकां दत्त्वा भवितव्यतया तया । नगरे मानवावासे प्रापितः पुनरप्यहम् ॥ ४४४ ॥ तत्रास्ति बन्धुदत्तस्य वणिजः प्रियदर्शना । भार्या तस्याः सुतत्वेन जातोऽहं च पुनामकः ॥ ४४५ ॥ यौवनस्थो मुनेः प्राप्य सुन्द

राख्यातसदागमम् । जातश्चाहं तदा भद्रे ! श्रमणो भाववर्जितः ॥ ४४६ ॥ ततस्तदनुभावेन गतो व्यन्तरपाटके । न नीतो विस्मृतत्वेन किन्तु तत्र सदागमः ॥ ४४७ ॥ मयैवं भवचक्रेऽत्र भ्राम्यता दयिताज्ञया । अयं सदागमो दृष्टो विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥ ४४८ ॥ अनन्तवाराः श्राद्धश्च यतिश्च द्रव्यतोऽभवम् । पुनः सदागमत्यागात् प्राप्ता नाना विडम्बनाः ॥ ४४९ ॥ कुतीर्थिकोऽपि जातोऽहं भवचक्रेऽत्र भूरिशः । कर्म्मस्थितिः क्वचिद्दीर्घा क्वचिदल्पा बभूव च ॥४५०॥ क्वचिच्च प्रबला जाता महामोहादिशत्रवः । क्वचित्सदागमो जातः प्रबलस्तन्निवारकः ॥ ४५१ ॥ ततश्चानन्तवाराभिरभ्यस्तेऽस्मिन्सदागमे । सा मनाग् निर्म्मलीभूता चित्तवृत्तिर्महाटवी ॥ ४५२ ॥ ततश्चारित्र धर्मेण सद्बोधामात्यवाक्यतः । प्रहितो मेऽन्तिके सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः ॥ ४५३ ॥ तेनोक्तं देव ! विद्येयं नीयतां कन्यका मया । तस्य संसारिजीवस्य प्राभृतं तोषहेतवे ॥ ४५४ ॥ सद्बोधः प्राह नाद्यापि प्रस्तावोऽस्या महत्तम ! । त्वद्रूपे तात्त्विके ज्ञाते किन्तु भावी तदस्त्वसौ ॥ ४५५ ॥ यदा स्यात्तेन विज्ञातं रूपं तव परिस्फुटम् । तदाहमागमिष्यामि विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥ ४५६ ॥ अविद्येऽपि त्वयि गते मित्रवृद्धिरिपुक्षयौ । भाविनाविति सद्बोधेनोक्तोऽचालीन्महत्तमः ॥ ४५७ ॥ इतश्चाहं तदा भद्रे ! नगरे जनमन्दिरे । सुनुरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥ ४५८ ॥ यौवनस्थोऽगमं चित्तनन्दने काननेऽन्यदा । धर्म्मघोषं गुरुं तत्र विलोक्याहं ननाम च ॥ ४५९ ॥ ततश्च प्रतनूभूतमहामोहादिवैरिकः । निषण्णोऽहं पुरस्तस्य तेन चक्रे च देशना ॥ ४६० ॥ सुदुर्लभमिदं प्राप्य मर्त्यजन्म सुमेधसा । तत्रापि शासनं जैनमर्जनीयं परं पदम् ॥ ४६१ ॥ तां चाकर्णयतः प्रत्यक्षीभूतो

मे सदागमः । ततो मया मुनिः प्रोक्तो यन्मे कृत्यमादिश ॥ ४६२ ॥ मुनिराह त्वया भद्राधधीर्यो मन्त्रविस्तरः ।
आराध्यः परमात्मा च वन्दनीयाः सुसाधवः ॥ ४६३ ॥ आगतो नवतत्त्वानि प्रतिपद्यानि सर्वदा । हेयं च कुमत
स्थेयं निर्मलेन सदागमे ॥ ४६४ ॥ एवं चोपदिशत्युच्चैर्धर्म्मघोषगुरौ तदा । स मामुपाययौ सम्यग्दर्शनाख्यो
महत्तमः ॥ ४६५ ॥ निरीक्षितः कर्म्मग्रन्थिभेदद्वारा मयाथ सः । ततः स्वरुच्या भद्रान संजात मुनिवाचि मे
॥ ४६६ ॥ महत्तम चमुकुत्सा प्रणामिहितो मुनिः । नाथो यदाज्ञापयति करिष्येऽहं तदेव हि ॥ ४६७ ॥
इत्युदित्वा च नत्वा च तं मुनिं स्वगृहं गतः । ततः प्रभृति जातश्च सम्यग्दर्शनसंयुतः ॥ ४६८ ॥ तत्त्वश्रद्धान
पूतात्मा विशिष्टज्ञानवर्जितः । जिनेन्द्रगदितं सत्यमिति मन्ये च सूक्ष्मम् ॥ ४६९ ॥ न संजातास्तदा
सूक्ष्मविविक्तज्ञानहेतवः । गुरवः पटुवाचोऽपि विना मे निजयोग्यताम् ॥ ४७० ॥ यतः स्वयोग्यतैव स्यात् सदा
नज्ञानकारणम् । गुरवः केवलं तस्यां भवन्ति सहकारिणः ॥ ४७१ ॥ पल्योपमपृथक्त्वे च क्षीणे कर्म्मस्थितेस्तदा ।
गृहिधर्म्मो मया दृष्टः सामान्यो न विशेषतः ॥ ४७२ ॥ तदादेशात्पालितानि व्रतान्येतत्प्रभावतः । कल्पवासिषु
नीतोऽहं भार्यया विबुधालये ॥४७३॥ जातश्च प्रथमे कल्पे तेजसा भासुरः सुरः । तत्र चातिसुखी किञ्चिदूनमल्प
हर्षे स्थितः ॥ ४७४ ॥ तदन्ते मानवावासमानीय विहितस्तया । आभीरोऽहं कलन्दाख्यः सूनुर्मदनरेखयोः
॥ ४७५ ॥ तदा च विस्मृतौ तौ मे सदागममहत्तमौ । विस्मृतो गृहिधर्म्मोऽपि न स्यात्ताभ्यां विना हि सः
॥ ४७६ ॥ पूर्वाभ्यासात्परं पापभीरुर्भद्रकभावभाक् । ज्योतिष्मारिषु नीतोऽहं गुटिकायोगतस्तया ॥ ४७७ ॥ तत्र

स्थितेन दृष्टौ च महामोहपरिग्रहौ । मया तौ विस्मृतौ तेन महत्तमसदागमौ ॥ ४७८ ॥ ततोऽन्यगुटिकादानात् कृतोऽहं भार्यया तया । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने दर्दुराकारधारकः ॥ ४७९ ॥ ततः परं पुनर्भूरि भ्रमयित्वा स्वभार्यया । नीतोऽहं मानवावासे पुरे काम्पिल्यनामके ॥ ४८० ॥ धराया वसुबन्धोश्च वासवाख्यः सुतः कृतः । सूरेः शान्त्यभिधाल्लेभे महत्तमसदागमौ ॥ ४८१ ॥ ताभ्यां परिचयाज्जाता महामोहादयः कृशाः । ईशानेऽथाभवं स्मृतसदागममहत्तमः ॥ ४८२ ॥ पुनर्मनुजगत्यन्तर्मोहतो विस्मृताविमौ । इत्थं संख्यातिगा वारा जातं मम सुलोचने ! ॥ ४८३ ॥ श्राद्धत्वे श्रमणत्वे च यत्र यत्र विलोकितः । महत्तमः पुनर्दृष्टस्तत्र तत्र सदागमः ॥ ४८४ ॥ गृहिधर्मोऽपि तन्मूले दृष्टः सामान्यरूपतः । क्वचित् क्वचिन्न दृष्टोऽपि स महत्तमपार्श्वगः ॥ ४८५ ॥ तदेते बहुशो दृष्टास्त्रयोऽपि वरबान्धवाः । जाताश्च सुखदातारो विमुक्ताश्चान्तरान्तरा ॥ ४८६ ॥ दृष्टश्च केवलोऽप्येषोऽनन्तवाराः सदागमः । न त्वनेन विना दृष्टः स सम्यग्दर्शनः क्वचित् ॥ ४८७ ॥ अन्यच्च यत्र यत्राभूत्समीपे मे महत्तमः । तत्र तत्र सखा पुण्योदयोऽभूत्सुखदो मम ॥ ४८८ ॥ यत्र यत्र पुनर्जाताः प्रबला भावशत्रवः । नष्टे पुण्योदये तत्र तत्राप्ता दुःखपद्धतिः ॥ ४८९ ॥ कियद्वा कथ्यते तन्वि ! विशेषस्त्वेष कथ्यते । स सम्यग्दर्शनो मिथ्यादर्शनेन हतः क्वचित् ॥ ४९० ॥ ज्ञानसंवरणेनापि दूरं नीतः सदागमः । मदीयपक्षपाताच्च तौ ताभ्यां निर्जितौ क्वचित् ॥ ४९१ ॥ अन्यदा मानवावासे पुरे सोपारकाभिधे । नीतोऽगृहीतमङ्केते ! भवितव्यतया तया ॥ ४९२ ॥ वणिजः शालिभद्रस्य भार्यास्ति कनकप्रभा । जातस्तस्या अहं सूनुस्तत्र नाम्ना विभीषणः ॥ ४९३ ॥

अथ धरिं सुधाभूविमासाद्य क्षुमकानने । पुनर्दृष्टौ मया भद्रे ! महत्तमसदागमौ ॥ ४९४ ॥ तस्मभद्रानसम्पन्नो
मायतो विरतिं विना । जातो गुरूपरोधेन ममनोऽयं तवानघे ! ॥ ४९५ ॥ अन्यदा कर्मदोषान्मे वैमाम्य
नितरं मनः । मभूत्प्रचलतां प्राप्ता महामोहादयस्ततः ॥ ४९६ ॥ तदा द्वेषादेतौ वा जातोऽहं परनिन्दकः । निन्दा
म्यहं स्तुव संघमपि तीर्थकरानहम् ॥ ४९७ ॥ एवं च यतिवेषोऽपि पापोऽहं गुणदूषकः । महामोहवशाज्जातो
मिथ्यादृष्टिः सुदारुणः ॥ ४९८ ॥ मयाथ भ्रमता भायदिशन ममचककम् । ठेपार्द्धपुद्गलपरावर्तस्य परिपूरितम्
॥ ४९९ ॥ एवं वदति संसारिजीवे विस्मितमानसा । ज्ञाताऽगृहीतसङ्केता किञ्चिद्भावार्थकोविदा ॥ ५०० ॥
तथा प्रज्ञाविशालापि श्रुत्वा तथास्य वचः । अत्यन्तभावसंवेगा व्यचिन्तयदिति स्फुटम् ॥ ५०१ ॥ अहो !
संसारिजीवस्य महामोहपरिग्रहौ । मन्येऽहं सर्वपापेभ्यः सकाशादतिदारुणौ ॥ ५०२ ॥ क्रोधादिभिर्गुणस्यास्य
यतोऽनर्थततिः कृता । आभ्यां पुनरसौ सर्वा सम्यग्दर्शनमीलके ॥ ५०३ ॥ किञ्च सर्वमयो मोहो लोभेशश्च परिग्रहः ।
यदेतौ गुणघाताय सर्वेषां मूलनायकौ ॥५०४॥ तथापि न स्वमस्येतौ मनोऽद्य बोधितोऽपि हि । श्रुतो च कोपि
तास्यावदोषाणामपि रज्यते ॥५०५॥ ततः प्रज्ञाविशालां तां गाढ संवीक्ष्य भाषिताम् । स भव्यपुरुषोऽवादीदम्ब !
किं चिन्तितं त्वया ? ॥५०६॥ तयोक्तं पुत्र ! ते पश्चात् कथयिष्येऽधुना पुनः । सावधानः शृणु कथां यस्तस्या
स्याबहिष्यते ॥ ५०७ ॥ ततस्तूष्णीस्थिते तत्र राजपुत्रे स सादरम् । संसारिजीवः प्रोवाच शेषामात्मकथा

१ यथा° ग० । २ ममेषश्च स० । ३ °रात्म्यात्म्यमुना ता० ।

मिति ॥ ५०८ ॥ अन्यदा भार्यया नीतो जातोऽहं भद्रिले पुरे । सुतः स्फटिकराजस्य विशदो विमलाङ्गभूः
॥ ५०९ ॥ सुप्रबुद्धमुनेः प्राप्य सदागममहत्तमौ । गृहिधर्मयुतौ भद्रे ! पालिताश्च व्रतादयः ॥ ५१० ॥ पुण्यो
दयस्य माहात्म्यादथ कल्पे तृतीयके । नीतः शब्दादिसौख्येन स्थितः सागरसप्तकम् ॥ ५११ ॥ बन्धुत्रययुतेनेत्थं
द्वादशापि विलोकिताः । प्रत्येकं ते मया कल्पाः स्वल्पेतरसुखाश्रयाः ॥ ५१२ ॥ ततो द्वादशकल्पस्थो मानवा-
वाससंमुखम् । प्रस्थानं कारितो भद्रे ! भवितव्यतया तया ॥ ५१३ ॥ इति घोरविपाकमवेत्य जना ! घनवाहन-
बालिशवृत्तमिदम् । घनमोहपरिग्रहशब्दमतिं त्यजतास्ति शिवं यदि वोऽभिमतम् ॥ ५१४ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे मोहपरिग्रहश्रवणेन्द्रिय-
विपाकवर्णनो नाम सप्तमः प्रस्तावः समाप्तः ।



अष्टमः प्रस्तावः

इतोऽस्ति मानवावासे वासवेश्म श्रियः परम् । सप्रमोदजनाकीर्णं सप्रमोदाभिधं पुरम् ॥ १ ॥ विलसद्गुण-
रत्नाढ्या राजासादितवृद्धयः । जना यत्र महाभोगाः संश्रयन्ति न दीनताम् ॥ २ ॥ प्रत्यनीकमहानीकचनम-

---

१ कल्पा एव चावस्थिते सति क० ख० ग० घ० ।

अनवारणः । बभूव भूपतिस्तत्र नामतो मधुवारणः ॥ ३ ॥ यशोराशिप्रतापाभ्यां सुवर्णरुचिरः स्थिरः । मुख्य यः
शुशुभे पुष्पदन्ताभ्यां सुरशैलवत् ॥ ४ ॥ मन्दास्यहास्यदाक्षिण्यशीलादिगुणमालिनी । बभूव भूभुजस्तस्य देवी
नाम्ना सुमालिनी ॥ ५ ॥ अथागृहीतसङ्केते ! तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः । सार्धं पुण्योदयेनाहं भवितव्यतया
तया ॥ ६ ॥ निष्क्रान्तश्च ततः काले पुण्योदयसमन्वितः । जन्मोत्सवं च पितरौ कारयामासतुर्मुदा ॥ ७ ॥
गुणधारण इत्याख्यां बिभ्राणः पितृकल्पिताम् । धात्रीभिः पाल्यमानोऽहं क्रमेण ववृधे ततः ॥ ८ ॥
इतो राज्ञा विशालाख्यः सगोत्रो मन्त्रितः सुहृत् । तत्राभूत्तनयश्चास्य कुलन्धर इतीरितः ॥ ९ ॥ आवामथ
मिथः स्निग्धौ सह क्रीडितवर्धितौ । सहाधीतौ च रुचिरं तारुण्यं प्रापि च क्रमात् ॥ १० ॥ अपरेद्युः पुराद्
दूरे पुरा चटु निवेशिते । आवां क्रीडितुमुद्याने गतावाह्लादमन्दिरे ॥ ११ ॥ ततस्तत्रावयोर्दूरवर्तिनि चूततरो
स्तले । योषितोर्द्वितयं किञ्चिद् दृष्टिगोचरमाययौ ॥ १२ ॥ तत्रैका निजरूपास्तकामकान्ता मृगेक्षणा ।
मां भ्रूलताधनुर्मुक्तैः कटाक्षविशिखैरताडयत् ॥ १३ ॥ ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य निर्मिथ्यप्रेमनिर्भराम् । दध्यावहमियं किं
श्रीः ? किं रतिः ? किं सुराङ्गना ? ॥ १४ ॥ एवं चिन्तयतस्तस्यामत्यन्तमनुरागिणः । कुलन्धरेण मे तेनाभि
प्रायः समलक्ष्यत ॥ १५ ॥ ततोऽहं लज्जया चावरक्षोभ्याकारसंवरम् । स मां तावदभाषिष्ट कलाकौशलकोविदः
॥ १६ ॥ कुमार ! युवती वेत्ति क्रीडितं मन्मथेऽधुना । वेषमन्यच मया प्रोचे क्रियतां भाति यत्र ॥ १७ ॥ गत्वा
गेहमथावाभ्यां विदधे दिवसोचितम् । मया विभावरी सा च कथमप्यतिलङ्घिता ॥ १८ ॥ प्रातः कुलन्धरेणाथ

समेतस्तां मृगीदृशम् । दिदृक्षुः पुनरुद्याने तत्रागच्छं समुत्सुकः ॥ १९ ॥ न वीक्षिता परं तत्र बहुधान्वेषितापि सा । भद्रे ! ततोऽहमत्यन्तं चित्तोद्वेगेन पीडितः ॥ २० ॥ ततोऽहं चूतवृक्षं तं वीक्ष्यमाणो मुहुर्मुहुः । कुलन्धरयुतो यावन्निषण्णस्तस्य भूतले ॥२१॥ तावत्तस्या द्वितीयासीदायाता या तयान्विता । नार्येका मध्यमावस्था सुन्दराङ्गी समागमत् ॥२२॥ अभ्युत्थानादिनावाभ्यां विहितस्वागता ततः । दत्ताशिषमभाषिष्ट साऽऽवां मधुरया गिरा ॥२३॥ युवाभ्यां सह वक्तव्यं किञ्चिदस्ति वराननौ ! । निषद्य श्रूयतां तस्मात्ततः सर्वेऽप्युपाविशन् ॥ २४ ॥ ततः सा मां समुद्दिश्य प्रोचे वत्स ! निशम्यताम् । अस्ति विद्याधरावासो वैताढ्यो नाम पर्वतः ॥ २५ ॥ तत्र गन्धसमृद्धाख्ये पुरे खेचरचक्र्यभूत् । कनकोदराख्यः कामलताख्या तस्य देव्यहम् ॥ २६ ॥ उपयाचितकाद्यैश्च कृच्छ्राद् वयसि मध्यमे । दुहितैकावयोर्जज्ञे नाम्ना मदनमञ्जरी ॥ २७ ॥ पितृप्रियपत्तिनरसेनवल्लरिकासुता । तस्याश्च समभूदिष्टा सखी लवलिकाभिधा ॥२८॥ सौन्दर्येण कलाभिश्चापश्यन्ती स्वोचितं वरम् । पुरुषद्वेषिणी वत्सा साभूदुद्यौवनाप्यथ ॥२९॥ ज्ञात्वा लवलिकाख्यानात्तचाहं तत्पितापि च । विषण्णौ नितरां कार्या कथमेषेति चिन्तया ॥ ३० ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्भूपः स्वयंवरणमण्डपम् । अकारयदथाकार्य सर्वान् विद्याधरेश्वरान् ॥३१॥ न कोऽपि खेचरस्तस्यास्तत्रापि रुरुचे परम् । प्रत्युत श्लाघितेष्वेषु शिरोर्त्तिरभवद् भृशम् ॥ ३२ ॥ विलक्षाः खेचराः सर्वे तस्या अनभिरोचनात् । प्रद्वेषं दधतो राज्ञि गृहीत्वैकां दिशं ययुः ॥ ३३ ॥ शोकातिरेकादस्माकमतीतं कथमप्यथ । तद्दिनं निशि चोर्वीशः

१ °रास्ते च तस्या क० ख० ग० घ० ।

प्राप निद्रां न चिन्तया ॥३४॥ निशान्ते कथमप्याप्तनिद्रः स्वप्नेऽथ दृष्टवान् । मातङ्गपाणि स पश्चात्ते द्वौ नरौ द्वे च योषितौ ॥ ३५ ॥ तैः प्रोचे शृणु राजेन्द्र ! विषादं पूर्वमेव यत् । आस्ते मदनमञ्जर्या वरोऽस्माभिर्निरूपितः ॥३६॥ ततो भावी स एतस्याः किमन्यवरमार्गणैः ? । अस्माभिरत एतस्या ह्यम्यास्ते खेचराः कृताः ॥ ३७ ॥ एवं तानि श्वापानि पशुमस्तुरगोचरम् । अत्रान्तरे पपाठैव प्रातर्मङ्गलपाठकः ॥ ३८ ॥ विषादस्पर्शौ मा कदमुदयादिक्रमो यतो । सर्वसामान्य इत्येव ध्वंसतीयोदयन् रविः ॥ ३९ ॥ तदाकर्ण्य प्रबुद्धोऽथ स स्वप्न तत्र चन्दिनः । एक विचार्य समभूद्भूमिपालो निराकुलः ॥४०॥ इतश्च किं विचारैण्यमिदानीमिति निर्जने । उदिता लवलिकया प्रोचे मदनमञ्जरी ॥४१॥ यथादिशति मां तातो माता च तदहं मदीम् । भ्रान्त्वा वरं श्रेयोम्यारभतश्चितं स्वयमेव हि ॥४२॥ ततो लवलिका तस्यास्तद्वचो मन्त्रिमास्यत । मयापि नरनाथाय तच्छ्रुत्वा सोऽप्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥ वरसया मन्त्रित साध्वेवत्तरस्यायमेव यत् । तस्य देवोपदिष्टस्य लाभोपायो भविष्यति ॥ ४४ ॥ ध्यात्वेत्यनुमता राज्ञा ततो लवलिकान्विता । वरार्थं निर्ययौ वत्सा समस्तां क्षितिमीक्षितुम् ॥ ४५ ॥ कतिचिद्दिवसान्ते च समेत्यैषा विषादमाह । व्यजिज्ञपत् लवलिका नृप मां च समाकुला[1] ॥ ४६ ॥ निर्गत्यावामितस्तावन्नानावृतान्तसंकुलम् । पश्यन्त्यौ भूतलं भूरि सप्रमोदपुरं गते ॥ ४७ ॥ ततस्तत्र हिराहारमन्दिरं नाम काननम् । पश्यावः कौतुकम पापापदानां नमःस्थिते ॥ ४८ ॥ तावदेकत्र मारामौ दृष्टौ राजसुतावुभौ । तयोरेक प्रियसखी वीक्ष्य कामवशं

१ समाकुलम् क० स० म० प० ।

ययौ ॥ ४९ ॥ मया सह महीपीठमवतीर्याथ सा स्थिता । तयोर्दृग्गोचरे चूतवने दूरस्थिते मनाक् ॥ ५० ॥ तमेव राजपुत्रं सा पश्यन्त्यनिमिषेक्षणा । यावत्तत्संमुखं दृष्टिस्तावत्तेनापि पातिता ॥ ५१ ॥ ततः सामृतसिक्तेव क्षिप्तेव सुखसागरे । भजन्ती विविधान् भावान्परं हर्षमुपाययौ ॥ ५२ ॥ ततस्तां तादृशीं दृष्ट्वा हृष्टया चिन्तितं मया । अहो ! दुष्करतोषापि यूनेय तोषितामुना ॥ ५३ ॥ अहो ! अस्य सुरूपत्वमहो ! लावण्यपूर्णता । अहो ! युक्तोऽनयोर्योगो रतिमन्मथयोरिव ॥ ५४ ॥ अहो ! घटितमेवेदं मिथुनं ननु वेधसा । सद्भावमीलनादेवं तन्नः सिद्धं समीहितम् ॥ ५५ ॥ इतः स सुहृदा सार्द्धं ततः स्थानाद्ययौ युवा । ततो नष्टनिधानेव सा बालाजनि विह्वला ॥ ५६ ॥ मया प्रोचेऽथ सा भर्तृदारिके ! रुचितो यदि । तवायं तरुणस्ताताम्बान्तिके गम्यतां ततः ॥ ५७ ॥ सप्रमोदपुरेशस्य मधुवारणभूपतेः । अस्यैवायं सुतो भावी रूपमीदृक् कुतोऽन्यथा ? ॥ ५८ ॥ तातेनात्मा ततोऽमुष्मै दाप्यतामविलम्बितम् । तयाप्यूचे लवलिके ! रुचितोऽयं जनो मम ॥ ५९ ॥ साशङ्कं किन्तु मच्चित्तं यदहं रुचिता नहि । प्रायेणास्मै कथमपक्रमणं तूर्णमन्यथा ॥ ६० ॥ मयोक्तं सखि ! मा मैवं वोचः किं न स राजभूः । त्वां निरैक्षिष्ट ? दृष्ट्वा वा किं न जातः प्रमोदभाक् ? ॥ ६१ ॥ अपक्रान्तोऽपि वैदग्ध्यात् ततोऽस्मै रुचितास्यलम् । विमुच्य तस्मादाशङ्कां विधेहि मम भाषितम् ॥ ६२ ॥ स्वस्थीभूताथ सा किञ्चिन्मामूचे सखि ! सर्वथा । न पारयाम्यहं गन्तुमस्वस्थं मे वपुर्यतः ॥ ६३ ॥ मयेदं न च मोक्तव्यमुद्यानं भवती ततः । गत्वा संपादयत्वाशु वार्त्तां ताताम्बयोरिमाम् ॥ ६४ ॥ तन्निर्बन्धं परिज्ञाय गुप्तद्रुगहनान्तरे ।

दीवपङ्कजसम्पायां स्थापिता सा मया ततः ॥ ६५ ॥ विरूपाचरणेऽन्यत्र याने च क्षपयानय । तां विधाप्या हमापाता क्षिपतामधुनोषितम् ॥ ६६ ॥ तच्छ्रुत्वा मां नृपः प्राह देवि ! त्वं सत्वरं व्रज । संधीरयाय वत्सायाः यथाप्येष्याम्यहं पुनः ॥ ६७ ॥ साशङ्के मे पतत्यिव सकोपाः खेचरा ययुः । तदूपान्त मया ज्ञातु प्रयुक्तमतुलोऽस्ति च ॥ ६८ ॥ ततो विधाय सामग्रीं किञ्चिदादाय दोकनम् । पृष्ठतोऽत्र समेष्यामि देवी तु व्रजतु द्रुतम् ॥ ६९ ॥ स्वीकृत्याथ तदादेशं ज्ञात्वा लवलिकामिमाम् । तथा चवलिकां दासीं वेगेनात्राहमागता ॥ ७० ॥ तत्रैव शून्यविधाय दृष्टा मदनमञ्जरी । तया चालयितास्तस्या निषण्णा चपमन्तिके ॥ ७१ ॥ समागतेयमम्बात्र किमेवं सखि ! तिष्ठसि ? । इत्युक्ते लवलिकया साथ सम्प्राप चेतनाम् ॥ ७२ ॥ ससंभ्रममथोत्थाय सापतत्पदयो र्मम । दत्ताशिषं मयोत्थाप्य गाढमालिङ्गिता ततः ॥ ७३ ॥ निधोत्सङ्गे च संस्थाप्य चुम्बित्वाथ मुखाम्बुजे । सा मयाभिदधे वत्से ! विषाद मुञ्च सर्वथा ॥ ७४ ॥ चिरमेवेप्सित पश्चापात एष पितैव ते । वर्तते घटिका नूनं वत्स्यन्त्यत्र मयोद्भवे ॥७५॥ मान्यानि क भमेयन्ति ? वदन्तीति जनेश्वरः । चमूनाथोद्वती वत्सा तदा चास्ते यथो रविः ॥७६॥ वत्सां विनोदयन्तीभिः कथाभिः प्रीतिहेतुभिः । अस्माभिः शर्वरी साथ कथञ्चिदतिवाहिता ॥७७॥ प्रातर्लवलिका प्रोचे मयाप्येवं हलेऽम्बरे । स्थिपसा स्वस्वामिनो मार्गं पश्य किं चिरयस्यसौ ? ॥ ७८ ॥ ततमेव क्षणं व्योम्नि स्थिपसा धृतिमानसा । अवतीर्णां मया प्रोचे हले ! प्रमुदितासि किम् ? ॥ ७९ ॥ किमागतस्तव

१ 'स्या च मु' क० प०, 'या च मु' ख० ग० । २ समा ख० ।

स्वामी ? ततो गदितमेतया । न स्वामी किन्तु तौ राजपुत्रावम्ब ! समागतौ ॥ ८० ॥ ताभ्यां च वीक्षितं भर्तृदारिकादर्शनेच्छया । सर्वं वनं परं गुप्तदेशस्थेयमदर्शि न ॥ ८१ ॥ विषण्णः सोऽथ मित्रेण प्रोचे स्वामिसुताप्रियः । तले तस्यैव चूतस्य स्थीयतां गुणधारण ! ॥ ८२ ॥ दृष्टासीद्भवता यत्र सा स्मेराम्भोजलोचना । कदाचिद्दैवयोगेन सा तत्रैवाप्यते पुनः ॥ ८३ ॥ एवं भवत्विति ततो गदितेऽनेन तौ गतौ । तत्संमुखमिदं विद्धि हर्षकारणमम्ब ! मे ॥ ८४ ॥ किं मां प्रतारयस्येवमिति प्रोक्तेऽथ वत्सया । तत्प्रत्ययार्थं शपथशतान्येषा विनिर्ममे ॥ ८५ ॥ न प्रत्येति तथाप्येषा ततो लवलिका मया । प्रोचे किं बहुनानेन[1] कुमारं मम दर्शय ॥ ८६ ॥ येन तं स्वयमत्रैवानीय वत्सां प्रमोदये । एषाह प्रगुणास्म्येषा जवादम्बा प्रवर्त्तताम् ॥ ८७ ॥ ततो विमुच्य वत्सायाः पार्श्वे धवलिकामहम् । अनया लवलिकया सहायाता त्वदन्तिके ॥ ८८ ॥ परमार्थस्त्वदेषोऽत्र तां कण्ठगतजीविताम् । वत्सां मेऽनुग्रहं कृत्वा कुमारो द्रष्टुमर्हति ॥ ८९ ॥ कुलन्धरस्य वदने मयाथ प्रविलोकिते । कुमार ! गम्यतां कोऽत्र विरोधः ? इति सोऽवदत् ॥ ९० ॥ ततो वयं गतास्तत्र मया मदनमञ्जरी । ददृशेऽथ यथाख्याता साभिलापं तथाप्यहम् ॥ ९१ ॥ अन्योन्यालोकनाच्चैवं तदाऽऽवां मुदितौ भृशम् । सुखामृतमहाम्भोधिमग्नाविव बभूविव ॥९२॥ वत्से ! लवलिकावाक्ये किं जातः प्रत्ययोऽधुना ? । इत्युक्ता कामलतया स्थिता साधोमुखी ततः ॥ ९३ ॥ अत्रान्तरे च रोचिष्णुभूरिखेचरसंयुतः । रत्नैर्भृत्वा विमानानि तत्रागात् कनकोदरः ॥ ९४ ॥ ततो मिथः

१ किं बहुनानेन तावत् कुमारं ख० ।

छलौषिस्याः सर्वेऽपि न्यपतन् क्रमात् । मामैक्षिष्ट चिरं स्निग्धदृशा च कनकोदरः ॥ ९५ ॥ स प्रवायमिति
ध्यात्वाथ मुदितचेतसा । पृष्टा कामछटापश्यो व वृत्तान्तमथाखिलम् ॥ ९६ ॥ तच्छ्रुत्वा सविक्षेपेण पावत्
प्रहृष्टोऽभवत् । तावदेत्याशु चतुरस्तस्कर्णे किमिदाकथयत ॥ ९७ ॥ विलम्बेनालमित्युक्त्वा प्रियां सोऽथ कुल-
न्धरम् । धूम्र संवेगतः पाणिग्रहमावामकारयत् ॥ ९८ ॥ वज्रेन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागादिकानि च । रत्नानि तान्य
दान्मह्यमपरोऽम्य कुलन्धरम् ॥ ९९ ॥ अत्रान्तरे च सभयं समायात नमस्तले । विद्याधरबलं वीक्ष्य अगाद
कनकोदरः ॥ १०० ॥ भो ! भो ! विद्याधरास्तूर्णं सज्जीभवत संमुखाः । सोऽय चतुरवृत्तान्तः साम्प्रतं स्फुटतां
गतः ॥ १०१ ॥ सकोपा ये गताः पूर्वं तेऽमी संभूय खेचराः । समागतामैरुर्मीत्वा द्रष्टुं मदनमञ्जरीम् ॥१०२॥
एतेषामिदमाकृत क्रिडाय गुणधारणः । हीनो भूगोचरोऽस्माको यच विद्याधरोत्तमाः ॥ १०३ ॥ तदेते न यत्
न्यत्र चापराह्णादमन्दिरे । प्रेरयाम: क्षणात्तावत् मरुता इव पायसान् ॥ १०४ ॥ तच्छ्रुत्वा स्वामिनो वाक्यं तेऽय
भूमिष्ठखेचराः । सन्नद्धुमारब्धास्तदा चाहमचिन्तयम् ॥ १०५ ॥ अहो ! न सुन्दरं जातमिदमेतेन हेतुना ।
यतो महानर्थोऽमीषां प्रलयोऽत्र भविष्यति ॥ १०६ ॥ एवं मे ध्यायतः केनाप्यन्तरिक्षविसिस्मिसम् । छेप्यनिर्मि
तमभके स्तम्भितत्वा सकलद्वयम् ॥ १०७ ॥ समं मदनमञ्जर्या निविष्ट वरविष्टरे । नमःस्थास्ते च मां वीक्ष्य खेचराः
पर्यचिन्तयन् ॥१०८॥ अहो ! रूपमहो ! कान्तिर्नरस्यास्य महात्मनः । अहो ! मदनमञ्जर्याः पर्याप्तोचितकारिता
॥ १०९ ॥ यथायमीदृशो मर्त्यो गदितः स्वपरीक्षया । अमुनेव चय मूर्ते स्तम्भिता निश्चेतसा ॥ ११० ॥

यतो मदनमञ्जर्या वयस्येन च संयुतः । स्वयं मुत्कलदेहोऽयं दृश्यते न तु शेषकाः ॥ १११ ॥ तद्दुष्टं कृतमस्माभिर्नररत्नं यदीदृशम् । जिघांसितं महापापैः प्राप्तमेतद्धि तत्फलम् ॥ ११२ ॥ स्वामी तदयमस्माकं वयमस्य पदातयः । ध्यात्वेति शान्तकोपास्ते केनचिन्मुत्कलीकृताः ॥ ११३ ॥ समेत्य सत्वरं तेऽथ खेचराः क्रमयोर्मम । पतित्वा क्षमयित्वा च भृत्यभावं प्रपेदिरे ॥ ११४ ॥ दृष्ट्वा तच्चेष्टितं सोऽपि ससैन्यः कनकोदरः । शान्तकोपो मुत्कलोऽभूत्खेचराश्च मिथोऽमिलन् ॥ ११५ ॥ तं च विज्ञाय वृत्तान्तं तातो मे मधुवारणः । तत्राजगाम शुद्धान्तामात्यपौरादिसंयुतः ॥ ११६ ॥ ततो मदनमञ्जर्या खेचरैश्च समन्वितः । अभ्युत्थायानमं भक्त्या तातम्बाचरणानहम् ॥ ११७ ॥ ममाथ तादृशीं दृष्ट्वा समृद्धिमतिशायिनीम् । जनको जननी सर्वो लोकश्च मुमुदेतराम् ॥ ११८ ॥ महता च विमर्देन प्राविक्षाम पुरे वयम् । ततोऽथ तोपयामास दानाद्यैः कनकोदरम् ॥ ११९ ॥ गते सौख्यमये तत्र वासरेऽथ मया क्षपा । सार्द्धं मदनमञ्जर्या सुखेनैवातिवाहिता ॥ १२० ॥ प्रातः कुलन्धरोऽथैत्य मामूचे यन्मयैक्ष्यत । मानुपपञ्चकं स्वप्ने द्वे स्त्रियौ पुरुषास्त्रयः ॥ १२१ ॥ तैश्चाहं जगदे सौख्यं यदिदं गुणधारणे । यच्चान्यदपि तत्सर्वमस्मन्मूलं कुलन्धर ! ॥१२२॥ एवं तानि ब्रुवाणानि जग्मुश्चक्षुरगोचरम् । विबुद्धोऽहं कुमाराथ न जाने कानि तानि तु ? ॥ १२३ ॥ मयोक्तं कथ्यतामेष तातादिभ्यस्त्वयाधुना । स्वप्नो विज्ञायते येन भावार्थोऽस्य परिस्फुटः ॥ १२४ ॥ कुलन्धरोऽथ मद्युक्तो गत्वा विद्वद्युतं सदः । तातादिभ्यस्तमाचख्यौ स्वप्नं तेऽपि व्यचारयन् ॥ १२५ ॥ कुमारस्यानुकूलानि देवरूपाणि कानिचित् । वर्त्तन्ते तैर्मुदा स्वप्ने

तन्मित्रायेत्यकथ्यत ॥ १२६ ॥ तच्छ्रुत्वाथ मयाचिन्ति किमेतानि कुळ-धरः। पश्चाद्राधीरपुरा किं वा चत्वारि कनक्षेदरः ? ॥ १२७ ॥ कथ वा कानि चैतानि ममैव कार्यचिन्तनम्। कुर्वन्ति ? सर्वमेवेद गहन प्रतिभाति मे ॥ १२८ ॥ ततो यदि यति कश्चिद्रक्ष्यामि ज्ञानिनं तदा। संदेहमेनं प्रक्ष्यामीत्यालोच्याह हृदि स्थित ॥ १२९ ॥ तेऽथ चिवायराः सर्वे मृत्यभावं प्रपद्य मे। दिनानि कतिचित्तत्र स्थित्वा च स्वं पद ययुः ॥ १३० ॥ ततो मदन मञ्जर्या सार्द्धं विलसतो मम। पूर्णसर्वाभिलाषस्य ययो कालः कियानपि ॥१३१॥ आह्लादमन्दिरेऽन्येद्युः समार्यः सकुळन्धरः। गतोऽहं कन्दनामानमपश्य मुनिपुङ्गवम् ॥ १३२ ॥ तं प्रणम्य न्यपीद च तत्पुरः शुद्धभूतले। सोऽपि दत्त्वाशिषं मह्य विदधे धर्म्मदेशनाम् ॥ १३३ ॥ तां चाकर्ण्ययता सम्यक् प्रादुर्भूतो पुनर्मया। तो सम्यग्दर्शन सदागमो दृष्टो मुगेक्षणे ! ॥ १३४ ॥ ततस्तौ मस्यमित्राय चा-चतो हितकारणो। गुरुवाक्यप्रबुद्धेन प्रपभो मायतो मया ॥ १३५ ॥ इतश्च यः पुराख्यातो भूपतिर्विबुधालये। वेदनीयनरेन्द्रस्य पदातिः सातनामकः ॥ १३६ ॥ सोऽप्यन्तं मयि रक्तारमा पुराप्यागान्मया सह। आसीत् तिरोहितः किन्तु प्रादुर्भूतस्तदा पुनः ॥१३७॥ युग्मम् ॥ ततो या प्रेयसीरत्नभोगमन्या सुखासिका। तदानीं गुरुमूले मे सानन्तगुणतां गता ॥ १३८ ॥ कुळ-धरेण मदन मञ्जर्यापि मयेव तो। प्रतिपन्नावथ मुनिर्विदधे देशनां पुनः ॥ १३९ ॥ अत्रान्तरे चित्तवृत्तिमहाटव्यां प्रकम्पिताः। मयेन शोचर्के स्थित्वा महामोहादयः स्थिताः ॥ १४० ॥ चारित्रधर्म्मराजोऽथ प्रोचे सद्बोधमन्त्रिणम्। अस्माकं तावदार्येण निहतो रोपकोऽधुना ॥ १४१ ॥ एष्ठ कर्म्मपरीणामं विधाभावय कन्यकाम्। पार्श्वे संसारिजीवस्य पन्तं

ते युज्यते ततः ॥ १४२ ॥ कन्दसाधुममीपस्थः साम्प्रतं स चैरमेया। विज्ञातस्तत्र चावश्यं भवन्तं प्रतिपत्स्यते
॥ १४३ ॥ मन्त्री प्रोचेऽथ देवात्र विलम्बोऽद्यापि युज्यते। सातपुण्योदयौ मित्रे यतस्तत्रातिवत्सलौ ॥ १४४ ॥
कालं कियन्तमप्येतौ ततस्तं गुणधारणम्। भुञ्जानं विषयान् गेहे प्रसभं धारयिष्यतः ॥ १४५ ॥ ततस्तदनु-
वृत्त्यासौ यावत्तिष्ठति वेश्मनि। विद्यामादाय तावन्मे न गन्तुं तत्र युज्यते ॥ १४६ ॥ किन्त्वेष प्रेष्यतां देव!
कुमारः सपरिच्छदः। गृहिधर्म्मो यतोऽमुष्यात्रसरस्तत्र सुन्दरः ॥ १४७ ॥ गतमात्रमिमं यस्मात् स भावेन
प्रपत्स्यते। यास्यामोऽवसरे जाते पश्चात्सर्वे वयं पुनः ॥ १४८ ॥ तच्छ्रुत्वा प्रैषि चारित्रधर्म्मेण स निजाङ्गजः।
सोऽपि कर्म्मपरीणाममापृच्छ्यागान्मदन्तिके ॥ १४९ ॥ देशनां कुर्वता कन्दमुनिनाथ प्रकाशितम्। सभार्य
सपरीवारं गृहिधर्मं सुभावतः ॥ १५० ॥ कुलन्धरेण मदनमञ्जर्या च समन्वितः। प्रपेदेऽहं विशेषेण बभूव च
सुखासिका ॥ १५१ ॥ युग्मम् ॥ तं स्वप्नसंशयं सोऽथ मया पृष्टोऽवदन्मुनिः। विनातीन्द्रियवेत्तारं जायतेऽस्य न
निर्णयः ॥ १५२ ॥ गुरवः केवलालोकभास्करा मम सन्ति च। सूरयो निर्मला नाम दूरदेशविहारिणः ॥ १५३ ॥
तत्पादमूलं यास्यामि वन्दनार्थमहं यदा। तदा तान् प्रश्नयिष्यामि त्वत्सन्देहमिमं ततः ॥ १५४ ॥ मयोचे यदि
तेऽत्रैव गुरवस्ते कथञ्चन। आगच्छेयुस्ततस्तत् स्यात् सुन्दरादपि सुन्दरम् ॥ १५५ ॥ मुनिराह महाभाग! गतोऽहं
वचनेन ते। गुरून् विज्ञाप्य ते नूनं पूरयिष्ये मनोरथान् ॥ १५६ ॥ अथवा केवलालोकालोकिताखिलचेतसः।

१ स्वभा० ता०। २ ०तो मे स्यात् ग०।

विज्ञाय भवतश्चिह्नमागमिष्यन्ति ते स्वयम् ॥ १५७ ॥ केवलं गृहिधर्म्मेऽत्र सम्यग्दर्शनसंयुते । सदागमे च
कर्त्तव्यो भवता तावदादरः ॥ १५८ ॥ तद्वचोऽहं प्रपद्याथ प्रेयसीसुहृदन्वितः । तं नत्वा स्वं ययौ गेहं गुरुमूलं
मुनिः स तु ॥ १५९ ॥ कालक्रमेण तातेऽथ लोकोत्तरमुपेयुषि । बभूवाहं महाराजः पुरन्दर इवापरः ॥ १६० ॥
परं प्राप्तेऽपि तादृक्षे राज्ये गार्द्ध्यमभून्न मे । मैत्री सदाममायेषु विभवस्तेषु निर्भराम् ॥ १६१ ॥ आह्लाद
मन्दिरेऽन्येद्युस्तेऽथ निर्म्मलसूरयः । पर्युस्तदागर्षि चारुपरक्ष्यामासयः पुमान्मम ॥ १६२ ॥ पारितो
षिकदानात् स तोषयित्वाथ तोषभाक् । नमस्कर्तुमहं सूरिं प्रययौ सपरिच्छदः ॥ १६३ ॥ ततो हेमाम्बुजासीन
नरामरनिषेवितम् । मुनिमण्डलमध्यस्थं तं वीक्ष्य मुमुदेतराम् ॥ १६४ ॥ मुक्त्वाथ राजचिह्नानि द्वारस्थानर्चवन्द
नम् । दत्त्वा भगवतः शेषसाधूनहमनसिषम् ॥ १६५ ॥ यथास्थानं निषण्णेषु सर्वेषु भगवानथ । चक्रे कर्म्मविपो
पाकसूचामां धर्म्मदेशनाम् ॥ १६६ ॥ निशम्य देशनां तां च निःसङ्गसुखसंवसिनीम्[1] । दीक्षोत्सुकं मनो मेऽभूत्प्र
तनूभूतकर्म्मणः ॥ १६७ ॥ अत्रान्तरे कन्दमुनिः पप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रभुम् । विधातुं भगवन् ! कालविलम्बः
कस्य दुःखदः ? ॥ १६८ ॥ प्रभुः प्राह ससन्देहं जिज्ञासोर्गुरुसन्निधौ । मुनिरूचे तदच्छिन्त गुणधारणसत्तमम्
॥ १६९ ॥ एवं कियत इत्युक्ते गुरुणाथ मयोदितम् । महानुग्रहो मेऽसौ ततः प्राह गुरुः पुनः ॥ १७० ॥
राजन्नय ते सन्देहः स्वप्ने यत्कनकोदरः । चत्वारि मानुषाण्यप्राक्षीत् पञ्च तु कन्धरः ॥ १७१ ॥ कानि तानि ?

१ न्यासिनीम् क० ख० म० प० ।

कथं वा मत्कार्यनिर्वर्त्तकानि च ? । किं तानि देवरूपाणि ? किं वा स्वप्नौ निरर्थकौ ? ॥ १७२ ॥ युग्मम् ॥ मयोक्तं भगवन्नेवमिदं प्राह गुरुस्ततः । महतीयं कथा राजन् ! सावधानोऽवधारय ॥ १७३ ॥ ततो भगवताऽसंव्यवहार-नगरादिकाम् । कथयित्वा कथां सर्वां मदीयामित्यकथ्यत ॥ १७४ ॥ तदेवं चित्तवृत्तौ ते विद्यते राज्यमान्तरम् । महामोहादिभिस्त्वेतदभूदुद्दालितं पुरा ॥ १७५ ॥ ततो वामतया कर्म्मपरिणामनृपोऽप्यसौ । तदेव हि महामोहादि-बलं परिपुष्टवान् ॥१७६॥ सम्प्रत्येषोऽनुकूलस्तेऽस्ति तेन प्रगुणीकृता । त्वां प्रति स्वप्रिया कालपरिणत्यभिधानिका ॥ १७७ ॥ प्रसादिता च ते भार्या भूपते ! भवितव्यता । प्रह्वीकृतोऽङ्गभूतश्च स्वभावः स्वमहत्तमः ॥ १७८ ॥ तथा प्रोत्साहितः पुण्योदयः सहचरस्तव । अवज्ञाताश्च ते किञ्चिन्महामोहादयो द्विषः ॥ १७९ ॥ चारित्रधर्म्म-राजाद्याः सर्वेऽप्याश्वासिता मनाक् । दर्शिता सुखमाला च पूर्वमप्यन्तरान्तरा ॥ १८० ॥ यदादीष्टौ पुनस्ते सम्यग्दर्शनसदागमौ । तदादिकर्म्मपरिणामोऽनुकूलतरस्त्वयि ॥ १८१ ॥ तेन प्रोत्साहितः पुण्योदयोऽथ सुख-सिद्धये । तवेमां दापयामास भार्यां मदनमञ्जरीम् ॥ १८२ ॥ किञ्च सर्वार्थकर्तॄण्येतान्येवाहं तु नेति सः । महा-पुरुषभावेन कनकोदरभूपतेः ॥ १८३ ॥ स्वप्ने कर्म्मपरीणामः कालपरिणतिस्तथा । भवितव्यतया युक्तः स्वभाव-श्चेति नामतः ॥ १८४ ॥ आस्ते मदनमञ्जर्या वरोऽस्माभिर्निरूपितः । ब्रुवन्तीत्यादि चत्वारि मानुषाण्यप्यदर्शयत् ॥ १८५ ॥ विशेषकम् ॥ अथ भद्र ! त्वयात्मापि प्रकाश्यस्त्वां विना यतः । चत्वार्यपि शुभं कार्यं न वयं कर्तुमी-श्महे ॥ १८६ ॥ इति कर्म्मपरीणामादिष्टः पुण्योदयः पुनः । कुलन्धरायादर्शयत् तानि पश्चात्मना सह ॥ १८७ ॥

॥ युग्मम् ॥ मानुषाणि यदेतानि तान्येवाथ नरेश्वर ! । तेषां चतुर्णां पक्षानां चेष्टाये विद्धि कारणम् ॥ १८८ ॥
किञ्च कर्म्मपरीणामस्यास्य सेनापती उभौ । विद्येते प्रबलौ पापोदयपुण्योदयाभिधौ ॥ १८९ ॥ तत्रादिमो महा
मोहभूपालबलपोषकः । चारित्रधर्म्मसैन्यस्य द्वितीयः परः पुनः ॥ १९० ॥ एवं स्थिते च तान्येव प्रतिकूलानि
तेऽनघम् । पापोदयान्मानुषाणि चापन्ते दुःखकारणम् ॥ १९१ ॥ तान्येव चानुकूलानि पुण्योदयवशात्तव । सुख
सन्दोहदायीनि भवन्ति गुणधारण ! ॥ १९२ ॥ किञ्च पापोदयो मित्र मूलादारभ्य तेऽभवत् । तथैव ते प्रसिद्ध
स्वार्थसिद्धः क्वापि भार्यया ॥ १९३ ॥ किं बहुनात्र यत्प्राप्तं प्राप्स्यते च शुभाशुभम् । त्वया तत्रोपयुक्तानि तान्येव
ननु कारणम् ॥ १९४ ॥ अत एव च ते पुण्योदयेन प्रेरिता सदा । भूचरखचरे सैन्ये तस्तम्भ चनन्द्रवता ॥ १९५ ॥
यथोदित भवन्ताह किमकिञ्चित्करास्ततः । धरिराह महाराज ! नैवं मन्याः कदाचन ॥ १९६ ॥ स्वमेव योग्यता
चेत्ः प्रधानं कारणं यतः । सुन्दरेतरवस्तूनां सहकारीणि तानि तु ॥ १९७ ॥ यथोक्त नाथ ! यद्येव मम कार्य
प्रसाधने । किं कारणानीयन्त्येव किं वान्यदपि विद्यते ? ॥ १९८ ॥ धरिरूचे महाराज ! सर्वज्ञः सुस्थितोऽस्ति यः ।
निर्वृतो पुरि तस्याज्ञाप्यत्रार्थे कारणं परम् ॥ १९९ ॥ लङ्घिता सा हि दुःखाय पुराभूदधुना तु ते । पालिता
सुखलेशाय ततोऽपृच्छमहं पुनः ॥ २०० ॥ सञ्चेरमार्यरत्नस्य प्राप्तराज्यस्य च प्रभो ! । उत्तीर्णसम्पत्त्यगृहि
धर्म्मस्य चापि मे ॥ २०१ ॥ विद्यते योऽपमानन्दः सोऽपि सौख्यलवो यदि । परिपूर्णं ततः कीदृक् सौख्यं मम
भविष्यति ? ॥ २०२ ॥ युग्मम् ॥ गुरुः प्राह दृष भवान् कन्यकाः परिणेष्यति । ततस्ताभिः सह प्रेमाध्ये किमपि

यत्सुखम् ॥ २०३ ॥ तदीयापेक्षया सौख्यलेश एवायमस्ति ते । मयाथ गदितं पूज्यपादाः किं निर्दिशन्त्यदः ?
॥ २०४॥ यतस्तिष्ठाम्यहं त्यक्त्वाप्येतां मदनमञ्जरीम् । दीक्षां जिघृक्षुरन्यास्तत्परिणेष्यामि ताः कथम् ? ॥ २०५॥
सूरिराह सहैताभिस्त्वां दीक्षिष्यामहे वयम् । स्थितोऽहमेतच्चाकर्ण्य किमेतदिति विस्मितः ॥ २०६ ॥ ततः
कन्दमुनिः प्राह कतमास्ताः सुकन्यकाः ? । याः प्रभो ! परिणेतव्या राज्ञाथ गुरुरब्रवीत् ॥ २०७ ॥ चित्तसौन्दर्यपुरे
शुभपरिणामभूपतेः । निष्प्रकम्पताचारुताजाते क्षान्तिदये सुते ॥ २०८ ॥ तथा शुभ्रमानसेशशुभाभिसन्धिभूपतेः ।
वरतावर्यतोद्भूते मृदुतासत्यते सुते ॥ २०९ ॥ तथा शुद्धाभिसन्धेः स्तो विशदमानसेशितुः । [1]शुद्धपापभीरुतयोः ऋजु-
ता[2]चौरते सुते ॥ २१० ॥ तथा च शुभ्रचित्तेशसदाशयनरेशितुः । सुते वरेण्यतादेव्यां(°व्याः)स्तो ब्रह्मरतिमुक्तते
॥ २११ ॥ तथा सम्यग्दर्शनस्य विद्याख्या मानसी सुता । सुता चारित्रधर्मस्य विरत्यां च निरीहता ॥ २१२ ॥
कन्या दशैतास्ताः कर्म्मपरिणामो महिपतिः । स्वकुटुम्बस्य मन्त्रेण राज्ञेऽस्मै दापयिष्यति ॥ २१३ ॥ किन्तु
कन्दमुने ! कर्म्मपरिणामानुकू[3]लताम् । राज्ञापि वाञ्छताम्यस्या मैत्र्यादिगुणसंहतिः ॥ २१४ ॥ षण्मासमात्र-
कालेन कुर्वतोऽस्य च मद्वचः । विद्यामादाय सद्बोधमन्त्री सम्यक् समेष्यति ॥ २१५ ॥ विवाह्य कन्यकामेतां
स्थास्यत्यस्यान्तिके च सः । यदसौ किमपि ब्रूते राज्ञा कार्यं ततश्च तत् ॥ २१६ ॥ प्रभो ! महाप्रसादोऽयमित्युक्त्वाहं
प्रणम्य च । प्रविष्टोऽहं पुरे कर्त्तुमारब्धोऽथ गुरोर्वचः ॥२१७॥ अन्यदा भगवद्वाक्यं भृशं भावयतो निशि । मम सुप्त-

---

१ शुद्धतापापभीरुतयोरित्यर्थः । २ °चोरते ता० क० ख० घ । ३ °ठनम् ता० ।

प्रमुदस्य तद्बोधः पार्श्वमाययौ ॥ २१८ ॥ तस्यागममसंवेगस्तन्यास्विकपमुखी मया । दृष्टाथ प्रथमारोहा चिवया
कन्या तदन्तिके ॥ २१९ ॥ तदथा च मयोक्ता सा दृष्टाः सदागमादयः । मातः पृष्टो मया गत्वा हर्षहेतु गुरुर्जगौ
॥ २२० ॥ यत्कर्मपरिणामेन राज्ञस्त्वद्गुणतोषिणा । विद्यामादाय सद्बोधः ससैन्यः प्रेषि तेऽन्तिकम् ॥ २२१ ॥
ज्ञानसंवरणपापोदयादेरस्य वर्त्म च । मन्त्रागारस्य रुरुधे ततोऽभूद्दारुणो रणः ॥२२२॥ सद्भावनाप्रभृते च त्वयि
तत्समर्थं बलम् । सद्बोधस्यागमबलेन नष्टाः पापोदयादयः ॥ २२३ ॥ महत्याथ विक्षेपेण ज्ञानसंवरणं नृपम् ।
सद्बोधस्तेऽन्तिके लब्धजयो विद्यायुगाययौ ॥ २२४ ॥ तदेष हर्षहेतुस्ते पुनस्ते रणकारिणः । क्षीणोपधान्वा
निर्वास्याः सद्बोधादेस्ततस्त्वया ॥२२५॥ इत्युक्त्वा सूरयोऽन्यत्र जग्मुर्मेऽथ गुरोर्गिरा । वर्धमानस्य सद्बोधमिव
इवापदर्शयत् ॥ २२६ ॥ नरौ द्वौ क्षीणपापुतो मामबोधय नामतः । धर्म्मशुक्लाविमौ पीतपद्मशुक्ला इमास्तथा
॥ २२७ ॥ युग्मम् ॥ ततो राज्येऽन्तराप्ते ते नरावेतौ प्रवेशकौ । तथाये योषिताराय पुण्यीतोऽन्यापरं पुनः
॥ २२८ ॥ तदेतयोस्त्वयैतासु यत्नः कार्यस्त्वया महान् । ततो मयोदितं सर्वं करिष्याम्यार्य । ते यथा ॥ २२९ ॥
ततः कथंस्तदारेदं प्रविशामि पुन पुनः । विषयूपौ विलसामि तया च सह विद्यया ॥ २३० ॥ मानयामि
च सद्बोधादीनेव कुर्वतो मम । गते गुरौ क्रियन्मून सञ्चित मासपञ्चकम् ॥ २३१ ॥ ततस्तुष्टेन मे कर्म्मपरि
णामेन दापिताः । ताः कन्यास्तत्पितृभ्योऽस्य विधयावर्षनेषि च ॥ २३२ ॥ सात्त्विकमानसवर्षिविवेकाद्रिस्थितेऽ-

1 "समाऽसिक" स्व० । 2 प्रसमनिवस्था इत्यर्थः । 3 "सद्" ता० क० ग० प० । 4 "वनीपि च ता० क० ग० प० ।

स्म्यथ । नीतो जैनपुरे शुभपरिणामादयोऽमिलन् ॥२३३॥ तेषां सपरिवाराणामुपचारः कृतस्ततः । गणितं मे विवा-
हस्य दिनं क्षान्त्यादिभिः सह ॥२३४॥ अत्रान्तरे महामोहादयो युद्धोद्यता अपि । मद्भर्तुरधुना कर्म्मपरिणामोऽनु-
कूलधीः ॥२३५॥ ततोऽहमेव प्रस्तावं ज्ञापयिष्ये रणस्य वः । भवितव्यतयेत्युक्त्वा सम्परायान्निवारिताः ॥२३६॥
युग्मम् ॥ तथापि दुष्करा दीक्षेत्यादयः कुविकल्पकाः । शत्रुभिर्मे कृतास्तेऽपि सद्बोधस्य गिरा हताः ॥२३७॥
तेन चित्तसमाधाने नीतोऽहं मे च[2] दर्शिताः । चारित्रधर्म्मराजाद्यास्तैः प्रपन्ना च भृत्यता ॥२३८॥ निर्वासिता मदा-
देशान्महामोहादयोऽथ तैः । शोधिता चित्तवृत्तिश्च भग्नान्यरिपुराणि च ॥ २३९ ॥ विवाहः कर्त्तुमारेभेऽथान्तरै[1]-
र्बन्धुभिर्मम । स्थापिता मातरस्तत्र चाष्टौ समितिगुप्तयः ॥२४०॥ धर्मेण निर्मितं तत्र वह्निकुण्डं स्वतेजसा । जज्ञे
पुरोधाः सद्बोधः कर्म्माणि समिधो हुताः ॥ २४१ ॥ ततः सदागमज्योतिषिकेणाहं विधापितः । क्षान्त्यादिकन्य-
कोद्वाहं तुष्टास्तत्पितरोऽखिलाः ॥२४२॥ तथा शुभपरीणामतनया अपरा अपि । तन्निष्प्रकम्पताजाता मया बह्व्यो
विवाहिताः ॥२४३॥ एताश्च ता धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥२४४॥
ततस्तेन स्वभार्याणां वृन्देन सह लीलया । अत्यर्थं निर्भरीभूता ल[3]लतो मे सुखासिका ॥ २४५ ॥ चिन्तितं
च मया सैष सुखस्तोमोऽनुभूयते । यः सूचितो मम पुरः पुरा निर्म्मलसूरिभिः ॥ २४६ ॥ अन्यदा तत्र
सम्प्राप्ताः श्रीमन्निर्मलसूरयः । गत्वा तत्राथ वन्दित्वा प्रव्रज्या याचिता मया ॥ २४७ ॥ सूरिराह महाराज !

१ °स्मि च ता० । २ ऽथ दर्शिताः ख० । ३ लसतो क० ख० ग० घ० ।

माधवोऽस्त्येष सा सव । केवलं व्यवहारेण दातव्या धृष्यतोऽधुना ॥ २४८ ॥ महाप्रसाद इत्युक्त्वा ततोऽत्र
जनधारणम् । राज्ये न्यस्य सुतं कृत्य कृत्यान्यदपि पोषितम् ॥ २४९ ॥ सम मदनमञ्जर्या कुलन्धर
सुतयुतः । श्रीमद्धर्म्मसूरीणां पादान्ते व्रतमाददे ॥ २५० ॥ युग्मम् ॥ ततो मेऽभ्यस्तनिःशेषस्य सद्भमोऽ-
भूदथागमः । तथा स्थिरतरीभूतः स सम्यग्दर्शनोऽपि हि ॥ २५१ ॥ प्रमथतापगादीनि रिपुक्रीडास्पदानि च ।
मयानि सुतरां चित्तधिमक्रेऽतिनिर्म्मला ॥ २५२ ॥ एवं चिरस्य पर्यन्ते विहितानशनस्य मे । मयिवस्यतया
लोपादपरा गुटिका ददे ॥ २५३ ॥ तयेश्वरा च नीत्वाहं स्थापितो विबुधालये । कल्पातीतेषु विबुधेष्वाद्यग्रैवेयके
सुखम् ॥ २५४ ॥ ततश्चैरवते सिंहपुरे देवामहेन्द्रयोः । सुतो गङ्गाधरो नाम क्षत्रियो निर्मितस्तया ॥ २५५ ॥
लास्या जातिस्मृतेर्दीक्षां सुघोषाचार्यसन्निधौ । ग्रैवेयके द्वितीयेऽगां मापविशेषेण पूर्ववत् ॥ २५६ ॥ परिपाट्यानया
भद्रे ! कृताः पञ्च गमागमाः । मानवीयां समादाय ग्रैवेयकनिवासिषु ॥ २५७ ॥ एकैकशस्या जातानि तत्र तत्र
ममानघे ! । सागरोपमानि यावत् पञ्चमे सप्तविंशतिः ॥ २५८ ॥ ततश्च पश्चवारायां भरते शङ्खनामके ।
पुरे मत्तमयस्पन्दशोकीसपत्नमन्वने ॥ २५९ ॥ पुत्रो मन्नामरागिर्योर्मातोऽहं सिंहनामकः । राजपदे शुभाकारः
क्रमात्प्राप्तश्च यौवनम् ॥ २६० ॥ युग्मम् ॥ अन्यदा धर्म्मघ व्याख्यगुरोः पार्श्वे व्रतं मया । मधुरेऽथ समभ्यस्तो
साम्यादाः सदागमः ॥ २६१ ॥ ततश्च स्थापितः स्थाने निजेऽत्र गुरुणा तदा । समापेकृत्सवमके साधितमासिले
जैनैः ॥ २६२ ॥ ततो मे कुर्वतो व्याख्यां हेलानिर्जितवादिनः । पूजितस्य च रामायेल्लकास यशोमरः ॥ २६३ ॥

ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य समृद्धिं भुवनाद्भुताम्। ईर्ष्ययेव महापापा रुष्टा मे भवितव्यता ॥ २६४ ॥ महामोहादिभिरथ ज्ञापितावसरैस्तया। पर्यालोचेन विषयाभिलाषस्य ममान्तिके ॥ २६५ ॥ मिथ्यादर्शनयुक्तः प्रैषि ज्ञानसंवरणो नृपः। शैलराजो गौरवाख्यनरत्रययुतस्तथा ॥ २६६ ॥ तदनु प्रेषितो रौद्राभिसन्धिकृतसन्निधिः। आर्त्ताशयाख्यः पुरुषस्ततस्तस्य च पृष्ठतः ॥ २६७ ॥ स्वत एवाययुः कृष्णनीलकापोतनामिकाः। स्त्रियस्तिस्रः स्वयं चैतैर्महामोहादिवैरिभिः ॥ २६८ ॥ प्रमत्ततां प्रवाह्योच्चैर्मण्डपादीनि तान्यलम्। कृतानि विस्मृतं मेऽथ सार्द्धं पूर्वचतुष्टयम् ॥ २६९ ॥ विशेषकम् ॥ ततोऽनन्तानुबन्धाख्यशैलराजोदये सति। मिथ्यादर्शनवश्योऽहमभवं मूढचेतनः ॥ २७० ॥ गौरवत्रितयस्यापि मयाथ वशवर्त्तिना। त्यक्तमुग्रविहारित्वं शिथिलत्वं तथादृतम् ॥ २७१ ॥ ततश्चारित्रधर्म्माद्याश्चित्तवृत्तौ तिरोहिताः। जातः श्रमणवेषोऽपि मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥ २७२ ॥ ततो रुष्टेन मे कर्म्मपरिणामेन भूभुजा। पापोदयं पुरस्कृत्य समादिष्टौ मया सह ॥ २७३ ॥ तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधौ मन्त्रिबलाधिपौ। समन्वितस्ततस्ताभ्यामहं पापोदयेन च ॥ २७४ ॥ भवितव्यतयैकाक्षनिवासे गुटिकावशात्। नीत्वाऽवस्थापयाञ्चक्रे वनस्पत्याख्यपाटके ॥ २७५ ॥ विशेषकम् ॥ प्रासादापवरकाणां नीत्या पूर्वोक्तयात्र च। कालं कियन्तमप्यस्थामन्यान्या गुटिका अदन् ॥ २७६ ॥ ततो नीतोऽन्यदान्येषु पाटकेषु पुरेषु च। पञ्चाक्षपशुसंस्थानेऽथानीतश्च कदाचन ॥२७७॥ ततो विशुद्धभावत्वान्नीतोऽस्मि विबुधालये। मुहुर्गमागमैर्व्यन्तरादिकल्पाष्टकावधि[1]

१ ०कावधेः ग० ।

॥ २७८ ॥ ततश्च मानवावासेऽपि कर्म्माकर्म्मभूमिषु । नीत्वा कल्पोपपन्नेषु कदापि क्वापि निर्म्मितः
॥ २७९ ॥ तथा च ऊर्ध्वार्हदीक्षां तपोनिष्ठ्यवेदकः । शुक्लः क्रियाकलापेन ध्यानाभ्यासपरायणः ॥ २८० ॥
केवलं किञ्चिदाप्तोक्तं पदं वाक्यमथाक्षरम् । अभव्यश्च जातः सर्वग्रैवेयकेष्वपि ॥ २८१ ॥ युग्मम् ॥ भ्रमण
स्यास्य हेतुश्च भद्रे ! सर्वेदृष्टेष्विति । यत् सिद्धाचार्यवाकाले क्षेपितव्य विदधे मया ॥ २८२ ॥ यथागृहीतसङ्केता
प्राहैतदि न केवलम् । दुःखं पूर्वोक्तमपि ते कृतं स्वैरेव दुष्कृतैः ॥२८३॥ संसारिजीवः प्रोचेऽथ शृणु ! त्वं चर्चसेऽ-
धुना । नाम्नाऽगृहीतसङ्केता मायतस्तु विचक्षणा ॥ २८४ ॥ तदाकर्ण्यैव चार्वङ्गि ! साम्प्रतं येन हेतुना । जातोऽ
हमीदृशावस्थस्तस्कराकारधारकः ॥ २८५ ॥ ततो ग्रैवेयकावन्त्यादानीतोऽहं महेलया । पुरीं मनुजगत्यन्तः
पातिनीं क्षेमनामिकाम् ॥ २८६ ॥ सा च मनुजगत्यन्तर्महाविदेहनामके । हट्टमार्गेऽस्तीत्यभ्रेऽपि भानाति मचली
किल ॥ २८७ ॥ सुकच्छविजयस्थानमिदं भद्रे ! निगद्यते । यत्र स्थिता यथ यूप पुरी सा च मनोहरा ॥ २८८ ॥
तत्रास्ति चर्चयत् भार्या नाम राजा युगन्धरः । तद्देव्योऽप्युत्कृष्टरूपा देव्यस्य नलिनीति च ॥ २८९ ॥
चतुर्दशमहास्वप्नालोकसूचितपौरुषः । तस्याः कुक्षावहं क्षिप्तो भवितव्यतया ततः ॥ २९० ॥ परिपूर्णेऽथ
कालेऽहं जातः पुण्योदयान्वितः । जन्मोत्सवं च पितरौ कारयामासतुर्मुदा ॥ २९१ ॥ ततो महाप्रमोदेन व्यतीते
मासमात्रके । मम प्रतिष्ठितं नाम चक्रायमनुसुन्दरः ॥ २९२ ॥ ततोऽभ्यस्तकलः प्राप तारुण्यकमहं क्रमात् ।
यौवराज्येऽभिषिक्तोऽथ तातेनोत्सवपूर्वकम् ॥ २९३ ॥ पितर्युपरते चाहं षट्खण्डविजयाधिपः । चक्रवर्त्यभव

भोगसरःकर्दमक्षकरः ॥ २९४ ॥ एवं च पूर्वलक्षाणां किञ्चिदूना गता मम । चतुर्भिरधिकाशीतिः प्राज्य-
साम्राज्यशालिनः ॥ २९५ ॥ अन्यदा च ससैन्योऽहं देशदर्शनकाम्यया । प्राप्तश्चित्तरमोद्यानेऽस्मिन् शङ्खपुरमण्डने
॥ २९६ ॥ इतश्च यानि मेऽभूवन् गुणधारणजन्मनि । तद्यथा प्रथमो धर्म्मदेष्टा कन्दाभिधो मुनिः ॥ २९७ ॥
कुलन्धरो वयस्यश्च भार्या मदनमञ्जरी । तान्यप्येषा भवचक्रेऽभ्रमयद्भवितव्यता ॥ २९८ ॥ सोऽथ कन्दमुनिः
क्वापि कृतमायः समाहृतः । अस्यैव विजयस्यान्तर्भूते हरिपुरेऽनया ॥ २९९ ॥ तत्र भीमरथो राजा सुभद्रा
तस्य च प्रिया । समन्तभद्रनामा च तयोरस्ति तनूद्भवः ॥ ३०० ॥ ततः कुक्षौ सुभद्रायास्तया कन्दः प्रवेशितः ।
क्रमाच्च निर्गतो जाता महाभद्राभिधा सुता ॥ ३०१ ॥ समन्तभद्रो जग्राह गृहवासपराङ्मुखः । युवापि हि परिव्रज्यां
सुघोषाचार्यसन्निधौ ॥ ३०२ ॥ क्रमादधीतनिःशेषसिद्धान्तं तं महामतिम् । स्वपदे स्थापयामासुर्गुरवो गुणवेदिनः
॥ ३०३ ॥ महाभद्रां च तां रविप्रभपद्मावतीसुतः । राजा गन्धपुराधीशः परिणिन्ये दिवाकरः ॥ ३०४ ॥
दैवात् तस्मिंश्च पञ्चत्वं गते सा व्रतमग्रहीत् । भ्रात्रा समन्तभद्रेण सूरिणा प्रतिबोधिता ॥ ३०५ ॥ प्रवर्त्तिनीपदेऽ-
स्थापि गीतार्था [3]सा च सूरिभिः । विहरन्ती च सम्प्राप पुरे रत्नपुरेऽन्यदा ॥ ३०६ ॥ तस्मिन्मगधसेनाख्यः
समस्ति पृथिवीपतिः । सर्वान्तःपुरसारास्य देवी नाम्ना सुमङ्गला ॥ ३०७ ॥ इतः सा तत्सुतात्वेन कृता
मदनमञ्जरी । भवितव्यतया साभून्नाम्ना सुललितेति च ॥ ३०८ ॥ उद्यौवनापि पुरुषद्वेषिणी सा नृपात्मजा ।

१ निर्गमे जाता ग० । २ महीपतिम् ग० । ३ साऽथ सू॰ क० ख० ग० घ० ।

वरं कमपि नेयेप विषण्णौ पितरौ ततः ॥ २०९ ॥ तत्रायातां महामन्त्रां श्रुत्वा तामथ वन्दितुम् । जग्मतुस्तौ
सपुत्रीकौ हृष्टौ देवीनरेश्वरौ ॥ २१० ॥ वन्दित्वाथ यथास्थान तयोरासीनयोः पुरः । सापि मन्त्री महामन्त्रा विदधे
धर्मदेशनाम् ॥ २११ ॥ मौग्ध्यादपुच्छमानापि स्फुटं भगवतीयं सा । तत्र पूर्वभवस्नेहात् तात सुललितावदत्
॥ २१२ ॥ ममथस्या मया तात ! सेव्य पादाम्बुजद्वयम् । ततो मामनुजानीहि येन यामि सहैतया ॥ २१३ ॥
ततः सुमङ्गलारोदीद् राज्ञोचे देवि ! मा रुदः । करोत्वेतदियं माभ्यस्या विनोदोऽयमेव यत् ॥ २१४ ॥
स्थेय गृहस्थया किन्तु भगवत्यन्तिकेऽनया । दीक्षाग्रहणवार्तापि कार्या नास्मदपृच्छया ॥ २१५ ॥ महाप्रसाद
इत्युक्त्वा ततः सुललितापि सा । प्रावर्तत प्रवर्तिन्या सार्द्धं विचरितुं धराम् ॥ २१६ ॥ कर्म्मोदयवशात् किन्तु
कथ्यमानमपि स्फुटम् । सामाचार्यादिकं नैव बुध्यते किञ्चिदप्यसौ ॥ २१७ ॥ आयाताऽत्र महामन्त्रा पुरे शङ्ख-
पुरेऽन्यदा । नन्दस्य श्रेष्ठिनो यक्षशालायामभ्युवास च ॥ २१८ ॥ इतश्चात्र पुरे राजा श्रीगर्भो मम मातुलः ।
महामन्त्रामातृष्वसा कमलिन्यस्य च प्रिया ॥ २१९ ॥ उपयाचितकादीनि भूयांसि तनयार्थिनी । चक्रे भूपप्रिया
सा च किमार्थः कुरुते न हि ? ॥२२०॥ भवितव्यतया सोऽथ कृतपुण्यः कुलन्धरः । तस्याः प्रविष्टः कुक्षौ दृष्टः
स्वप्नोऽनया ततः ॥२२१॥ पुरुषः सुन्दराकारो मुखेनाङ्के प्रविश्य मे । निर्गत्य च गतः क्वापि नरेण सह केनचित्
॥ २२२ ॥ स चाख्यातस्तया भर्त्रे स्वप्नस्तेनोदितं ततः । भावी सुतस्ते किन्त्वाप्य गुरु स प्रव्रजिष्यति ॥ २२३ ॥
ततः कमलिनी तस्य मासेऽभ्यासास्तृतीयके । धर्म्मकृत्ये दोहदोऽभूभूपेन स च पूरितः ॥ २२४॥ पूर्णे काले ततो

जातः सुतोऽथ नृपतिर्मुदा । जन्मोत्सवं पौण्डरीक[1] इत्याख्यां चास्य निर्ममे ॥३२५॥ इतः समन्तभद्रोऽपि भगवान्
जातकेवलः । अत्र चित्तरमोद्याने समेत्य समवासरत् ॥ ३२६ ॥ पौरलोकोऽथ तं नन्तुं महाभद्रा च निर्ययौ ।
वन्दित्वा देशनां श्रुत्वा स्वं स्वं स्थानं जनेष्वथ । गतेषु
तमायातं सुललिता कथञ्चिद् बुबुधे न तु ॥ ३२७ ॥
भगवानेवं महाभद्रामभाषत ॥ ३२८ ॥ आर्ये ! तावन्नृपसुतः पौण्डरीकः क्रमादसौ । भविष्यति हि मे शिष्यः
[2]प्रशस्यगुणभाजनम् ॥ ३२९ ॥ ततो राजकुलं गत्वा राजसूनुरसौ त्वया । प्रतिचर्यः प्रतिदिनं तत्पित्रोरनुवर्त्तनात्
॥ ३३० ॥ तथेति प्रतिपद्याथ तद्वचः सा स्वमाश्रयम् । ययौ तच्च गुरोर्वाक्यं विधातुमुपचक्रमे ॥ ३३१ ॥
इतः सुललिता सापि विचरन्त्यन्यदाययौ । तत्र चित्तरमोद्याने सूरीन्द्रं तं ददर्श च ॥ ३३२ ॥ तमेवं च
तदा पौराः पप्रच्छुर्यदसौ प्रभो ! । वर्धमानः पौण्डरीकः कीदृग् भावी नृपात्मजः ? ॥ ३३३ ॥ सूरिरूचे क्रमादेष
वर्द्धमानो भविष्यति । गुणानामेक आधारो रत्नानामिव सागरः ॥ ३३४ ॥ किञ्चैष जनितः कर्म्मपरिणामेन
भूभुजा । शुभेन शुभया कालपरिणत्या च निश्चितम् ॥ ३३५ ॥ स्वयं च भव्यपुरुषः सुमतिश्चैष वर्त्तते । ततो
योक्ष्यत एवायं सर्वैरपि गुणैः क्रमात् ॥ ३३६ ॥ यदि बालं बहूक्तेन भूत्वासौ मत्समो गुणैः । भविष्यत्य-
चिरादेवं[3] भवतां नयनोत्सवः ॥ ३३७ ॥ तच्छ्रुत्वा तेषु सर्वेषु पौरेषु मुदितेष्वलम् । दध्यौ सुललिता सैवं विस्मया-
पूर्णमानसा ॥३३८॥ सर्वज्ञ इव को ह्येष भावानाख्याति भाविनः ? । कथं वा पौण्डरीकस्य पित्रोर्नामविपर्ययम् ?

---

१ पुण्ड° क० ख० ग० घ० । २ प्रशमगुणभाजनम् ता० । ३ °ष भ° ता० ।

॥ ३३९ ॥ पौण्डरीकाभिधानोऽपि भूमर्तुरपमारमजः । कथं सा भव्यपुत्र्यः सुमतिश्चेति शसितः ? ॥ ३४० ॥ एन
सन्देहसन्दोह वस्त्रस्यामि प्रपर्शिनीम् । स्वरूप सर्वभावानां वेत्ति प्रायम सा यतः ॥ ३४१ ॥ पर्यालोच्येति यसति
यस्या सुललिता ततः । मनश्चिन्तितमप्राक्षीन् महाभद्रां सविस्मया ॥ ३४२ ॥ उपायेनामुनैवास्या मुग्धायाः
श्रीजिनागमे । प्रीतिं संजनयामीति ध्यायन्ती साप्यदोऽवदत् ॥ ३४३ ॥ तत्र विपरमोद्याने भगवान् श्रीसदा
ममः । त्वया सुललिते ! मन्ये निन्ये नयनगोचरम् ॥ ३४४ ॥ यतो भूतभवद्भाविभावाभावावभासनम् । कर्तुं स
एव यथाधि ! यदिशः कोऽपि नापरः ॥ ३४५ ॥ कर्मपरिणामकलपरिणस्यद्धजन्मता । या पौण्डरीकमुद्दिश्य
तेनोक्ता सापि सुन्दरा ॥ ३४६ ॥ विधिवौ पितरौ यातौ यतो यद्यपि जन्मिनाम् । तथापि तत्त्वतस्तेषां तावेव
जनकौ मतौ ॥ ३४७ ॥ तौ विना हि न कोऽप्यन्यो विश्वमेतच्चराचरम् । क्षमः स्रष्टुं पौण्डरीकस्यापि तौ जनकौ
ततः ॥ ३४८ ॥ पौण्डरीकाभिधानोऽपि भव्यत्वाद् भव्यपूरुषः । सन्मतित्वाच्च सुमतिः समाख्यातश्च तेन सः
॥ ३४९ ॥ ततो धन्यासि कस्यापि ! कल्याणैकनिकेतनम् । सदागमः स भगवान् यया साक्षान्निरैक्ष्यत ॥ ३५० ॥
ममापि च महाभागे ! मायते परिकमप्यदः । तवस्य चरणाम्भोजसेवासंजनित फलम् ॥ ३५१ ॥ तदेव परमो
य गुरुः पिता माता महत्गुरुः । सर्वेषामपि सत्त्वानामिति भद्रे ! विभाव्यताम् ॥ ३५२ ॥ भयाचोपसुललिता
ललिताक्षरया गिरा । शार्दं भगवता तेन ममापि कुरु संस्तवम् ॥ ३५३ ॥ साधु साध्विति जल्पन्ती महाभद्राथ
तां द्रुतम् । तदभ्यर्णेऽनयत् तं च प्रणमय्य न्यषेदयत् ॥ ३५४ ॥ विलोक्याद्भुतमाकारं तस्याकम्प्य च

देशनाम् । बहुमानोऽभवद् भूपपुत्र्यास्तत्र सदागमे ॥ ३५५ ॥ अभ्यधाच्च महाभद्रां कृतार्था भगवत्यसि । यस्याः
परिचयोऽनेन पुरुषेण महात्मना ॥ ३५६ ॥ अहं तु मन्दभाग्यास्मि विश्वत्रितयबान्धवः । ददृशे यद् दृशाप्येष
नेयन्तं समयं यया ॥ ३५७ ॥ स्वार्थैकनिष्ठतां मन्ये तत्रापि भगवत्यहम् । यया न दर्शितः कालमियन्तं भग-
वानयम् ॥ ३५८ ॥ सम्प्रत्यपि ततो मेऽसौ दर्शनीयो दिने दिने । भवतीव भवाम्युच्चैर्येनाहमपि पण्डिता ॥ ३५९ ॥
भवत्वेवमिति प्रोक्ते प्रवर्त्तिन्याथ तद्युता । चक्रे सुललिता नित्यं भगवत्पर्युपासनम् ॥ ३६० ॥ लङ्घिते मासकल्पेऽथ
सूरिरूचे प्रवर्त्तिनीम् । क्षीणजङ्घाबलासि त्वं तिष्ठात्रैव ततोऽनघे ! ॥ ३६१ ॥ विहृत्य वयमन्यत्र कतिचिद्दिवसान्पुनः ।
भूयोऽप्यत्र समेष्यामः प्रतिजागरणाय ते ॥ ३६२ ॥ विशिष्टालम्बनं युष्मत्प्रतिजागर एव नः । अस्यापि मासकल्पस्य
करणेऽप्यत्र कारणम् ॥ ३६३ ॥ साधूनामन्यथा क्षेत्रे साध्वीभिः समधिष्ठिते । न विधातुं महाभद्रे ! मासकल्पोऽपि
कल्पते ॥ ३६४ ॥ त्वया च प्रतिचर्योऽयं पौण्डरीको निरन्तरम् । ज्ञानभारमिहारोप्य निजं स्यां येन निर्वृतः ॥ ३६५ ॥
इत्याख्यायान्यतो जग्मुर्विहर्तुमथ सूरयः । महाभद्रापि तच्छिक्षामादृता कुरुतेऽन्वहम् ॥ ३६६ ॥ पौण्डरीकोऽपि
हि महाभद्रायां स्निग्धमानसः । यथोदितगुणोपेतः क्रमाद्यौवनमासदत् ॥ ३६७ ॥ विहरन्तोऽथ भूयोऽपि सूरयस्ते
समाययुः । निनाय पौण्डरीकं च महाभद्रा तदन्तिके ॥ ३६८ ॥ भव्यत्वात्सुमतित्वाच्च भगवन्तं विलोक्य
तम् । निशम्य देशनां तस्य राजभूर्मुमुदेऽधिकम् ॥ ३६९ ॥ क एष भगवानेवमप्राक्षीच्च प्रवर्त्तिनीम् । तस्य
जैनागमे भक्तिं तन्वानाख्यत साप्यदः ॥ ३७० ॥ अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सुरासुरनतक्रमः । तत्त्वज्ञैर्भगवान् भद्र !

प्रोच्यतेऽसौ सदागमः ॥ २७१ ॥ तारकाणामपि व्योम्नि गणना क्रियते बुधैः । न तु गीःपतिरप्यस्य शक्तो गणयितुं गुणान् ॥ २७२ ॥ रत्नचूडस्ततोनाथ यथैवं भगवत्यहम् । आगमार्थं जिघृक्षामि पार्श्वेऽस्यैव दिवानिशम् ॥ २७३ ॥ महामन्त्रापि तद्वाक्यं श्लाघमाना न्यवेदयत् । तस्मिन्नोस्तदभिप्राय गत्वा सत्वरमेव तम् ॥ २७४ ॥ ततस्तामपि सानन्दो गत्वा भगवतः सुतम् । अर्प्पयामासतुर्भक्त्या सिद्धान्ताभ्यासहेतवे ॥ २७५ ॥ पौण्डरीकस्तत स्तस्य पार्श्वे भगवतः सुधीः । सिद्धान्ततत्त्वमादत्ते गुरुस्योचितमन्वहम् ॥ २७६ ॥ अथान्यदात्रैव वने मनोनन्दन नामनि । चैत्ये च सद्धमभ्यस्ते प्रभौ वन्दति देवनाम् ॥ २७७ ॥ महामन्त्रासुललितापौण्डरीकेषु तेषु च । तत्पुरो विनिविष्टेषु मत्सैन्यतुमुलोऽभवत् ॥२७८॥ युग्मम् ॥ तत्कर्णायां तमाकर्ण्य आतापामिह पर्षदि । महामन्त्रीं सुललिता पप्रच्छ किमिदं ननु ? ॥ २७९ ॥ जाने नाहमिति तया प्रोक्तेऽथ भगवानसौ । सुललितापौण्डरीकप्रबोधाया भ्यधत्त ताम् ॥२८०॥ महाविशाले ! मुग्धेव किं न वेत्सि स्वमप्यदः ? । तावन्मनुजगत्याख्या विख्याता पदियं पुरी ॥ २८१ ॥ महाविदेहरूपोऽयं हट्टमार्गश्च विश्रुतः । यत्र सान्प्रतमासीनाः सर्वेऽपि वयमास्महे ॥ २८२ ॥ नृपातः कर्म्मपरीणामनामा चात्र महीपतिः । विदिता कालपरिणत्यभिधा तस्य च प्रिया ॥ २८३ ॥ संसारि जीवनामाय तस्करोऽथ सलोप्त्रकः । प्राप्य राज्ञेऽर्प्पितो दुष्टाशयाद्यैर्दण्डपाशिकैः ॥ २८४ ॥ तदाज्ञयाधुना त्वन्तु पापिपञ्जरनामके । वध्यस्थाने स तेमोरो हट्टमार्गेण नीयते ॥ २८५ ॥ नीयमानस्य तस्यायं डिण्डिम धनिसंकुलः । भूपते विहितो कालेसुसस्तुमुलोऽन्वये ! ॥ २८६ ॥ मुग्धा सुललिता साथ तामुवाच प्रवर्तिनीम् ।

॥ ३८७ ॥ पुरं शङ्खपुरं चैतद्विख्यातं न तु सा पुरी। वनं चित्तरमं चेदं
महाभद्रा नहि प्रज्ञाविशाला भगवत्यसि कमलिन्यस्य नो कालपरिणत्यभिधा
हृद्बुमार्गस्तु नैव सः ॥ ३८८ ॥ श्रीगर्भश्चात्र नो कर्मपरिणामो महीपतिः। अपूर्वमिव मे सर्वमिदं हि प्रतिभासते ॥३९०॥
प्रिया ॥३८९॥ तत्किमित्येष भगवान् समाख्याति ? निवेदय ?। सर्वथा ॥ ३९१ ॥ स्थिरा भव ततो
प्रोचेऽथ भगवानेवं परमार्थं न बुध्यसे। वत्सेऽगृहीतसङ्केता यतस्त्वमसि ही ममाप्यपरं नाम कृतं भगवते-
येन भवत्यपि शनैः शनैः। पृष्टमर्थमिमं नून सर्वमप्यवभोत्स्यते ॥ ३९२ ॥ महाभद्रा त्वचिन्तयत्। पापः
त्यथ। चिन्तयित्वा सुललिता बाढं हृदि विसिष्मिये ॥ ३९३ ॥ विज्ञातसूरिवाक्यार्था शक्यो मोच-
कोऽप्येष निर्दिष्टः प्रभुणा नरकंगमी ॥ ३९४ ॥ ततः सा जातकारुण्या भगवन्! कथमप्यसौ। मत्समीपागमाच्चास्य
यितुं चौरो नवेति प्रभुमभ्यधात् ॥ ३९५ ॥ प्रभुरप्येवमाचख्यावार्ये! त्वदवलोकनात्। मत्पार्श्व-
मोक्षोऽवश्यं भविष्यति ॥ ३९६ ॥ महाभद्राह याम्यस्याभिमुखं भगवन्नहम्। गच्छेति प्रभुणा प्रोक्ते भगवत्पार्श्वमेतया
मियमाययौ ॥ ३९७ ॥ सदागममिमं भद्र! शरण्यं शरणं श्रय। इत्युक्त्वा चाहमानीतो प्रभुणा-
॥ ३९८ ॥ ददृशे पर्षदा चैवं तस्कराकारधारकः। मयापि शरणत्वेन प्रपन्नो भगवानसौ ॥ ३९९ ॥ भगवत्प्रभृतीनां
श्वासितश्चाहं नष्टास्ते राजपूरुषाः। पृष्टस्त्वयाहं वृत्तान्तं कथितोऽसौ मया तव ॥ ४०० ॥ येनायं सत्यमेवाख्यातीति
च वृत्तान्तो विदितोऽप्यसौ। स्वसंवित्तिनिमित्तं ते मया भद्रे! निवेदितः ॥ ४०१ ॥ साह बाढमभूदात्मगोचरः केवलं
सर्वत्र जायते। प्रत्ययस्ते मदाख्याते तत्तेऽभूत् प्रत्ययोऽधुना ? ॥ ४०२ ॥

पदि। अनुसुन्दरचक्री स्वं तत्कथं चौररूपभृत् ? ॥ ४०३ ॥ स प्राह सुभयोर्भद्रे ! प्रतिबोधनहेतवे। तस्करस्य
मया रूपं विदधे नटिरम्यदः ॥ ४०४ ॥ यतोऽहमान्तरं चौर्यमुद्दिश्य भवतां पुरः। प्रमुमास्यातः संसारि
जीवनामा मलिम्लुचः ॥ ४०५ ॥ ततोऽस्यां महाभद्रायां गतायां सम्मुखं मम। तद्दर्शनाच्च संजाते प्रबोधे चिन्तितं
मया ॥ ४०६ ॥ वेत्ति प्रज्ञाविशालेयं महाभद्रा हि यद्यपि। इदं मगधरावितं तस्करस्य ममान्तरम् ॥ ४०७ ॥
तथापि ग ममप्यस्य वेत्ति व्यतिकरस्य न। सुललिता साऽप्यतीवसद्देतायापि निश्चितम् ॥ ४०८ ॥ युग्मम् ॥
ततो विलोक्य मां चक्रवर्तिरूपमुत मृतम्। सदागमवचस्यस्या विसंवादो भविष्यति ॥ ४०९ ॥ किञ्चाय पौण्ड
रीकोऽपीत्थमेव प्रतिभोत्स्यते। यतोऽसौ भव्यपुरुषः सुमतिश्चापि वर्तते ॥ ४१० ॥ विचिन्त्येत्यन्तरङ्गात्मस्वरूपा
वेदकं मया। रूपं वैक्रियकरुपेदृग् विदधे नटिरम्यदा ॥४११॥ ततः सुललिता प्राह कीदृक् तच्चौर्यमान्तरम्। यत्कृत
भवता ? तत्र कथं चेदृग् विडम्बना ? ॥ ४१२ ॥ वेत्ति स्वस्य परेषां च कथं वा चरितं भवान् ?। तदतस्कथ्यतां
सर्वं चक्रवर्ती ततोऽभवत् ॥ ४१३ ॥ अन्त्यग्रैवेयकायावत् सुकच्छविजयेऽभवम्। क्षेमपुर्यां युगन्धरनलिनी
सोऽनुसुन्दरः ॥ ४१४ ॥ अत्रान्तरे महामोहप्रमुखानखिलानपि। इत्थं प्रोत्साहयामास भद्रे ! सा भवितव्यता
॥ ४१५ ॥ सम्यग्दर्शनदुःस्थो यावदेषोऽनुसुन्दरः। यतध्वं तावदेवात्र भूय भोः ! स्वार्थसिद्धये ॥ ४१६ ॥
अन्यथा प्राप्य तं क्वापि परिपोष्य निजं बलम्। भवतां प्राग्वदेवायं बाधाकारी भविष्यति ॥ ४१७ ॥ ततश्च
चेष्टितो विषग् बाल्यादारभ्य तैरहम्। विस्मृताशेषसम्यक्त्वः पुनस्तन्मयतां गतः ॥ ४१८ ॥ कौमारे यौवने

चक्रवर्त्तित्वे च ततो मया । मांसाशनसुरापानाद्यकृत्यं किं न्यधायि न ? ॥ ४१९ ॥ एवं च वर्त्तमानेन मया ते
भावशत्रवः । विस्मृत्य पूर्ववृत्तान्तं बन्धुबुद्ध्यावधारिताः ॥ ४२० ॥ तैः प्राप्तप्रसरैश्चित्तवृत्तिर्मलिनिताथ मे ।
चारित्रधर्म्मराजस्य निरुद्धं चाखिलं बलम् ॥ ४२१ ॥ तिरोहितं च तत् क्षान्तिमुख्यान्तःपुरमान्तरम् । जातं कर्म्म-
परीणामराज्यं पापोदयोऽस्फुरत् ॥ ४२२ ॥ विस्फूर्जितं महामोहसैन्यं स्वस्वपुराणि च । संस्थापितानि पूरेणात्रहत्
सिन्धुः प्रमत्तता ॥ ४२३ ॥ तद्विलसितमुख्यानि सज्जितान्यखिलानि च । किं बहूक्तेन सामग्री सर्वा साभूत्पुनर्नवा
॥४२४॥ पर्यालोचेऽथ विषयाभिलाषः स्वानभाषत । भो ! भोः ! सर्वे महीपालाः ! संचिन्तयत मद्वचः ॥ ४२५ ॥
मन्दादरात्पुरा नाशं वीक्ष्य तादृक्षमात्मनः । मन्दादरो न युक्तो वः साम्प्रतं कर्तुमत्र भोः ! ॥४२६॥ दृष्टदाहास्ततो
यूयं यतध्वमधुना तथा । नित्यं निष्कण्टकं राज्यं युष्माकं जायते यथा ॥ ४२७ ॥ ते प्रोचुरिष्टतद्वाक्याः किमत्र
क्रियते पुनः ? । सचिवोऽप्यभ्यधादेतदेतच्च क्रियतामिह ॥ ४२८ ॥ ततस्तदुपदेशेन प्रोत्साह्य स्वयमेव तैः । ग्राहि-
तोऽहमिति प्राज्यं वर्गणाभिर्विनिर्मितम् ॥ ४२९ ॥ द्रव्यजातमकुशलनामकं क्षेत्रसंस्थितम् । तस्य कर्म्मपरीणाममही-
पालस्य सुन्दरि ! ॥ ४३० ॥ युग्मम् ॥ ततस्तैस्तस्करत्वेन ज्ञापिते मय्यसौ नृपः । प्रोचे यथा विडम्ब्यैष
मार्य्यतां पापिपञ्जरे ॥ ४३१ ॥ तन्निशम्य महामोहादिभिः सर्वैः प्रमोदिभिः । परिलिप्तः कर्म्ममलभस्मना
चर्चितस्तथा ॥ ४३२ ॥ राजसैर्गैरिकहस्तैर्मषीपुण्ड्रैश्च तामसैः । रागकल्लोलमालाख्यकणवीरस्रजार्चितः ॥ ४३३ ॥
विडम्बितः कुविकल्पततिशरावमालया । पापातिरेकपिटकखण्डेन च विनाटितः ॥४३४॥ आरोपितोऽसदाचाराभिधे

महति रासभे । महाश्मशलोप्यम स्वरूपगलकन्दले ॥ ४३५ ॥ दुष्टाश्वयादिभिर्दुष्टपुरुषैः परिवेष्टितः । कषायाभि
परिम्लानो तद्वचैराकुलीकृतः ॥ ४३६ ॥ अन्यादिभोगनिरसविम्बिसमथानिलाषितः । पापलोकविलासाश्रयपुर्दी
न्याहिताकुलः ॥ ४३७ ॥ महाविदेहरूपाड्मार्गेणाह स्वनीयताम् । दर्शनच्छपना निःसारितो सम्यगेव प्रति
॥ ४३८ ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥ ततानीतस्य देशेऽत्र युष्माभिर्मम स भुवः । सैन्यकोलाहलो यावन्महाभद्रा
पगाम माम् ॥ ४३९ ॥ इत्याह तदा पश्चात् त्यक्त्वा सैन्यं स्वलीलया । सम्प्रापमिदमुद्यानं रासभश्चमवेष्टितः
॥ ४४० ॥ ततो वनप्रिय द्रुमपीर्व्येन महेभतः । आगच्छन्ती मया भद्रे ! महाभद्रा विलोकिता ॥ ४४१ ॥
ततोऽस्याः प्रागभ्यासात् बहुमानोऽभवन्मम । तयापि मयि सस्नेहा निःस्पृहाप्यभवत् दृशम् ॥ ४४२ ॥
मया नमस्कृता दत्ता धर्मलाभाशिष ततः । वैराग्यकारिणो मह्यमुपदेशानसौ ददौ ॥ ४४३ ॥ जातिस्मरणमस्याश्च
यद्वे मद्दर्शनात् । ततोऽपि पापविज्ञान विशुद्धाध्यवसायतः ॥ ४४४ ॥ तद्वशाच्च विशुद्धासमस्पर्शमचेष्टिता ।
निदेशान्मुपदेशान्मे यावदेषा प्रयच्छति ॥ ४४५ ॥ तावन्मार्गे क्षिपद्वर्गे निर्मिथ प्रतिरोधकम् । सम्यग्दर्शनसद्बोधौ
मत्समीपमुपेयतुः ॥ ४४६ ॥ युग्मम् ॥ ततो ममापि समभूदीहापोह प्रकर्षतः । जातिस्मृतिस्तयास्मार्षमस्यां
मोक्षधारिणीम् ॥ ४४७ ॥ ततोऽप्युपायतो प्रोक्तममायस्य मेऽन्वितम् । समोधमित्रमथचिनिर्नित्यात्मविरोधि
नम् ॥ ४४८ ॥ ततो दृष्टा मयार्यस्या दीयाविपक्षमथास्तथा । पेसृतं सर्वं मूत सिद्धापार्श्वकाशोरसीकृतम्

१ 'धारिणीम् क० स० ग० घ० । २ भूतं ता० ।

॥ ४४९ ॥ निर्मलाचार्यनिर्दिष्टः परिस्फुट इवात्मनः । समस्तोऽपि हि संसारविस्तारो विदितस्तथा ॥ ४५० ॥
वहिरेण्यथ पूर्वोक्तहेतुना चौररूपभृत् । महाभद्रामभेतोऽत्र समायामहमाययौ ॥ ४५१ ॥ ततश्च त्वां सुललिते !
ज्ञात्वा मदनमञ्जरीम् । पूर्वस्नेहात् कृपातश्च त्वत्प्रबोधनहेतवे ॥ ४५२ ॥ प्रभुप्रमादाद्विज्ञात मया सकलमप्यदः ।
एवं सदागमे प्रीतिं तवोत्पादयता मया ॥ ४५३ ॥ षण्मासकथनीयोऽपि प्रभोरेव प्रसादतः । त्रियामेयं निज-
भवप्रपञ्चोऽयं निवेदितः ॥ ४५४ ॥ विशेषकम् ॥ भद्रे ! तदीदृक् तच्चौर्यं तत्रेदृक् च विडम्बना । अहमेवं न वृत्तान्तं
वेद्मि स्वस्य परस्य च ॥ ४५५ ॥ निशम्येदं सुललिता भृशं हृदि विसिष्मिये । किञ्चिद्विज्ञातभावार्थः पौण्डरीकोऽ-
ब्रवीदथ ॥ ४५६ ॥ किमार्य ! चित्तवृत्तौ ते वर्त्तते साम्प्रतं पुनः । ततोऽनुसुन्दरः प्राह ममाकर्णय सुन्दर !
॥ ४५७ ॥ यावत्संवेगमापन्नः प्रारब्धो निजचेष्टितम् । निवेदयितुमित्थं भोः ! पुरतो भवतामहम् ॥ ४५८ ॥
तावच्चारित्रधर्मोऽसौ स्वसैन्यपरिवारितः । प्रस्ताव इति विज्ञाय चलितो मम संमुखम् ॥ ४५९ ॥ तेन चागच्छ-
तानन्दि पुरं सात्त्विकमानसम् । विवेकाद्रिप्रमत्तत्वशिखरादि च सज्जितम् ॥ ४६० ॥ आगच्छतश्च मार्गेऽस्य
महामोहादिभिः सह । लग्नमायोधनं तच्च दृष्टं प्रत्यक्षतो मया ॥ ४६१ ॥ ततः सद्बोधयुक्तेन सम्यग्दर्शनसंयुजा ।
जयी चारित्रधर्मोऽसौ मयावष्टम्भितोऽभवत् ॥ ४६२ ॥ ततश्चादाय तत्सैन्यं क्षान्त्याद्यन्तःपुरं मम । मुदितः
सपरिवारः स मदन्तिकमाययौ ॥ ४६३ ॥ महामोहादयस्ते तु लीनास्तस्थुर्मृतोपमाः । चित्तवृत्तानिदं भद्र ! वर्त्तते

१ °रत्यर्थपू° क० ख० ग० घ० । २ °ग् मचौर्यं ग० ।

मम साम्प्रतम् ॥ ४६४ ॥ किन्तु दीक्षां जगद्धन्यां प्रपद्य जिनदेशिताम् । अधुना पोषणीयोऽसौ न धुवर्गो
मयान्तरा ॥ ४६५ ॥ तदमेवं स तचौररूपं संहृत्य वैक्रियम् । निज स्वाभाविक चक्रिरूपमाविरभावयत्
॥ ४६६ ॥ तत्कालायतसामन्तामात्यानालोक्य चक्रभृत् । सोऽथ न्यवेशयत्प्राज्ये निजपुत्रं पुरन्दरम् ॥ ४६७ ॥
जिनार्चनादिकृत्येऽथ कृते श्रीगर्गभूपतिः । तत्राजगाम चक्रे च सर्वेषामुचितक्रियाम् ॥ ४६८ ॥ मिलितायां
पुनः पर्युषणे च महोत्सवे । चक्रिपूर्व सुलसिता दृष्ट्वा पिबे चमत्कृता ॥ ४६९ ॥ अथ चक्रपार्थिवे दीक्षां
प्रपातु प्रोषते गुरौ । चक्री सुलसितां भूयोऽप्युमूतकस्तोऽन्वयात् ॥ ४७० ॥ मन्ये सुलसिते ! योपत्तथापापि
न मानसे । संजातो वर्तसे मुग्धे ! येनैव चक्रिवेषणा ॥ ४७१ ॥ त्वद्दोषाद्वै मया सैव सपद्गुसान्तसंकुला । मम
प्रपञ्चो निःक्षेपः सकीयः परिकीर्तितः ॥ ४७२ ॥ तदमेनमपि श्रुत्वा गाढनिर्वेदकारणम् । न चेत् त्वं प्रतिबुद्धासि
नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥ ४७३ ॥ सत्य पापावकस्यासि सत्य काष्ठकोपमा । नेपथ्यमथवद् यस्या निर्वेदो
भवचारके ॥ ४७४ ॥ ततोऽद्यापि प्रभुस्मस्त तस्य मा मुख चाळिके ! । येनाथ जायते सर्वः सफलो मे परिश्रमः
॥ ४७५ ॥ अत्रान्तरे पौम्बरीके मूर्च्छया न्यपतद् भुवि । तन्मातापितरौ पर्यवासितसा मूर्च्छाकुला ॥ ४७६ ॥
वायुदानादिना सम्यचेतना स्मेरलोचना । सोऽथ स्व पितरं प्राह भूपतां तात ! मातरः ॥ ४७७ ॥ चौररूपसुता
नेन चक्रिणा प्रमथ निजम् । एवं त्वदागतेरासीद्विलसमिव चलितम् ॥ ४७८ ॥ ततो मेऽनुक्षमानस्य विकल्पोऽ-

१ तत्रापि ता० स० ।

भूत्तदेदृशः । महाभद्रामिमां पृष्ट्वा भोत्स्ये भावार्थमस्य यत् ॥ ४७९ ॥ यावतेमां सुललितां शिष्यमाणां निशम्य मे । जज्ञे कश्चिदनाख्येयो हर्षो जातिस्मृतिस्तथा ॥ ४८० ॥ भूतपूर्वोऽहमेतस्य सुहृन्नाम्ना कुलन्धरः । श्रुतो भवप्रपञ्चोऽस्य तदा निर्मलसूरितः ॥ ४८१ ॥ ततोऽनेन स एवायमेवमाख्यार्थ्यतोऽधुना । त्रुटितो मम सन्देहो विरक्तं च भवान्मनः ॥ ४८२ ॥ ततो मामनुजानीत येनाहममुना सह । दीक्षां गृह्णामि तच्छ्रुत्वा कमलिन्यरुदत्प्रसूः ॥ ४८३ ॥ प्रोचे श्रीगर्भराजोऽथ मा रोदीर्देवि ! यत्सुतः । स्वप्नसूचितजातोऽयं धर्मं साधयिता ध्रुवम् ॥ ४८४ ॥ तन्नास्य धारणं युक्तमावयोः किन्तु युज्यते । अनुव्रजनमेवास्य निर्मिथ्यस्नेहसूचकम् ॥ ४८५ ॥ बालश्चेत् कुरुते धर्म्ममेष भोगसुखोचितः । ततः किं युज्यते स्थातुमावयोर्भवचारके ? ॥ ४८६ ॥ देव्यूचे देव ! चारूक्तं प्रतिभातमिदं मम । ततोऽनुज्ञाय तौ पुत्रं दीक्षामादातुमुद्यतौ ॥ ४८७ ॥ तदा च द्रावितात्यर्थमनुसुन्दरभाषितैः । ससंभ्रमा च तद्वीक्ष्य पौण्डरीकादिचेष्टितम् ॥ ४८८ ॥ कृताञ्जलिः सुललिता महाभद्रामभाषत । किं मयाघं पुराकारि येन जाताहमीदृशी ? ॥ ४८९ ॥ युग्मम् ॥ धन्योऽयं [2]पौण्डरीकस्तु क्षणमात्रेण योऽभवत् । विज्ञातसर्वभावार्थः प्रसङ्गश्रवणादपि ॥ ४९० ॥ साक्षादुद्दिश्य मामेव कथ्यमानमपि स्फुटम् । अहं पुनर्न जानेऽत्र भावार्थं पशुसन्निभा ॥ ४९१ ॥ तदिदं मे महाभागे ! स्वयं यद्वा सदागमम् । पृष्ट्वा कथय निःशेषं कस्य पापस्य जृम्भितम् ? ॥ ४९२ ॥ ततस्तां तादृशीं दृष्ट्वा बाष्पपूरितलोचनाम् । कृपावेशवशादेवमब्रवीदनुसुन्दरः ॥ ४९३ ॥ स्वदुष्कृतस्य

१ °यतेऽधुना क० ग० घ०, °यितोऽधुना ख० । २ पुण्ड° क० ख० ग० घ० ।

विज्ञाता मुग्धे ! यथास्ति ते ततः । अहमेव तदाख्यामि श्रूयतां सादरं त्वया ॥ ४९४ ॥ तात्र मदनमञ्जर्या तस्याः संजातभावया । मयस्या अगृहे दीक्षा विधिवत् पालिता च सा ॥ ४९५ ॥ केवल तत्र सञ्जाता तदा दुर्बुद्धि रीदृशी । क्रियतां कार्यमेवात्र रोलेन बहुना किम् ? ॥ ४९६ ॥ ततस्ते रूपे नैव स्वाध्यायसुधुलस्तदा । केवल समभूदिष्टा निद्रा मौनमवं तथा ॥ ४९७ ॥ न च ते तत्र संवासोऽभिनिवेशो महान् हृदि । यतो न प्रत्यनीकत्व ज्ञानज्ञानवतां कृतम् ॥ ४९८ ॥ ततोऽनया लघीयस्या श्रुताशातनया तदा । त्वया सुललिते ! कर्म्म समुपार्जित मीदृशम् ॥ ४९९ ॥ भ्रान्तासि यत्प्रभावेणासंख्य कालं भवार्णवे । एवंविधा च जातासि जडधीरधुनापि हि ॥ ५०० ॥ किञ्च पूर्वभवाभ्यासो याति जन्मान्तरेष्वपि । पुरुषद्वेषिणी येनेहापि जातासि पूर्ववत् ॥ ५०१ ॥ अत एव सखीभिस्त्व ब्रह्मचर्यरता सती । मातृमीस्युदिता तर्स्कि प्रत्ययस्ते भिलत्यसौ ? ॥ ५०२ ॥ सा जगाद भगवाज्ञ किं नो मीलति ? किन्त्वहम् । मामतोऽन्यनिभोचापि पर्वेऽत्र माग्यवर्जिता ॥ ५०३ ॥ इत्युक्त्वाभूमि वर्तन्ती सा जगादानुसुन्दरः । मा विषीदानघे ! क्षीणप्राय तत् कर्म्म तेऽधुना ॥ ५०४ ॥ सदागममिम मत्त्या सम्यगाराधयानघे ! । अज्ञानतिमिरध्वंसस्रूर्यो हि भगवानयम् ॥ ५०५ ॥ एवंविधैस्ततस्तस्य वचनैः पवनैरिव । सन्धुक्षितः प्रवद्धे तस्याः संवेगपावकः ॥ ५०६ ॥ ततः सदागमो येष इति बुद्ध्या निपत्य सा । सूरेः समन्त भद्रस्य पदयोरभ्यधादिति ॥ ५०७ ॥ अज्ञानपङ्कमग्नाया जगन्नाथ ! सदागम ! । त्वमेव मन्दभाग्याया ममो

१ कि पुनः ता० । २ °मा चापापि पर्वे मा° त० ।

स्तारणवत्सलः ॥ ५०८ ॥ शरणं[1] त्वं महाभाग ! त्वं स्वामी त्वं च मे पिता । तदेष विमलो नाथ ! क्रियतां किङ्करो
जनः ॥ ५०९ ॥ एवं वदन्त्याः संवेगात् तस्याः कर्म्मात्त्रुटद् बहु । जज्ञे पादप्रणताया एव जातिस्मृतिस्ततः
॥ ५१० ॥ समुत्थाय पपाताथ सानुसुन्दरपादयोः । भद्रे ! किमेतदेवं च ? तेनोक्ता प्रत्यभाषत ॥ ५११ ॥
यत्प्रभोर्भवतश्च स्यात् प्रसादात्तदभून्मम । यतो जातिस्मृतिर्जाता त्वद्वचो[3]निर्णयस्तथा ॥ ५१२ ॥ विरतं भव-
वासाच्च मच्चित्तं चक्रयथावदत् । आर्येऽसावनुगृह्णाति स्वभक्तं भगवान् ध्रुवम् ॥ ५१३ ॥ यतोऽहं प्रभुणानेन नरकं
प्रति गामुकः । भावचौर्येण बद्धोऽपि साक्षादेवं विमोचितः ॥ ५१४ ॥ कृच्छ्रेण किल बुद्धाहं मन्दभाग्येति चिन्तया ।
न चावभावना कार्या त्वया भद्रे ! स्वगोचरे ॥ ५१५ ॥ यतोऽहमपि तैः पूर्वमकलङ्कादिभिस्तदा । न बोधितो
यदासीन्मे प्रबलं भूरिपातकम् ॥ ५१६ ॥ यदा ह्यस्य विलीयेत पापं कालादिहेतुभिः । जीवस्तदा प्रबुध्येत गुरवः
सहकारिणः ॥ ५१७ ॥ प्रोचे सुललितापीदं सत्यमेवार्य ! केवलम् । प्रतिपन्नं मया पित्रोरेतदस्ति स्वकीययोः
॥ ५१८ ॥ दीक्षानामापि यद् ग्राह्यं नाननुज्ञातया मया । तदार्य ! तत्कथं भावि ? चक्रवर्त्ती ततोऽभ्यधात्
॥ ५१९ ॥ मा भैषीरागतावेव भद्रे ! स्तः पितरौ तव । अत्रान्तरे[4] च तौ तत्रैवायातौ सपरिच्छदौ ॥ ५२० ॥ ततो
नत्वा जिनं सूरिं साधूंश्चक्रधरं तथा । पुत्र्या कृतानतिर्भूपाविक्षन्मगधसेनराट्[5] ॥ ५२१ ॥ सुमङ्गलापि विहितसमस्त-
प्रतिपत्तिका । सुतामाश्लिष्य तत्पार्श्वे निषद्य च जगाद ताम् ॥ ५२२ ॥ वत्से ! समुत्सुकत्वेन तव दर्शनलालसौ ।

१ शरणस्त्वं ग० । २ नाम क्रि॰ क० ख० ग० घ० । ३ तद्वचो॰ ता० । ४ तत्रा॰ ता० क० ख० घ० । ५ ॰भूपोऽवि॰ ग० ।

भ्रातौ राज्यं परित्यज्य त्वत्समीपमुपागतौ ॥ ५२३ ॥ कठोरहृदयत्वेन वृथा यातापि नावयोः । इयत्काल
त्वया वत्से । ततः सुललिताऽवदत् ॥ ५२४ ॥ अम्ब ! किं चटुनोक्तेन मां प्रत्यथ यथास्थितः । युवयोः स्नेह
मन्नाशो नूनं व्यक्तीभविष्यति ॥ ५२५ ॥ यदि मां गृह्णतीं दीक्षां नाधुना वारयिष्यथः । युवामपि मया सार्धं
यदि चैनां ग्रहीष्यथः ॥ ५२६ ॥ तच्छ्रुत्वा प्राह मगधसेनराजः शुभमङ्गलाम् । किमवे सुलग्नो नो वेत्सि ! प्रागेव
रमया ॥ ५२७ ॥ सुरदुष्परमार्थमधुना वर्तते ध्रुवम् । अस्या वचनविन्यासोऽपरथा कथमीदृशः ? ॥ ५२८ ॥
पुण्येन महाज्ञानमात्रपोरनया सह । स्नेहसूत्रसमेतद्धि प्राप्तकाल विशेषतः ॥ ५२९ ॥ तदाक्ये प्रतिपन्ने च राज्ञा
एष मदात्मजा । मदाग्रसाद इत्युक्त्वा द्वयोरप्यपरस्परो ॥ ५३० ॥ संक्षेपात्तस्य पश्च्यादिवृत्तान्ते कथिते तथा ।
दर्शितो आगमायो तौ यदि दीयामपायताम् ॥ ५३१ ॥ तथा मगधसेनेन भीमकर्मेण च भूभुजा । निज पुरन्दरायेव
राज्यं पराक्रमपितम् ॥ ५३२ ॥ ततो निर्वर्तिताक्षेपकृत्यानि विधिपूर्वकम् । महेन महता चरित्राणि सर्वाण्य
दीपयत् ॥ ५३३ ॥ दिक्षां तस्याय गुरुभिर्विसृष्टाः स्वाश्रयं ययुः । महामप्राप्तुताः सरम्यः स्वपसेव यनाः पुनः
॥५३४॥ अपारिभ्योऽपि तत्र दृष्ट्वा गुरोः श्रुत्वा च देशनाम् । भक्तोऽहं नति मत्स्येव गतो द्वीपान्तरे तदा ॥ ५३५ ॥
महाप्रमुन्दरतनिः दुर्बलेश्वरया निधि । मालोपश्रमभेमी शान्तमोहः क्रमादभूत् ॥ ५३६ ॥ ज्ञात्वा मगधदा
देशान्ते तस्याय मायवः । तस्याः पार्श्वे तदानीं च तस्यायुष्क समाप्यत ॥ ५३७ ॥ विमाने सोऽथ सर्वार्थे
सिद्धे परमा महर्द्धिकः । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुस्तिदशोऽभवत् ॥ ५३८ ॥ तज्ज्ञात्वा मिलिते मातः भीसंघे

कृतार्चा च नरामरैः ॥ ५३९ ॥ एष मे धर्म्मदायीति पूर्वस्नेहाच्च किञ्चन। विधिनात्यजन्। तदङ्गं साधवस्तस्य कृतार्चा च नरामरैः ॥ ५४० ॥ आर्ये! न शोचनीयोऽसौ महाभागोऽनुसुन्दरः। येनैकदिन-शोचन्तीं तां सुललितां प्रत्यूचुरथ सूरयः ॥५४०॥ आर्ये! न शोचनीयोऽसौ महाभागोऽनुसुन्दरः। येनैकदिन-

भवेदसौ ॥५४२॥ यः पुनः प्राप्य सद्धर्म्मं निर्द्धूय निजकल्मषम्। सर्वार्थसिद्धे सम्प्राप्तो नासौ शोकस्य गोचरः
॥ ५४३ ॥ अन्यच्चायं ततश्च्युत्वा पुष्करार्द्धस्य भारते। अयोध्याधीशगान्धारतनयः पद्मिनीभवः ॥ ५४४ ॥
भूत्वा नाम्नामृतसारो दीक्षां चादाय शुद्धधीः। विपुलाशयगुर्वन्ते करिष्यति चिरं तपः ॥ ५४५ ॥ युग्मम् ॥
चितवृत्तौ ततस्तस्य क्षान्त्याद्यन्तःपुरं पुनः। तच्च चारित्रधर्म्माद्यं सैन्यमाविर्भविष्यति ॥ ५४६ ॥ ततस्तत्पालयन्
राज्यं विद्विषस्तान्निहत्य सः। आरूढः क्षपकश्रेण्यां केवलालोकमाप्स्यति ॥ ५४७ ॥ कृत्वाथान्ते समुद्घातं शैलेशीं
प्राप्य च क्रियाम्। हत्वा शेषान् द्विषस्तांश्च गन्तायं पुरि निर्वृतौ ॥५४८॥ निजबान्धवसम्पूर्णः सिद्धानन्तचतुष्टयः।
तत्र चैव सदाकालं भोक्ष्यते राज्यसत्फलम् ॥ ५४९ ॥ इतश्च तेन सा त्यक्ता तदानीं भवितव्यता। महामोहबले
क्षीणे शोकमेवं करिष्यति ॥ ५५० ॥ दुर्बुद्ध्या बत जातैवमहं भग्नमनोरथा। महामोहबलेऽभूवमध्रुवे या कृतादरा
॥ ५५१ ॥ यद्वा ममापि को दोषो? रूढेयमपि वर्तिनी। यन्मुह्यत्येव लोकोऽयं समस्तः स्वप्रयोजने ॥ ५५२ ॥
एवं निश्चित्य साशेषैंलोकं व्यापारयिष्यति। तदेवं सति शोच्योऽयं न महात्मानुसुन्दरः ॥ ५५३ ॥ तच्च श्रुत्वा

१ गन्धा° ग०। २ सारं भो° ता०। ३ वर्तनी ता० ख०। ४ °ते च लो° ग०। ५ °षं लोकं ता०।

सुललिता माला शोकविवर्जिता । परितुष्टाश्च ते सर्वे पौण्डरीकादिसाधवः ॥५५४॥ तपांसि नानारूपाणि स्वात्मनः
शुद्धिहेतवे । चक्रे सुललिता साथ सर्वदा गुर्वनुज्ञया ॥ ५५५ ॥ एवम् पौण्डरीकोऽपि गीतार्थः समभूत् क्रमात् ।
पप्रच्छ चैवमन्येद्युः सूरिं विरचिताञ्जलिः ॥ ५५६ ॥ भदन्त ! प्रवचनस्य किं सारमिति कथ्यताम् ? । सूरिः
प्रोवाच सारोऽत्र ध्यानयोगः सुनिर्मलः ॥५५७॥ मूलोत्तरगुणाः सर्वे सर्वा चेयं बहिष्क्रिया । मुनीनां श्रावकाणां
च ध्यानयोगार्थमीरिता ॥५५८॥ मनःप्रसादः साध्योऽत्र मुक्त्यर्थं ध्यानसिद्धये । अहिंसादिविशुद्धेन सोऽनुष्ठानेन
साध्यते ॥ ५५९ ॥ तच्छ्रुत्वा पुनरप्याह पौण्डरीकमहामुनिः । यद् भदन्त ! मया क्वापि दृष्टाः सर्वे कुतीर्थिकाः
॥ ५६० ॥ ततो मे सर्वं स्वमतस्य मतं तैरप्यनेकधा । परं तत्त्वमिह ध्यानयोग एव निवेदितः ॥ ५६१ ॥
तत् किं सर्वेऽपि ते तीर्थ्या भवेयुर्मोक्षसाधकाः ? । ध्यानयोगेन यद्येष सारः परिस्थापवत् ॥ ५६२ ॥ आर्य !
सामान्यगीतार्थस्त्वमेवं तेन भाषसे । विशेषतो न विज्ञातमेतद्यथा जिनागमे ॥ ५६३ ॥ एते हि तीर्थ्याः सर्वेऽपि
दृष्टैवमसमानकाः । जिनसद्वैद्यशास्त्रस्य पल्लवग्राहिणो मताः ॥ ५६४ ॥ यथा चात्र क्वचिदेकत्र पुरे रोगिजनाकुले ।
मत्स्येकः संहितासारः दिव्यज्ञानी महाभिषग् ॥५६५॥ तद्वचः प्रतिपद्यन्ते केचिद् धन्यतमा जनाः । भजन्त्यनेन
कश्चिच्च न तदाकर्ण्यापन्यपि ॥ ५६६ ॥ निजेभ्यः स च शिष्येभ्यो व्याख्यानं कुरुते सदा । तत्रोपश्रुत्यान्यैः पूर्वैः
किमप्यनधारितम् ॥५६७॥ ततस्तभिभया तैः स्वप्रमार्थं संहिता निजाः । विधाय वैद्यकं कर्तुमारब्धं समन्ततः

१ भेष च प्र० ।

॥ ५६८ ॥ अन्यैस्तु पण्डितंमन्यैः संहिताश्चक्रिरे निजाः । महावैद्यस्य वचसां प्रतीपा इव सर्वथा ॥ ५६९ ॥
विचित्ररुचयो लोका रोगिणस्ते तु केचन । केषाञ्चित् कूटवैद्यानां रज्यन्ते वचनेऽन्वहम् ॥ ५७० ॥ ततः प्रसिद्धि
सर्वेऽपि ते कूटभिषजो ययुः । व्याचख्युश्च स्वशिष्येभ्यः संहितास्ता निजा निजाः ॥ ५७१ ॥ स्थिते चैवं महावैद्ये
मृतेऽप्येतेऽत्र रोगिणः । मुच्यन्ते तद्विनेयोपदिष्टं विदधतो गदैः ॥ ५७२ ॥ ये पुनः कूटवैद्यानां तच्छिष्याणां च
गोचरम् । गतास्ते रोगिणोऽत्यन्तं बाधिता [2]विविधैर्गदैः ॥ ५७३ ॥ तद्वाक्यादपि यत्तु स्यात्कस्यचिद् रोगतानवम् ।
स महावैद्यवचनलवसंजनितो गुणः ॥ ५७४ ॥ यतः स एव वातादिदोषत्रितयभेषजम् । महावैद्यो विजानाति न
कूटभिषजः पुनः ॥ ५७५ ॥ कार्यात्र योजना त्वेवमिह तावद् भवः पुरम् । बोद्धव्या रोगिणो लोकाः पुनः कर्म्म-
प्रपीडिताः ॥ ५७६ ॥ सिद्धान्तसंहितास्रष्टा केवलालोकभास्करः । महावैद्योऽत्र विज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ५७७ ॥
तद्वचः प्रतिपद्यन्ते केचिदप्यल्पकर्म्मकाः । प्राज्यपापाः पुनर्जीवा न तन्निशमयन्त्यपि ॥ ५७८ ॥ भगवांश्चैष सम-
वसरणस्थो यथातथम् । मोक्षमार्गं स्वशिष्येभ्यः प्ररूपयति सर्वदा ॥ ५७९ ॥ प्रसङ्गेनागतास्तत्र शृण्वन्ति
कलुषाशयाः । केचित्तां भगवद्वाचमनेकनयसंकुलाम् ॥ ५८० ॥ तन्मध्ये चास्तिकैः सांख्यादिभिः शास्त्राणि
चक्रिरे । दयादानादिगर्भाणि भगवद्वाक्यनिश्रया ॥ ५८१ ॥ नास्तिकैस्तु महापापैर्बृहस्पतिसुतादिभिः । सर्वं सर्वज्ञ-
वाक्यस्य विपरीतं विकल्पितम् ॥ ५८२ ॥ नानारुचित्वाल्लोकाश्च रज्यन्ते केऽपि केषुचित् । ततः सर्वेऽप्ययु[3]र्लोके

१ एव ता० । २ विविधैर्महैः क० ग० घ० । ३ °गुर्लोके ग० ।

प्रसिद्धिं ते कुतीर्थिकाः ॥ ५८३ ॥ स्थिते चैव निर्वृतेऽपि सर्वज्ञेऽमी शरीरिणः । मुच्यन्ते कर्मभिर्वर्धमानास्तच्छि-
ष्यमार्गिते ॥ ५८४ ॥ ये तु तेषां कुतीर्थ्यानां तच्छिष्याणां च गोचरम् । गच्छन्ति ते प्रपीड्यन्ते कर्मभिर्विविधै
र्भृशम् ॥५८५॥ तद्दूरात्त्यजेत् यत्र स्यात् कस्यचित्कर्मठापचम् । प्रमाणो भगवद्वाक्यलेशस्यैव स निश्चितम् ॥ ५८६ ॥
यतो रागद्वेषमोहमतिप्रचयया स्थितम् । ज्ञानादिक स एवैको वेत्ति तीर्थ्यास्तु नापरे ॥ ५८७ ॥ पौण्डरीक !
मुनेस्तस्मा महावैपसुधर्मणः । सर्वेऽपि एषोपदेशो मोक्षनिबन्धनम् ॥ ५८८ ॥ न पुनः शेषतीर्थ्यानां कुदेशोपम
तामृताम् । तदाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं पौण्डरीकोऽवदत्पुनः ॥ ५८९ ॥ यथा नाथ ! यच मूलो व्यापक निजदर्शनम् ।
तथा तीर्थ्या यदि निजं मुपुस्तत्र किमुत्तरम् ? ॥ ५९० ॥ अथ प्रोचे गुरुर्वचो रागद्वेषविवर्जितः । शान्त्यादिक
स्तथा धर्मस्तत्त्वं ज्ञानादिकं पुन ॥ ५९१ ॥ मुक्तिरप्यात्मनोऽनन्तचतुष्टयमुखा स्थितिः । इति चेद् मुवत
तेऽपि तद्विवादो न नः सह ॥ ५९२ ॥ नाभिधाने हि विद्वांसो विवादं परस्य । कुर्वते । एवं च दृष्टिवादाङ्गे शास्त्रसि
द्धमपि क्रमात् ॥ ५९३ ॥ विध्वस्ताखिलसन्देहः पौण्डरीकोऽथ हर्षभाक् । जिनपादगुरोर्वाक्यं वचेति प्रत्यपद्यत
॥ ५९४ ॥ सोऽथ सिद्धान्तमभ्यस्यन् गुरुमूले विशेषतः । कालक्रमेण सम्पन्नो द्वादशाङ्गस्य पारगः ॥ ५९५ ॥
तथाचार्यपदे न्यस्य महेन महता ततः । सगुः समन्तभद्राख्याः स्वरूपस्ते परं पदम् ॥ ५९६ ॥ अथ प्राप्यावधि
मनःपर्याय । यमभ्राय । मूरिः स पौण्डरीकाख्यो जिनशासनदीपकः ॥ ५९७ ॥ चिरस्य सुचिरं सोऽथ भूरिलोक

१ ख्का निवि॰ ता॰ ।

ततः संलेखनां कृत्वा गत्वा च गिरिकन्दरं ।
प्रवोध्य च । धनेश्वराभिधं सूरिं निजस्थाने न्यवेशयत् ॥ ५९८ ॥ सोऽथ सम्प्राप
पादपोपगमेनायं तस्थौ शुद्धशिलातले ॥ ५९९ ॥ समाधिस्थः समासाद्य केवलं देवपूजितः । क्रमेण प्रापतुर्मोक्षं कर्म्माण्यु-
निःशेषक्लेशहीनं परं पदम् ॥ ६०० ॥ महाभद्रासुललिते अपि भक्तपरिज्ञया । सुमङ्गलाद्याः साध्व्यश्च देवलोक-
न्मूल्य मूलतः ॥ ६०१ ॥ ते तु श्रीगर्भराजाद्याः साधवो निखिला अपि । प्रायः सर्वशरीरिणाम् ॥ ६०३ ॥
मुपाययुः ॥ ६०२ ॥ अयं चासंव्यवहारपुरादारभ्य सन्निभः । अनुसुन्दरवृत्तान्तः विवेद तम् ॥ ६०४ ॥ जिनागमस्य
ततः समन्तभद्रस्य तस्य सूरेरयं यथा । प्रत्यक्षः कथ्यमानं तु महाभद्रा विशद ! प्रज्ञाविशालत्वेन
संसारिजीववृत्तमिदं तथा । प्रतीतं वर्ण्यमानं तु स्वत एव सुसाधवः ॥ ६०५ ॥ बुध्यन्ते सुललितां प्रति ।
सर्वथा । संजायन्ते परेभ्यश्च प्रतिपादयितुं क्षमाः ॥ ६०६ ॥ युग्मम् ॥ यथा च पौण्डरीकेण बुद्धं निशम्य बुध्यतां
कथ्यमानं लघुकर्म्मतया श्रुत्वा प्रसङ्गतः ॥ ६०७ ॥ बोधानुरूपं चक्रे च तथा युष्माभिरप्यदः । नैवास्ति लघु-
वोधानुरूपं च विधीयताम् ॥ ६०८ ॥ यथा सुमतिता भव्यपुरुषत्वं च जायते । भवतामप्यथेदृक्षा प्रतिबुध्यताम्
कर्म्मता ॥ ६०९ ॥ ततो यथा सुललिता भूयो भूयः प्रणोदिता । प्रतिबुद्धा तथा युष्माभिरपि भविष्यथ ॥ ६११ ॥
॥ ६१० ॥ बोध्यमानास्तथा किन्तु गुरूणां कण्ठशोषकाः । अगृहीतसङ्केताश्च भव्या यूयं श्रुत्वैनामनु-
तथापि गुरुभिर्यूयं बोध्या एव महात्मभिः । युष्माभिरपि बोद्धव्यं भवोच्छेदविधित्सुभिः ॥ ६१२ ॥ येनोच्चैर्गुरुकर्म्मका
सुन्दरस्य च महीभर्तुः कथामद्भुतां भो भव्याः ! शरणं जिनागममिमं यूयं श्रयध्वं सदा ।

अपि जयतस्य प्रसादादयं निर्वृयासिलमव्यजनसमुस्तां श्रेयःश्रियं प्राप्नुत ॥ ११२ ॥

इति श्रीश्रीचन्द्रसूरिशिष्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिते उपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारे पूर्वभवचरितभीलकवर्णनो नाम अष्टमः प्रस्तावः समाप्तः ।

अथ ग्रन्थकारप्रशस्तिः

समाश्रितो यः शरणं क्षमाभृद्गणेन कर्माशनिपातभीत्या । अगाधपारश्रियमादधानः स चन्द्रगच्छोऽस्ति सुवि प्रसिद्धः ॥ १ ॥ भव्यारविन्दप्रतिबोधहेतुरत्नप्रभः प्रतिपिब्धदोषः । अयमपूर्वेन्दुतुलामिह श्रीभद्रेश्वरो नाम बभूव सूरिः ॥ २ ॥ तस्याद्भुतपूर्वबलचन्द्ररोचिरजायत श्रीहरिभद्रसूरिः । धुर्य न कस्मै रहित चिकस्या तपश्च श्रियं च तनोति यस्य ॥ ३ ॥ श्रीमानजायत शान्तिसूरिर्यतः सद्यप्रादिव शिष्यमेघाः । ज्ञानामृतं प्राप्य शुभोपदेशधारा व्यधुः कस्य मनो न शस्यम् १ ॥ ४ ॥ ततो बभूवाभयदेवसूरिर्यदीयवाणी गुणरत्नरम्या । मेघामरेन्द्रलसिता विभाति वेलेव मध्यस्थजिनागमाब्धेः ॥ ५ ॥ प्रसन्नचन्द्रोऽथ बभूव सूरिर्वक्तुं गुणान्यस्य नहि क्षमोऽभूत् । सहस्रवक्त्रोऽपि समस्तरासकृतो प्रियेषेप रसातलेऽस्मात् ॥ ६ ॥ अथाभवनि श्रीमुनिरत्नसूरिः स्वबुद्धिनिर्धूतसुरेन्द्रसूरिः । रत्नन्ति शास्त्राण्यखिलानि यस्य स्थिरोभवे मानसरोहणाद्रौ ॥ ७ ॥ श्रीचन्द्रसूरिः सगुरुस्ततोऽ

१ बोधय' क० ख० ग० घ० ।

भूत्प्रसन्नतालङ्कृतमस्तदोषम् । चित्तं च वाक्यं च वपुश्च यस्य कं न प्रमोदोत्पुलकं करोति ? ॥ ८ ॥ सूरिर्यशोदेव
इति प्रसिद्धस्ततोऽभवद्यत्पदपङ्कजस्य । रजोभिरालिङ्गितमौलयोऽपि चित्रं पवित्राः प्रणता भवन्ति ॥ ९ ॥ तत्पा-
णिपद्मोल्लसितप्रतिष्ठः श्रीचन्द्रसूरिप्रभुशिष्यलेशः। देवेन्द्रसूरिः किमपीति सारोद्धारं चकारोपमितेः कथायाः
॥१०॥ इतश्च शिष्यो गणधारिदेवानन्दस्य रत्नप्रभसूरिपट्टे । बभूव सूरिः कनकप्रभाख्यो निधिर्गुणानामिह चन्द्र-
गच्छे ॥ ११ ॥ तदीयशिष्यः किल बालचन्द्रसूरेः कवीन्द्रादुदितप्रतिष्ठः । अशोधयद् बोधिविशुद्धयेऽमुं प्रद्युम्नसूरि-
र्विनयोपरुद्धः ॥ १२ ॥ यच्चान्यदप्यत्र निवेशितं स्यादन्यादृशं किञ्चन बुद्धिमान्द्यात् । अयं निबद्धोऽञ्जलिरस्ति सर्वं
तत्साधुभिः साधु निवेशनीयम् ॥ १३ ॥ श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालादष्टानवत्यर्यमसंख्यवर्षे [१२९८] । पुष्यार्क-
भूत्कार्त्तिककृष्णषष्ठ्यां सम्पूर्णतामेष समाससाद ॥ १४ ॥ यावन्नौरिव भव्यतारणविधावास्ते भवाम्भोनिधौ,
श्रीसिद्धेन कृता कथेयमसमार्हद्वाक्यकाष्ठोच्चयैः । तावत् तद्गतसत्पदार्थनिचयस्योदञ्चनेऽसौ क्षमा, सारो-
द्धारकृतिः सदा तदनुगा नौकेव संसर्प्पतु ॥ १५ ॥ प्रत्यक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम् । शतानि सप्त-
पञ्चाशत्त्रिंशत्समधिकान्यहो ! ॥ १६ ॥ ग्रन्थाग्रम्–५७३० ॥



श्रीउपमितिभवप्रपञ्चाकथासारोद्धारः समाप्त .